BIBLIOTHECA INDICA

A

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL

# नित्याचारपद्धतिः ।

# NITYĀCĀRA-PADDHATIḤ

BY

VIDYĀKARA VĀJAPEYĪ

EDITED BY

PANDITA VINODA VIHĀRI BHAṬṬĀCĀRYYA.

VOL. I.

CALCUTTA:

PRINTED BY UPENDRA NĀTHA CHAKRAVARTI, AT THE SAN[illegible] PRESS,

AND PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY, 57, PARK STREET.

1903.

# PREFACE.

The numerous Smṛti Compilations of India have now engaged the attention of the learned members of the Asiatic Society of Bengal. They are anxious to publish these Compilations, as they throw much light on the manners and customs of the Hindus at different periods of time and, in different places., From 1894 I was for several years engaged as a travelling Pandit in the search of Sanskrit Mss. in Orissa, a country whose sanskrit lore was till then almost a sealed book to the learned world. In the course of my work I discovered several Smṛti Codes, Vidyākara Vājapeyī's Nityācārapaddhati is one of them. This being one of the works quoted by Raghunandana, the Compiler of the Bengal Code in the sixteenth century, it had a peculiar interest for the learned world. The Society resolved to publish it and I as discoverer was entrusted with the work of editing it.

The work is quoted by Raghunandan and it quotes Kṛtyacintāmaṇi apparently the older work of that name by Candeçvara noticed in page 511 Vol. III of the India Office Catalogue. So the work must have been compiled between 1344 and 1560 A.D. The author, however, says

that he was the son of Çambhukara and that he lived for 30 years at Benares. (1) His father, is said in the Kramadīpikā, (2) a work on religious rites, which commences with an obeisance to him, to have declined a grant of land from Nṛsimha, King of Orissa, and left the country and settled at Benares with family. The only Nṛsimha whose reign falls within this period is the fourth king of that name whose land-grants as deciphered by Babu Manomohana Cakravarttī in Journal A.S.B. for 1895 fall in the years 1384 and 1395 A.D. The last grant was in the 22nd year of his reign and so his reign was a pretty long one for an Indian potentate.

From the name of the book one is led to believe

---

(1) यावत् तौ शशिभास्करौ प्रतपतो यावद्धरायां द्विजाः
श्रुत्युक्तं प्रचरन्ति यावदिह च क्षीरप्रदा धेनवः ।
यावत् ते निवसन्ति त्रिपथवदने वेदास्त्रयः साधव-
स्तावत् शम्भुकरात्मजस्य करणं भूयात् प्रमोदाय वः ॥
आहर्त्ता यः क्रतूनामयुतमतिमतां त्रिंशतां सत्यवत्याः
पुत्रो विद्याकरोऽभूत् सकलगुणिगणैरीड्यते कण्वत् यः ।
त्रिंशद्-वर्षं स काश्यां कृतवसतिरभूद्धर्म्मशास्त्रस्य कर्त्ता
पद्धत्याख्यस्य खण्डं प्रथममिह यतोऽलीलिखत् तस्य कार्ष्णौ ॥

नित्याचारपद्धतौ ।

(2) नानाशास्त्रनलनृपालपरमात् श्रीमन्नृसिंहाभिधा-
द्भैक्ष्यच्छासनकं स्वधर्म्मनिरतो देयं जहौ तेन सः ।
काशीं प्राप ततः स सूनुसुधियं विद्याकरं सानुजं
स्वे शास्त्रहृद्गार्थसुतक्षमुचश्चायात्स्माद्दिष्टवान् ॥

क्रमदीपिकायाम् ।

that it deals with the daily duties of a Brāhmaṇa and that it is an older edition of Āhnikatattva of Raghunandana, but the name is to a certain extent misleading. It deals with all the ordinary subjects of a Smṛti Code with the exception of the intercalary month, expiations, impurity of persons as apart from that of things. Tāntrika rites figure prominently, but these relate generally to the Viṣṇu cult and not to the Çakti cult. The Uriyā people were given more to Vedic ceremonies than the Bengalis and this work deals more largely and more intimately with Vedic ceremonies.

In conclusion I have much pleasure in acknowledging my obligation to two learned men in Orissa, namely, Pandits Sadāçiva Miçra of Purī and Rudranārāyaṇa Saḷaṇgī of Nilgiri who rendered me all assistance in their power, and to Mahāmahopādhyāya Haraprasāda Çāstrī whose advice, direction and help, are always liberally bestowed on all who seek it.

I append a list of all the works quoted by Vidyākara with such descriptions of them as are available.

VINODA VIHĀRĪ BHAṬṬĀCĀRYYA.

*Bhātpāḍā, April,* 1903.

# वर्णानुक्रमणिका विषयसूची ।

अ ।


| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| अक्षमालाभेदेन जपे फलभेदकथनम् | ४०५ | २१ |
| अक्षमालालक्षणम् | ४०४ | १६ |
| अगस्त्यपूजा | ६१२ | १० |
| अग्निपूजा | ५८८ | १ |
| अग्निसमारोपणम् | ३३२ | १८ |
| अग्निस्तवनम् | ३४४ | ९ |
| अग्न्यनुगमः | ३२५ | ८ |
| अग्न्युपस्थानम् | २६० | ९ |
| अङ्गन्यासः | ४१९ | १० |
| अञ्जनधारणम् | १५५ | ६ |
| अन्नप्राशनम् | २६६ | ७ |
| अभिवादनविधिः | २२८ | ४ |
| अशोकाष्टमी | ५९३ | १९ |
| अष्टाक्षरजपे कर्त्तव्यानि | ४२५ | १५ |
| अष्टाक्षरमन्त्रजपकर्त्तव्यता | २२६ | १५ |
| अष्टाक्षरमन्त्रजपस्य फलम् | ३८१ | २० |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| अष्टाक्षरमन्त्रजपविधानम् | ३८१ | १५ |
| अष्टाक्षरसौरमन्त्रपूजाविधिः | ५८४ | ५ |
| **आ ।** | | |
| आचमनविचारः | ४३ | ४ |
| | ६२५ | १२ |
| आचमनस्य निमित्तानि | ४५ | ८ |
| आवरणपूजा | ५५० | ८ |
| आवसथ्याधानम् | २९३ | ३ |
| आश्रमिभेदे न्यासभेदः | ४२० | २ |
| आसनभेदः | १७८ | १६ |
| **उ ।** | | |
| उत्पत्तिन्यासः | ४१९ | १६ |
| उपनयनम् | २६८ | १ |
| उष्णीषबन्धनम् | १३४ | ७ |
| **ऊ** | | |
| ऊर्द्ध्वपुण्ड्रस्य प्राशस्त्यकथनम् | ४२५ | ६ |
| **ए ।** | | |
| एकादशीव्रतविध्यादिकथनम् | ४६२ | १० |
| **क ।** | | |
| कन्यादातृनिर्णयः | २८५ | ३ |
| कन्यादानविधिः | २८५ | ६ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| कन्यानिर्णयः ... ... | २७५ ... | ११ |
| कन्यापरीक्षा ... ... | २७८ ... | ५ |
| करतोयास्नानम् ... ... | ११५ ... | ३ |
| करन्यासः ... ... | ४१८ ... | २ |
| कर्त्तानिर्णयः ... ... | ३८१ ... | ११ |
| काम्यस्नानम् ... ... | १२२ ... | १३ |
| ( तत्तु तत्र वारतिथिनिमित्तकमस्पृश्यादिस्पर्शननिमित्तकञ्च ) | | |
| कार्त्तिककृत्यम् ... ... | ६२० ... | १५ |
| कालविशेषे पूजाविशेषाः ... | ५८१ ... | ६ |
| किरीटमनुः... ... ... | ४१५ ... | ७ |
| कुण्डलक्षणम् ... ... | ४३३ ... | १७ |
| कुण्डसंस्कारः ... ... | ४४० ... | १३ |
| कृष्णावेणीस्नानम् ... ... | ११५ ... | ८ |
| केशवादिविनिर्णयः ... ... | ३८२ ... | १ |
| केशवादिन्यासः ... ... | ३८४ ... | ३ |
| कोष्ठशुद्धिः ... ... ... | ४२८ ... | ६ |
| कौशिकीस्नानम् ... ... | ११५ ... | ६ |
| ख । | | |
| खड्गपूजा ... ... ... | ६१० ... | १५ |
| ग । | | |
| गङ्गासागरसङ्गमस्नानम् ... | ११६ ... | १२ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| गङ्गास्नानम् ... ... | ११२ ... | १४ |
| गणेशपूजाविधिः ... ... | ५७६ ... | १ |
| | ६०६ ... | १० |
| गणेशस्तुतिः ... ... ... | ४८२ ... | १ |
| गर्भकराण्यौषधानि ... ... | २३२ ... | ७ |
| गर्भकाले सुपुत्रलाभायौषधानि ... | २३१ ... | १७ |
| गर्भाधानम् ... ... ... | २२९ ... | १ |
| गात्रमार्जनम् ... ... | १३४ ... | १५ |
| गायत्रीन्यासः ... ... | १८९ ... | १९ |
| गायत्रीव्याख्यानम् ... ... | १८६ ... | १४ |
| गायत्र्यावाहनम् ... ... | १८४ ... | १० |
| गायत्र्युपस्थानम् ... ... | १९० ... | ७ |
| गुरोरभावे मन्त्रग्रहणम् ... | ४४८ ... | १५ |
| गोदावरीस्नानम् ... ... | ११२ ... | ७ |

च ।

| | | |
|---|---|---|
| चातुर्मास्यव्रतम् ... ... | ६१४ ... | १ |
| चूड़ाकरणम्... ... ... | २६६ ... | १५ |

ज ।

| | | |
|---|---|---|
| जन्मदिवसकृत्यम् ... ... | ६२१ ... | १० |
| जन्माष्टमी ... ... ... | ५९९ ... | ४ |
| जपधर्म्माः ... ... ... | १९२ ... | १ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| जपस्वरूपम् ... ... ... | ४१६ ... | १३ |
| जपाङ्गपदार्थक्रमः ... ... | ४२६ ... | ५ |
| जपे आसनभेदः ... ... | ४१६ ... | ४ |
| जपे ऋष्यादिकम् ... ... | ४१७ ... | १४ |
| जातकर्म्म ... ... ... | २४१ ... | ४ |
| जातस्य जन्मकालवशेन शुभाशुभज्ञानम् | २४४ ... | ३ |
| **त ।** | | |
| तर्पणम् ... ... ... | २०२ ... | ११ |
| तिथिसंक्रान्त्यादिजन्यपुण्यकालेषु स्नानस्यावश्यकर्त्तव्यता ... | ११७ ... | १ |
| तिलकधारणम् ... ... | १४७ ... | १४ |
| तीर्थस्नानम् ... ... ... | १०५ ... | ४ |
| तुलसीमालाधारणम् ... ... | १५८ ... | ८ |
| त्रिपुण्ड्रधारणम् ... ... | ३५४ ... | १३ |
| **द ।** | | |
| दन्तधावनम् ... ... ... | ५६ ... | १ |
| दमनार्चनम् ... ... ... | ५६४ ... | ५ |
| दायभागः ... ... ... | २६४ ... | १७ |
| दीक्षादानप्रकारः ... ... | ४४४ ... | १५ |
| दीक्षाभेदः ... ... ... | ४३५ ... | ६ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| दुर्गापूजाविधिः ... ... | ५७९ ... | १ |
| | ६०८ ... | ८ |
| देहन्यासः ... ... ... | ४१९ ... | ७ |

न ।

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| नमस्यानमस्यविवेकः ... ... | २२७ ... | १४ |
| नर्म्मदास्नानम् ... ... | ११६ ... | ५ |
| नाड़ीनक्षत्रविचारः ... ... | ११८ ... | १३ |
| नागपूजा ... ... | ५८३ ... | ५ |
| नामकरणम् ... ... | २६६ ... | १ |
| नित्यानित्यकर्म्मविचारः ... | २ ... | ७ |
| निषेककालवशेन शुभाशुभज्ञानम् | २३५ ... | १६ |
| निष्क्रमणम् ... ... | २६६ ... | ५ |
| न्यासभेदः ... ... | ४१८ ... | १३ |
| न्यासविधानप्रकारः ... ... | ४२० ... | ८ |
| न्यासस्थानानि ... ... | ४१५ ... | १ |

प ।

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| पञ्चाक्षरमन्त्रस्य माहात्म्यम् ... | ५७३ ... | ९ |
| पञ्चाक्षरमन्त्रेण शिवपूजाविधिः | ५६५ ... | १ |
| पवित्रधारणम् ... ... | १६६ ... | १५ |
| पवित्रारोपणम् ... ... | ५९५ ... | ८ |
| पात्रविशेषे विष्णुपूजायां फलविशेषः | ५५२ ... | ११ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| पात्रशुद्धिविधानम् ... ... | ५१२ ... | १० |
| पादोदकपानमाहात्म्यम् ... | ६२४ ... | ९ |
| पाषाणचतुर्द्दशी ... ... | ५९३ ... | २ |
| पुंसवनम् ... ... | २३८ ... | १ |
| पुरश्चरणविधिः ... ... | ४५० ... | १३ |
| पुरुषोत्तमदर्शनफलम् ... | १०७ ... | ९ |
| पौराणिकी दीक्षाविधिः ... | ४४९ ... | १ |
| प्रणवजपविधिः ... ... | ३७८ ... | १४ |
| प्रतिमाभावे पूजनविधिः ... | ५८८ ... | १३ |
| प्रभातकृत्यानि ... ... | ११ ... | १४ |
| प्रसूतिचिकित्सा ... ... | २६५ ... | ७ |
| प्राणायामः ... ... | १७८ ... | २१ |
| | ४१८ ... | ८ |
| प्रातःस्नानम् ... ... | ६७ ... | १७ |


व।


| | | |
|---|---|---|
| बलिदाने पशुपूजाविधिः ... | ६०९ ... | ५ |
| बालग्रहोपद्रवशान्तिः ... ... | २६४ ... | ३ |
| ब्रह्मपूजा ... ... | ५८६ ... | १ |
| ब्रह्मयागविधिः ... ... | ३९५ ... | ३ |
| ब्राह्मविवाहलक्षणकथनम् ... | २८४ ... | १३ |

भ।


| विषयः | | | पृष्ठा | | पङ्क्तिः |
|---|---|---|---|---|---|
| भस्मधारणम् | ... | ... | ३५० | ... | १५ |
| भिक्षाया ग्राह्यता | ... | ... | ४५१ | ... | २१ |
| भीमरथीस्नानम् | ... | ... | ११६ | ... | २ |
| भुवनेश्वरीमन्त्रः पूजाविधिश्च | | ... | ५८० | ... | ४ |
| भूतशुद्धिः | ... | ... | ३८९ | ... | ८ |


म।


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| मणिकाधानकर्म्म | ... | ... | ३६० | ... | १४ |
| मदनत्रयोदशी | ... | ... | ५९४ | ... | ३ |
| मन्त्रस्नानम् | ... | ... | १४४ | ... | १ |
| मन्त्रार्थकथनम् | ... | ... | ४२१ | ... | १ |
| मन्त्रोपदेशविधिः | ... | ... | ४३२ | ... | ३ |
| माघकृत्यम् | ... | ... | ६१९ | ... | ६ |
| मातृकानिर्णयः | ... | ... | ५७७ | ... | १८ |
| मार्कण्डेयह्रदस्नानम् | ... | ... | १११ | ... | ७ |
| मुखलक्षणम् | ... | ... | २६० | ... | १ |
| मुद्रालक्षणम् | ... | ... | ५३२ | ... | १४ |
| मृत्यारिष्टकम् | ... | ... | ३६३ | ... | ६ |
| मौनफलम् ... | ... | ... | ३६१ | ... | १५ |


य।


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| यज्ञोपवीतधारणम् | ... | ... | १६३ | ... | १० |

र ।


| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| रात्रेरन्तिमे यामे शयनादुत्थितस्य कर्त्तव्यम् | ८ | ४ |
| राशिविशेषसंक्रमणे स्नाने द्रव्यविशेषनिर्णयः | १२१ | ४ |
| राशिशुद्धिः | ४२७ | १७ |
| रुद्राक्षधारणम् | १५८ | ११ |


ल ।


| | | |
|---|---|---|
| लक्ष्मीपूजा | ६१३ | ३ |
| लिङ्गलक्षणम् | ५५६ | १६ |
| लिपिन्यासः | ३८० | ११ |
| लौहित्यस्नानम् | ११६ | १६ |


व ।


| | | |
|---|---|---|
| वपनम् | १७२ | ६ |
| वरुणादिदेवतानमस्कारः | २२७ | ८ |
| वर्णमयीदीक्षा | ४४६ | १६ |
| वर्णानुसारेण जपे मालानियमः | ४२४ | १ |
| वशीकरणम् | ५७७ | २१ |
| वस्त्रपरिधानम् | १३५ | ६ |
| वह्निकलाः | ४३८ | ५ |
| वह्निस्थापनम् | ४४१ | ३ |
| विण्मूत्रोत्सर्गविधिः | ३३ | ३ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| विवाहविधिः ... ... | २८७ ... | ७ |
| विवाहानुकूले प्रश्नः ... ... | २८२ ... | १ |
| विवाहे विधिवाक्यानि ... ... | २८१ ... | १ |
| विवाहे शुभाशुभराशिकथनम् ... | २७८ ... | १५ |
| विष्णुगृहमार्ज्जनादिफलम् ... | ४८६ ... | ११ |
| विष्णुनिर्म्माल्यधारणम् ... ... | १५६ ... | १५ |
| विष्णुपूजा ... ... ... | २२५ ... | ६ |
| विष्णुपूजाया नित्यता ... ... | ५५३ ... | ११ |
| विष्णुपूजायां मुद्राः ... ... | ५३२ ... | १४ |
| विष्णुपूजाविधिः ... ... | ५१३ ... | १८ |
| विष्णुयन्त्रमन्त्रादिकम् ... ... | ४८७ ... | १२ |
| विष्णुशृङ्खलयोगः ... ... | ६१३ ... | १२ |
| विष्णोरष्टोत्तरशतनाम ... ... | ३६४ ... | २१ |
| विष्णोर्द्वादशनामानि ... ... | ३६२ ... | ८ |
| विष्णोर्ध्यानम् ... ... | ३८० ... | ३ |
| विष्णोर्नामाष्टकम् ... ... | ३६२ ... | १ |
| विष्णुात्मतावुद्ध्यान्यदेवतार्चनम् ... | ५८८ ... | ७ |
| वैष्णवाचारः ... ... | ४७६ ... | ७ |
| व्रते भोजनानि ... ... | ४५० ... | १४ |

श ।

| | | |
|---|---|---|
| शिलाचक्रविनिर्णयः ... ... | ५५१ ... | २१ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| शिवचतुर्द्दशी ... ... | ६०४ ... | १ |
| शिवद्वादशनामानि ... ... | ३६२ ... | १७ |
| शिवपूजा ... ... | ५५५ ... | १ |
| शिवपूजाङ्गपुष्पाणि ... ... | ५७५ ... | १ |
| शिवपूजाविधिः ... ... | ५६० ... | ८ |
| शिवलिङ्गलक्षणम् ... ... | ५५६ ... | १६ |
| शिवार्घ्यदानमन्त्राः ... ... | ६०५ ... | ३ |
| शिशुचिकित्सा ... ... | २६२ ... | १० |
| शुद्धस्थानासनविनिर्णयः ... | १७५ ... | ७ |
| शौचाशौचविचारणम् ... | ४८ ... | १५ |
| श्रवणद्वादशीव्रतम् ... ... | ६१३ ... | ८ |
| श्रौताधानम् ... ... | ३०८ ... | ८ |


स।


| | | |
|---|---|---|
| संक्रान्त्यां पुण्यकालनिर्णयः ... | ११८ ... | ५ |
| संहारन्यासः ... ... | ४१८ ... | १८ |
| सत्पुरुषलक्षणानि ... ... | २५६ ... | १ |
| सन्ध्याकर्म्म ... ... | १७४ ... | ८ |
| सन्ध्याकालः ... ... | ३६१ ... | १७ |
| सन्ध्याकाले पठनीयानि ... | ३६६ ... | १० |
| समिदाधानम् ... ... | ३५८ ... | १८ |
| समिन्निर्णयः ... ... | ३२४ ... | १८ |

| विषयः | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|
| समुद्रस्नानम् | १०७ | १५ |
| सीमन्तोन्नयनम् | २३८ | १० |
| सुवर्णधारणम् | १६४ | १४ |
| सूर्य्यपूजा | ४८३ | १५ |
| | ५८३ | १० |
| सूर्य्यपूजाविधिः | ४८५ | १९ |
| सूर्य्यमन्त्रः | ४८४ | ३ |
| सूर्य्यादिदेवेभ्यो जलदानम् | २२६ | १२ |
| सूर्य्योपस्थानम् | १८५ | १८ |
| सौभरिमन्त्रोपासना | २३३ | २१ |
| स्त्रीधर्म्माः | २९२ | १ |
| स्थानभेदे सन्ध्यायाः फलविशेषः | १७५ | १ |
| स्नाने मेध्यजलपातादि | १३१ | १० |
| स्मार्त्तहोमविधिः | ३२३ | ४ |

ह ।

| | | |
|---|---|---|
| हस्तपदादिप्रक्षालनम् | १४२ | १८ |
| होमः | ४४३ | १ |
| होमकालविनिर्णयः | ३१९ | ११ |
| होमीयद्रव्याणि | ३२० | १० |
| होमे मुद्रात्रयम् | ४३४ | ८ |

# वर्णानुक्रमणिका प्रमाणग्रन्थ-ग्रन्थकारनाम-सूची ।




अ ।

अत्रिः ११,११ । ५०८,१८ ।

अनन्तभट्टः ४६६,४ ।

अरुणाधिकरणवार्त्तिकम् ८८,२ ।

आ ।

आदित्यपुराणम् ५०८,१४ ।

आदिपर्व्व ४५०,७ ।

आपस्तम्बः * ४८,१३ । १३८,११ । १४१,१५ । १७२,१६ । ३१२,११ । ५२६,८ ।

आपस्तम्बकल्पः ३३८,२२ ।

आपस्तम्बगृह्यम् ३२५,८ ।

आश्वलायनसूत्रम् ३३३,३ । ३३८,५ ।

उ ।

उत्थानाख्यपरिशिष्टम् ३०२,१८ ।


---

* Is said to have born in the Pratisthāna, or Paithana of Pliny, in the eastern Marhatta Country and have flourished in the fifth century B. C. ( Shastri's Indian History. )

ऋ ।

ऋग्विधानम् १२, ३ ।

ऋग्वेदब्राह्मणम् ३०१, २ । ३३८, १८ ।

क ।

कर्कः २४२,१ ।

कर्काचार्य्यः २१८,४ । ३०१,१८ । ३०४,८ । ३१८,२ । ३२७, २ ।

कल्पः ३८८,१३ । ४१६, ८ । ५२८, २१ । ५३०,१२ ।

कल्पतरुः * ६३,५ । ६४,१२ । ७३,५ । ७५,५,१८ । ८७,१० । १००,४ । १२१,१ । १३१, ८ । १४५, ८ । १६५,६ । १८६,५ । २०४,११ । २०८,४ । २२७,३ । २७६,८ । २८५, १५ । ३५८,६ । ४७८, १८ । ५७८, १३ ।

कल्पतरुकारः † ८२,११ । १२१,१ । २१८,१५ ।

काण्वश्रुतिः ३४२,३ ।

कात्यायनः ७७,१५,१८ । ८१,१८ । ८८,१२ । ८५,१० । ८८,१ । १८६, ११ । २१५, १०,१६ । ३३६,८ । ३५१, ७ ।

कालाग्निरुद्रोपनिषद् ३५१,१७ ।

कालादर्शः ४६५,२० ।

कालोत्तरम् ४०२,१६ । ४०६,१८ ।

---

* A work of लक्ष्मीधर who wrote it under the patronage of the Rathor ( Rāstrukta ) king गोविन्दराज of Kanouj a great commentator on मनुसंहिता, about the beginning of the tenth century A. D. ( op. cit. )

† *i. e.* लक्ष्मीधरः

कूर्म्मपुराणम् १०७,१४ । १२७,२० । ५९०,२० ।

कृत्यचिन्तामणिः * १७७,२ ।

क्रमदीपिका ४१४,९ ।

ग ।

गृह्यम् ४,१७ । १३८,१३ । १५०,१६ । ५९६,१२ ।

गृह्यगौतमः १००,१५ ।

गृह्यसूत्रम् २०८,१६ ।

गोभिलः ३२२,२२ ।

गोभिलसूत्रम् २१९,१९ । २९३,१३ । ३०५,१६ । ३२३,११ ।

गौतमः २२७,७ ।

च ।

चिन्तामणिः १०६,१७ ।

चिन्तामणिकारः ४६४,१४ ।

छ ।

छन्दोगपरिशिष्टम् १७६,१२ । १८४,५ । २०८,१३ । २०९,१ । २१४,१४ । २२२,१२ । ३०१,४ । ३२९,१३ । ३३१,३ ।

ज ।

जावालोपनिषद् ३५१,१२ । ३५४,१७ ।

जैमिनिः ३३६,९ ।

ज्ञानस्वरूपम् ५२२,१३ ।

ज्ञानार्णवः ५१४,११ ।

* A work of Caṇḍeçvara of fourteenth century A. D.

त।


तन्त्ररत्नम् १०४,१८। ३००,१०। ३३७,७।

तैत्तिरीयश्रुतिः १४५,२२। १८५,१४। ४०२,११।


द।


दानधर्म्मः ५०,१३। १२८,२१। १७२,१५। २२७,१२। ३२४,७।

देवलः २४४,६।

देवीपुराणम् ५०९,२१।


ध।


धूर्त्तस्वामी ३२३,२०।


न।


नरसिंहपुराणम् ३२,७। ६१,८। ८७,११। १०१,१८। ३१३,८। ३८६,१। ४९५,१७। ५०५,१८। ५११,१८। ५३०,१७। ५५३,२१।

नारदीयकल्पः ४११,१६। ५२२,१४।

नारायणोपनिषद् ४२७,१३।

नृसिंहकल्पः ३२,१३। ३५७,११। ४०५,२०। ४४७,१४।


प।


पञ्चरात्रम् १३३,१५। १९१,९। ४११,७। ४१७,८। ४३२,१६। ४४८,२२। ४८४, ७,१४। ५०९,७। ५११,४।

पतञ्जलिः १७८,१९। १७९,१६।

पद्मपुराणम् ७२,१२। ८१,११। २०९,१२,१६। २१०,४। ३८८, १३। ४४८,१४।

परिशिष्टम् ३०५,१९।

पैठीनसि ३१३,५।

प्रपञ्चसार: ४०८,१६। ४१२,१३। ४१४,१७। ४३२,१९। ४४०, १२। ४४३, १२। ४४५, १८। ५२०, ५। ५२२, १०। ५६६,१३।

प्रभाकर: ४६३,६।

प्राचीनाचारपद्धति: १०२,१३।

ब।

बृहत्कल्प: ४२०,३। ५३०,१३।

बृहदारण्यकम् १५०,१८। २२९,१९। २४३,८।

बौधायन: ९१,३। १४५,५। १४६,३। २०४,६,१०। २१९,१४। २२१,६। २२२,८,११। २२३,७,१८। ३३९,२। ३४३,४। ५६३,१६।

ब्रह्मोपनिषद् १६४,२।

भ।

भट्टपाद: ७,८। ४८,१५। ४९,५। १३८,९। ३०१,१२। ३१९, ५। ३२६,१३। ४०२,१२। ५०७,२०।

भट्टाचार्य्य: ३३५,१३।

भरद्वाजसूत्रम् ३०१,१। ३३२,२। ३४२,१५।

भवदेव: ४९, ६।

भविष्यपुराणम् १८१,१३ । ५७६,१८ । ५८८,१८ ।

भारतसावित्री १६,५ ।

भाष्यकारः ३२६, २० ।

म ।

मत्स्यपुराणम् १२७,१४ । ५३०,७ ।

मनुः ३६,३ । १८८,१ । २८६, १२ ।

मन्त्रमुक्तावली ४१४, १२ ।

मन्त्रावली ५६५, १५ ।

मरीचिः २१३, ७ । २२०, ८ ।

महाभारतम् ११४, १६ । ५०६, २० ।

माध्यन्दिनश्रुतिः ३१८, १८ ।

मार्कण्डेयः १११, ५ ।

मोक्षधर्मः १२७, १७ ।

मोक्षपरीक्षा ७,१० ।

य ।

यजुर्विधानम् ५६१, २० ।

यज्ञपार्श्वः ३०४,१८ । ३०६,१८ । ३३०,१७ ।

याज्ञवल्क्यः १३८,१५ । १४५,७ । १७६,१२ । १७७,२ । १७६, १३ । २०८, १२ । २१०,२२ । ३१३,३ ।

योगियाज्ञवल्क्यः १२७,१३ । १४५,८ । १८१,२० । १८७,१३ । १८८,४ । १८०,१८ । २१८,१२ । २२५,८ । ५०६,२२ । ५०८,११ ।

योगसारः २१,१५।

र।

राजधर्म्मः ४९५,६।

ल।

लाटसूत्रम् ३४४,१।
लिङ्गपुराणम् १४६,१८। ५५४,१३। ५७१,७।

व।

वटुकमन्त्रप्रयोगः ३५८,१०।
वराहपुराणम् ६३,४। ३३२,१। ३६६,८। ४८१,१८। ५०६;
१८। ५०९,१६। ५९०.७।
वशिष्ठः ८८,१४।
वायुपुराणम् १७८,१८।
वार्त्तिकम् १२९,८।
विष्णुः १००,१७। ११४,९। २२५,८।
विष्णुधर्म्मः ४९५, १०।
विष्णुपुराणम् २०९,११। २२०,१५।
विष्णुस्मृतिः २२३,१।
वृद्धमनुः १९६,१४।
व्यासः ९८,३। १६९,५। १८२,१९। १८४,३। २२६,१४।

श ।

शङ्कराचार्य्यः * ५०८,१६ । ५३०,१६ ।

शङ्खः ८१,१७ । ८८,७ । ९०,१५ । १०१,४ । १७७,१३ । १८२, ५,८ । २११, २,२० । २१९,१४ । २२०,१ । २२३,३ ।

शारदातिलकम् ४१४,१५ । ४३५,२ । ५१४,६,१७ । ५२०,२ । ५२८,१० । ५३०,८ । ५५०,५ । ५५१,८ ।

शास्त्रदीपिका ३००,१६ ।

शैवमन्त्रार्थमाला ४०८,१ ।

शौनकः ३२३,१ ।

श्रुतिः ३१०,८ ।

श्रौतसूत्रम् ३०८,१७ ।

स ।

सुरेश्वराचार्य्यः ४२२,१० ।

स्कन्दपुराणम् ४,१६ । ३५४,१२ । ५७५,९ ।

स्मृतिरत्नमाला १०,१७ । २०३,१९ ।

स्वामी ३१०,१६ ।

---

* During the period of the ascendency of the early Chalukyas,—(Solankis of Mahammadans) of southern India in the middle of the seventh century A. D., he is said to have preached his celebrated Vedanta philosophy. ( Shāstri's Indian History. )

# शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पङ्क्तिः |
|---|---|---|---|
| जुह्वयात् | जुहुयात् | २ | १० |
| स्वगस्यैव | स्वर्गस्यैव | ३ | ६ |
| ०दर्हि र्वैर्भ: | ०दर्हिर्वैर्भ: | २२ | १० |
| प्राणं | प्राचीं | २३ | १७ |
| पुत्रा | पुत्र | २३ | २० |
| विन्मू० | विण्मू० | ३३ | ३ |
| द्वाद्युत्तर० | द्व्याद्युत्तर० | ३६ | १८ |
| विन्मू० | विण्मू० | ४० | १ |
| रात्रावाचान्त० | रात्रौ,—आचान्त० | ४३ | ४ |
| जुह्व | जुह्वर: | ४३ | ६ |
| द्वह्वान० | द्व्यह्वान० | ४५ | ४ |
| शोनितानां | शोणितानां | ४५ | ८ |
| शूरा० | सुरा० | ४५ | १२ |
| हत्या | हत्वा | ४७ | १६ |
| अन्यं | अन्यत् | ४८ | ५ |
| पौर्णमास्यां | पौर्णमास्या | ५१ | १६ |
| जुहु | जुह्व | ६७ | १५ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| तं निषिद्धं | तन्निषिद्धं | ६८ | ४ |
| अनुद्य | अनूद्य | ७२ | ८ |
| इमस्मे | इमम्मे | ८८ | १५ |
| हविस्मती | हविष्मती | ९१ | १० |
| ओंमिति | ओमिति | ९८ | १७ |
| इत्यैका० | इत्येका० | १०२ | १६ |
| मानवः | मानवाः | १०५ | १२ |
| इत्यनेनाधि० | इत्यनेनानधि० | १०६ | ३ |
| सहस्रेषु | साहस्रं | १०७ | ११ |
| यथोत्तरे | तथोत्तरं | १०८ | ७ |
| मोक्षहेतुत्वे० | मोक्षहेतुस्त्वे० | ११३ | ८ |
| विष्णुवचात् | विष्णुवचनात् | ११४ | ८ |
| *आप्लावयसि गात्राणां | पौण्ड्रान् प्लावयसे नित्यं | ११५ | ४ |
| ०भिजनीया० | ०भिजानीया० | ११८ | १६ |
| स्त्रीच्छोहि | स्त्रीच्छोऽहि | १२० | १ |
| शुभाः | गणाः | १२० | २ |
| पत्रकोशी च | पत्रकोशीर | १२१ | १६ |
| प्यशुभेषु काम० | प्यशुभेष्वकाम० | १२४ | २२ |

* अत्र रघुनन्दनभट्टाचार्य्यधृतपाठ एवार्थसङ्गत इति शुद्धत्वेन परिगणितो यदि च —"आप्लावयसि गात्राणां" वा "आप्लावयति गात्राणां" इत्येवमर्थविकलः पाठो हस्तलिखितपुस्तकेषु परिदृष्टत्वान्मूले तथैव रक्षितः ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| जुहूयात् | जुहुयात् | १२५ | १९ |
| श्वपाकं | श्वपाकं | १२६ | १ |
| सौरं—चैव | सौरं निरुक्तञ्चैव | १२८ | १ |
| तत्रैवेतत् | तत्रैवेतत् | १३१ | ८ |
| सम्मिश्रं | सम्मिश्रं | १३३ | १ |
| अहतानां | आहतानां | १३६ | ४ |
| विपर्य्यासं | विपर्य्यासं | १३६ | ५ |
| निर्निक्त० | निर्णिक्त० | १३७ | ३ |
| धौतेत | धौतेन | १३८ | ५ |
| निर्नेजक | निर्णेजक | १३८ | ५२१ |
| तुष्ट्यौ | तुष्ट्यै | १४० | ११ |
| पुत्रलाभश्च धनलाभश्च | पुत्रलाभश्च धनलाभश्च | १४२ | १५ |
| रुरू | रुंरू . | १४२ | १८ |
| अब्लिं गाभि० | अब्लिङ्गाभि० | १४५ | ३ |
| गनुष्याणा० | मनुष्याणा० | १४७ | १९ |
| गोपीचन्दनं | गोपिचन्दनं | १५१ | ७ |
| उभयतोभय० | उभयत्रोभय० | १५२ | २० |
| प्रयागादीषु | प्रयागादिषु | १५३ | १० |
| गोपीचन्दन | गोपीचन्दन | १५३ | ११ |
| मपीत्येत्परमेव | मपीत्येतत्परमेव | १५४ | २ |
| इत्यन्तेन | इत्यन्त्येन | १५५ | ८ |

शुद्धिपत्रम्।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| पटल-हरा | पटलकाचहरा | १५५ | १६ |
| सुरापगाः | सुरापगा | १५७ | ८ |
| ०ईँवकि० | ०ईँवकि० | १५८ | ६ |
| ०मालाया | ०मालया | १५८ | १२ |
| शिरशो | शिरसा | १५८ | १६ |
| अश्वकन्दं | अश्वगन्धं | १६२ | १७ |
| ०पट्टानि | ०पट्टानि | १६२ | १६ |
| निर्गुण्ड्याः | निर्गुण्ड्याः | १६२ | २१ |
| अनन्तगर्भिणं | अनन्तगर्भिणं | १६६ | २१ |
| ” | ” | १६७ | ३ |
| सोमपानफलं | सोमपानं फलं | १६८ | ६ |
| सोमपानफलं | सोमपानं फलं | १६६ | ७ |
| आयात | अयात | १७० | ६ |
| सन्ध्यानिशा | सन्ध्यानिशोः | १७३ | ५ |
| गर्गश्चयवनो | गर्गो यवनो | १७३ | ६ |
| दशोङ्कार | दशोङ्कार | १७७ | १७ |
| ०दिलयो० | ०दीलयो० | १८० | १३ |
| मध्यमा तर्जनी | मध्यमां तर्जनीं | १८० | १८ |
| लुम्पतु | लुम्पतु | १८२ | १३ |
| त्युचेना० | त्र्यृचेना० | १८२ | १५ |
| ०तमुपा० | ०तामुपा० | १८३ | १० |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| ०तमुपां० | ०तामुपा० | १८५ | ८ |
| कृताञ्जलि० | कृताञ्जलि० | १८५ | १८ |
| असमर्थ्येन | असामर्थ्ये | १८७ | २ |
| रजोंनाम | रजोनाम | १८८ | १५ |
| समाचारश्चै० | समाचाराश्चै० | १९० | ६ |
| कुर्य्यादष्या० | कुर्य्यादष्टा० | १९१ | १७ |
| पदक्रमण | पदाक्रमण | १९२ | ८ |
| ०नैत्तिक० | ०नैमित्तिक० | २०३ | ५ |
| पायी | पापी | २०४ | १५ |
| ०गच्छेति | ०गच्छतेति | २११ | ७ |
| ०मिश्रान् स्त्रीं० | ०मिश्रां स्त्रीं० | २१५ | ८ |
| तदन्तरं | तदनन्तरं | २२० | ७ |
| षष्ठान्विते | षष्ठान्विते | २२८ | ३ |
| गर्भाधानं···चान्ते | गर्भाधानं शुभ्रम यस्य चान्ते | २२८ | ८ |
| पूतञ्जीवक | पुत्रञ्जीवक | २३२ | १७ |
| जुह्यात् | जुहुयात् | २३३ | ४,१३ |
| अरः | तारः | २३४ | ४ |
| अरं | तारं | २३४ | १ |
| शितेन्दु | सितेन्दु | २३६ | १ |
| दिवाकरेन्द्रोः | दिवाकरेन्द्रोः | २३६ | १८ |
| पुद्गल | पुङ्गल | २३६ | २१ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| गते | गतः | २३७ | ३ |
| लग्नेन्दु० | लग्नेन्दू० | २३७ | १५ |
| शितबुधा | सितबुधा | २३७ | २१ |
| सर्पणक्रान्त० | सर्पनक्रान्त्य० | २४४ | ५ |
| अष्टमधर्म्मगो वा | अष्टमधर्म्मगे वा | २४५ | २० |
| पापौ | पापो | २४६ | १० |
| ०र्नियुतो | र्नयुतो | २४७ | ६ |
| चतुरसंस्थे पाद० | चतुरष्टसंस्थे पाप० | २४७ | ७ |
| मणिस्थः | मणित्थः | २४७ | १३ |
| सुखप्रसूतं | सुखः प्रसूतं | २४८ | १९ |
| ०शुभप्रसूतं | शुभः प्रसूतं | २४८ | २२ |
| विबुधीसुर० | विबुधासुर० | २४९ | ५ |
| मृतकं | भृतकं | २५१ | २० |
| द्वयगै० | व्ययगै० | २५२ | १ |
| बनमटनं | चलमटनं | २५२ | १० |
| योगयुक्तं | त्यागयुक्तं | २५२ | १२ |
| शतानिका० | शतानिला० | २५२ | १३ |
| संयहे | सद्ग्रहे | २५२ | १७ |
| शुभान् | शुभाः | २५२ | १९ |
| बाप्याद्दया० | पापाव्यया० | २५२ | २० |
| ०लयान्यपि | ०लयामपि | २५३ | ३ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| वित्तं | चित्तं | २५२ | ५ |
| ०रपचय० | ०रूपचय० | २५३ | ८ |
| लग्नेन्द्रो: | लग्नेन्द्वो: | २५३ | ९ |
| शून्ये बले | शून्येऽबले | २५३ | १० |
| ०श्वरस्थे | ०श्वरेऽस्ते | २५३ | १० |
| विधवा···सा | विधवा सत्सु चार्थे सा | २५३ | १४ |
| नीचे चोर्द्धं ह्रसति | नीचेऽतोऽर्द्धं ऋसति | २५३ | १५ |
| ०र्दीयते स्वात् त्रिभाग० | ०क्षीयते स्वत्रिभाग० | २५३ | १७ |
| प्रोञ्च्य | प्रोह्य | २५३ | १८ |
| ०चतुर० | ०चरण० | २५३ | १९ |
| ह्रसति | ऋसति | २५४ | १ |
| गणेभ्य: | भगणेभ्य: | २५४ | ७ |
| ०हृताद् विशेषोऽर्द्ध० | ०हृतावशेषेऽब्द० | २५४ | ८ |
| दीनारं | दिनारं | २५४ | ९ |
| त्रिगुण: | द्विगुण: | २५४ | ११ |
| वक्रोच्चय | वक्रोच्चग | २५४ | १२ |
| दन्त: | दत्त: | २५४ | १३ |
| अध्वनिकोमलौ | अध्वन्यकोमलौ | २५६ | १६ |
| अस्वेदनौ | अस्वेदिनौ | २५७ | ३ |
| ०मन्दै० | ०मल्पै० | २५७ | १६ |
| ०पिठरोदरा | ०पिठरनिभोदरा | २५७ | २२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| अस्वेदन० | अस्वेदिन० | २५८ | १४ |
| गतायुषां | गतायुषां | २५९ | १८ |
| धनवान्···स्थूले० | धनवानपत्यरहितः स्थूले | २६१ | १२ |
| निष्क्रामणं | निष्क्रमणं | २६६ | ५ |
| अपोशान, | आपोशानं | २६९ | १२ |
| अपोशान | अपोऽशान | २६९ | १३ |
| अश्नीयात् | अश्नीयात् | २७१ | २२ |
| अहृतं | आहृतं | २७३ | १६ |
| तन्वः | तन्वः | २७८ | १० |
| अस्वेदनी | अस्वेदिनी | २७८ | १९ |
| समवतस्व | समुन्नतस्व | २७९ | ३ |
| षड्ष्टगे | षड्ष्टगैः | २८३ | ८ |
| जुहुयात् | जुहुयात् | ३०२ | ५ |
| यत्तुदक्० | यत्तूदक्० | ३१६ | २१ |
| इत्याग्नि० | इत्यग्नि० | ३५१ | ४ |
| विसृज्या० | विसृज्या० | ३५४ | १८ |
| पाषाणानि० | पाषाणनि० | ३५५ | १० |
| मलस्पर्श० | मलं स्पर्श० | ३५५ | २० |
| समिधमादध्यात् | समिध आदध्यात् | ३५९ | १९ |
| महाऋषि० | महान्षिः | ३६६ | १८ |
| विभ्यति | विभ्यन्ति | ३७९ | २२ |

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| ०स्युति | ०स्यूति | ३८० | १२ |
| ॐ | ओं | ३९२ | १६ |
| वपुषेव | वपुषैव | ४११ | २० |
| अरग्रक्षयु० | तारग्रक्षयु० | ४२१ | १ |
| ०पुण्डुं | ०पुण्ड्रं | ४२५ | ७ |
| अङ्क्षैर्यथा० | अङ्क्षैर्यथा० | ४३१ | २ |
| समं ततः | समन्ततः | ४३४ | १६ |
| ऐशन्यां | ऐशान्यां | ४३७ | २० |
| सुषुम्ना | सुषुम्णा | ४३८ | ९ |
| संमाज्य | सम्मार्ज्य | ४३९ | २० |
| हुं | हूं | ४४१ | २२ |
| नेत्राव्यां | नेत्राभ्यां | ४४१ | २२ |
| देवसुखा० | देवमुखा० | ४४२ | ३ |
| स्वस्तिकारीं तमुच्चैः | स्वस्तिकाभीतिमुच्चैः | ४४२ | ५ |
| वैश्वानरं | वैश्वानर | ४४२ | १० |
| ०स्वपूर्व्वकं | ०स्वपूर्व्वकं | ४४५ | १ |
| प्रशमेत् | प्रणमेत् | ४४६ | १५ |
| वर्णमयोः | वर्णमयो | ४४६ | १६ |
| सुषुम्नातः | सुषुम्णातः | ४४७ | १२ |
| त्वत्प्रसादेव | त्वत्प्रसादादेव | ४४९ | ३ |
| तथा | तया | ४५० | ११ |

## शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृष्ठा | पंक्तिः |
|---|---|---|---|
| वैश्यमानवैः | वैश्वमानवैः | ४६२ | १२ |
| प्राभाकरैः | प्रभाकरैः | ४६३ | ६ |
| त्रिःकत्व | त्रिकत्वः | ४७३ | २ |
| दशम्येकादशी | दशम्यैकादशी | ४७५ | ७ |
| ०दैवत्व० | ०दैवत्य० | ४७९ | १३ |
| ०कांल० | ०काल० | ४८० | १३ |
| अन्नाभि० | अन्याभि० | ४८० | २१ |
| नमिष्यामि | नमस्यामि | ४८२ | १४ |
| ०सौषुम्न० | ०सौषुम्ण० | ४८५ | १५ |
| देव | देवं | ५०५ | १४ |
| सुषुम्ना | सुषुम्णा | ५१७ | ७ |
| तमात्मा अन्तरा० | तमात्मान्तरा० | ५१९ | २१ |
| अद्भिरेव | आभिरेव | ५२१ | १२ |
| ०दित्यत्युक्तत्वात् | ०दित्युक्तत्वात् | ५२२ | १६ |
| दुर्व्वा | दूर्व्वा | ५२४ | ५ |
| ” | ” | ५२६ | ६ |
| संयुज्य | सम्पूज्य | ५४३ | २ |
| त्तमध्यमिति | त्तमध्वमिति | ५७२ | १६ |
| धुस्तूर० | धुस्तूर० | ५७५ | १२,१४,१५ |

# नित्याचारपद्धतिः।

## ओं नमो गणेशाय।

[1][यावत् तौ शशिभास्करौ प्रतपतो यावद्धरायां द्विजाः
श्रुत्युक्तं प्रचरन्ति यावदिह च क्षीरप्रदा धेनवः।
यावत् ते निवसन्ति विप्रवदने वेदास्त्रयः साधव-
स्तावत् शम्भुकरात्मजस्य करणं भूयात् प्रमोदाय वः॥

नानामुनि-स्मृति-निबन्धन-भाषितानि
चूर्णीकृतानि सुविचार्य्य विनिश्चितानि।
गङ्गादि-तीर्थ-सलिलानि यथैव गात्रे
विद्याकरैरिह हि पद्धतिनाम्नि शास्त्रे॥

आहर्त्ता यः क्रतूनामयुतभृतिभृतां त्रिंशतां सत्यवत्याः
पुत्रो विद्याकरोऽभूत् सकलगुणिगणैरीड्यते कृष्णवद् यः।
त्रिंशद्वर्षं स काश्यां कृतवसतिरभूद्धर्म्मशास्त्रस्य कर्त्ता
पद्धत्याख्यस्य खण्डं प्रथममिह बलोऽलीलिखत् तस्य काशिः॥]

यदा यदा हि धर्म्मस्येत्यङ्गीकृतिवशीकृतः।
मत्तातपादरूपेण जातो यस्तं हरिं भजे॥

(१) [ ] बन्धनीमध्यस्था अंशाः पुस्तकान्तरे न दृश्यन्ते।

तातपादपदाम्भोजं नत्वा वाजसनेयिनाम् ।
[1]नित्यार्थाह्निककृत्यानि लिख्यन्ते तत्प्रसादतः ॥
दुरितक्षपणार्थानि कानिचिच्च प्रसङ्गतः ।
तथा वैष्णवकृत्यानि लिख्यन्ते चेह नित्यवत् ॥
प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या च यद् यत् पुंसामपेक्षितम् ।
तत् तत् सर्व्वमिहालेख्यं प्रसङ्गात् साधुतुष्टये ॥

तत्र येषामकरणे प्रत्यवायोत्पत्ति[2]स्तानि नित्यानि। तथाहि स्वर्गादिफलतया विहितेऽग्निहोत्रादौ यावज्जीवमित्यनेन जीवनकालविधाने जीवनपदे जीवनकाललक्षणा। घटिकाकालमात्रानुष्ठेये च सकलजीवनकालायोगात् जुहुयादित्यभ्यासलक्षणा च स्यादिति तत्—परिहारार्थं यावज्जीवपदं निमित्तमिष्यते। तत्र सायंप्रातःकालावच्छिन्ने जीवने निमित्ते होमो विधीयते। तत्र वाक्यान्तरश्रुतस्य स्वर्गादेर्न भाव्यत्वम्। सर्व्वदा तस्येष्टत्वासम्भवात्। अविवेकिनामेव तत्रेच्छा। विवेकिनां पुनर्बहुतरदुःखानुषक्ततया हेयबुद्धिः। ततः सर्व्वावस्थासाधारणेच्छागोचरतया उपात्तदुरितक्षय एव भाव्यः। एवं "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" "अहरहः स्वाहा कुर्य्या"दित्यादेर्वीप्साबलादभ्यासपरिहाराय निमित्तपरत्वम्। तत्र निमित्तं नाम यस्मिन् सति यदवश्यं क्रियते। अवश्यकरणञ्च अकरणात् निवृत्तिः। तत एव च शास्त्रेण निवर्त्त्यते,—यतोऽनिष्टं भवतीति

---

(१) नित्यान्याह्निककृत्यानि ० ।
(२) प्रत्यवायस्तानि ० ।

न्यायात्। "विहितस्याननुष्ठानान्नरः पतनमृच्छती"त्यादिवाक्य-बलाच्चाकरणभाव्यानिष्टपरिहारार्थानि। तथाहि तत्तद्विधवाक्येषु भावनाया एव विहितत्वात्। तस्याश्च किं केन [1]कथ-मित्यपेक्षिताङ्गत्रयवत्त्वात् भाव्यं विना विधिरूपासिद्धेः। प्रत्यवाय-परिहारस्य चात्यन्ताभावरूपस्य नित्यतया भाव्यत्वायोगात्। विधिप्रत्ययेन चेष्टस्यैव भाव्यत्वप्राप्तेः। धात्वर्थभाव्यत्वायोगाच्च।

अश्रुतफलेषु विश्वजिद्यागादिषु दुरितक्षयस्य दुरिता-निष्टत्वोपाधिकेच्छाविषयत्वात् तद् यागेन निरुपाधिकेच्छाविषय-स्वर्गस्यैव भाव्यत्वावधारणेऽप्यत्र कर्त्तॄणां कदाचिद् भगवदनु-ग्रहाद् वैराग्योत्पत्तौ स्वर्गेऽपीच्छानिवृत्तेरनिष्टस्य च विहिते भाव्यत्वायोगात् यावज्जीवानुष्ठेयकर्म्मसु स्वर्गभाव्यत्वानुपपत्त्या सर्व्वस्य सर्व्वदेच्छागोचरतया उपात्तदुरितक्षय एव भाव्यः कल्प्यते। धात्वर्थरूपाणि भावनायां केनेत्यपेक्षितकरणत्वेना-न्वीयन्ते। करणत्वस्य कर्त्तृव्यापारविषयलक्षणस्येति कर्त्तव्यता-ख्योपकारकव्यापारं विनाऽसम्भवात् कथमित्यपेक्षितश्रुत्यादि-समर्पिताङ्गजातोपेतान्येव भाव्यं भावयन्तीति। तत्र जीवनादि-निमित्तबल[2]कल्पितत्वात् तत्कालप्रधानावश्यकर्त्तव्यतान्यथानुप-पत्तिकल्पित—यथाशक्तीत्युपपदबलात् प्रत्येकं [3]यावद् वाक्यं सम्पादनाङ्गोपेतान्यशक्यसम्पादनाङ्गहीनान्यपि क्रतानि। तत्र

(१) कथमित्यपेक्षितांगत्रयवत्वात्।

(२) प्राप्तत्वात्॰।

(३) यावच्छक्यसम्पादनाङ्गोपेता॰।

अशक्तौ "मनसाप्येनमाचारमनुपालये"दिति वचनान्मनसापि कृतानि ;—

पूर्व्वजन्मार्ज्जितानामिहापि जन्मनि,—

ऊनषोड़शवर्षेण यद् बाल्ये किल्बिषं कृतम् ।

यच्चाधर्म्मप्रवृत्तेन तत् सर्व्वमुपशाम्यति ॥

इति वचनादूर्द्ध्वं कृतेषु मध्ये येषां प्रायश्चित्तविशेषाम्नानाभावः[1] तेषां दुरितानां फलस्य कर्म्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यादिति न्यायेन कृष्यादिदृष्टसाधनवत् साधनकर्म्मानुरूपेण किञ्चित् किञ्चित् दुरितानि नाशयन्ति । अकरणभावि[2]दुरितानुत्पादनाय च भवन्ति । शक्यसाधनमपि यदङ्गं विस्मृतं तस्याप्यशक्या[3]न्तर्गतत्वात् तदभावेऽपि भवत्येव फलम् ।

यत्र पुनः—

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।

न्यूनं सम्पूर्णतां याति"

इति स्कन्दपुराणोक्तम्, यत्र च मन्त्रभ्रंशो यज्ञभ्रंशो वा तत्र पुरुषं चिन्तयन्नेतत् सूक्तं जपेदिति वा मूलग्रन्थोक्तं प्रायश्चित्तं कुर्य्यात्, तत्र,—

---

(१) प्रायश्चित्ताम्नानाभावः ।

(२) ० प्रत्यवायानुत्पादनाय च ।

(३) ० अयत्नादन्तर्गृहीतत्वात् ।

"कर्म्मणामल्पमहतां फलानाञ्च स्वगोचरे।
विभागः स्थानसामान्यादविशेषे ऽपि चोदितः॥"

इति न्यायेन अल्पे कर्म्मणि नामसंकीर्त्तनं युक्तम्, महति पुरुषसूक्तजपयुक्तं ध्यानमिति व्यवस्थोहनीया। शक्यसम्पादनस्याविस्मृतस्याकरणे पुनर्न दुरितक्षयः। प्रत्यवायपरिहारः पुनर्विष्णुस्मरणाभावेऽपि प्रधानाकरणाभावे स्यादेव।

"स्वकाले यदकुर्व्वंस्तत् करोत्यन्यदचेतनः।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते॥"

इति मतेऽपि यथा कथञ्चित् प्रधानमात्रानुष्ठानेऽपि तत्काले विपरीतकरणस्य प्रत्यवायहेतोरसम्भवात् भवेदेवं प्रत्यवायपरिहारः।

यत्तु,—

"अक्रिया त्रिविधा प्रोक्ता" इति अन्यथाकरणस्यापि अक्रियात्वमुपचरितं तत् कामकारिणामित्युक्तत्वात् काम्यपरमेव। यच्च कर्म्म यस्मिन् काले विहितं तत्कालाभावेऽपि नाङ्गान्तराभाव इति तत् कर्म्मानुष्ठेयम्। नित्यकर्म्मसु यथाशक्तीत्युपपदस्य उपादेयाङ्गमात्रविषयत्वात् कालस्य त्वनुपादेयत्वात्।

तदुक्तम्,—

"अङ्गत्वेऽपि च कालस्य न त्यागोऽन्याङ्गवत् कृतः।
अनुपादेयरूपत्वात् काले कर्म्मविधिर्यतः॥"

इति।

यदा पुनर्विहितकाले कथञ्चिदौदासीन्यप्रच्युत्या करोमीति

सङ्कल्पारम्भोऽपि कृतः तदारब्धस्यावश्यसमापनीयत्वात् कालान्तरेऽपि अङ्गवैगुण्यपरिहारार्थं प्रायश्चित्तपूर्व्वकं समापनीयमेव। यत्र प्रधानस्य विहितकालाभावे तत्कालसम्बन्धिकर्म्मविध्यभावात् तदुक्तफलासम्भवेऽपि यो "यक्ष्य" इत्युक्त्वा न यजते तत्र वैधातवी प्रायश्चित्तिरिति। यस्तप उपेत्य न यथार्थं तपस्यति असमाप्तौ वा विरमेत तत्राग्नेयो विधिश्चान्द्रायणं चेत्यादिवाक्यकल्पितप्रायश्चित्तपूर्व्वकारब्धसमापनविधिविहितभावनाभाव्यं कर्त्तुरिष्टं फलं स्यादेव तदारब्धस्याप्यकरणे। एतेषामाचाराणामेकैकव्यभिचारे गायत्र्यष्टसहस्रजपं कृत्वा पूतो भवतीत्युक्तं प्रायश्चित्तमेव कर्त्तव्यम्। एवं भ्रान्त्यादिना विहितकालात् प्राक् करणे विहितकाले पुनः कर्त्तव्यम्।

तथाच स्मरन्ति,—

अकाले चेत् कृतं कर्म्म काले तस्य पुनः क्रिया।
कालातीतं तु यत् कुर्य्यादकृतं तद्‌ विनिर्द्दिशेत्॥

इति।

क्वचित् पुनः प्रातर्होमादौ विहितकालात् प्राक् कृतस्य पुनरकरणे कारणं वक्ष्यते।

यत्तु नित्यकर्म्मणां,—

"आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥"

इत्यायुरादीन्यपि फलानि स्मर्य्यन्ते तत्र कर्म्मणामल्पमहत्तामिति न्यायात् विधिप्रत्ययेनेष्यमाणस्यैव भाव्यत्वनियमात्।

सर्व्वाङ्गोपेतादेव प्रधानात् काम्यफलं न नित्यं [1]तदङ्गहीनादपि। षष्ठ-द्वितीय-तृतीये चिन्तितत्वात् सर्व्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपौर्णमासावित्यत्र एकस्मात् प्रयोगादेकमेव फलं न युगपदनेकमिति च योगसिद्ध्यधिकरणे चिन्तितत्वात् यत्फलानुरूपं यत् कर्म्म तत्कामनया चेत् तत् कर्म्म सर्व्वाङ्गसम्पूर्णं क्रियते तदेव तत एव तदेव भवति नान्यथा [2]तत एव तत्रानुष्ठानाद् दुरितक्षयप्रत्यवायपरिहारसिद्धेर्न तदर्थं पृथगनुष्ठातव्यम्।

तदुक्तं भट्टपादैः षष्ठ-तृतीयाद्ये नित्यकाम्याग्निहोत्राधिकारे,—
"नापि प्रयोगान्तरमिदमन्तर्गतत्वात् काम्ये नित्यप्रयोगस्येति।"
अत्र योगसिद्ध्यधिकरणे विरोधः परिहृतोऽस्माभिर्मोक्षपरीक्षायाम्।

"कर्म्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते।
तदभ्यासो हरत्येनस्तस्मात् कल्याणमभ्यसेत्॥"

इति शुभकर्म्मणां जन्मान्तरे शुभकर्म्मप्रवृत्तीच्छापि प्रयोजनम्।

यत्तु,—

"अयमेव क्रियायोगो ज्ञानयोगस्य साधकः।
कर्म्मयोगं विना ज्ञानं कस्यचिन्नेह दृश्यते॥"

इति आत्मज्ञानार्थत्वमुक्तम्।

---

(१) नित्यवदङ्गहीनादपि।

(२) काम्यत्वेनानुष्ठितान्नित्यकर्म्मणः काम्यनित्ययोस्तत एव ०।

तत्र,—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्म्मणः ।"

इति वचनात् उपात्तदुरितक्षयहेतु[1] द्वारैव न साक्षात् ।

---

तत्र रात्रेरन्तिमे यामे शयनादुत्थाय,—

"नमोऽस्तु प्रियदत्तायै तव चेति दिने दिने ।
भूमिमाक्रमते प्रातः शयनादुत्थितश्च यः ।
स सर्व्वकामतृप्तात्मा सुखं याति यमालयम् ॥"

इति वाक्यार्थमनुष्ठाय,—

"अन्यदेव भवेद् वासः शयनीये सदैव हि ।"

इत्यनेन दृष्टफल[2]शयनादन्यवस्त्रविध्ययोगादन्यत्वोक्त्या [3]तत्प्रतियोगिनः शयनीयान्यकालादन्यवस्त्रस्य यदर्थसिद्धमन्यत्वं तदेव विधीयते। इति। तद्वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरं परिधायाचम्य यथाशक्ति शुद्धिं सम्पाद्य भगवद्भक्तेन,—

"सर्व्वमङ्गलमङ्गल्यं वरेण्यं वरदं शुभम् ।
नारायणं नमस्कृत्य सर्व्वकर्म्माणि कारयेत् ॥
शयनादुत्थितो यस्तु कीर्त्तयेन्मधुसूदनम् ।
कीर्त्तनात् तस्य पापानि नाशमायान्त्यशेषतः ॥"

---

(१) ० क्षयहेतुतयैव ० ।

(२) ० शयनान्यवस्त्र ० ।

(३) तत्प्रतियोगिकशयनीयादन्यकालीनवस्त्रस्य ० ।

इति वचनात् सनमस्कारभगवन्नामकीर्त्तनपूर्व्वक[1]मेतद् विज्ञापनीयम्,—

यत्तु श्वासादिकं कर्म्म यत् त्वया प्रेरितो हरे।
करिष्यामि त्वदाज्ञेयमिति विज्ञापनं मम॥
साधु वासाधु वा कर्म्म यद् यदाचरितं मम।
तत् सर्व्वं भगवन् विष्णो गृह्णाणाराधनं परम्॥
प्रातः प्रबोधितो विष्णो हृषीकेशेन यत्त्वया।
यद् यत् कारयसीशान तत् करोमि तवाज्ञया॥
त्रैलोक्यचैतन्यमयाधिदेव श्रीनाथ विष्णो भगवन् प्रसीद।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये॥

संसारयात्रामनुवर्त्तमानं
त्वदाज्ञया श्रीनृहरेऽन्तरात्मन्।
स्पर्द्धातिरस्कारकलिप्रमाद-
भयानि मां माभिभवन्तु भूमन्॥
जानामि धर्म्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्म्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करिष्ये॥ इति।

तत्र,—

"यः प्रातरुत्थितो विद्वान् ब्राह्मे वापि मुहूर्त्तके।
सर्व्वदा वा जपन् जन्तु स्तवराजम्"

---

(१) ०मेवं०।

इत्युक्तत्वात् विनायकस्तवराजमिष्टफलार्थं जपेत्[1] ।

ततो रात्रिशेषं अशेषवेदान्तार्थपरमात्मचिन्तया भगवन्मूर्त्ति-ध्यानेन वा देहाद्यसारताविचारेण वा वेदान्तपाठमात्रेण वा समापयेत् ।

यद्यपि,—

"प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासरतो भवेत् ।"

इति सामान्येन वेदाभ्यासमात्रं विहितं तथापि,—

"यामद्वयशयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते ।"

इति वाक्यशेषे ब्रह्मभावसाधनत्वाभिधानादुपनिषदर्थावगम-[2]स्यैव च साधनत्वात् तदर्थविचारपरः । तत्राशक्तस्यैव तत् पाठमात्रपरो वेदाभ्यासशब्द इति ।

अतएव,—

"ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्म्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥"

इति वेदतत्त्वार्थस्य ब्रह्मण एव चिन्तनं मनुनाभिहितम् । अत्र पश्चिमयामद्वयमुहूर्त्त एव ब्रह्मचिन्तनौपयिकत्वात् ब्राह्मो मुहूर्त्तः । तथाच स्मृतिरत्नमालायां,—ब्राह्मो मुहूर्त्तो रात्रेः पश्चिमयाम इति व्याख्यातम् ।

यत्तु,—

---

(१) पठेत् ।

(२) ० स्यैतत्साधनत्वादर्थविचार ० ।

"रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्त्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः सम्प्रबोधने॥"

इति वाक्यं पठन्ति तन्निद्रालोभमूलमिति सम्भाव्यते। तत्प्रामाण्येऽपि "प्रदोषपश्चिमौ यामौ" इति अन्त्ययामार्द्ध एव प्रबोधविधानात् तत्रासमर्थं प्रत्येवैतत्प्रबोधकालविधिः स्यात् न तत् समर्थं प्रति। तत्रानुष्ठानार्थतया धर्म्मचिन्तने धनार्जनार्थ-तया तदुपायचिन्तने प्राप्ते कालनियममात्रमत्र क्रियते। तत्र धर्म्मस्यावश्यानुष्ठेयत्वात् तच्चिन्तनमप्यावश्यकम्। अर्थार्जनस्य तु [1]वृत्त्युपाये सम्भवति। अप्राप्ते तदुपायचिन्तनस्याप्यप्राप्तिरेव। तच्छेषकालस्य उपनिषदभ्यासेनैव वेदितव्य[2] इत्युक्तं "वेद-तत्त्वार्थमेव च" इति। एतदेवात्रिणातिरहस्यप्रायश्चित्तत्वेनोक्तं— "रजनीपादं ध्यानमेव समाचरेत् तत्पूर्व्वं तदपरं च।" इति। अत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण योगाभ्यासोऽपि कर्त्तव्यः।

ततः सम्यगरुणप्रकाशात् प्रागीषत्-प्रकाशवति काले प्रभा-ताख्ये कृत्यानि।

तत्र,—

"वयः सुपर्णामित्येतां जपन् वै विन्दते श्रियम्।"

इत्युपक्रम्य,—

---

(१) ० तद्वृत्त्युपाये ०।

(२) ० नेतव्य ०।

अच्चिणी प्रातरुत्थाय [1]विसृजेत्तैतया सह।
चक्षुष्मान् भवति श्रीमानलक्ष्मीः प्रतिबाध्यते॥ इति।

ऋग्विधाने उक्तम्,—

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं
प्रियं मेधा ऋषयो बाधमानाः।
अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धिचक्षु-
र्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्॥ इति।

तथा,—

ब्रह्मा-मुरारि-स्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः सह भानुजेन
[2]ददन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
भृगुर्वशिष्ठः क्रतुरङ्गिराश्च
मनुः पुलस्त्यः पुलहश्च गौतमः।
रैभ्यो मरीचिश्च्यवनो ह्युषङ्गु-
र्ददन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दः
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च।
सप्तस्वराः सप्तरसातलाश्च
ददन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥

(१) ० विसृजे ०।
(२) वहन्तु ०।

पृथ्वी सगन्धा सरसास्तथापः
स्पर्शश्च वायुर्ज्वलितञ्च तेजः।
नभः सशब्दं महता सहैव
ददन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
सप्तार्णवाः सप्तकुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
भूरादि कृत्वा भुवनानि सप्त
ददन्तु सर्व्वे मम सुप्रभातम्॥
इत्थं प्रभाते परमं पवित्रं
हरोदितं यः शृणुयात् पठेद् वा।
दुःस्वप्ननाशोऽनघ[1] सुप्रभातो
भवेच्च सत्यं भगवत्-प्रसादात्॥

"प्रभाते किं पठन् पाठ्यं सर्व्वपापैः प्रमुच्यते।"

इत्युपक्रम्य,—

"एतच्छ्रुत्वा पठित्वा च सर्व्वपापैः प्रमुच्यते।"

इति वचनात् पठेत्।

एतत् यद्यपि,—

"ब्राह्मे मुहूर्त्ते प्रथमं प्रबुध्ये-[2]
[3]दनुस्मरेदेव वरान् महर्षीन्।"

---

(१) ०ऽस्य च०।
(२) ०मबुद्धो।
(३) ह्यनुस्मरे०।

इत्युपक्रम्योक्तं तथापि प्रभातवचनादत्रैव प्राप्तम् ।

तथा, —

कोकामुखे च वाराहं मन्दरे मधुसूदनम् ।
अनन्तं कपिलद्वीपे प्रभासे रविनन्दनम् ॥
(१)माल्योदपाने वैकुण्ठं महेन्द्रे तु नृपात्मकम् ।
ऋषभे च महाविष्णुं द्वारकायां तु भूपतिम् ॥
[ भल्लीवने महायोगं चित्रकूटेऽमराधिपम् ।
नैमिषे पीतवासञ्च गदानिष्क्रमणे हरिम् ॥
सालग्रामे तपोवासमचिन्त्यं गन्धमादने ।
कुब्जाम्रके हृषीकेशं गङ्गाद्वारे पयोधरम् ॥
गरुड़ध्वजं तोषलके गोविन्दं नागसाह्वये ।
वृन्दावने तु गोपालं मथुरायां स्वयम्भुवम् ॥
केदारे माधवं विन्द्यात् वाराणस्यां तु केशवम् ।
पुष्करे पुष्कराक्षञ्च हृषद्वत्यां हृषद्वतम् ॥
तृणविन्दुं वानवीरे अशोकं सिन्धुसागरे ।
कशेरुहे महाबाहुममृतं वैतसे वने ॥
विशाखयूपे विश्वेशं नारसिंहं महावने ।
गोप्रतरमयोध्यायां कुण्डिने कुण्डिनीपतिम् ॥
भाण्डीरे वासुदेवन्तु चक्रतीर्थे सुदर्शनम् ।
आद्यं विष्णुपदे विन्द्यात् सूकरे शूकरं विदुः ॥

---

(१) मान्द्योदपाने ० ।

[ ] मध्वनीमध्यस्था अंशाः पुस्तकान्तरे न दृश्यन्ते ।

त्रिकूटे नागकोषञ्च मेरुपृष्ठे तु भास्करम्।
विरजं पुष्पभद्रायां बालाङ्गं मागधे विदुः॥
यशस्करं विशाखायां माहिष्मत्यां हुताशनम्। ]

*

क्षीराब्धौ पद्मनाभञ्च विमले [1]तु सनातनम्॥
शिवनद्यां शिवकरं गयायाञ्च जनार्द्दनम्।
सर्व्वत्र परमात्मानं यः पश्यति स मुच्यते॥
एतानि मम नामानि रहस्यानि प्रजापते[2]।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय शृणुयाद् वापि नित्यशः।
विमुक्तः सर्व्वपापेभ्यो मम लोके [3]स मोदते॥ इति।

तथा,—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे॥
हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
ऊर्द्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति नः।
धर्म्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

---

* अत्र पुस्तकान्तरे दृश्यते ;—
पाण्डुसिंह्ये च देवेशं वसुकुण्डे जगत्पतिम्।

(१) ० च ०।
(२) ० प्रचक्षते।
(३) ० च ०।

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्म्मं त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्म्मः सुखदुःखेऽप्यनित्ये
जीवो नित्यो धातवस्याप्यनित्याः ॥

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

तथा,—

ओं नमो वासुदेवाय विश्वरूपाय चक्रिणे ।
भक्तप्रियाय देवाय जगन्नाथाय ते नमः ॥
स्तोता स्तुत्यः स्तुतिः सर्व्वं जगद् विष्णुमयं यदा ।
तदा संस्तूयते केन भक्तिर्भेदकरी नृणाम् ॥
यस्य देवस्य निश्वासाद् वेदाः साङ्गाः ससूत्रकाः ।
का स्तुतिः प्रभुदे तस्य भक्त्याहं मुखरोऽभवम् ।
वेदो न वक्ति यं साक्षान्न च वाग्वेत्ति नो मनः ।
मद्विधस्तं कथं स्तौति भक्तियुक्तो न किं भवेत्[1] ॥
ब्रह्मादि [2]ब्रह्म विष्णु स्त्वं त्वमेव ब्रह्मणो वपुः ।
स्रष्टा ब्रह्मनिदानं त्वं [3]त्वं शुद्धं ब्रह्म एव च ॥
कायकायियुगं भित्वा या चित् [4]स्पृशति कायिनम् ।
कायदोषैरनाघ्रात स्तया त्वं भासि योगिनाम् ॥

---

(१) ० वदेत् ।
(२) ० ब्रह्म ० ।
(३) ० शुद्धं ब्रह्म त्वमेव च ।
(४) ० स्रजति ० ।

देहभावेन जागर्त्ति न निद्राति निजात्मनि ।
सुखसंदोहबुद्धि र्या सा त्वं विष्णो न संशयः ॥
महदादिद्विधाभाव स्तथा वैकारिको गणः ।
त्वमेव नाथ तत् सर्व्वं नानात्वं मूढ़कल्पना ॥
निर्द्दोषं विगुणं चैकं चिद्रूपमखिलं जगत् ।
कवीनां भाति यद्वाक्यात्[१] तं विष्णुं नौमि निर्गुणम् ॥
यस्मिन् ज्ञाते न कुर्व्वन्ति कर्म्माण्यपि श्रुतीरितम् ।
निरेषणा जगन्मिताः शुद्धं ब्रह्म नमामि तम् ॥
कामयन्ते प्रजा नैतदेषणाभ्यः[२] समुत्थिताः ।
लोकमात्मनि पश्यन्तो यं बुद्धेरकचरा नराः ॥
स्वं स्वेतरञ्च सन्मात्रं यत्प्रबोधादुपासते ।
योगिनः सर्व्वभूतेषु सद्रूपं नौमि तं हरिम् ॥
ब्रह्माहमिति गायन्ति यज्ज्ञात्वैकचरा द्विजाः ।
पश्यन्तो हि त्वचा तुल्यं देहं तं नौमि माधवम् ॥
माया मोहो विचित्रा भीस्तथाहं ममता नृणाम् ।
विलीयन्ते विदित्वा यं नमस्तस्मा अमायिने ॥
प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नामस्मरणान्नृणाम् ।
सद्यो [३]नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने ॥

---

(१) ० ध्यानात् ० ।
(२) ० नैव ह्येषणाभ्यः ० ।
(३) ० नश्यन्ति पापौघा ० ।

मोहानलोल्लसज्ज्वालाज्वलल्लोकेषु सर्व्वदा।
यन्नामाम्भोरुहच्छायां प्रविष्टो नानुदह्यते॥
यस्य स्मरणमात्रेण न मोहो नैव दुर्गतिः।
न रोगो नैव दुःखानि तमानन्दं नमाम्यहम्॥
शब्दार्थः संविदर्थश्च विष्णोर्नास्ति परो यदि।
तेन सत्येन संसारो मा मां स्पृशतु माधव॥
ईक्षाञ्चक्रे स एवाग्रे यदेकः स्यां बहुस्तथा।
प्रविष्टो देवताः सृष्टेः स प्रसीदतु मे हरिः॥
नारायणो जगद्व्यापी यदि वेदादिसम्मतः।
सत्येन तेन निर्विघ्ना विष्णुभक्तिर्ममास्तु सा॥
यो न वीजं न चावीजं वीजं यो वीजभावितः।
स विष्णु र्भववीजं मे शितविद्यासिनाद्यतु॥
त्रिधा तु नटवद् यस्तु सृष्टिस्थितिलयेषु च।
गुणै र्भवति [1]कार्येषु स प्रसीदतु मे हरिः॥
दशदेहावतीर्णो यो धर्म्मत्राणाय केवलम्।
अभ्यर्थितः सुरैः सर्व्वैः स प्रसीदतु मे हरिः॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तं प्राणिहृन्मन्दिरेऽमलः।
एको वसति यो देवः स प्रसीदतु मे हरिः॥
यद्भासा यन्मुदा यस्य सत्तया संत्यजेज्जगत्।
जाड्यं दुःखमसत्त्वञ्च सद्भावा नैव तन्मयम्॥

---

(१) ० कार्य्येषु ०।

त्वत्सृष्टं मोदते विश्वं त्वत्त्यक्तमशुचि भवेत् ।
तत्सङ्गतोऽप्यसङ्गस्त्वं विकारस्तेन ते नहि ॥
केचिद् बुद्धिं परे प्राणं मनोऽहङ्कारमात्रकम् ।
केचिच्च कायचैतन्यं कायमात्रं परेऽधमाः ॥
केचित्तु पुरुषं शब्दं[1] ब्रह्म केचित् परे शिवम् ।
शक्तिञ्च चिन्मयीं केचिद् गोविन्द त्वां कुमार्गगाः ॥
तीर्थातीर्थमधिष्ठाय केशाकेशि मिथो जनाः ।
यद् वदन्ति पुनस्त्वं हि [2]चित् सदानन्दलक्षणा ॥
भूतयोगजचैतन्यं चार्वाका स्त्वामुपासते ।
सौगता ब्रुवते तर्कैस्त्वां बुद्धिं क्षणभङ्गुराम् ॥
शरीरपरिमाणं [3]त्वां मन्यन्ते जिनदेवताः ।
ध्यायन्ति पुरुषं साङ्ख्या स्त्वामेव प्रकृतेः परम् ॥
जन्मादिरहितं पूर्णं चित्सदानन्दलक्षणम् ।
त्वामौपनिषदा ब्रह्म चिन्तयन्ति [4]पराद्वयम् ॥
खादिभूतादि[5] देहञ्च मनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।
विद्याविद्ये त्वमेवात्र नान्यत् त्वत्तोऽस्ति किञ्चन ॥
त्वमग्निस्त्वं हविस्त्वं स्रुक् होता मन्त्रः क्रियाफलम् ।
त्वमस्ति नास्ति वैकुण्ठ त्वामहं शरणं गतः ॥

---

(१) ० शुद्धं ० ।
(२) ० सच्चिदानन्दलक्षणः ।
(३) ० च ० ।
(४) ० पराव्ययम् ।
(५) ० भूतानि ० ।

त्वं कर्म्मफलदाता च दीक्षितानां क्रियाक्षये ।
त्वं सेतुः सर्व्वभूतानां त्वमेव शरणं मम ॥
युवतीनां यथा यूनि यूनाञ्च युवती यथा ।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥
अपि पापं दुराचारं नरं त्वत्प्रणतं हरे ।
नेक्षन्ते किङ्करा यामा उलूकास्तपनं यथा ॥
तापत्रयमघौघश्च तावत् पीड़यते नरम् ।
यावत् श्रयति नो नाथ भक्त्या त्वत्पदपङ्कजम् ॥

यन्न स्पृशन्ति गुणजातिशरीरधर्म्मा
यन्न स्पृशन्ति गतयः खमिवेन्द्रियाणाम् ।
यं च स्पृशन्ति यतयो गतसङ्गमोहा-
स्तस्मै नमो भगवते हरये प्रतीचे ॥
स्थूलं विलाप्य करणैः करणं निदाने
तत्कारणं करणकारणवर्जिते च ।
इत्थं विलाप्य यमिनः प्रविशन्ति यत्र
तं त्वां हरिं विशदबोधघनं नमामि ॥
यज्ज्ञानसंवदनचूर्णवशीकृतां ता-
मैश्वर्य्यचारुगुणितां सुखमोक्षलक्ष्मीम् ।
आलिङ्ग्य शेरत इवात्मसुखैकभाज-
स्तस्मै नमोऽस्तु हरये मुनिसेविताय ॥
जन्मादिभावविकृते विकृतिस्वभावो
यस्मिन् लयं परिचिनोति षडूर्म्मिवर्गः ।

यं ताड़यन्ति न सदा मदनादिदोषा-
स्तं वासुदेवममलं प्रणतोऽस्मि हार्द्दम् ॥
यद्भावसङ्कत,[1]मलं विजहात्यविद्यां
यद्भाववह्निजनितं जगदेति दाहम् ।
यद्भावनोल्लसदसद्दृतिसंशयारि-
स्तस्मै नमोऽस्तु हरये गुरवे प्रतीचे ॥
चराचराणि भूतानि सर्व्वाण्यस्य हरेः पुरः ।
यथा [2]तत् तेन सत्येन पुरस्तिष्ठतु मे हरिः ॥
यथा नारायणः सर्व्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तेन सत्येन मे देवः [3]स्वं दर्शयतु केशवः ॥
भक्तिर्यथा हरौ मेऽस्ति तद्वरिष्ठा गुरौ यदि ।
ममास्ति तेन सत्येन स्वं दर्शयतु मे हरिः ॥
देवद्युतिप्रणीतं हि विष्णुप्रीतिकरं शुभम्[4] ।
विष्णुप्रसादजननं विष्णुदर्शनकारणम् ॥
योगसारमिदं नाम स्तोत्रं परमपावनम् ।
प्रातरुत्थाय योऽधीते शुचिस्तद्गतमानसः ॥
अक्षयं लभते सौख्यमिह लोके परत्र च ॥
इति [5]वचनात् पठेत् ।

---

(१) ० सङ्कम ० ।
(२) ० एतेन ० ।
(३) ० तत् ० ।
(४) ० शिवम् ।
(५) ० पठनात् ० ।

तथा ;—

नमो वशिष्ठाय महाव्रताय
परात्परं वेदनिधिं नमस्ये ।
नमोऽस्त्वनन्ताय महोरगाय
नमोऽस्तु सिद्धेभ्य इहालयेभ्यः ॥
नमोऽस्त्वृषिभ्यः[1] परमं परेषां
देवेषु देवं वरदं वरेण्यम् ।
सहस्रशीर्षाय नमः शिवाय
सहस्रनामाय (?) जनार्द्दनाय ॥

अजैकपादहिर्ब्रध्नः पिनाकी चापराजितः ।
वृषाकपिश्च शम्भुश्च जनलोकेश्वर स्तथा ॥
[2]हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ।
एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥
शतं त्वेतत् समाम्नातं शतरुद्रमहात्मनाम् ।
अंशो भगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः ॥
तथा धातार्य्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा ।
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥
इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेया इति स्मृताः ।
[3]ध्रुवोऽध्वरश्च सोमश्च सावित्रोऽथानिलोऽनलः ॥

---

(१) नमो ऋषिभ्यः० ।
(२) ऋभुश्च पितृरूपश्च ० ।
(३) धरो ध्रुवश्च ० ।

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्त्तिताः ॥
नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ।
मार्त्तण्डस्यात्मजावेतौ सञ्ज्ञानासाविनिर्गतौ ॥
एते देवास्त्रयस्त्रिंशत् सर्व्वभूतगणेश्वराः ।
नन्दीश्वरो महाकालो ग्रामनी वृषभध्वजः ॥
ईश्वरः सर्व्वलोकानां गणेश्वरविनायकाः ।
सौम्या रुद्रगणाश्चैव ये च भूतगणास्तथा ॥
ज्योतींषि सरितो व्योम सुपर्णः पन्नगेश्वरः ।
पृथिव्याः पतयः सिद्धाः स्थावराश्च चराश्च ये ॥
हिमवान् गिरयः सर्व्वे चत्वारश्च महार्णवाः ।
भवस्यानुचराश्चैव हरतुल्यपराक्रमाः ॥
विष्णुर्देवोऽथ जिष्णुश्च स्कन्दश्चाम्बिकया सह ।
यवक्रीतश्च रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ॥
ऐशिजश्चैव कांचीवान्नलश्चाङ्गिरसः सुतः ।
ऋषिर्मेधातिथेः पुत्त्रः कण्वो वर्हिषदस्तथा ॥
ब्रह्मतेजोमयाः सर्व्वे कीर्त्तिता लोकभावनाः ।
महेन्द्रगुरवः सर्व्वे प्राच्यां वै दिशमास्थिताः ॥
(१)उन्मुचः प्रमुचश्चैव दत्तात्रेयश्च वीर्य्यवान् ।
दृढ़व्यश्चोर्द्ध्ववाहुश्च तृणसोमाङ्गिरास्तथा ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रास्तथागस्त्यः प्रतापवान् ।
धर्म्मराजर्त्विजः सप्त दक्षिणां दिशमास्थिताः ॥

---

(१) उन्मुचूः प्रमुचूश्चैव ० ।

दृढेयुश्च ऋतेयुश्च परिव्याधश्च कीर्त्तिमान् ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसन्निभाः ॥
अत्रेः पुत्रश्च धर्म्मात्मा ऋषिः सारस्वतस्तथा ।
वरुणस्यर्त्विजः सप्त पश्चिमां दिशमाश्रिताः ॥
अत्रिर्वशिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥
ऋचीकतनयश्चोग्रो जमदग्निः प्रतापवान् ।
धनेश्वरस्य गुरवः सप्तैत उत्तराश्रिताः[1] ॥
अपरे मुनयः सप्त दिक्षु सर्व्वासु धिष्ठिताः ।
कीर्त्तिस्वस्तिकरा नृणां कीर्त्तिता लोकभावनाः ॥
धर्म्मः कालश्च कामश्च वसुर्वासुकिरेव च ।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः ॥
रामो व्यासस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा च लोमशः ।
इत्येते मुनयो दिव्या एकैकाः, सप्तसप्तधा—
संवर्त्तो मेरुसावर्णी मार्कण्डेयश्च धार्म्मिकः ।
सांख्ययोगी नारदश्च दुर्व्वासाश्च महानृषिः ॥
पृथुं वैण्यं नृपवरं पृथ्वी यस्याभवत् सुता ।
प्रजापतिं सार्व्वभौमं कीर्त्तयेद् वसुधाधिपम् ॥
आदित्यवंशप्रभवं महेन्द्रसमविक्रमम् ।
पुरूरवसमैलञ्च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥

---

(१) ० उत्तरां श्रिताः ।

बुधस्य दयितं पुत्रं कीर्त्तयेद् वसुधाधिपम्।
[1]त्रिलोकविश्रुतं वीरं भरतञ्च प्रकीर्त्तयेत्॥
गवालम्भनयज्ञेन येनेष्टं वै कृते युगे।
रन्तिदेवं महादेवं कीर्त्तयेत् परमद्युतिम्॥
विश्वजित्तपसोपेतं लक्षण्यं कामलक्षणम्।
तथा श्वेतञ्च राजर्षिं कीर्त्तयेत् परमद्युतिम्[2]॥
स्थाणुः प्रसादितो येन यस्यार्थे ह्यन्धको हतः।
महादेवप्रसादेन येन गङ्गावतारिता॥
भगीरथञ्च राजर्षिं कीर्त्तयेत् परमद्युतिम्।
सगरस्यात्मजा येन प्लाविता स्तारितास्तथा॥
देवानृषिगणांश्चैव नृपांश्च जगतीश्वरान्।
सांख्ययोगञ्च परमं हव्यं कव्यं तथैव च॥
कीर्त्तितं परमं ब्रह्म सर्व्वश्रुतिपरायणम्।
एतान् वै कल्यमुत्थाय कीर्त्तयन् शुभमश्नुते॥

इति वचनात् पठेत्। अन्यद् वाप्येतत्;—

एतान् कीर्त्तयतां नित्यं दुःस्वप्नं नश्यते नृणाम्।
प्रयतः कीर्त्तयंश्चैतान् कल्यं सायञ्च भारत॥
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत्।
आत्मनश्च सुतानाञ्च दाराणाञ्च धनस्य च।
वीजानामोषधीनाञ्च [3]रक्षामेतां प्रयोजयेत्॥

---

(१) त्रैलोक्य०।
(२) ० वसुधाधिपम्। (३) रक्षास्वेताम्०।

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालात् भयं तस्योपजायते ॥
नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥
एतान् दैवे च पित्रे च पठतः पुरुषस्य हि ।
भुञ्जते पितरो [1]हव्यं कव्यञ्च त्रिदिवौकसः ॥

इत्यादि[2]वचनबलात् पठ्यते ।

ॐ पूर्व्वस्यां दिशि चाग्नेये दक्षिणे नैर्ऋते तथा ।
वारुणे चैव वायव्ये कौवेरे रुद्रगोचरे ॥
छिद्रस्थानेषु सर्व्वेषु बाह्ये सर्व्वासु दिक्षु च ।
पाताले च तथाकाशे पृष्ठतश्चाग्रतोऽपि वा ॥
पार्श्वयोः सर्व्वकोणेषु रन्ध्रदेशेषु च क्रमात् ।
नखदंष्ट्रायुधो देवः पातु मां नरकेशरी ॥
मूर्द्ध्नि देशे ललाटे च लोचने कर्णनासिके ।
मुखे कण्ठे च मां पातु भुजयुग्मे तथोरसि ॥
हृदये पार्श्वयोः पृष्ठे जठरे सर्व्वसन्धिषु ।
पातु मां नरसिंहस्तु [3]सुरशत्रुनिवारणः ॥
नाभौ कटिप्रदेशे च गुह्ये चोरुयुगे तथा ।
जानुनोः पादयोश्चैव पातु मां दीप्तलोचनः ॥

---

(१) ० कव्यं हव्यं ० ।
(२) ० वचनात् पठनीयम् ।
(३) ० सर्व्व ० ।

अधमोत्तममध्यानि यानि चाङ्गानि सन्ति मे ।
समस्तरोमकूपेषु पातु मां स तु सिंहराट् ॥
हृदये चोत्तमाङ्गे च शिखायां कवचे पुनः ।
नेत्रयोर्हस्तयोश्चैव पातु मामग्निसप्रभः ॥
तप्तहाटककेशान्त ज्वलत्पावकलोचन ।
वज्राधिकनखस्पर्श दिव्यसिंह नमोऽस्तु ते ॥
सर्व्वत्र रक्ष मां नाथ भयेभ्यश्चाग्निलोचन ।
प्रसादात् तव देवेश न मां हिंसन्तु हिंसकाः ॥
अभेद्यं कवचं बद्धा विचरामि महीतले ।
प्रसादात् नरसिंहस्य न भयं मेऽस्ति कुत्रचित् ॥
वाङ्मनःकर्म्मभि र्ये मां क्रूरा हिंसितुमुद्यताः ।
ते सर्व्वे प्रलयं यान्तु नरसिंहरवाहताः ॥
जले स्थले च पाताले दिक्षु कोणेषु सर्व्वदा[1] ।
दिवा रात्रौ च सन्ध्यायां पातु मां दैत्यसूदनः ॥
गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपिवा ।
नरसिंहकृता गुप्ति र्वासुदेवमयो ह्यहम् ।
सततं प्रातरुत्थाय यः पठेत् संयतेन्द्रियः ।
मनोवाक्कायसम्भूतं दहेत् पापं न संशयः ॥

तथा,—

औषधे चिन्तयेद् विष्णुं भोजने च जनार्द्दनम् ।
शयने पद्मनाभञ्च मैथुने च प्रजापतिम् ॥

---

(१) ० सर्व्वतः ।

संग्रामे चक्रिणं देवं प्रवासे च त्रिविक्रमम् ।
नारायणमसुत्यागे श्रीधरं प्रियसङ्गमे ॥
दुःस्वप्ने स्मर गोविन्दं विपत्तौ मधुसूदनम् ।
[कानने नरसिंहं च पर्व्वते रघुनन्दनम् ॥]
जलमध्ये च(१) वाराहं पावके जलशायिनम् ।
मायासु वामनं देवं सर्व्वकार्य्येषु माधवम् ॥
इति षोड़शनामानि प्रातरुत्थाय यः पठेत् ।
सर्व्वकार्य्यमवाप्नोति विष्णुलोकं स(२) गच्छति ॥

तथा,—

गङ्गा भागीरथी पुण्या जाह्नवी सुरनिम्नगा ।
विष्णुपादार्घ्यसम्भूता शम्भोः शिरसि संस्थिता ॥
सुमेरुशृङ्गसंस्पृष्टा हिमाचलकृताश्रया ।
शङ्खकुन्देन्दुधवला महापातकनाशिनी ॥
नन्दीश्वरी त्रिपथगा वैष्णवी सागरप्रिया ।
धर्म्मद्रवी भोगवती विन्ध्यपाषाणदारिणी ॥
क्षमाशान्तिप्रदा शान्ता पुण्यदा पापनाशिनी ।
महानदी शतमुखी शुक्ला मकरवाहिनी ॥

तथा,—

सुपर्णं वैनतेयञ्च नागारिं नागभूषणम् ।
विषान्तकं जितारिञ्च अजितं विश्वरूपिणम् ॥

---

[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।

(१) ० तु ० । (२) ० च ० ।

गरुत्मन्तं गणपतिं तार्क्ष्यं कश्यपनन्दनम् ।
एतानि द्वादशनामानि गरुड़स्य महात्मनः ॥
यः पठेत् प्रातरुत्थाय स्नातो वा शयनेऽपिवा ।
विषं नाक्रमते तस्य न तं हिंसन्ति पन्नगाः ॥
वन्दनान्मुक्तिमाप्नोति यात्रायां सिद्धिरेव च ॥ इति ।

तथा,—

कार्त्तवीर्य्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रधृक् ।
योऽस्य संकीर्त्तयेन्नाम कल्यमुत्थाय मानवः ।
न तस्य वित्तनाशः स्यान्नष्टञ्च लभते पुनः ॥

तथा,—

कल्यमुत्थाय यो मर्त्यः संस्पृशेद् गां घृतं दधि ।
सर्षपांश्च प्रियङ्गूंश्च [1]कल्माषात् स प्रमुच्यते ॥
* न च प्रकाशयेद् गुह्यं नाम मे कीर्त्तयेन्नरः ।
सदा सर्व्वंसहेत्येवं प्रातः प्राञ्जलिरुत्थितः ।
तस्य कीर्त्तयतः पापं सर्व्वमेव प्रणश्यति ॥

इति वचनादेतदप्युपांशु कीर्त्तयेत् ।

एवमन्यस्यापि यस्य शयनादुत्थितस्य[2] पठनं विहितं तदपि

---

(१) ० किल्बिषात् ० ।
* अत्र पुस्तकान्तरे दृश्यते,—"तथा" ।
(२) ० दुत्थितेन ० ।

तदैव पठनीयम् । यस्य पुनः प्रातर्मात्रविधानं तत् सन्ध्योपासनानन्तरमेव पठनीयम् । [1]"सन्ध्याहीनोऽशुचि"रिति वचनात् ।

यत्तु,—

यन्नामकीर्त्तनं भक्त्या विलायनमनुत्तमम् ।
मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः ॥
मङ्गल्यं सर्व्वपापघ्नमायुष्यं व्याधिनाशनम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं वासुदेवस्य कीर्त्तनम् ॥
सर्व्वधर्म्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः ।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्व्वेऽपि धार्म्मिकाः ॥
एतदेव परं ज्ञानमेतदेव परं तपः ।
एतदेव परं तत्त्वं वासुदेवस्य कीर्त्तनम् ॥
[2]कीर्त्तनादेव देवस्य विष्णोरमिततेजसः ।
[3]डाकिन्योऽपि न सन्ति स्म ये तथान्ये च हिंसकाः ॥
सर्व्वानर्थहरं तस्य नामसंकीर्त्तनं हरेः ।
अप्यन्यचित्तः क्रुद्धो वा नाम मे कीर्त्तयेन्नरः ।
सोऽपि दोषक्षयान्मुक्तिं [4]लभेच्चेदिपतिर्यथा ॥
नामसंकीर्त्तनं नित्यं क्षुतप्रस्खलनादिषु ।
यः करोति महाभाग तस्य तुष्यति केशवः ॥

---

(१) "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्व्वकर्म्मसु" इति वचनात् ।

(२) कीर्त्तनाद्देवदेवस्य ० ।

(३) डाकिन्यो विद्रवन्ति स्म ० ।

(४) लेभे चेदि ० ।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
कलौ संकीर्त्तनेनैव सर्व्वस्वार्थोऽपि लभ्यते॥

इत्यादिवाक्यैर्विष्णुनामसंकीर्त्तनं विहितम्। न तत्र कालविशेषाद्यपेक्षा।

तथाचाहुः,—

येऽहर्निशं जगद्धातुर्वासुदेवस्य कीर्त्तनम्।
कुर्व्वन्ति तान् नरव्याघ्र न कलिर्बाधते नरान्॥
गोविन्देति सदा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः।
दह्यते सर्व्वपापानि कल्पान्ताग्निरिवोत्थितः॥
नामोच्चारणमात्रेण विष्णोः क्षीणोऽघसञ्चयः।
भवत्यपास्तपापस्य नरके गमनं कुतः॥

*

कलौ संकीर्त्तनेनैव मुक्तिः सद्योऽपि लभ्यते।
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्त्तिते॥
[ मङ्गल्यं सर्व्वपापघ्नमायुष्यं व्याधिनाशनम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं पुण्यं वासुदेवस्य कीर्त्तनम्॥ ]
यावज्जीवं प्रणवमथवा व्याहरेद् रौद्रियं वा
याजुर्व्वेदं वसतिमथवा (१)वारणस्यां विदध्यात्।

---

* अत्र पुस्तकान्तरे दृश्यते;—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते सर्व्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

(१) ० वाराणस्यां ०।

त्यक्त्वा लज्जां कलिकलुषमलच्छेदकानीरयेद्‌ वा
विष्णोर्नामान्यनियमकृतप्राप्तिरेषा चतुर्थी ॥

तेनाशौचकालेऽपि तत्कीर्त्तनं प्राप्तम्।

तदुक्तम्,—

चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्व्वत्र कीर्त्तयेत्।
नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः ॥

नारसिंहे चात्यन्ताशुचीनां [1]नारकिणाम्;—

[2]अपि संकीर्त्तिते विष्णौ नारकैर्भक्तिपूर्व्वकम्।
नारक्यो यातनाः सर्व्वास्तेषां नष्टा महात्मनाम्।

इति संकीर्त्तनस्य[3] फलमुक्तम्।

[4]तेन "नाशुचिर्द्देवपितृनामानि कीर्त्तये" दिति विष्णुनाम-व्यतिरिक्तपरम्।

अथवा नृसिंहकल्पे सर्व्वदा मन्त्रजपमुक्त्वा,—

"यदि स्यादशुचिस्तत्र स्मरेन्मन्त्रं न तूच्चरेत्।
मनो हि सर्व्वजन्तूनां सर्व्वदैव शुचि स्मृतम् ॥"

इत्युक्तम्। अतोऽत्रापि तथा स्थित्याविरोधः।

तत्र,—

पापिष्ठं दुर्भगां मद्यं नग्नमुत्कृत्तनासिकम्।
प्रातरुत्थाय यः पश्येत् तत् कलेरुपलक्षणम् ॥

---

(१) ० नारकिणामपि।

(२) इति ०।

(३) ० सङ्कीर्त्तनफल ०।

(४) एतेन ०।

श्रोत्रियं सुभगां गाञ्च अग्निमग्निचितं तथा।
प्रातरुत्थाय यः पश्येदापद्भ्यः स प्रमुच्यते॥

---

ततो विण्मूत्रोत्सर्गप्रयत्नं शङ्काभावेऽपि कुर्य्यात्। यद्यपि तस्य प्रातःकाले स्वतः प्राप्ततया विधानायोगादविहितस्य करणे न दोषः। तथापि "ततः कल्यं समुत्थाय कुर्य्यान्मैत्र" मित्यादिवाक्यानां, "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" [1]इतिवत् परिसंख्यार्थतया इतरकालेषु तन्निषेधात् सन्ध्यासु न कदाचनेति सूर्य्योदयात् प्राक् अस्तमयादूर्द्धं मुहूर्त्तमात्रे सन्ध्याकाले निषेधस्य दोषातिशयार्थत्वात् आवश्यकस्य चाकरणासम्भवादवश्यकर्त्तव्यताप्राप्तेरितरकालेष्वपि आवेगे पुनर्निषेधाभावः।

[2]शब्दाशयाख्यस्थानच्युतस्यैवावेगकरत्वात् "स्थानाच्चैव मलाश्रुता" इति वचनात् तस्याशौचकरत्वात्, (देहाच्चेति पाठे देहशब्दः स्थानपर एव अन्यथा देहलग्ने अशौचभावापत्तेः) अशौच निवृत्तेश्च शौचस्य, अग्नीषोमीयपशुहिंसावत् विशेषविहितत्वेन [3][सामान्यपरिसंख्यया अन्यकालीननिषेधस्य निषेधाशौचत्वात्,]

मूत्रसन्धारणादन्धो वधिरो मलधारणात्।
वायुसन्धारणाद् गुल्मी कुष्ठी स्याच्छर्द्दिधारणात्॥

---

(१) ० इव तत् ०।

(२) पक्वा ०।

(३) [ ] चिह्नितांशं परित्यज्य पुस्तकान्तरो लिखति,—"सामान्यनिषेधागोचरत्वात्।"

इति दृष्टदोषाच्च[१] ।

तत्र पुनर्द्दिवसाहृतजलेनाचम्य वाससा प्राणास्यसहितं शिरः प्रावृत्य ब्रह्मसूत्रं निवीतीकृत्य नित्यस्थितमुत्तरं वासः पृष्ठतः कार्य्यम् । "स्वाध्यायोत्सर्गदानेषु भुक्ताचमनयोस्तथा" [२]["नैकवस्त्रः प्रयुञ्जीते"ति ] इत्यत्र उत्सर्गपदस्य स्वाध्यायसन्निधानात् उत्सर्गं च्छन्दसां कुर्य्यादिति विहितकर्म्मपरत्वात् । अन्यथा "यद्येकवस्त्रो यज्ञोपवीतं कर्णे कृत्वे"त्यसङ्गतेरत्रोत्तरवस्त्रनियमाभावात् तदभावे दक्षिणकर्णे आसज्य तदभावे पुनः,—

कुर्व्वन्नावश्यकं कर्म्म निवीतं पृष्ठतः क्षिपेत् ।

इति वाक्यदर्शनात् पृष्ठतः कृत्वा दक्षिणहस्ते दक्षिणकक्षे वा दिवोद्धृतशौचपर्य्याप्तजलपूर्णं कमण्डलुं गृहीत्वा, नद्यादिकूलात् तदभावे मार्गगृहजलमध्योषरव्यतिरिक्तादन्यस्मादपि स्थानात् दिवैवाहृतां "अष्टाङ्गुलानि खानित्वा उद्धरेत्तु मृदं तत" इति वाक्यदर्शनात् अष्टाङ्गुलान्तरुद्धृतां वल्मीकमूषिकोत्खातपङ्क-पांशुलप्राणिव्याप्तान्यशौचावशिष्टव्यतिरिक्तां ससिकतां शौचपर्य्याप्तां मृदं शिक्याकारकवस्त्रखण्डधृतां ग्रीवायामासज्य गृहान्नैर्ऋत्यां दिशि दक्षिणस्यां वा दिशि काण्डविक्षेपप्राप्यमात्र[३] देशं रात्रौ, दिवा ततोऽप्यधिक[४]मपेत्य, मार्ग-गोष्ठ-स्थलखेत-श्मशान-यज्ञभूमि-देवायतन-पर्व्वत-ग्रामाट्टतवृक्ष-यज्ञीयवृक्षमूलाभिनव[५]तृण-चैत्यतरु-

---

(१) ० द्वा ।
(२) [ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।
(३) ० मात्रं ० ।
(४) ० मतीत्य ० ।
(५) ० तृणाच्छितोषरवल्मीक ० ।

वल्मीक-फालकृष्ट-गर्त्त-प्राणिभस्म-तुषाङ्गार-कपालपराशुचि-गोमयाग्नि-अलयुक्त-जलसमीपोद्यानादिरम्यस्थान-रथ्या-प्राङ्गणायतन-नदीसमीप-पथिकाद्युपजीव्यच्छायावर्जिते गुप्ते स्थाने यज्ञीयकुश-पलाशादिव्यतिरिक्तशुष्कतृणादिना भूमिमन्तर्द्धाय, न यानस्थो न मञ्चादिस्थः,(क) रात्रौ दक्षिणामुखः, दिवा चेत् प्रातर्मुहूर्त्तत्रये उदङ्मुखश्चतुर्थपञ्चममुहूर्त्तयोः प्रत्यङ्मुखः [1]षष्ठादिमुहूर्त्तं पञ्चक एवं उदङ्मुखः एकादश[2]द्वादशयोर्मुहूर्त्तयोः प्राङ्मुखः, सायं मुहूर्त्तत्रये दक्षिणामुखः, छायान्धकारासह्यपीड़ाव्याघ्रादिभयेषु यथासुखमुखो वर्जनीयेऽपि सन्धिकालद्वये प्रमत्तया कुर्व्वन्नुदङ्मुखः, उपविश्यैव वाग्यत आवश्यकं कुर्य्यात्। तत्र देव-गो-विप्र-स्त्री-तोयाग्न्यादित्य-चन्द्रवायव उत्सर्गद्वाराभिमुखा न स्युः। "न प्रत्यग्न्यर्कगोसोमसन्ध्याम्बुस्त्रीद्विजन्मन" इत्यादिना मेहयितुरग्न्याद्यभिमुखत्वनिषेधः। तथाशब्दभावादपृथगीतद्दर्शननिषेधाच्च न ह्यभिमुखत्वं विना दर्शनसम्भवः। ततः [3]सायंप्रातःकालादिषु आदित्यस्य कदाचिद् वायोश्च तथात्वपरिहार आवरणेनैव सम्पाद्यः। "नाप्येतान् पश्येत् स्वपुरीषञ्च।" प्रमादात् दर्शने सूर्य्यगोऽग्निब्राह्मणदर्शनं प्रायश्चित्तम्। न तत्र चिरं तिष्ठेत्। [4]अशुचिमात्रो दिवाज्योतींषि न पश्येत्। प्रमादात् दर्शने,—

---

(क) अत्र पुस्तकान्तरे—"न सोपानत्कः" इत्यधिक पाठः।

(१) षष्ठादिमुहूर्त्तपञ्चक०।

(२) ०द्वादशमुहूर्त्तयोः०।

(३) ०प्रातः सायं।　　　(४) अशुद्धमात्रो दिवा०।

"दृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् ।
गात्राणि चैव सर्व्वाणि नाभिं पाणितलेन तु" ॥

इति मनूक्तं प्रायश्चित्तम् । कामकृते,—

सूर्य्येन्दुतारका दृष्ट्वा यैरुत्सृष्टन्तु कामतः ।
तेषां याम्ये नैरैरच्छ्योर्न्यस्तो वह्निः समिध्यते ॥

इति दोषाधिक्यात् प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

"देवर्षिपितृनामानि न कीर्त्तयेत्" । "सर्व्वदा चामेध्यात् प्राणं परिहरेत् ।" इति यतस्ततस्तत्राबुद्धिपूर्व्वके कृते आदित्य-दर्शनं, बुद्धिपूर्व्वके प्राणायामत्रयं, भूयोऽभ्यस्ते सान्तपनं कृच्छ्रं, प्रायश्चित्तमुक्तम् । अत्रोक्तधर्म्माणां धनार्जनाश्रितनियमवत् पुरुषार्थत्वम् । तत्र [1]निषेध्यानां प्रत्यवायहेतुतया तद्वर्जने तत्परिहार-मात्रं प्रयोजनं, विहितानान्तु दुरितक्षयश्चेति ।

ततः,—

धर्म्मविद्दक्षिणं हस्तमधःशौचे न योजयेत् ।
तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्द्ध्वं न शोधयेत् ॥

इति वाक्यदर्शनात्, समाचाराच्च वामहस्तेनैव शौचं कुर्य्यात् ।

तत्रादौ स्वयं शीर्णेन शुष्ककाष्ठेन तदभावे पर्णाश्माद्रौषधि-वनस्पतिदूर्व्वालोष्टव्यतिरिक्तेनान्येन अन्याभावे लोष्टेनापि गुह्यं प्रमृज्य वामहस्तेन शिश्नं धृत्वा उत्थायोत्क्रम्य एकान्ते स्थानान्तरे रात्रौ दक्षिणामुखो दिवा [2]सदोदङ्मुख उपविश्य आदौ

(१) ० मूत्रम् ।
(२) ० निषेधानां ० ।
(३) ० सन्ध्ययोरुदङ्मुखः ।

मध्याङ्गुलित्रयाग्रपर्व्वत्रयपूरणयोग्यया मृदा मूत्रशौचं कृत्वा "सुनिर्णिक्ते मृदं दद्यात्" इति मृद्दानानुवादेन सुनिर्णिक्तत्व[1]विधावाद्यमृद्दानसङ्कोचकारणाभावात् गुदं[2] सम्यक् प्रक्षाल्य अर्द्धप्रसृतमात्रां मृदं दत्वा प्रक्षालयेत्। पुनस्तदर्द्धपरिमितेन मृद्द्वयेन वारद्वयक्षालनम्। एतावता गन्धलेपानिवृत्तिशङ्कायां पुनश्चतुर्थपञ्चमबुद्ध्या वारद्वयं, ततोऽप्यनिवृत्तिशङ्कायां पुनः षष्ठसप्तमबुद्ध्या वारद्वयम्। विहितसंख्यातः पूर्व्वं शङ्कानिवृत्तावपि विहितसंख्यावश्यं पूरणीया। ततोऽन्ते केवलाद्भिः सुप्रक्षालनम्। ततो हस्तं प्रक्षाल्य कच्छं बद्ध्वा तत्रैव स्थानान्तरे वा उदङ्मुख एव दशभिर्मृद्भिर्वामहस्तं, तत् पृष्ठं षड्भिः, सप्तभिर्द्वौ हस्तौ घर्षयन् प्रक्षालयेत्। ततो नखान् मृत्त्रयेण संशोध्य करद्वयप्रक्षालनम्। केवलमूत्रोत्सर्गे तु वामहस्तं तिसृभिः, उभौ द्वाभ्यां प्रक्षालयेत्। ततः प्राङ्मुखः सन् तिसृभिर्मृद्भिराजानुपादौ प्रक्षालयेत्।

ततः,—

यस्मिन् देशे कृतं शौचं वारिणा तन्तु शोधयेत्।
न शुद्धिस्तु भवेत् तस्य मृत्तिकां यो न शोधयेत्॥

इति वाक्यदर्शनात् [3]शौचं देशं क्षालयेत्।

यस्मिन् देशे [4]च यत् तोयं या भूमि र्या च मृत्तिका।
सैव तत्र [5]प्रकर्त्तव्या तया शौचं विधीयते॥*

---

(१) ० विधानादाद्य ०।
(२) गुह्यं।
(३) शौचदेशन्तु ०।
(४) ० तु ०।
(५) प्रशस्ता स्यात् तया ०।

आपद्गतो विना तोयं शारीरं यो निषेवते ।
[1]एकाहं क्षपणं कृत्वा सचेलं स्नानमाचरेत् ॥

यत्तु,—

अरण्येऽनुदके रात्रौ चौरव्याघ्राकुले पथि ।
कृत्वा मूत्रं पुरीषञ्च द्रव्यहस्तो न दुष्यति ॥

इति द्रव्यं प्रतीति शेषः । स्वयन्तु प्रायश्चित्तीयत एव ।

तदेतच्छौचमुषःकालादिसूर्य्यास्तपर्य्यन्तकाले ।

जलसम्पर्कवर्द्धिष्णुव्याधि[2]हीनस्य पथिकस्य च रात्रौ त्वेतदर्द्धमेव तत्र मृत्परिमाणस्यैवार्द्धकरणं न संख्यायाः, त्र्यादिसंख्याया [3]अर्द्धदानासम्भवात् । [4]ततोऽप्यूनतायां च गन्धलेपक्षयस्याप्य[5]क्षयत्वप्रसङ्गात् । मृदल्पत्वेऽपि हि बहुवारघर्षणेन तत् सिद्धेः[6] । यत्र पुनर्वाचनिकपरिमाणाभावस्तत्रापि शोध्यकरादिव्याप्तियोग्यपरिमाणस्यार्थिकस्य विद्यमानत्वात् ।

अथवा,—

"आर्द्रामलकमानन्तु मृदं गात्रविशोधनम् ।"

इति वाक्यदर्शनात् सर्व्वत्रास्ति वाचनिकं परिमाणम् ।

दिवाशौचञ्च यत् प्रोक्तं रात्रावर्द्धं प्रकीर्त्तितम् ।
आतुरस्य तदर्द्धं स्यात् तदर्द्धं पथिकस्य च ॥ इति ;—

---

(१) एकाहक्षपणं ० ।
(२) ० रहितस्य ० ।
(३) अर्द्धदाना ० ।
(४) तन्न्यूनतायां ० ।
(५) ० सिद्धि ० ।
(६) ० सिद्धिः ।

जलवर्द्धिष्णुत्वाधिगतस्य एतच्चतुर्थांशस्य एव दिवारात्रौ लैक-रूपः, नतु रात्रौ तस्याप्यर्द्धम्। यद्वि रात्रावर्द्धविधानं तदपेक्षयैव प्रवृत्त"मातुरस्य तदर्द्धं स्यात्" इत्यर्द्धविधानं, तत् कथं तस्याप्य-र्द्धतां ब्रूयात् अन्योन्याश्रयत्वापत्तेरत्यल्पत्वे साध्यासिद्धिप्रसङ्गाच्च। एवञ्च पथिकस्यानातुरस्य दिवा रात्रौ च तदष्टमांशेन शुद्धिः। अथवा न रात्र्यादावर्द्धादिनियमः किन्त्वापद्धर्म्मे सामान्यतो न्यूनत्वे प्राप्ते अर्द्धादौ विशेषाभ्यनुज्ञामात्रम्।

सामान्येनाभ्यनुज्ञानाद् विशेषो हि विशिष्यते।
विशेषोऽत्यन्तनिर्द्दोष स्तोकदोषेतरा क्रिया॥

इत्येतदर्थं क्रियते।

तेन सामर्थ्ये रात्र्यादावपि यथोक्तमेव। असामर्थ्य एवार्द्धादि-नियमे दोषाभावः। तदन्यथात्वे कियान् दोष इति।

अत्र च विहिते कृते कथञ्चिद्गन्धलेपानिवृत्तौ अवहननादिवत् तदेव विहितं शौचमावर्त्तनीयं नतु स्वेच्छया किञ्चित् कर्त्तव्यम्। न चैवं,—

"न्यूनाधिकं न कर्त्तव्यं शौचं शुद्धिमभीप्सता।"

इति [1]निषिद्धाधिककरणं स्यादिति वाच्यम्। विहितसंख्या-बाधकं यदधिकं तदेव निषिद्धं नाधिकमात्रम्। द्व्याद्युत्तर-संख्यात्वबुद्ध्यैव द्वितीयादिकरणे पूर्व्वैकादिसंख्या बाध्यते न तु पृथगेकादिबुद्ध्या। एतेन मध्ये संख्याविस्मृतावपि पुनरावर्त्तने दोषाभाव उक्तः।

(१) निषेधातिक्रमणं स्यात्०।

तद्देच्छौचं विण्मूत्रयोरुत्सर्गैकनिमित्तकं नतु लेपमात्र-निमित्तकम्। [1]अन्यदा लेपे तु,—

"दैहिकानां मलानान्तु[2] शुद्धिषु द्वादशस्वपि ।

——————मृद्वार्य्यादेयमर्थवत्"

इति मृद्वारिणोरेव नियमो नतु संख्यादेः ।

[3]अत्र यद्यपि च "अर्थवत्" इति वचनात् देहे मूत्रलेपादौ वारिमात्रेणार्थसिद्धौ इतरानुपादानेऽपि न दोषस्तथापि,—

"वसाशुक्रमसृङ्मज्जामूत्रविट्कर्णविण्नखाः ।

श्लेष्माश्रुदूषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥"

इत्यत्र,—

षण्णां षण्णां क्रमेणैषां शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ।

मृद्वारिणा तु पूर्व्वेषामुत्तरेषान्तु वारिणा ॥

इति वाक्यदर्शनात् तत्र विरोधाभावात् तथैवानुष्ठातव्यम् । तत्र मूत्रोत्सर्गे ;—

एका लिङ्गे सव्ये तिस्र उभयोर्मृद्द्वयं स्मृतम् ।

मूत्रशौचं समाख्यातं शुक्रे तु द्विगुणं भवेत् ॥

इति वाक्यदर्शनात् तत्र विरोधाभावात्—प्रत्युत शुद्धि-[4]प्रकरणे,—

उदक्यां सूतिकां स्पृष्ट्वा स्नानमन्त्यावसायिनम् ।

स्नात्वा सचेलो मृद्भिस्तु शुद्धिं द्वादशभि र्नरः ॥

---

(१) अन्यथा ०।
(२) ० च ०।
(३) तत्र यद्यप्यर्थं ०।
(४) ० मद्दणे ।

इत्यनुवृत्तौ,—

एतदेव भवेच्छौचं मैथुने वमने तथा।

इति [1]वाक्यदर्शनात् मूत्रशौचद्वैगुण्ये च द्वादशसंख्यासम्पत्ति-स्तथैव कर्त्तव्यम्।

ततो मृद्गोमयाभ्यां कमण्डलुं परिमृज्याचामेत्। तत्रादौ दक्षिणपूर्व्वमाजानुपादद्वयक्षालनम्। तच्च शुद्धार्थाचमने प्राङ्मुखेन कर्त्तव्यम्। दैवकर्म्माङ्गाचमने उदङ्मुखेन, पित्र्यकर्म्माङ्गा-चमने दक्षिणामुखेन।

यत्तु,—

"प्रत्यक्पादावनेजनम्" इति तत् पुरुषार्थप्रसङ्गपठितत्वात् दृष्टार्थपादप्रक्षालनाश्रितम्। धनार्जनाश्रितनियमवत् पुरुषार्थमेव प्रत्यङ्मुखत्वनियमनम्। तच्च पादप्रक्षालनमिह शौचकाले पादयोः शौचोदकपातस्यावश्यकत्वाद्गन्धलेपक्षयार्थम्। यच्च मृद्भिरद्भिराचमनादि[2] पादप्रक्षालनं तेनैव तत् सिद्धम्।

ततः प्राङ्मुख एवोदङ्मुख ऐशानाभिमुखो वा आमणि-बन्धात् पाणी प्रक्षाल्य बद्धशिखो यज्ञोपवीती नियमेन द्विवासा अप्रावृत[3]शिरस्कोऽसोपानोत्कोऽपादुको यतवाक् समाहितचित्तो दिशश्च हृदयञ्चानवलोकयन्नहसन्नकम्पमानस्त्वरारहितः स्वकेश-नीवीनाभ्यधोभागभूमिपरदेहान् हस्तेनास्पृशन् समौ चरणौ शुचौ देशे निधाय, भोजननिमित्तकाचमनेतराचमनेष्वनासनस्थः स्नान-

(१) ० वचनात्।

(२) ० राचमनाङ्ग ०।

(३) ० शिरः कण्ठो ०।

कालादन्यदा न जलस्थो नापि तिष्ठन्, स्नानकाले तु,—"जानुभ्या-मूर्द्ध्वमाचम्य जले तिष्ठन् न दुष्यती"ति वाक्यदर्शनादविगीत-समाचाराच्च जले तिष्ठन्नपि ऊर्व्वो[1]रन्तरत्नीभूत्वा संहताङ्गुलिं गोकर्णाकृतिं [2]दक्षिणं करं कृत्वा,

कांस्येनायसपात्रेण त्रपुसीसकपित्तलैः ।

आचान्तः शतकृत्वोऽपि न कदाचन शुद्ध्यति ॥

इति वाक्यदर्शनात् एतद्व्यतिरिक्तनिमित्तात्,

उपवीतमलङ्कारं स्रजं करकमेव च ।

उपानहौ च वस्त्रञ्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ॥

इति निषेधादुपानद्वस्त्रयोरेव निर्णेज्याशक्तावित्युक्तत्वात्, अस्यानारभ्याधीतस्य कर्म्माङ्गत्वाभावेन परिभुक्तस्य कर्म्मवैगुण्य-हेतुत्वेऽपि दुरितान्तरहेतुत्वात्,

आसनं शयनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः ।

शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु ॥

इति च परकीयस्यादृष्टार्थकर्म्मानर्हत्वलक्षणाशुचित्वोक्तेश्चान्या-नुपभुक्तात् स्वीयात् तदसम्भवे स्वाम्यनुमत्या तत्कालस्वत्वं वस्त्रो-पानत्सहोपात्तस्य दृष्टान्तेन निर्णेजनेन परभुक्तदोषपरिहारान्[3] सम्पाद्य परकीयादपि कमण्डलोरेव मूत्रपुरीषे कुर्व्वन् दक्षिण-हस्ते कमण्डलुं गृह्णाति । "सव्ये आचमनीय"मिति वचनात् ।

---

(१) ० रन्तरारत्नी कृत्वा ० । (३ ० परिहारं च ० ।

(२) दक्षिणकरं ० ।

अत्र लक्षणया मूत्रपुरीषपदस्य तन्निमित्तकशौचाचमनपरत्वात् सव्यहस्तावर्जितात्, अन्यशुद्ध्यर्थेषु शुद्धाशुद्धहस्तद्वयावर्जितात्, भूमिष्ठेन वा,

रात्रावाचान्तमनुचान्तन्तु निशि स्नानं न विद्यते ।

इति वचनात् दिवोद्धृतेनैवोदकेन, शुद्ध्यर्थादन्यत्र यथासम्भवम्,

यः कुर्य्यात् सर्व्वकर्म्माणि वस्त्रपूतेन वारिणा ।

स मुनिः स महासाधुः स याति परमां गतिम् ॥

इति उद्धृतजलसाध्याशेषकर्म्मसु जलवस्त्रपूतत्वस्य जुहू पर्णमयीत्ववदनारभ्याधीतत्वेन गुणफलसम्बन्धायोगात् फलश्रुतेः प्ररोचनामात्रार्थतया नित्याङ्गत्वादवस्त्रगालितमतप्तं फेनबुद्‌बुदहीनं वर्षधाराग्निपर्य्युषणादिशेषव्यतिरिक्तं द्रव्यान्तर(१)संस्पर्शादूषितरसवर्णं निरस्तापद्रव्यमनालोड़ितं पादप्रक्षालनशेषव्यतिरिक्तं—

"अपः पाणिनखस्पृष्टाः पिबेदाचमने द्विजः ।

सुरां पिबति स व्यक्तं यमस्य वचनं यथा ॥"

इति वाक्यस्य लघ्वांशेनापि प्रामाण्यसम्भावनायां अप्रामाण्येऽपि विरोधाभावादादरणीयत्वान्नखास्पृष्टं तोयं यावता हृदयपर्य्यन्तं याति तावन्मात्रं गृहीत्वा वीक्ष्य—

तावन्नोपस्पृशेद्‌ विद्वान् यावत् सव्येन न स्पृशेत् ।

इति वाक्यदर्शनादविरोधाच्च सव्यहस्तेन, दक्षिणहस्तं स्पृष्ट्वा,

---

(१) ० संसर्गा ० ।

कमण्डलोश्चेद् गृहीतं सोमतीर्थाख्येन करमध्येन, भूमिष्ठाद् ग्रहणे ब्रह्मतीर्थेन प्राजापत्येन वा—

पाणिनखाग्रेष्वाचामेत् प्रमादात् ब्राह्मणस्तु यः।
सुरापाणेन तत्तुल्यमित्येवमृषिरब्रवीत्।

इति नखाग्रयोगपरिहारसम्भवे दैवेन वा, यद्वा गत्यन्तरासम्भवेऽष्टदोषविकल्पाश्रयणायोगाद् व्रणादिना ब्रह्मतीर्थासम्भवे कायतैदग्निकाभ्यामिव[1] गुणलोपे तु मुख्यस्येति न्यायप्राप्तं दैवादि "न पित्रेण कदाचन" इति निषेधार्थं[2] एवेति ब्राह्मेणैव शब्दमकुर्व्वन् यथा किञ्चिन्न स्रवति तथा पिवेत्। एवं त्रिश्चतुर्व्वा पीत्वा मुखं संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन त्रिर्द्विर्व्वा परिमृज्यात्। भोच्यमाणस्तु द्विरेव। ततः सव्यं पाणिं पादौ शिरश्च प्रोच्याङ्गिर्मुखादीन् स्पृशेत् तत्र मध्याङ्गुलित्रयेण संहतेन संवृतमेव मुखं द्विः सकृद् वा स्पृशेत्। भोच्यमाणस्तु सकृदेव। एवं तर्जन्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिके, अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां नेत्रे श्रोत्रे च, कनिष्ठाङ्गुष्ठाभ्यां नाभिं स्पृष्ट्वा जलं स्पृशेत्। करतलेन हृदयं स्पृष्ट्वा जलं स्पृशेत्। ततः सर्व्वाङ्गुलीभिः शिरः, अङ्गुल्यग्रेण बाहुमूलद्वयं स्पृष्ट्वा भूमौ किञ्चिदुदकं क्षिपेत्। इन्द्रियस्पर्शने शेषजलं सव्यपाणौ निनयेत्।

एतत्प्रतिपत्तिविधिबलेन भूमिष्ठजलेनाप्याचमने मुखादिस्पर्शनार्थं कांस्यभोजिन्यायेनोद्धृतोदकं किञ्चिद् ग्राह्यम्। अतएव सव्यपाणौ किञ्चिज्जलं गृहीत्वा तत्र इन्द्रियस्पर्शनसमाचारः।

---

(१) ॰ग्निति॰। (२) ॰र्थमिति।

शेषस्य तत्रैव [1]निनयार्थः। तत्र सकृद्‌गृहीतेनैवोदकेनानेकत्र उदकस्पर्शनसिद्धौ न पृथग्ग्रहणनियमः। अतएव नाभिस्पर्शनानन्तरं पुनरप्यपः स्पृशेदित्युक्तम्। अन्यथा तद्वचनमनर्थकं स्यादिति। ततः सर्व्वेश्वरं विष्णुं स्मरेत्। अस्य ह्वानशनादेस्तपसः कर्म्मफलप्रतिबन्धकपापक्षयार्थत्वमिव लिङ्गेन प्रमादकृते वैगुण्यपरिहारार्थत्वमित्याभाति। पुरीषोत्सर्गशौचाचमनमात्राङ्गमन्ते यथासम्भवमादित्यसोमाग्नीनामीक्षणं नान्यत्र।

तदेतदाचमनं—स्वकीयरेतोविण्मूत्रशोनितानां साधारणानां शौचोदकतदार्द्रभूमिश्लेष्माश्रुविच्छिन्नकेशानां मानुषेतरनिःस्नेहपञ्चनखास्थ्नां निर्लोमौष्ठादिदेशोच्छिष्टद्रव्योच्छिष्टद्विजातीनां च स्पर्शेषु, परकीयशुक्रादिद्वादशविधमलानां भासकाकवलाकवानरमार्जारखरोष्ट्र[2]शूकराणाममेध्यस्य शूरामद्ययो रथ्याकर्द्दमतोयादेश्च चेलनिर्णेजकरञ्जक-चर्म्मकृद्व्याधकैवर्त्ततैलिक-सुराविक्रयिनट-नपुंसकवेश्याकुक्कुरग्राम्यकुक्कुटवराहाणाञ्च—

एभिर्यदङ्गं संस्पृष्टं शिरोवर्जं द्विजातिषु।
तोयेन क्षालनं कृत्वा आचान्तः शुचितामियात्॥

इत्यत्र शिरःपदस्य,—

ऊर्द्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा यदङ्गमुपहन्यते।
तत्र स्नानमधस्तात्तु क्षालनादेव शुद्ध्यति॥

[3]इत्येतदनेन नाभ्यूर्द्ध्वाङ्गपरत्वान्नाभ्यधोभागेन कराभ्यां वा

---

(१) निनयनार्थः।
(२) ०क्षाम्र ०।
(३) इत्येदृक्त्वेन ०।

स्पर्शेषु, अबुद्धिपूर्व्वकातिक्षुद्रनिःस्नेहमानुषास्थिस्पर्शे, चण्डालादि-स्पृष्टे, दण्डादिना चण्डालादिस्पर्शे, चण्डालादिस्पृष्टस्पृष्टस्याबुद्धि-पूर्व्वकस्पर्शे, अनुलेपे च, मृत्तोयैः स्पृष्टस्थानं प्रक्षाल्य रेतसो नेत्रादि-मलानाञ्च स्रावे, अस्थिसञ्चयादूर्द्धं रोदने जलाशयप्रवेशे च, तत उत्तरतो भुक्तिमात्रवमने, चण्डालोदक्यासूतिकापतितशवतत्स्पृष्ट-दर्शने, वस्त्रपरिवर्त्तने, अनृतक्रूरपरुषवाक्योक्तौ, क्षुते, निद्रायां [1]रथ्यापगमने, तोयपाने, भोजने, कासे, व्यायामकृतविकृतश्वासे, सूतिकोदक्याधजङ्घोच्छिष्टम्लेच्छचण्डालपतितसम्भाषणे, लोष्टादि-रहितहस्तस्य पश्चिमं प्रत्युद्गमे, अभ्यङ्गे, पादप्रक्षालने, (क)[2]नीवी-विश्रंसवस्त्रपरिधानयोः, यज्ञोपवीतवहिष्कारे, श्मशानाक्रमणे, अग्नेर्गोर्ब्राह्मणस्य स्त्रियाश्च स्पर्शेषु विहितेतरेषु, स्नाने, भोजन-स्याध्ययनस्य चारम्भे, तत्र तत्र सन्ध्यावन्दनाद्यन्तर्गतप्राणाया-मोत्तरादिस्थानेषु, कुर्य्यात्। तत्र भोजनपर्य्यन्तानां निमित्ताना-मशौचपरिभाषणात्[3] तन्निमित्तकाचमनानामुत्तरानुष्ठास्यमान-सर्व्वकर्म्माशुचित्वरूपकर्त्तृसंस्कारार्थत्वम्। एतेनानृतोक्तावाचमनान्न तज्जन्यपापक्षयः, किन्तु,—

सावित्रीमप्यधीयीत ... (see below)

इति वचनात् सावित्रीजपादेव। सहस्रं जप्त्वा [4]वाक्क्षतात्

(१) रथ्यागमने।

(क) इत्यत्र पुस्तकान्तरे,—"मिक्षाचमने" इत्यधिकः पाठः।

(२) नीवीविश्रंसन०।

(३) ०परिभाषायां।

(४) वाचोऽक्षतात्०।

पूतो भवतीति वचनात् सहस्रपरिमितं[1], क्रूरपरुषवचनेऽप्येवम्। यत्तु,—

"निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्॥" इति।

तदत्यन्तानृतशीलविषयम्।

"गुरावनृतोक्तौ सप्तपुरुषानितश्च परतश्च।
हन्ति गुरोरनृतां वदन्नल्पेष्वर्थेषु॥"

इति दोषातिशयोक्तेस्तद्विषयं वा। यत्तु,—नाक्रोश्यश्चाक्रोश्यानृतश्चोक्त्वा त्रिरात्रमक्षारलवणभोजनमिति तद्गुरुव्यतिरिक्तानाक्रोश्यविषयानृतपरम्। तेन सावित्रीजप आक्रोश्य शूद्रादिविषयः।

आत्मोत्कर्षानृतोक्तौ च समुत्कर्षानृते गुरोश्चालीकनिर्बन्धे मासं पयसा वर्त्तेतेत्युक्तप्रायश्चित्तम्।

साक्ष्यनृते तु कौटसाक्ष्यस्य सुरापानसमत्वोक्तेः,—

आतिदेशिकयुक्तानामुक्तं चान्द्रायणद्वयम्।
तत् समाने द्वयं प्रोक्तमेकं स्यादुपपातके॥ इति,—

चान्द्रायणद्वयम्। यत्तु,—

कौटसाक्ष्यं तथैवोक्त्वा निक्षेपमपहृत्य च।
ब्रह्महत्याव्रतं कुर्य्याद्धत्वा च शरणागतम्॥ इति,—

[2]तद्बहुपीड़ाकरानृतविषयम्।

---

(१) परिमितजपः। (२) तद्बहुपीड़ा०।

तत्र,—

वर्णिनां हि बधो यत्र तत्र साच्यनृतं वदेत् ।
तत्पावनाय निर्वाप्य चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥

इत्यत्र उभयथा दोषसद्भावे सत्यवचनकृतवर्णिबधस्योत्कर्षात् तत्परिहाराय यद्यनृतं वदेदित्यनूद्यापद्धर्मत्वादन्यं[1] प्रायश्चित्तमुच्यते ।

[2]न ह्यनृतवचनाभ्यनुज्ञा। तथा सति “विशेषोऽत्यन्तनिर्दोषः[3]” इति न्यायेन दोषाभावात् प्रायश्चित्तविध्यनुपपत्तेः। तथा गोभूमि[4]कनककन्यानृतेषु गोमूत्रं यावकं मासमश्नीयात्। तथानृतपिशुनवचने भिक्षूणां तप्तकृच्छ्रं क्रोधाहङ्कारपरुषेषु च। आहिताग्ने-श्चानृता-तिथ्यापनोद-पूतिदार्व्वाधान-मृजीषपक्कनाव्युदकानि वर्जयेदित्युक्तव्रतातिक्रमे [5]आहिताग्निः सन् धर्म्मकृत्यं चरेत् “अग्नये व्रतपतयेऽष्टाकपालं[6]” इत्यापस्तम्बोक्तं प्रायश्चित्तम्। अत्रापभ्रंशोच्चारणमप्यनृतभाषणमिति केचित्।

[7]उक्तं भट्टपादैर्व्याकरणाधिकरणे,—

अर्थसत्यं यथा वाच्यं शब्दसत्यन्तथैव च ।
शब्दानृतञ्च ज्ञातव्यमर्थानृतं वदेन्न हि ॥

---

(१) ० दत्यं ० ।
(२) नत्वत्रानृत ० ।
(३) ० निर्द्दुष्ट ० ।
(४) ० कन्याकनका ० ।
(५) आहिताग्निः सन् व्रतं चरे ० ।
(६) ० कपाल ० ।
(७) तदुक्तं ० ।

[1]इति। तत्र नानृतं वदेदित्यत्रानृतमर्थं न शब्देन बोधये-दित्यर्थः। अपरत्रावाचकं शब्दं नोच्चारयेदित्यर्थ इति। नचैकस्य वाक्यस्य एवमत्यन्तविलक्षणार्थद्वयसम्भवः। न च लोके क्वाप्यवाचकशब्देष्वनृतव्यवहारो दृश्यते। नह्युत्कलादेरान्ध्रभाषास्वनृतबुद्धिरिति। भट्टपादैस्त्वभ्युच्चयरूपेणोक्तं न मुख्ययुक्तिरूपेण। अतएव भट्टोक्तसर्व्वानुवादिना भवदेवेन नोक्तमेतत्।

किञ्च यदाहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेदित्यत्रापशब्दपदमनृतवादादिपरमुक्त्वा, "अन्यथा—

कथं नामेदृशान्मार्गात् सर्व्व एवाहिताग्नयः।
प्रच्यवेरन् कथं [2]चान्यैर्न निन्द्येरन्नशिष्टवत्॥

इति पूर्व्वपक्षमुक्त्वा" सिद्धान्तेन परिहृतम्। तेनापशब्दपदस्यापि यदा नापभ्रंशपरत्वं तदानृतपदस्य कुतस्तत्परत्वसम्भावनापीति।

कांस्यादिब्राह्मणस्पर्शान्तनिमित्तकानां सन्धिकालनिमित्तकसन्ध्यावन्दनादिवत् प्रत्यवायपरिहारोपात्तदुरितक्षयार्थत्वम्। [3]अत्राभ्यङ्गे चाशौचवचनाभावात् तत्समाचारोऽसम्मूलः।

[4]यत्तु,—

"मलापकर्षणं नाम स्नानमभ्यङ्गपूर्व्वकम्।"

इति, न तत्र तैललेपस्य मलत्वमभिप्रेतं, किन्तु देहरौक्ष्यरूप-

---

(१) इत्यत्र नानृतं वदेदनृतमर्थं०। (३) तत्रा०।
(२) ०वान्यै०। (४) यत्र।

मालिन्यस्यैव [1][मलत्वं] अतएवा"भ्यङ्गपूर्व्वक"मिति मलापकर्षण-साधनोपलक्षणार्थमिति व्याख्यातम् ।

"मलापकर्षणार्थन्तु प्रवृत्तिस्तत्र नान्यथा ।"

इत्यशौचनिवृत्तिलक्षणादृष्टप्रयोजनाभावाभिधानाच्च नाभ्यङ्गे आशौचम् । यच्च,—

"तैलाभ्यङ्गे तथा वान्ते मैथुने क्षुरकर्म्मणि ।

मूत्रोच्चारं नरः कृत्वा पञ्चगव्येन शुद्धति ॥"

इति पठन्ति । तत् प्रामाण्येऽपि सोपानत्कस्य[2]च मूत्रादि-निषेधो नतु तावताभ्यङ्गस्याशुचित्वम् ।

श्मशानाक्रमणमपि नाशौचकारणम् ।

नच मेध्यतरं किञ्चित् श्मशानादिह कल्पते[3] ।

तेन मे सर्व्ववासानां श्मशाने रमते मनः ॥

इति दानधर्म्मे [4]महेशवचनात् ।

यत्तु,—"स्नानादावाचमनं" तस्य स्नानादिपरत्वेन स्नानादि-कर्म्माङ्गत्वमेव । नच—

"क्रियां यः कुरुते मोहादनाचम्येह नास्तिकः ।

भवन्ति तु वृथा तस्य क्रियाः सर्व्वा न संशयः ॥"

इति वाक्यबलादशेषकर्म्माङ्गत्वमाचमनस्येति यत्किञ्चिदप्या-रभमाणेन शुचिनाप्याचमनीयमिति वाच्यम् । यत् शुचिना कर्म्म-कर्त्तव्यमिति विधानं तत् प्राय आचमनस्य शुचित्वार्थत्वात्

(१) [ ] द्वितीय पुस्तके नास्ति ।
(२) ० तन्निषेधवच्च तावता ० ।
(३) ० लभ्यते ।
(४) ० महेश्वर ० ।

तच्छेषत्वेनास्योपपत्तौ पृथगाचमनविध्यन्तरकल्पनानुपपत्तेः । अतएव "अध्येष्यमाण आचामेत् प्रयतोऽपि सन्" इत्युक्तमन्यकर्मारम्भे प्रयतस्याचमनं नास्तीत्यभिप्रेत्य ।

अत्र चण्डालादिषट्कस्य षण्ढ-विवस्त्र परस्त्रीरत कृतघ्नानामवेक्षणेऽर्कावलोकनमन्यत्रोक्तम् । अन्यत्र पतितव्यङ्गचण्डालोच्छिष्टानामीक्षणे नृवरसम्भाषणमुक्तम् । तेन पतितचण्डालयोस्त्रय[1]मुदक्यादिचतुष्टये द्वयं वैकल्पिकं सिद्धम् । एतदाचमनं मूत्रपुरीष-रेतः-ष्ठीवन-कठिनश्लेष्मत्याग-स्नानो[2]दपान-क्षुत-सुप्त रथ्याप्रसर्पण-कास श्वास-परुषवचन-श्मशानाक्रमणेषु भोजनाद्यन्तयोश्च द्विः कुर्य्यात् ।

तत्रादनार्थ"चमु"धातुसिद्धाचमनपदेन [3]त्रिरब्भक्षणस्यैव दर्शपूर्णमासपदेनाग्नेयादियागषट्कस्येवाभिधानात् द्विराचामेदित्येकफलार्थं, तस्यावृत्तिविधौ तयोराचमनयोः प्रत्येकमुपकारा[4]पेक्षितत्वेऽपि सकृत्कृतैरप्यङ्गैस्तन्त्रेणाग्नेयादियागानामिव द्वयोरुपकारः स्यादिति च न वाच्यम् । आचामेदित्यनुवादेन द्विरिति यदभ्यासविधानं तन्न तावदुपांशुकाम्या इष्टय इति वत् धात्वर्थात्मनः कर्म्मणः । तस्याख्यातार्थविशेषणत्वेनाप्रधानत्वात् । किन्त्वाख्यातार्थस्य भावनापरनाम्नः प्रयोगस्यैव । स च सर्वाङ्गोपेतप्रधानगोचरः । तस्माद् यथा पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेतेति करण-

(१) ० माचमनं सूर्य्यावेक्षणं ब्राह्मणसम्भाषणञ्च, उदक्यादि ० ।

(२) ० दकपान ० ।

(३) त्रिरभ्यस्ताम्भक्षणस्यैव ० ।

(४) ० पेक्षितेऽपि ० ।

विभक्तिश्रवणात् प्रयोगाश्रितसम्बन्धः सर्व्वाङ्गोपेतप्रधानगोचरो न प्रधानमात्रगोचरः, एवमयमभ्यासोऽपि स्यात् । न चात्र तद्वत् करणविभक्त्यभावात् कथं तथेति वाच्यम् । तदश्रवणेऽपि विधि-प्रत्ययश्रवणादेव ।

"विधावनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते ।
[१]श्रुतस्वर्गादिहानेन धात्वर्थः साध्यतां व्रजेत् ।
विधौ तु तमतिक्रम्य स्वर्गादिः साध्यतेष्यते ॥"

इति न्यायेन सिद्धेः । अतएवोक्तम्,—

"विधाने चानुवादे च यागः करणमिष्यते ।"

इति ।

नन्वेवं "व्रीहिभिर्यजेत" इत्यत्राप्येवं स्यात् । न, तत्र धात्वर्थ-करणिकायां भावनायां करणान्तरायोगादगत्या धात्वर्थ एवार्था-त्तिमभाव्यभावे व्रीहीणामन्वयात् । अत्र तु भावनान्वये न कश्चिद्दोष इति ।

न चैवं पादप्रक्षालनमप्यभ्यसनीयमिति वाच्यम् ।

"प्रथमं प्राङ्मुखः स्थित्वा पादौ प्रक्षालयेच्छनैः ।" इत्याच-मनारम्भात्, प्रागेव दर्शपूर्णमासारम्भात् प्रागन्वारम्भणीयावत् पृथक् प्रयोगतयैव विहितत्वात् ।

नन्वेवं तद्वदेव यावज्जीवानुष्ठेयाचमनार्थं सकृदेवं स्यात् । स्यादेवेदं यदि तद्वत् यावज्जीवस्थाय्यदृष्टसंस्कारार्थं स्यात् । न

(१) श्रुत० ।

चैवं प्रयोजनकालस्थायी कर्त्तृसंस्कारोऽस्यार्थत्वम् । पादाविति द्वितीयाश्रुत्या पादाश्रितः स च दृष्टो व्यापारः । क्षालनं हि सम्यग् जलयोगः । तस्य च [1]स्थायित्वात् स्वत एव प्रधानसाहाय्य-सम्भवेनादृष्टद्वारकल्पनानुपपत्तेः । भुञ्जीतार्द्रपादस्त्विति लिङ्गाच्च । तस्माद् —यथा पत्नीसन्नहने तत्सन्नद्धत्वमेव कर्म्माङ्गमिति नादृष्टं कल्प्यते, दीक्षार्थसन्नहनेन सन्नद्धत्वसम्भवात् इष्ट्यङ्गमपि प्राय-णीयादौ न क्रियते, तन्निवृत्तौ पुनरुदयनीयादौ क्रियते । यथा वा सकृत्कृताधानादिसंस्कारैराग्निभिः सर्व्वाण्यग्निहोत्रादीनि क्रियन्ते, यावत् ते नोच्छिद्यन्ते, निमित्तवशात् तदुच्छेदे पुन-राहितैः । एवमिहापि यावत् पादयो र्जलयोगस्तिष्ठति तावत् क्रियमाणे पुनराचमने न पादप्रक्षालनापेक्षा । तच्छेषे तु पादौ प्रक्षाल्याचमनमिति ।

इमानि चाचमनाङ्गानि विण्मूत्ररेतसामुत्सर्गे, [2]भोजनाद्य-न्तयोः, रथ्यागमने च यदाचमनं तत्रैव सर्व्वाण्यवश्यं कर्त्तव्यानि । इतरत्र पुनर्यज्ञोपवीतित्व-बद्धकक्षशिखित्व-प्रक्षालितपादत्वासोपा-नत्कत्वाप्रावृतशिरःकण्ठत्वान्तर्जानुहस्तत्वान्येवावश्यकानि । तत्रै-तावन्मात्रयुक्ताभक्षणादाचमनफलं भवत्येव । केवलमत्यन्ताप-कृष्टफलम् । अन्याङ्गानान्तु यावद् यावत् क्रियते तावत्तावत् फलोत्कर्षः । "ईषच्चान्यत्र वर्त्तते" इत्यत्र यदङ्गाल्पत्वं विहितं तस्यैकाङ्गहानिमारभ्य यज्ञोपवीतित्वादीतरसर्व्वाङ्गहानिपर्य्यन्तं यावन्त्यङ्गाल्पत्वानि तत्र सर्व्वत्र वृत्तेस्तेषां वैकल्पिकत्वलाभात् ।

(१) स्थायिभावात् तत एव ० । (२) भोजनान्तरे

वैकल्पिकाङ्गानाञ्च फलतारतम्यापादकत्वात्। तत्राग्न्यादिस्पर्श-निमित्तकं यदाचमनं तस्योपात्तदुरितक्षयफलत्वादङ्गतारतम्ये फल-तारतम्यं तत्र सुव्यक्तम्। यच्च साक्षात् कर्म्माङ्गभूतं तत्र प्रधान-फल एव तारतम्यम्। एवं शौचार्थाचमनेऽपि शौचतारतम्यद्वारा तद्युक्तकर्त्तृकर्म्मफलतारतम्यमिति। एतदाचमनासम्भवे निद्रायां कासेऽमेध्यानां सर्व्वेषामप्रयतस्य मनुष्यस्याग्निगोब्राह्मणानां च [1]स्पर्शने रथ्यागमने नीवी[3]श्रंसने चार्द्रौषधितृणस्यार्द्रगोमयस्य भूमेर्वा स्पर्शनमनुकल्पः। नीवीपरिधाने चैतत् त्रयं गोपृष्ठ-स्पर्शनं, सूर्य्यदर्शनं दक्षिणकर्णस्पर्शनञ्च। क्षुते निष्ठीविते गो-पृष्ठस्पर्शनादित्रयम्। पतितसम्भाषणेऽनृतभाषणे च दक्षिण-कर्णमात्रस्पर्शनम्। दन्तश्लिष्टस्य त्यागे लालात्यागे च दक्षिण-कर्णस्पर्शनं मुख्यम्। नाचमनानुकल्पः। तत्राचमनविध्यभावात्। [2]अत्र,—

गङ्गा वै दक्षिणे श्रोत्रे नासिकायां हुताशनः।
उभावपि च स्प्रष्टव्यौ तत्क्षणादेव शुध्यति॥

इति क्वचिल्लिखितं तन्मूल उभयस्पर्शनसमाचारः।

इह तावद् गुदमार्जनादिकर्म्मजाते गन्धलेपक्षय आचमनञ्च द्वयम्।

"प्रलेपस्नेहगन्धानामशुद्धौ व्यपकर्षणम्।
शौचलक्षणमित्याहुर्मृदम्भोगोमयादिभिः॥

---

(१) ०स्पर्शे०। (२) तत्र।
(३) ०विस्रंसने०।

लेपे स्नेहे च गन्धे च व्यपकृष्टे सुदूरतः।
पश्चादाचमनं वापि शौचार्थं—॥"

इति वचनात् [1]सर्व्वकर्म्माङ्गतया विहितं यत् शुचित्वं तत् तदर्थम्। नह्यनयोरङ्गाङ्गिभावो[2]ह्यपकर्षणमाचमनं [3]वापि शौचार्थमिति द्वयोः प्रत्येकं तत्त्वाभिधानात्। तत्र गन्धलेपक्षयो दृष्ट एव तस्य स्थायिनः (क) स्वरूपेणैवोत्तरकर्म्मोपकारकत्वोपपत्तौ [4]तज्जन्यापूर्व्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्। तेनामेध्यगन्धलेपक्षयस्तन्निमित्तकाचमनादिजन्यमपूर्व्वञ्च द्वयं मिलितं शौचपदार्थः। तत्र दृष्टे गन्धलेपक्षये साधननियमोपयोगाभावात् तदाश्रिता नियमा धनार्जनाश्रितनियमवत् पुरुषार्था एव।

अतएव,—

न्यूनाधिकं न कर्त्तव्यं शौचं शुद्धिमभीप्सता।
प्रायश्चित्तेन युज्येत विहितातिक्रमे कृते॥

इति पुरुषसम्बन्धितयैव प्रायश्चित्तमुक्तम्। एवं प्रकारान्तरेणापि गन्धलेपनिवृत्तौ, निर्गन्धस्य च [5]प्रस्वेदादेः स्वतः शोषणेनापि लेपनिवृत्तेः शुद्धिः स्यादेव। किन्तु नियमातिक्रमात् प्रत्यवायान्तरं भवेत्। तत्र शौचार्थमुद्धृतोदकनियमनात् तदतिक्रमेणानुद्धृतेन शौचे, जलाशये शौचोदकप्रवेशस्यावश्यम्भावित्वात्,

---

(१) सर्व्वाङ्गतया ०।

(२) ० व्यपकर्षणं ०।

(३) ० चापि ०।

(क) अत्र पुस्तकान्तरे, "ध्वंसात्मकत्वेन" इत्यधिकः पाठो दृश्यते।

(४) तदन्यापू ०। (५) स्वेदादेः।

[1]तत्र च

"छिन्नाग्नावशुचि द्रव्यं तथैवाम्भसि वा पुनः ।
मासमेकं व्रतं कुर्य्यात्——————॥"

इति गुरुतरप्रायश्चित्तश्रवणान्महान् दोषः ।

यत्तु,—

"अरत्निमात्रं त्यक्त्वा वै कुर्य्याद् वारिण्यनुद्धृते"

इति वाक्यं, तस्य प्रामाण्येऽपि शौचजलं यदि गभीरे पतति न जलाशये प्रविशेत् तदैव तदर्थोऽनुष्ठेयो नान्यथा । अन्यनियमातिक्रमेऽभोजनं प्रायश्चित्तम् । आचमनस्य पुनरदृष्टार्थत्वात् तदुपकारकाण्येव तत्प्रकरणे पठितानि पादप्रक्षालनादीनि । तत्राचमनाभावे तत्साध्यमदृष्टं कथञ्चिद् विष्णुस्मृत्यादिनापि भवेत् । गन्धलेपक्षयाभावे तु शौचस्यासिद्धिरेव न तत्रान्या गतिरस्ति । एवञ्च यत् "नाशौचं कीर्त्तने तस्य" इति विष्णुनामकीर्त्तने शौचानपेक्षेत्युक्तं, तत् तस्य स्वतोऽप्यदृष्टशुद्धिहेतुत्वात् तन्मात्रापेक्षापरम् । दृष्टस्तु गन्धलेपाभावोऽपेक्षित एव । [2]शौचासिद्धावाहवनीयाद्यभावेऽग्निहोत्रादाविवोत्तरकर्म्मस्वनधिकार एव न तु साधनान्तराभाव इव यथाकथञ्चित् कर्त्तव्यता, आधानादिवत् शौच[3]साधनानां प्रकरणाद्यभावेन साक्षात् कर्म्माङ्गत्वाभावान्न तत्तत्कर्म्मप्रयोगः, विधिप्रयुक्तत्वाभावात्, किन्त्वधिकारित्वसम्पादनमेव । एतदभिप्रेत्यैव "स्नातोऽधिकारी भवती"त्युक्तम् । अतएव

(१) तत्र । (३) ० साधनप्रकरणाद्य ० ।
(२) शौचासिद्धौ चाह ० ।

दीक्षितस्य यागाङ्गतया स्नाननिषेधादेव सन्ध्याद्यकरणसमाचारः। न हि तद्दानादिवत् साक्षान्निषिद्धं न च मुख्याधिकारिणो[1][ऽनु] मार्जनादिरूपं स्नानं [2]कल्पप्राप्तिरस्ति। ततश्चाकृतशौचं प्रत्युत्तर-कर्म्माकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वाभावेऽप्यग्न्युत्सादा[3]दिवच्छौचा-करणादेव महाननर्थः। अतएव शौचे कालविलम्बमात्रे त्रिरात्रोपवासादि प्रायश्चित्तमुक्तम्। एतच्चाशौचं "न मुहूर्त्तमप्य-शुचिः स्यात्" इति निषेधशास्त्र[4]बलादपि कर्त्तव्यम्। [5]ततश्च जननमरणाशौचेऽपि तत्र विहितकर्म्मणामेव पर्य्युदासान्निषिद्धा-न्तरवर्जनवत् कर्त्तव्यत्वम्। एवमन्यदपि यच्चण्डालादिस्पर्शनिमि-त्तकं स्नानादि शुद्ध्यर्थं तत् सर्व्वं तत्र कर्त्तव्यम्। एवं प्रायश्चित्त-कर्म्मणामपि,—

दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा।
दृष्ट्वा पथि निरातङ्कं कृत्वा वै ब्रह्महा शुचिः॥

इत्यादौ शौचसमाख्यानादशौचमध्ये पापे कृते तदैव प्राय-श्चित्तं कर्त्तव्यम्। नैमित्तिकस्य निमित्तानन्तरकालतया न्याय्य-त्वाच्च। कथञ्चित् तदानीमसम्भवे च—

"कृते निःसंशये पापे न भुञ्जीतानुपस्थितः"

इति भोजननिषेधात्, न चैवं "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्य"-

---

(१) [ ] पुस्तकान्तरे न दृश्यते।
(२) ० मनुकल्पप्राप्तिरस्तीति।
(३) ० सादना ०।
(४) ० वचना ०।
(५) अतश्च ०।

मित्यादिवचनात् शुद्ध्यर्थं सन्ध्योपासनमपि तत्र कर्त्तव्यम् । तस्य,—

"सूतके कर्म्मणां त्यागः सन्ध्यादीनां विधीयते"

इति साक्षात् पर्य्युदस्तत्वात् । किञ्च सूतके सावित्र्या चाञ्जलिं प्रक्षिप्य प्रदक्षिणं कृत्वा सूर्य्यं ध्यायन् नमस्कुर्य्यादिति ।

"सूतके मृतके चैव सन्ध्याकर्म्म न लुप्यते ।
मनसोच्चारयेन्मन्त्रान् प्राणायाममृते द्विजः ॥"

इति वा क्रियत एव ।

किञ्च "नित्यानि[1] च निवर्त्तेरन्" इति नित्यमात्रनिवृत्तेः,

नित्यस्य कर्म्मणो हानिः केवलं मृतसूतके ।
न च नैमित्तिकोच्छेदः कर्त्तव्यो हि कथञ्चन ॥

इति वाक्यदर्शनाच्च नैमित्तिकत्वात् शुद्ध्यर्थानि कर्म्माणि नाशौचे निवर्त्तन्ते । एवं,—

"अस्नाताशी मलं भुंक्ते अजपी पूयशोणितम् ।"

इति भोजननिमित्तकतयोक्तो गायत्रीजपः ।

[2]शुचौ सन्ध्याजपेनैव [3][ भोजनार्थजपे ] सिद्धे, अशौचे सन्ध्याभावे तदभाव अतः पृथक्तया कर्त्तव्यः । न च जीवनसन्धिकालादिनिमित्तकत्वात् नित्यान्यपि तथेति वाच्यम् । निमित्तकृतानिष्टपरिहारार्थस्यैव नैमित्तकत्वेन विवक्षितत्वादिति ।

(१) ० विनिवर्त्तेरन् ।

(२) शुद्धौ ० ।

(३) [ ] पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।

## अथ दन्तधावनम्।

तत्र प्रतिपत्-षष्ठ्यष्टमी-नवमी-चतुर्द्दश्यमावास्या-पौर्णमासी-रविसंक्रान्त्युपलक्षिततिथिव्यतिरिक्तदिनेषु ;—आम्रातकविल्वापामार्ग-शिरोष[1]वटपनशार्क-करवीर-सर्जनिम्ब-जात्यर्जुन कदम्बोदुम्बराणामन्यतमेन वेणुत्वग्भागेन वान्येन वा [2]कषायकटुतिक्तान्यतमरसेनापि च्छिन्नेन सुगन्धिना क्षीरकण्टकयोगिनीवृक्षगुल्मान्यतमोयेन ज्ञातनाम्ना तदभावे तिन्तिड़ीकरञ्जयोरेकेन सद्यश्छिन्नेन कीटाद्यदूषितेन ऋजुना सत्वचाग्रसमीपग्रन्थिरहितेन द्वादशाङ्गुलेनाष्टाङ्गुलेन वा कनिष्ठाङ्गुलाग्रसमस्थूलेन चूर्णिताग्रेण दन्तान् विशोधयेत्। एतद्विहितानामलाभेऽन्येनापि प्रतिनिधिरूपेण पलाश-कोविदार-बहुवार-तिक्तशाक-सिन्धुवार[3]शिखण्डित्वगितरवेणवयवक्षुद्र[4]माक्षिकवदरशिंशपाशमीकपित्थ-हरीतक्यश्वकर्ण-शालामलकारिष्ट-विभीतकधवधन्यनगुड़फलाश्वत्थेङ्गुदगुग्गुल[5]-वल्कल-शिग्रु-तिन्दुक-पारिभद्र[6]मोचम्यास-शाल्मलीशण-व्यतिरिक्तेन काष्ठेन त्वचा पत्रेण वा, अनम्लेनामधुरेणापूतिगन्धेन कुर्य्यात्। साक्षादङ्गुलिभिर्न कुर्य्यात्। अत्र,—

इष्टकालोष्टपाषाणैर्नखैरङ्गुलिभिस्तथा।
मुक्त्वा चानामिकाङ्गुष्ठौ वर्जयेद्दन्तधावनम्॥

इति पठन्ति। तथा,—

---

(१) ०वटपनशार्कखदिरकर०। (४) ०शीर्षकवदर०।
(२) काषायतिक्तकटुरसान्य०। (५) ०चन्दनशिग्रु०।
(३) ०शिखण्डिमयूरत्व०। (६) ०मोचशाल्मलीपाशमत्स्यण्डि (?) र्यति०।

गुवाकं तालहिन्तालौ तथा ताड़ी च केतकी ।
[1]खर्जूरनारिकेलौ च सप्तैते तृणराजकाः ॥
तृणराजशिरापत्रैर्न कुर्य्याद्दन्तधावनम् ॥

इति वाक्यदर्शनादेतानि प्रतिनिधित्वेनापि न ग्राह्याणि। तथा कुशकाशावपि ।

वैद्यशास्त्रे,—

दौर्गन्ध्यमुखरोगघ्नं कटुतिक्तकषायकम् ।
अभ्यस्यमानं तैलाक्तमन्वहं दन्तधावनम् ॥

तच्च दन्तधावनं दृष्टसुखसम्पादनमपि—

मुखे पर्य्युषिते नित्यं भवत्यप्रयतो नरः ॥

इति वाक्यशेषादुत्तरकर्म्मोपयोगिशौचाख्यादृष्टकर्त्तृसंस्कारार्थम् ।

नह्यत्र शौच इव दन्तमलक्षय एव प्रायत्यम् । "मलापकर्षणं शौचममेध्यलिप्तस्य" इत्यमेध्यक्षयस्यैव तत्त्वाभिधानात् । दन्तमलस्यामेध्यत्वे मानाभावात् । प्रत्युत तथात्वे दन्तधावनात् प्राक् वेदाध्ययनादावप्यधिकारो न स्यात् । तिथिविशेषादौ ब्रह्मचारिणश्च तद्वर्जनं कथं सङ्गच्छेत । तस्मादाचमन इवास्मिन्नदृष्टमेव प्रायत्यम् । तेनाचमनादिवत् काष्ठनियमादि सर्व्वं तदङ्गमेव । ततस्तदतिक्रमे प्रत्यवायाभावः । पलाशादिनिषेधोऽप्यत्र प्रकरणाम्नातत्वात् कर्म्माङ्गमेव । [2]अत्र यद्यप्याम्रादिनियमनात् तदन्यस्याप्राप्तिस्तथापि मुद्ग[3]चरुविधौ माषनिषेधवत्

(१) खर्जूरं नारिकेलश्च० । (३) ०चरौ माष० ।
(२) तत्र० ।

प्रतिनिधित्वेन प्राप्तानामेव निषेधः । अतस्तच्छौचस्य प्रकारान्तरेण सम्पादने निषिद्धकाष्ठादिनापि सुखार्थदन्तधावने दोषाभावः । तत्रापि पालाशं—

आसनं शयनं यानं पादुके दन्तधावनम् ।
वर्जयेद् भूतिकामस्तु पालाशं नित्यमात्मवान् ॥

इति पुरुषार्थनिषेधाद् वर्जनीयम् । एतत्प्रतिनिधिद्रव्याणामलाभे प्रतिपद्दर्शषष्ठीनवमीष्वपां द्वादशगण्डूषैरेव मुखशुद्धिः । नरसिंहपुराणे,—प्रतिपदादितिथिचतुष्टये निन्दामुक्त्वा "प्रतिषिद्धे तथा दिने" इति तावन्मात्रपरामर्शेनैव द्वादश[१]गण्डूषविधानात् । तत्र यद्यपि,—

प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु नवम्याञ्चैव सत्तम[२] ।
दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम् ॥

इति निन्दावचनं द्वादशगण्डूषविधिप्ररोचनार्थमिति युक्तम् । तथापि "प्रतिषिद्धे तथा दिने" इति प्रतिषिद्धपदेनानुवादात् पृथगस्य प्रतिषेध[३]परं वाक्यं कल्पनीयम् । नचैवं "पशावाज्यभागयोरिव विकल्पापत्तिः । तत्र द्वादशगण्डूषविधानेन दन्तकाष्ठसंयोगस्याशास्त्रीयस्यैव निषेधात् । तेन तत्र द्वादशगण्डूषैरेव शुद्धिर्नान्येन । सुखाद्यर्थमपि काष्ठेन दन्तधावने दोषः । पत्रादिना तु न कश्चिद्दोषः ।

---

(१) ० गण्डूषाभिधानात् ।
(२) ० सत्तमाः ।
(३) ० परत्वं कल्पनीयम् ।

कुहूषष्ठ्योर्नवम्याञ्च पक्षादौ दन्तधावनम्।
पर्णैरन्यत्र काष्ठैः स्याज्जिह्वोल्लेखः सदैव हि॥

इति वाक्यञ्च दृष्टार्थपरं दृश्यते। तत्र पर्णैरिति काष्ठेतरोपलक्षणार्थम्। वेत्रादिलगप्युद्भिच्छरीरास्थिस्थानीयात् काष्ठार्थ एव।

यत्तु,—

"[1]पर्व्वस्वपि च वर्ज्जयेत्"

इति वचनं, तत्र नानुयाजेषु ये यजामहं करोतीति[2]वत् पर्य्युदासपरम्। "भक्षयेच्छास्त्रदृष्टानि" इति पूर्व्ववाक्यस्यैव शेषः। तेन पर्व्वव्यतिरिक्ततिथिष्वेव [3]प्रायत्याच्च दन्तधावनविधानात् पर्व्वसु तदभावेऽपि नाप्रायत्यम्। तत्र सुखार्थं दन्तधावने तु न कश्चिद् दोषः।

यत्तु,—

"श्राद्धे जन्मदिने चैव विवाहे मुखदूषिते।
व्रते चैवोपवासे च वर्जयेद्दन्तधावनम्॥
न भक्षयेद्दन्तकाष्ठमेकादश्यां नरेश्वर।
आदित्यदिवसे वापि तस्मादेनो महद् भवेत्॥"

इति वाक्यम्। तत्प्रामाण्येऽपि प्रायत्यार्थतया शास्त्रप्राप्तस्य निषेधे पशावाज्यभागयोरिव विहितप्रतिषिद्धत्वात् विकल्प एव स्यात्। प्रायत्यार्थव्यतिरिक्तस्य सुखार्थप्राप्तस्य वा हिंसादि-

---

(१) पर्व्वस्विति च वर्ज ०। (३) प्रायत्यार्थं ०।
(२) वाक्यदर्शनात् पर्य्युदासपरम्।

निषेधवन्निषेधः। केवलमत्र श्राद्धदिने निषेधस्य दौहित्रदानादि-निषेधवत् कर्म्माङ्गत्वान्नित्यलम्। [1]उपवासे—

दन्तकाष्ठञ्च विसृजेद् ब्रह्मचारी शुचिर्भवेत्।

इति वराहपुराणेऽप्युक्तम्। यत्त्वत्र विसृजेद् ब्राह्मणेभ्यो दद्यादिति कल्पतरौ व्याख्यातं तदभिप्रायं न विद्मः। एवं व्रत-रूपोपवासेऽपि कर्म्माङ्गत्वान्नित्यलम्।

तत्र,—

श्राद्धोपवासदिवसे खादित्वा दन्तधावनम्।

गायत्र्या शतशः पूता अपः प्राश्य विशुद्ध्यति॥

इति यत् पठन्ति तदपि कर्म्माङ्गमेव स्यात्।

तत्र प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा पादौ हस्तौ मुखं प्रक्षाल्य द्विराचम्य जान्वन्तःस्थितेन दक्षिणहस्तेन तत् काष्ठं [2]प्रक्षालितं धृत्वा।

आयुर्बलं यशोवर्च्चः प्रजाः पशुवसूनि च।

ब्रह्म प्रज्ञाञ्च मेधाञ्च त्वं नो धेहि वनस्पते॥

इत्यभिमन्त्र्य।

अन्नाद्याय व्यूहध्वं सोमो राजा यमागमत्।

स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च बलेन च॥

इतिमन्त्रोपांशूच्चारणपूर्व्वकं तत्काष्ठाग्रेण दन्तान् घर्षयित्वा तत् काष्ठं प्रक्षाल्य भंक्त्वा शुचौ देशे प्रक्षिपेत्।

(१) श्राद्धप्रकरणे— (२) प्रक्षाल्य०।

ऐश्वर्य्यभ्रंशमाप्नोति त्यक्ता तदशुचौ भुवि।
अभीप्सितं भोज्यकामः सम्मुखं पातयेद् यदि॥
पातितेऽभिमुखे सम्यक् भोज्यमाप्नोत्यभीप्सितम्।

ततस्तोयगण्डूषैर्द्दिराचामेत्। तत्र,—

जलगण्डूषैः प्रातर्बहुशोऽम्भोभिः प्रपूर्य्य मुखरन्ध्रम्।
निर्द्दयमुत्क्षिपन्नक्ष्णोः क्षपयति तिमिराणि——॥

न चात्र दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यानीति गृह्यविहितस्यान्नाद्यायेति मन्त्रस्य स्मार्त्तमन्त्रेण सह विकल्पसम्भवः। तस्य "परिजप्य च मन्त्रेणे"त्यभिमन्त्रणं प्रत्येव करणत्वाभिधानात्। न च दन्तधावनकर्म्मसाधनतयोच्चारणमेव परिजपः। [1]ततो "मन्त्रेणे"ति करणविभाज्यसम्बन्धात्। अतएवा"भिमन्त्र्ये"ति व्याख्यातं कल्पतरौ। अत्र द्वादशगण्डूषवारिणि दन्तकाष्ठकार्य्यापन्नतया प्राप्तेऽभिमन्त्रणमन्त्रे "वनस्पति"पदस्य प्रकृतौ गौण्यावृत्त्यापि समवेतार्थस्य "धान्यमसी"ति मन्त्रे धान्यशब्दस्य तण्डुलेषु लाक्षणिकस्येतरसमयेष्विवोहः कर्त्तव्यः। धावनमन्त्रस्त्वविकृत एव प्रयोक्तव्यः।

एतच्च मन्त्रोच्चारणमायुरादिफलकामनारहितेनापि प्रयोक्तव्यमविशेषेण विधानात्। यथा पशोर्मायुकरणाभावेऽपि यत् पशुर्मायुमकृतेति। द्वेष्याभावेऽपि योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्म इति द्वेष्याभावेऽपि स्यादेवेति निर्णीतं षष्ठग्रन्थे। अथ तस्यैतन्मन्त्र[2]

(१) तत।

(२) ॰ करणकेन कर्म्मणामनिष्टमप्यायुरादिर्ज्जन्मते स्यादेवं ॰।

कर्म्मणानिष्टमप्यायुरादिर्भवेत्, स्यादेवं यद्ययमायुरादि प्रार्थनामन्त्रः स्यात्। न चैवं क्रमिमन्त्रवज्जपमात्रविधौ तथा[1] स्यात्, काष्ठाभिमन्त्रणसाधनतयात्र विधानात्। "त्वं नो धेह्नी"त्यत्र "नः" इत्यायुरादिकामिनो दन्तधावनलक्षणया "धेह्नी"ति दधासीति तिङ्प्रत्ययेन दन्तधावनसाधनकाष्ठप्राशस्त्यमेवानेन मन्त्रेण प्रकाश्यत इति कल्पनीयम्। (क) एवं मन्त्रस्यायुरादिसाधनताप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणलिङ्गेनैव तत्साधनकर्म्मणस्तत्साधनतासिद्धिर्वक्तव्या। लिङ्गं पुनर्न साक्षात् तत्र प्रमाणं किन्तु एतत्काम इदं कुर्य्यादिति श्रुत्यनुमापकतयैव। तत्रचेष्टसाधनतापरेण विधि[2]प्रत्ययेनेष्टमेवायुराद्येतज्ञाव्यमिति प्रतिपादनादनिष्टस्य तस्य कुतो भाव्यता। यथा स्वर्गादिसाधनस्याप्यग्निहोत्रादे र्मुमुक्षुं प्रति न तज्जनकतेति।

[3]न च फलदेवतयोश्चेत्यत्र "अविदाम देवान्, अगन्म स्वर्" इति मन्त्रयोरिवोहेन प्रयोग इति वाच्यम्। मन्त्राणामतिदेशेन विकृतौगतानामेवोहो भवति न प्रकृतौ। तदुक्तं नवमे, अपूर्व्वत्वविकारोपदेशात् प्रतीयत इति। अनेन "पत्नीः सन्नह्ये"ति मन्त्रस्य द्विबहुपत्नीकेनोह इति। मन्त्राणामनुष्ठानकरणत्वेन विधानात् पूर्व्वसिद्धस्यैव करणत्वान्मन्त्रान्ते च कर्म्मारम्भः। "भद्रो नोऽग्नि-

(१) ० आयुरादिः स्यात्।

(क अत्र पुस्तकान्तरे,—'एवमेवंविधेष्वन्येष्वपि मन्त्रेष्वर्थ ऊहनीयः।'' इत्यधिकपाठो दृश्यते।

(२) ० प्रयत्नेन ०। (३) ननु ०।

राहृत" इति जपन् दन्तधावनकाले सुभगः स्यादिति। सर्व्वत्र मन्त्राणां दृष्टे सम्भवत्यदृष्ट[1]कल्पनानुपपत्तेरनुष्ठानापेक्षितानुष्ठीयमानार्थस्मृतिमात्रार्थत्वस्य मन्त्राधिकरणे निर्णीतत्वात् प्रकारान्तरेणार्थे स्मृते मन्त्रप्रयोगस्य लोप एवेति न वाच्यम्। विकृतिष्वेव कर्म्मसु उपकारातिदेशद्वारैव पदार्थप्राप्तेरुपकारासम्भवे तदुपायपदार्थलोपः। प्रकृतौ तूपदेशेनैव प्राप्तपदार्थानां पश्चादेवोपकारकल्पनान्न लोपः। [2]एवं तर्हि विकृतौ प्रकारान्तरेणार्थस्मरणे मन्त्रा नैव प्रयोक्तव्याः। मैवं शास्त्रार्थावधारणवेलायां हि यत्र प्रयोजनाभावनिश्चय[3]स्तदैव तदुपायलोपः शास्त्रार्थः। [4]तत्रानुष्ठानवेलायामेव पुरुषदोषेण दृष्टप्रयोजनाभावो ज्ञायते तदा प्राक्तननिश्चयात् शास्त्रप्रापितः पदार्थो नित्यमपूर्व्वमात्रार्थमनुष्ठेय एव। अतएव विकृतावप्यालस्यादिना व्रीह्यादिस्थाने तण्डुलादिषु गृहीतेष्ववघातादिसमाचारो याज्ञिकानाम्। पठन्ति च,—

खाते लूने तथा च्छिन्ने सान्नाय्ये मार्त्तिके तथा।
यज्ञे मन्त्राः प्रयोक्तव्या मन्त्रा यज्ञार्थसाधकाः॥

इति। अस्मिंश्च पक्षे मन्त्रार्थज्ञानस्य नास्त्युपयोगः। इत्थमेव च सम्प्रति प्रायेणानुष्ठानम्। किञ्च श्रौतकर्म्मस्वेव क्रमाधीतेषु मन्त्रेष्वाद्यमन्त्रेण कृते आद्यपदार्थे द्वितीयपदार्थस्मरणात् प्रागभ्यासवशात् द्वितीयमन्त्रस्य बुद्ध्यारोहः सम्भाव्यते न तु विविध-

(१) ॰सङ्कल्पनासम्भवादनु॰। (३) ॰स्तत्रैव॰।
(२) एवमत्र हि विकृतौ॰। (४) यत्रत्वनु॰।

शाखाविच्छिन्न[1]मन्त्रकेषु स्मार्त्तकर्म्मस्विति। तत्राट्टष्टमात्रार्थता मन्त्राणां नार्थस्मरणार्थतेत्याभाति। [2]एवञ्च तत्र मन्त्रार्थज्ञानोपयोगः। यत्तु,—

यश्च जानाति तत्त्वेन आर्षञ्छन्दश्च दैवतम्।
विनियोगं ब्राह्मणञ्च मन्त्रार्थज्ञानमेव च॥
एकैकस्य ऋषेः सोऽपि वन्द्योऽह्यतिथिवद्भवेत्।
देवतायाश्च सायुज्यं गच्छत्यत्र न संशयः॥ इति।

[3]नानेन मन्त्रार्थज्ञानस्य कर्म्माङ्गत्वमुच्यते, किन्तु,—

आत्मना हि क्रियारूपैर्गुणैराश्रियते क्रिया।

इति न्यायात् स्वयं क्रियारूपस्यार्षादिसहितार्थज्ञानस्य क्रियान्तरानाश्रितस्यैव फल[4]साधनत्वम्।

अविदित्वा तु मन्त्रार्थं[5] किञ्चित् कर्म्म समाचरेत्।
इहामुत्र फलं नास्ति निष्फलं तेन यत् कृतम्॥

इति क्वचिल्लिखितम्। तस्य प्रामाण्येऽपि "यस्य पर्णमयी जुहू"रित्यादिवाक्यवदेतदर्थवादकल्पितमन्त्रार्थज्ञानं सर्व्वकर्म्माङ्गत्वविधिप्ररोचनामात्रार्थत्वादर्थज्ञानेऽङ्गवैगुण्यमात्रं [स्यादिति।]

ततः सम्यगरुणकिरणदर्शने प्रातःस्नानम्। यत्तु "राहुदर्शनवर्ज्जनरात्रौ न सन्ध्याया"मिति तत्र सामान्यनिषेधस्य यद्विशेष-

---

(१) ० मन्त्रेषु ०।
(२) ० एवञ्च न तत्र ज्ञानस्योपयोगः ०।
(३) अनेन ०।
(४) ० साध्यत्वम्। किन्तु — ०।
(५) ० कर्म्म यत्किञ्चिदाचरेत्।
[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

विहितेतरविषयत्वं न्यायसिद्धं तदनुवादार्थत्वाद् राहुदर्शनपदस्य विशेषविहितोप[1]लक्षकत्वान्न तद्विरोधः। यत्र तु विहितेऽपि त्रिसवनस्नानादौ सवनशब्दस्य दिवसतृतीयभागमात्रवचनत्वेन सन्ध्याकालविध्यभावात् सूर्य्योदयादूर्द्धमस्तमनात् प्रागेव। अतस्तत्रैव तन्निषेध इति। एवं,—

न स्नायादुत्सवेऽतीते निवर्त्त्यापि च मङ्गलम्।
अनुव्रज्य सुहृद्बन्धूनर्चयित्वेष्ट[2]देवताः॥

इति निषेधोऽपि विशेषविहितेतरविषय एव।

प्रातःस्नानाद्दशगुणं पुण्यं मध्यन्दिने तथा।
सायङ्काले शतगुणमनन्तं शिवसन्निधौ॥

इति स्नानमपि। एवं "न स्नानमाचरेद् भुक्त्वा" इति निषेधोऽपि[3]। तथा,—

दशमी नवमी चैव तृतीया च त्रयोदशी।
प्रतिपच्च विशेषेण स्नानमन्त्यं विवर्जयेत्॥
द्वादश्यां कृष्णपक्षे च न स्नातव्यं [4]कथञ्चन॥ इति।

एवं,—

दर्शे स्नानं न कुर्व्वीत मातापित्रोस्तु जीवतोः।

इति,

नवम्याञ्च न नन्दे च निमित्तान्तरसम्भवे। इति।

(१) ० लक्ष्यत्वा ०। (३) ० प्यस्ति।
(२) ० देवताम। (४) ० कदाचन।

अत्र निमित्तान्तरमदृष्टार्थविधिरेव। तेनैतेषु दृष्टार्थस्यैव स्नानस्य निषेधः। एतदुक्तमप्यत्र,—

भोगाय क्रियते यत्तु स्नानं याट्टच्छिकं नरैः।
तं निषिद्धं दशम्यादौ नित्य(१)नैमित्तिकं नतु॥ इति।

यत्तु सामान्यतो विहितं काम्यस्नानं तत्र कालविशेषसम्बन्धस्य शास्त्रसिद्धत्वाभावात् सम्भवति निषेध इति। तच्च शुद्धशरीरेणापि कर्त्तव्यम्।

यत्तु,—

लालास्वेदसमाकीर्णः शयनादुत्थितः पुमान्।

इत्यशुद्धिमुक्त्वा तत्परिहारार्थं (२)प्रातःस्नानमुक्तं तत् प्रायिकम्। यच्छयनोत्थितस्याशुद्धत्वं तत्परिहारोऽप्यनेन प्रत्यवायपरिहाराद्यर्थप्रयुक्तेन प्रसङ्गात् क्रियत इत्यभिप्रेत्य न तु तन्मात्रार्थतया "यथाहनि तथा प्रातर्नित्यं स्नायात्" इति वचनात्। अतएवाग्निहोत्रादिनित्यकर्म्मान्तरवत् दुरितक्षयार्थतया "याम्यं हि यातनादुःखं प्रातःस्नायी न पश्यति" इत्युक्तम्।

एवं—

यष्टुकामः पवित्राणि अर्च्चिष्यन् देवतापितॄन्।
स्नानं समाचरेद् यत्तु क्रियाङ्गं तत् प्रकीर्त्तितम्॥

इति यत् क्रियाङ्गस्नानमुक्तं तत् कार्य्यमप्यनेन प्रसङ्गात् क्रियत इत्युक्तम्।

स्नातोऽधिकारी भवति दैवे पित्र्ये च कर्म्मणि।

---

(१) ०नित्यं०। (२) प्रातरेवमुक्तं०।

इति ।

अस्नात्वा नाचरेत् कर्म्म जपहोमादि किञ्चन ।

इति च । एतद्दर्शनबलादेव तत्क्रियाङ्गस्नानं कर्त्तृसंस्कारद्वारैकदिवसकर्त्तव्याशेषकर्म्मार्थमेकमेव न प्रत्येकं पृथक् कार्य्यम् । एवमकृतप्रातःस्नानेनैव पृथक् क्रियाङ्गं सकृदेव स्नानं कर्त्तव्यम् । तत्राप्यसामर्थ्ये काम्यकर्म्मस्वनधिकार एव । [1]तत् क्रियाङ्गस्नानं—

नित्यं नैमित्तिकञ्चैव क्रियाङ्गं मलकर्षणम् ।
तीर्थाभावेऽपि कर्त्तव्यमुष्णोदकपरोदकैः ।

इति वचनाद् यथाकथञ्चित् समन्त्रकं कर्त्तव्यम् । तर्पणञ्च तत्र नास्ति । नित्यनैमित्तिककाम्येष्वेव तद्विधानात् । (क) तद्वदत्र विध्यभावात् । स्नानं नाम सर्व्वाङ्गजलयोजनम् । तच्च यद्यप्यनुद्धृतैरुद्धृतैश्च सम्भवति तथापि सर्व्वस्नानप्रकृतिभूत आह्निकस्नाने मज्जनविधानादनुद्धृतैरेव स्नानं प्राप्तम् । तदसम्भवे तु "गुणलोपे तु मुख्यस्य" इति न्यायेनैवोद्धृतैः स्नानम् । ततश्च काम्यस्नाने[2]षूद्धृतानामनवकाशः । यत्तु चण्डालस्पर्शादौ स्नानं तत् "तूष्णीमेवावगाहेत यदा स्यादशुचिर्नरः" इति [3]वाक्यादितिकर्त्तव्यतारहितमिति । तत्र मज्जनविध्यप्रवृत्तेरुद्धृतैरपि [4]कर्त्तव्यम् ।

---

(१) एतत् क्रियाङ्गं स्नानं ।

(क) अत्र पुस्तकान्तरे, 'नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमिष्यते । तर्पणञ्च भवेत्तस्याङ्गत्वेन प्रकीर्त्तितमिति' इत्यधिकः पाठो दृश्यते ।

(२) ० तू ० ।

(३) ० वाक्यदर्शनाद्धि ० ।

(४) ० कार्य्यम ।

केवलं,—

मृते जन्मनि सङ्क्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः।

अस्पृश्यस्पर्शने चैव न स्नायादुष्णवारिणा॥

इति वाक्यदर्शनात् नोष्णोदकेन कुर्य्यात्।

तथा,—

पौर्णमास्यां तथा दर्शे यः स्नायादुष्णवारिणा।

स गोहत्याकृतं पापं प्राप्नोतीह न संशयः॥

इति।

दिवाहृतैर्जलैः स्नानं निशि कुर्य्यान्निमित्ततः।

निःक्षिप्य च सुवर्णञ्च संनिधाप्य च पावकम्॥

इत्येतत्,—

आदित्येऽस्तमिते रात्रावस्पृश्यञ्च स्पृशेद् यदि।

इत्युपक्रमादशौचनिमित्तकस्नानमात्रपरम्। न ग्रहणादिनिमित्तकादृष्टार्थस्नानपरम्। तत्र मज्जन[1]बाधानुपपत्तेः।

एवं,—

आचान्तमनुचान्तन्तु निशि स्नानं न विद्यते।

स्नानमाचमनं प्रोक्तं दिवोद्धृतजलेन तु॥

[2]इत्येतदप्येतत्परम्। तत्रादित्यास्तमयपदेन सायंसन्ध्याभि[3]धानात् सायंसन्ध्यायामप्येवम्। न प्रातःसन्ध्यायाम्।

तत्रापि,—

(१) ॰ विध्यन्तु ॰।

(२) इत्येतत्परम्।

(३) ॰ विधानात् ॰।

अनस्तमित आदित्ये सङ्गृहीतन्तु यज्जलम्।
तेन सर्व्वात्मना शुद्धिः शवस्पृष्टन्तु [1]वर्जयेत्॥

इति वचनात् [2]दिवोद्धृतैरेव। दिवोद्धृतजलासम्भवे च जला-शयोपर्य्यग्निं धारयन् "धाम्नो धाम्नः" इति कण्डिकयोद्धृताभिः स्नायात्। एवमन्यत्रापि। रात्रौ जलोद्धरणप्राप्तावुद्धरेत्। सन्ध्या-यान्तु नैवम्। रात्रौ,—"एता आपः" इत्युपक्रम्यैतद्विधानात्। मलापकर्षणन्तु दृष्टार्थत्वादितिकर्त्तव्यता[2]नपेक्ष्यम्। "तत्र नोद्-घर्षणं कुर्य्या"दित्यप्स्वङ्गमलापकर्षणस्य निषिद्धत्वादुद्धृतैरेव। प्रातःस्नाने तु "मलापकर्षणं तीरे मन्त्रवत्तु जले स्मृत"मित्यनुद्य "सन्ध्यास्नानमुभाभ्या"मिति विधानादुद्धृतानुद्धृतयोर्विकल्पः। तत-श्चौपदेशिकेनातिदेशकस्य मज्जनस्य बाधः। "कूपे तूद्धृततोयेन" इत्याद्यप्येतत्परमेव। यत्तु पद्मपुराणे,—

अनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैः स्नानं समाचरेत्।

इत्युक्तं तदुद्धृतानुद्धृतजलसाध्यस्नानमात्रानुवादेन तीर्थप्रकल्प-नादिगुणविध्यर्थमेव। अतएवान्ते "स्नानं कुर्य्याद् विधानत" इत्युक्तम्। तेन तद्बलात् सर्व्वस्नानेष्वादौ तानि कर्त्तव्यानि। नित्याह्निकस्नानादावुद्धृतविधिः। एवं यद्यपि प्रातःस्नान उद्धृता-नुद्धृतयोर्विकल्पस्तथाप्युद्धृताद् "भूमिष्ठमुदकं पुण्य"मिति वचना-दुद्धृते स्नानफलस्यापकर्षोऽनुद्धृते तूत्कर्ष इति। [4]तेन प्रातःस्नान-प्रक्रान्ते काम्येऽपि माघफाल्गुनस्नानादावुद्धृतस्यापि प्राप्तिः। तच्च

---

(१) ० विवर्जयेत्। (२) ० नपेक्ष्यम्।
(३) प्रातः स्नानमनुद्धृतैरेव। (४) एतेन प्रातःस्नानप्रक्रान्तिकाम्ये ०।

प्रातःस्नानं यदोद्धृतैः क्रियते तदा तत्र यत्प्रधानं सर्व्वाङ्गजल-योजनरूपं स्नानकर्म्म तदमन्त्रकं कर्त्तव्यम्। अङ्गकर्म्माणि पुनः समन्त्रकाण्येव कर्त्तव्यानि। "गृहे चेत्तदमन्त्रवत्" इत्यनेन "उपांशुकाम्या इष्टय" इत्यत्रोपांशुत्ववत् प्रधानमात्रस्यैवामन्त्रत्व-विधानात्। अतएव कल्पतरौ, "अमन्त्रवत् स्नानाङ्गं मन्त्ररहित"-मिति व्याख्यातम्। अन्तर्जलजपश्चात्र जलकुम्भेनाभिषिच्यमानस्य भवत्येव। "गेहे चे" दित्यनेन चोद्धृतस्नानस्य गृहे प्रायिकत्वाद् विहितत्वेन झटिति बुद्ध्यारोहाच्च तन्मन्त्रमनूद्यते। गृहाव-च्छिन्नस्य विध्यभावात्। तद्रूपेण तथा बुद्ध्यनारोहात् प्रातः-स्नानाद्यन्यदवश्यं कर्त्तव्यं स्नानमनुद्धृतासम्भवे "गुणलोपे तु मुख्यस्य" इति न्यायेनोद्धृतेन तु क्रियमाणं समन्त्रकमेव। सर्व्वत्र चादृष्टार्थे स्नाने "स्नानञ्चाकृत्रिमे जले" इति सामान्यतः—

नदीषु देवखातेषु तड़ागेषु सरस्सु च।

इति तड़ागादिषु देवखातत्वविशेषणाद् विशेषतश्चाकृत्रिम-स्यैवाङ्गत्वाभिधानात् कृत्रिमाणामप्राप्तिराचरेद्वा। "पञ्चपिण्डानु-द्धृत्यापदि" इति नित्यस्नानेष्वकृत्रिमासम्भवे कृत्रिमाणां "गुणलोपे तु मुख्यस्य" इति न्यायसिद्धामेव प्राप्तिमनूद्य पञ्चपिण्डोद्धरण-विधानम्। एवं कूपात् "त्रीन् घटां स्तथा" इति परकीयकूपेषु घटत्रयोद्धरणविधानम्। तेनास्य कृत्रिमस्नानस्य विशेषाभ्यनुज्ञा-परत्वाभावात्

"परकीयनिपानेषु स्नायान्नैव कदाचन।"

इति निषेधातिक्रमे स्यादेवाल्पीयान् दोषः। विशेषाभ्यनुज्ञा-

परत्व एव हि "सामान्येनाभ्यनुज्ञाना"दिति न्यायेन दोषो न स्यात् । न चात्र विशेषाभ्यनुज्ञानमस्ति । अन्यसम्भवे तु नित्यस्नानेषु सुखार्थस्नानेऽपि निपानकर्त्तुः- "स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यत" इति महान् दोषः । न च

"पञ्चपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिषु ।"

इति वचनात् पिण्डाननुद्धरण एव दोषः । तस्य पञ्चपिण्डोद्धृतिपदेन [1]तदुक्तं यदापत्तौ परकीये नित्यस्नानं [2]तल्लङ्घयित्वा तद्व्यतिरेकेण तत्र यतो न स्नायात् ततो नद्यादिष्वेव स्नायादित्येवं वाक्यान्तरप्रामानुवादेनोत्तरार्द्धशेषत्वात् । न च विहितनिषेधेन विकल्पदोषापत्तेः परकीयनिपानेष्वित्यस्य "नानुयाजेषु ये यजामहं करोति" इतिवत् परकीयव्यतिरिक्ते स्नायादिति [3]पर्य्युदासपरत्वेन विहितासम्भवे तत्राविहितानिषेधे प्रवृत्तौ कुतो दोष इति वाच्यम् । विहितेऽपि स्नाने क्वचिमसम्बन्धस्याविहितत्वात् तन्निषेधे विकल्पायोगात् तदभावे च श्रौतनिषेधत्यागे लाक्षणिकपर्य्युदासाश्रयणानुपपत्तेः । पर्य्युदासे च निपानकर्त्तुः "स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यत" इति दोषासङ्गतेः । एवं "अवन्तीष्वनिरुद्धास्वि"ति विधानात् तदसम्भव एव निरुद्धप्रवाहे प्राप्ते नित्यस्नाने

"उद्धृत्य वापि त्रीन् पिण्डान् कुर्य्यादापत्सु" । इति ।

त्रिपिण्डोद्धरणविधिः । काम्यस्नानेषु पुनर्न [ सर्व्वथा ] क्वचित्मादिप्राप्तिः । एतदर्थमेव,—

(१) यदुक्तम् ।
(२) ० तु लङ्घयित्वा ० ।
(३) पर्य्युदासत्वेन ० ।
[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।

स्नातस्य वह्नितप्तेन तथैव परवारिणा ।
शरीरशुद्धिर्विज्ञेया न च स्नानफलं [1]लभेत् ॥

इत्युक्तम् । नित्यनैमित्तिकयोः पुनरशक्त्याङ्गहीनेन फलसिद्धि-रित्यशक्तिमात्रसम्भवे भवत्येव दुरितक्षयादिरूपं स्नानफलम् । अतएव स्नानफलं स्वर्गादीति व्याख्यातं कल्पतरौ ।

यस्त्यजेद्धरिमुद्दिश्य स्नानमुष्णेन वारिणा ।
चातुर्मास्यं स आप्नोति गङ्गास्नानफलं नरः ॥

[2]अत्र यद्यपि परकृतं यत्सर्व्वसत्वोद्देशेनोत्सृष्टं तदपि सर्व्वार्थ-त्वात् परकीयम् । तथापि निपानकर्त्तुः स्नात्वेति वाक्यशेषात् परनिपान[3]करसम्बन्धिपरमेव परकीयपदं तेनोत्सृष्टे तदभावान्न निषेधः । अतएव,—

अनुज्ञातेषु च स्नायात् पारक्येषु द्विजोत्तमः ।
अनुत्सृष्टेषु न स्नायात् तथैवासंस्कृतेषु च ॥

इत्यनुत्सृष्टविषयमेव निषेधं केचित् पठन्ति । तत्रापि पञ्चपिण्डोद्धरणं परकीयमात्रे विधानात् स्यादेव । यत्तु स्वकृतं तदप्युत्सृष्टं परकीयमेवेति तत्रापि पिण्डोद्धरणं न च निषेधः प्रवर्त्तते एतदेव स्वकारिते तु न विरोधः,

इति कल्पतरावुक्तम् । स्वकृतं पित्रादिकृतं वा यदनुत्सृष्टं तत्र न निषेधो नापि पिण्डोद्धरणं केवलमविहितत्वादशक्तिमा-सम्भव एव नित्ये तत्प्राप्तिः । अथवा,—

(१) ० भवेत् । (३) कर्त्त,
(२) इति । अत्र पर ० ।

नदीस्नानमवाप्नोति स्नातः स्वे च जलाशये ।
बाहुखाते जले स्नातो गङ्गास्नानमवाप्नुयात् ॥

इति वचनान्नदीवत् स्वकृतमपि स्नानाङ्गमेव । एवं यत्क्रीतं प्रतिगृहीतं वा तत्रापि न निषेधपिण्डोद्धरणे । न च परकीय-पदस्य वाक्यशेषबलेन परकृतपरत्वात् तत्रापि निषेधपिण्डोद्धरणे स्यातामिति वाच्यम् । परकीयपदस्याजहल्लक्षणया निपानकर्त्तृपर-सम्बन्धपरत्वं भवेत् जहल्लक्षणया परकृतमात्रपरत्वस्यान्याय्यत्वात् केवल [मत्र],—

अन्त्यजैः खानिताः कूपास्तड़ागा वाप्य एव च ।
एषु स्नात्वा च पीत्वा च प्राजापत्येन शुद्ध्यति ॥

इति वाक्यदर्शनादेतत् परिहरणीयम् । एवं,—

म्लेच्छादीनां जलं पीत्वा पुष्करिण्यां ह्रदेऽपिवा ।
जानुदघ्नं शुचिर्ज्ञेयमधस्तादशुचिः स्मृतम् ॥

इति क्वचिल्लिखितम् । सर्व्वत्र चात्र,—

यस्मिन् देशे च यत्तोयं या भूमिर्याच मृत्तिका ।
सैव तत्र प्रगृह्या स्यात् तया शौचं विधीयते ॥

इति विशेषाभ्यनुज्ञानादापत्तौ दोषलेशस्याप्यभाव इति ।

यच्चद्वयं श्रावणादि सर्व्वा नद्यो रजस्वलाः ।
तासु स्नानं न कुर्व्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः ॥

इति [1]निषेधेनानेनादृष्टार्थस्नानाङ्गतया विहितनदीनिषेधः ।

---

(१) ० निषेधाख्यानेना ० ।

तत्र विकल्पदोषापत्तेर्नापि दृष्टार्थस्नाने तन्निषेधस्तत्रोपाकर्म्मोत्सर्ग-चन्द्रसूर्य्यग्रहणस्नानेषु रजोदोषाभाववचनानर्थक्यात्। तेन नदीषु स्नायादिति विधेरेव श्रावणादिमासद्वये साक्षात् समुद्रप्रविष्टनदीं वर्जयित्वेति विशेषो वक्तव्यः। ततश्चान्यासम्भवादिना "गुणलोपेतु मुख्यस्य" इति न्यायात् 'तदा तत्र स्नाने स्नानकर्म्मवैगुण्यमात्रं नाधर्म्मः कश्चित्। केवलं पर्य्युदासप्ररोचनार्थेनापि रजस्वलापदेना-स्पृश्यत्वप्रतिपादनात् तस्य चाप्रसिद्धार्थेन च प्ररोचनायोगात् "उपरि हि देवेभ्यः" इतिवदन्यपरादपि तस्मात् स्पर्शननिषेधः कल्पनीयः। तस्य [हि] विहिते योगात् विहिताचमनादिव्यति-रिक्तस्पर्शनपर [2]इति तत्राधर्म्मः स्यात्। एवं [यत्],—

आदौ कर्कटके नद्यः सर्व्वा एव रजस्वलाः।
त्रिदिनन्तु चतुर्थेऽह्नि शुद्धा स्युर्जाह्नवी यथा॥

इति पठन्ति। अत्र जाह्नव्या दृष्टान्ततयोपादानान्यथानुप-पत्त्या नित्यशुद्धित्वं सूचितं [ तत् गङ्गायाः। ] तदभियुक्तापरि-ग्रहात् सन्दिग्धप्रामाण्यं[3] कात्यायनाद्यनुक्तत्वाद् विकल्पपरमेव न च तैरस्मृतैर्नोक्तम्। "यच्यहय" मित्युक्त[4]काले स्मरणस्याव-श्यकत्वात्। तेन "वर्जयित्वा समुद्रगाः" इत्यत्र समुद्रगास्त्रि-दिनमिति यन्नोक्तं तेन तत्र स्नाने दोषाभावः कात्यायनाद्यभिप्रेतः

(१) तदा च तत् स्नाने०।
[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।
(२) ० इति च ०।
(३) ० प्रामाण्येऽपि कात्या ०
(४) ० काले तत्स्मरण ०।

प्रतिभाति। अत्र समुद्रगाशब्दो महानदीपर इति यत् कैश्चि-दुच्यते। तथाहि तास्च,—

भागीरथी च कालिन्दी नर्म्मदा च सरस्वती।
विशोका च वितस्ता च गौतमी कृष्णवेणिका॥
तुङ्गभद्रा भीमरथी तापीचैव पयोष्णिका।
द्वादशैता महानद्यः पापिनः पावयन्ति याः॥

इति तन्न युक्तम्। तत् समुद्रगाशब्दस्य प्रोक्षणीशब्दवत् प्रसिद्धयोगत्यागे[1]नाप्रसिद्धरूढ़िकल्पनायोगादित्यर्थः। तत्रोक्त-लक्षणां कृष्णवर्णव्यतिरिक्तां मृदं दिवसगृहीतमार्द्रगोमयं भूमाव-पतितं "अग्रमग्रं चरन्तीनां" इति लिङ्गात् स्त्रीगोसम्बन्धि। [2]दूर्व्वां वस्त्रादिकञ्चादाय प्राच्यामुदीच्यां वा स्थितं जलाशयं गत्वा तत्र शुचौ देशे स्थापयेत्। ततश्चाबहुवस्त्रोऽनग्नो न रात्रिवाससा स्नायादिति वाक्यदर्शना[3]त्तदन्यवस्त्रः सपवित्रदक्षिण-हस्तः सोपग्रहवामहस्त आचम्य नारायणं नमस्कृत्य "तिस्रो मात्रास्तु कर्त्तव्याः कर्म्मारम्भेषु" इति वचनात् [4]त्रिमात्रं प्रणव-मुच्चार्य्य नारायणमन्त्रेण समन्ताच्चतुर्हस्तप्रमाणं चतुरस्रं तीर्थं प्रकल्प्य

ॐ विष्णोः पादप्रसूतासि वैष्णवी विष्णुपूजिता।
त्राहि नस्त्वेनसस्तस्मादाजन्ममरणान्तिकात्॥

(१) ० नासिद्धि ०। (३) ० दर्शनादन्यवस्त्रः ०।
(२) ० दूर्व्वांवस्त्रादि ०। (४) ० प्लुतप्रणव ०।

तिस्रः कोय्योऽर्द्धकोटी च तीर्थानां वायुरब्रवीत् ।
दिवि भुव्यन्तरीक्षे च तानि ते सन्ति जाह्नवि ॥
नन्दिनीत्येव ते नाम देवेषु नलिनीति च ।
नन्दा पृथ्वी च सुभगा विश्वकाया शिवासिता ॥
विद्याधरी सुप्रसन्ना तथा लोकप्रसादिनी ।
क्षेमा च जाह्नवी चैव शान्ता शान्तिप्रदायिनी ॥
भागीरथी भोगवती जाह्नवी [1]त्रिदशेश्वरी ।
[2]सर्व्वकामप्रदे देवि प्रसीद परमेश्वरि ॥

इति गङ्गामावाहयेत् । एतद् गङ्गावाहनम् ।

एतानि पुण्यनामानि स्नानकाले प्रकीर्त्तयेत् ।
भवेत् सन्निहिता तत्र गङ्गा त्रिपथगामिनी ॥

इति सामान्यतो विहितत्वात् तीर्थान्तरेऽपि कर्त्तव्यम् ।

"न नदीषु नदीं ब्रुयात्" इत्यनेन नदीशब्दोच्चारण[3]मेव निषिद्धं न नामान्तरोच्चारणम् । यत्तु "नान्यत्प्रशंसेत्तत्रस्थः" इति तदेतद् विहितेतरविषयं विहितनिषेधे विकल्पापत्तेः ।

ततो "नारायणाय" इति मन्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितान् जलाञ्जलीन् त्रीन् चतुरः पञ्च सप्त वा शिरसि कुर्य्यात् । ततो मृदः किञ्चित् पृथक् स्थापयित्वाऽपरं वक्ष्यमाणविनियोगानुगुणम-धिकन्यूनमध्यमपरिमाणयुक्तं भागत्रयं कुर्य्यात् । उत्तरत्र न्यून-भागादिविनियोगेऽपि मुख्यानुग्रहस्य न्याय्यत्वादाद्यचालनानु-

---

(१) ० त्रिदिवेश्वरी । (३) ० मेवहि ० ।
(२) गङ्गे देवि नमस्तुभ्यं प्रसीद ० ।

रोधेनैव मृद्भागाः स्थाप्याः। गोमयार्द्धञ्च त्रिधा कृत्वा, [1]मृद्भागात्,—

अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्॥
उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।
नमस्ते सर्व्वलोकानां प्रभवारणि सुव्रते॥

इत्यभिमन्त्र्याद्यभागांशेनाधःकायं द्वितीयभागांशेन शिरस्तृतीयभागांशेन मध्यमकायं चालयेत्। मृद्भागाश्च यत्नेन रक्षणीयाः। न त्वेतावता तेषां कृतार्थता। एतदेवोक्तम्, "चालने मृदसङ्कर" इति कृतेऽपि चालने मृद्भागाना[2]मनाहरणेन सङ्करो माभूदित्यर्थः।

[3]गत्वोदकान्तं विविक्तमास्थाप्यैतत् पृथक् क्षितौ।
त्रिधा कृत्वा मृदन्तान्तु गोमयन्तु विचक्षणः॥
अधमोत्तममध्यानामङ्गानां चालनन्तु तैः।
भागैः पृथक् पृथक् कुर्य्यात् चालने मृदसङ्करः॥

इत्यत्र "कुर्य्यात्" इत्यस्य करिष्यत इत्यर्थं कल्पयित्वाङ्गचालनं केचिन्नेच्छन्ति। [4]तेनाङ्गचालनविध्यभावे [5]"आस्थाप्यैतत्" इति "त्रिधाकृत्वा" इति क्त्वा प्रत्ययौ किमपेक्ष्य योज्यौ। नच "अङ्गानां चालनन्तु तैः" "भागैः पृथक् पृथक् कुर्य्यात्" इत्यस्य विधिप्रत्य-

(१) ततो मृद्भागान् ओं अश्व ०।
(२) ० मनाहरणे सङ्करो ०।
(३) तत्र गत्वोदकान्ते विजने संस्थाप्यै ०।
(४) तत्र चाङ्ग ०।
(५) संस्थाप्यै ०।

यस्य करिष्यत इत्यर्थकल्पने किञ्चित् प्रमाणमस्ति । न चात्र विहितस्य तत्रोत्कर्षः । तथा सति स्थापनत्रिधाकरणसम्बन्ध-विधानात् तयोरुभयोरप्युत्कर्षः स्यात् । नचा"ग्निमारुतादूर्द्ध्व-मनुयाजैश्चरन्ति माहेन्द्रस्तोत्रं प्रत्यभिषिच्यत" इत्यादिवत् "अद्भि-[1]र्मृद्भिर्गात्राणि" इति वाक्यमुत्कर्षपरं सम्भवति । तत्रेतिपद-स्याप्यभावात् कथञ्चिदत्र विहितत्रयस्यैकया शिर इत्यादिविधा-नार्थं तत्रानुवाद इति सम्भाव्यते । तथा सति तत्र कर्त्तव्यमत्रैव कर्त्तव्यं स्यात् । नचैतदपि युक्तं, अनुवादलिङ्गयच्छब्दाद्यभावात् । सन्निहितधात्वर्थविधिसम्भवे विप्रकृष्ट[2]गात्रक्षालनविध्ययोगात् । प्राप्ते कर्म्मण्यनेकगुणविधानायोगात् । [3]एतच्चाङ्गक्षालनं पूर्व्वोक्त-पद्मपुराणवचनात् सर्व्वप्रकारस्नानेष्वादौ कर्त्तव्यम् ।

अतएव तदनन्तरमेव,—

प्रभूते विद्यमाने तु उदके सुमनोहरे ।
नाल्पोदके द्विजः स्नायान्नदीञ्चोत्सृज्य कृत्रिमे ॥

इत्यादिनोपक्रम उक्तः । तथा,—

"मृद्भिरद्भिश्च कर्त्तव्यं शौचमादौ यथाविधि ।"

इति शङ्खवाक्ये स्नानकर्म्मारम्भात् पूर्व्वमित्यादावितिपदे-नोक्तम् । एवमस्य सर्व्वप्रकारस्नानसाधारणत्वादेव कात्यायनीय-बृहत्स्नानादौ तन्नोक्तम् । तत्रानुक्तिरेव कुर्य्यादित्यस्य करिष्यत इत्यर्थभ्रान्तौ मूलम् । ततः,—

(१) ० मृद्भिश्च गात्राणि ० ।
(२) ० मात्रविध्य ० ।
(३) तत्राङ्ग ० ।

अग्रमग्रं चरन्तीनामोषधीनां रसं वने ।
तासामृषभपत्नीनां पवित्रं कायशोधनम् ॥
त्वं मे रोगांश्च शोकांश्च पापांश्च नुद गोमय ।

इति ब्रुवन् गोमयाद्यभागेनाधःकायं [1]द्वितीयभागेन शिरस्तृतीयभागेन मध्यकायं चालयेत् । "अङ्गानां चालनन्तु तैः" इत्यविशेषाभिधानात् त्रिधाकृतगोमयस्योपयोगान्तराभावाच्च, अतएव "चालने मृदसङ्कर" इति मृन्मात्रस्यैव रत्नोक्ता ।

"आचम्य गोमयेनाथ मा नस्तोक्या समालभेत् ।

इत्यालम्भनञ्चादिच्चालनार्थं त्रिधाकृतादन्येनैव "गोमयेन" इत्येकवचनात् । "आलभेत मृदाङ्गानी"ति व्याख्यानेनापि तथा । कल्पतरुकारस्याभिप्रेतत्वात् । तत आद्यमृद्भागात् किञ्चिद् गृहीत्वा तेन पादौ चालयेत् नान्यमृदा । प्रकृतत्यागेनाप्रकृतादीनामयोगात् । एतदपि सर्व्वस्नानेषु । श्मशानमापो देवगृहं गोष्ठं यत्र च ब्राह्मणाः, अप्रचाल्य पादौ [2]नाचान्तः प्रवेष्टव्यमिति जलप्रवेशमात्रनिमित्ततयोक्तत्वात् तत्रैव "त्रिः पादौ प्रचालयेत्" इति वचनात् वारत्रयं मृत्तिका दातव्या । तथा [3]यत्तत्र "त्रिरात्मान" मित्युक्तं तदङ्गभेदेन यत् त्रिः चालनमुक्तं तत् तत्परमेव । तेनापि जलप्रवेशात् प्रागङ्गचालनं प्राप्तम् । तत्रैव "कमण्डलुं मृत्पिण्डञ्च परिगृह्य" इति वचनादुद्धृतजलेनैव तत्पादाङ्गचालनं किञ्चिद्दूरे कार्य्यम् । ततस्तत्रैव पाणी प्रचाल्य सपवित्रदक्षिण[4]-

(१) द्वितीयेन शिरस्तृतीयेन मध्यमकायं ० । (२) यत्तत्तु ० ।
(३) नतु प्रवेष्टव्य ० । (४) ० करस्योप

हस्तः सोपग्रहवामहस्तो बद्धशिखः सकृदाचम्य "हिरण्यशृङ्गं वरुणं प्रपद्ये तीर्थं मे देहि याचितः, यन्मया भुक्तमसाधूनां पापेभ्यश्च प्रतिग्रहः[1], यन्मे वाचा मनसा कर्म्मणा वा दुष्कृतं कृतम्, [2]तत् स इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिः सविता[3] पुनः पुनः।" इत्यम्भोऽभिगच्छेत्। नत्वस्य जलान्तःप्रवेशमन्त्रत्वेन "उदुत्तम"मित्यनेन विकल्पः शङ्कनीयः। अथाम्भोभिः प्रपद्यत इति विहितस्य तथात्वासम्भवात्। अम्भो लक्षीकृत्य गमनमेव हि तदर्थ इति। एतत् समन्त्रकाम्भोऽभिगमनं[4] सर्व्वप्रकारस्नानविधिषु कर्त्तव्यम्। ततः प्रस्तरप्रहरण इव मन्त्रलिङ्गोक्तं पापक्षयफलं भवति। एवमन्यत्र। तत "उरुं हि राजा" इति ऋचं "हृदयाविधश्चिद्" इत्यन्तां[5] शुनःशेफार्षीं त्रैष्टुभीं[6] वारुणीं तोयाभिमुखो बद्धाञ्जलिस्तिष्ठन् जपेत्। यद्यपि मन्त्राणामार्षच्छन्दोदैवतविनियोगब्राह्मणमन्त्रार्थज्ञानमृषिच्छन्दोदेवतासायुज्यफलं न कर्म्माङ्गं तथापि,—

अविदित्वा तु यः कुर्य्याद् याजनाध्यापनं जपम्।
होममन्तर्जलादीनि तस्य चाल्पं फलं भवेत्॥

इति रहस्यजपान्तर्जलजपयागाङ्गजपहोमस्नानब्रह्मयज्ञयाजनविनियुक्तानां मन्त्राणामार्षादिपञ्चकस्मरणं [7]तत्तत् कर्म्माङ्गमिति तत्तदादावेते[8] स्मर्त्तव्याः। तत प्रकृतविनियोगस्मरणाभावे तत्र

---

(१) ॰ प्रतिग्रहात्।
(२) तत्र इन्द्रो ॰।
(३) ॰ सविताच ॰।
(४) ॰ काम्भोभिराचमनं ॰।
(५) ॰ श्चिद्' अन्तां ॰।
(६) ॰ त्रैष्टुभां ॰।
(७) ततकर्म्माङ्ग ॰।
(८ ॰ दावेव ते ॰।

विनियोक्तुमशक्यत्वादर्थसिद्धौ प्रकृतविनियोगस्मरणमेव विवक्षितं नान्यत्। दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेः। अतएव

अनेनेदं हि कर्त्तव्यं विनियोगः स उच्यते।

इत्यत्रेदं[1] क्रियमाणमेव कर्म्म निर्दिष्टम्। यत्तु,—

"अश्वमेधावभृते विनियोगश्च कल्पितः।"

इति वाक्यं, तद्विनियोगप्रकारप्रदर्शनार्थमेव। न च सर्व्वत्र तत् स्मरणार्थम्। विनियोजकवाक्यपरञ्च ब्राह्मणपदम्। तेन प्रकृतस्मार्त्तकर्म्मणि यत् स्मृतिवाक्यं विनियोजकं तस्यैव स्मरण-नियम इति। ततस्तीरे उपविश्य—,

ये ते शतं वरुण ये सहस्रं
यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः।
तेभिर्नोऽद्य सर्व्वतोऽत्र विष्णु-
र्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः॥

इत्यृचा शुनःशेफार्षया वरुणादिदेवतया त्रिष्टुभा त्रिः प्रदक्षिणमुदकमावर्त्तयेत्। "[2]सुमित्रा न आप ओषधयः सन्तु" इति यजुषा अब्दैवतं स्मरन्नुदकाञ्जलिमादाय "दुर्म्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः" इति यजुषा उत्तरस्यां दिशि तदुदकं क्षिपेत्। "द्वे आप्याप्ये प्राजापत्यार्षे" एवं मन्त्रलिङ्गैनै-तन्मन्त्रकरणकोदकप्रक्षेपकर्म्मणो द्वेष्यापकाररूपफलोत्पादनसामर्थ्यं दर्शितम्। तच्च कामनायामेव भवतीति प्रागुक्तम्। तदिदं

(१) ० दुर्म्मिति क्रिय ०।    (२) सुमित्रिया ०।

तत्कामी द्वेष्यं चिन्तयन् यस्यां दिशि द्वेष्योऽस्ति तद्दिगभिमुखमेव प्रक्षिपेत्। ततस्त्रिधास्थापितमृदां द्वितीयभागं शिरसि लेपयित्वा अद्भिः प्रक्षालयेत्। एवं मध्यमाङ्गस्य तृतीयमृद्भागं द्विधाकृत्वा तल्लेपपूर्व्वकं क्षालनं द्विः कुर्य्यात्। ततः कटीनाभ्यधोदेशोरुद्वय-जङ्घाद्वयपादद्वयानां प्रत्येकमाद्यभागीयमृल्लेपपूर्व्वकं क्षालनं [1]त्रिः कुर्य्यात्। अथवा "अद्भिर्मृद्भिश्च गात्राणि क्रमशः" इति क्रम-पदेनाधमोत्तममध्यानामित्युक्तक्रमस्यैव परामर्शात्। अन्यथा तत्-पदवैयर्थ्यात्। "एकया तु शिरः" इत्याद्येकादेः संख्यामात्रविध्यर्थ-त्वेन क्रमपरत्वाभावादधमाद्यङ्गादिक्रम एवात्रापि स्यादिति। ततो [2]मध्यमाङ्गमृद्भागशेषेण त्रिर्हस्तौ प्रक्षाल्य वस्त्रमपनीय सर्व्वकायञ्च "द्विराचम्य यथाविधि" इति वचनात् द्विराचम्य, जलाशयं—

[3]यत्किञ्चेदं वरुणदैव्ये जनेऽ-
भिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्म्मा युयोपिम
मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥"

इत्यृचा वशिष्ठार्षया त्रिष्टुभा वारुण्या बद्धाञ्जलिर्वरुणं नमस्कुर्य्यात्। अस्य "यत् किञ्चेद" मिति मन्त्रेण नमस्येदिति नमस्कारमात्रार्थतयोक्तत्वात् "यस्मिन् स्थाने च यत्तीर्थ" मित्या-

---

(१) त्रिस्त्रिः ०। (२) ० मध्यम मृद् ०।
(३) यत्किञ्चिदिदं ०।

दिनोक्तस्य तीर्थावाहनस्य मन्त्रानाम्नानात् आकाङ्क्षितो मन्त्रः स्मृत्यन्तरादेवोपसंहार्य्यः। ततः,—

प्रपद्ये वरुणं देवमम्भसां पतिमूर्जितम्।
याचितं देहि मे तीर्थं सर्व्वपापापनुत्तये॥
तीर्थमावाहयिष्यामि सर्व्वापद्विनिसूदनम्।
सान्निध्यमस्मिन् तोये वै भजतां मदनुग्रहात्॥

इति तीर्थाधिष्ठातृदेवतास्वरूपं मनसा सन्निधिमागतं चिन्तयेत्। उद्धृतेन स्नानेन यत्तीर्थादुद्धृतं तद्देवेषु तीर्थं स्मरेत्। कृत्रिमेष्वकृत्रिमेषु च तीर्थभूतेषु;—

"कुरुक्षेत्रं गया-गङ्गा-प्रभास-पुष्कराणि च।"

स्मरेत्। ततः "उदुत्तमं वरुण [पाश]" इत्यृचा शुनःशेफार्षया त्रिष्टुभा वारुण्या नारायणं स्मरन् शनै र्जलं प्रविशेत्। तत्तीर्थोदकमाचम्यावतीर्य्योपस्पृशेत्।

एवं स्नात् पयसा रुद्रो वरुणश्चैव पूजितः।

ततः "अवतीर्य्योपस्पृशे" दितिवचनादवतरणनिमित्तकं सकृदाचमनम्। तत्र नाभिमात्रेऽम्भसि प्राङ्मुखः स्थित्वा—

येन देवाः पवित्रेण चात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्रधारेण पावमानाः पुनन्तु माम्॥
प्राजापत्यं पवित्रञ्च शतोद्यामं हिरण्मयम्।
तेन ब्रह्मविदो वयं पूतं ब्रह्म पुनीमहे॥

[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

इन्द्रः सुनीत्या सह मां पुनातु
सोमः स्वस्त्या वरुणः समीच्या ।
यमो राजा प्रमृणाद्भिः पुनातु
जातवेदा मूर्जयन्त्या पुनातु ॥

इति मधुच्छन्द—ऋषिणानुष्टुप्द्वयेन त्रिष्टुबन्त्येन पवमानसोमदैवतेन पूर्व्वकल्पितस्नानस्थानजलं हस्तेन स्पृशेत् । ततस्तीरं गत्वा तत्रोपविश्य "भूर्भुवः स्वर्" इत्यनेन [1]जलचुलुकं पीत्वा द्विराचामेत् । न चात्र महाव्याहृतिभिः पश्चादाचामेदिति वचनादाचमनाख्यकर्म्मविधिः । अतैव,—

"ततस्तीरं समासाद्य अप आचम्य मन्त्रवत्"

इति नरसिंहपुराणे उपात्तस्य द्वितीयाविभक्त्यन्तापशब्दस्य तत्रासङ्गतेः । अतो विहिते जलपाने विभक्तिव्यत्ययेऽपि गृहमेधीयवत् तद्बलेनेतराङ्गनिवृत्तेर्युक्तत्वात् । ततस्त्रिधाकृतव्यतिरिक्तां मृदं "इदं विष्णुः" इत्यृचा स्वाहान्तया मेधातिथ्यार्षया गायत्र्या वैष्णव्या सर्व्वाङ्गेष्वालेपयेत् । [2]नात्र चालनम् । ततः पुनर्नारायणं स्मरन् शनैः स्नानदेशं गत्वा "आपोऽस्मान्" इत्यादिना "[3]प्रवहन्तीर्देवी" रित्यन्तेन यजुषा प्राजापत्यार्षेणाब्दैवतेन स्रोतोऽभिमुख[4]स्तदलाभे भास्कराभिमुखो हरिं स्मरन् दण्डवन्निमज्ज्य "उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि" इत्युन्मज्जेत् । ततो गात्र[5]मवघृष्य

(१) उदक ० ।
(२) नात्राङ्गचालनम् ।
(३) प्रवहन्तु ० ।
(४) ० स्तदभावे ० ।
(५) ० मुद्घृष्य ० ।

पुनःपुनस्तथैव निमज्ज्योन्मज्ज्य सकृदाचामेत्। नचैतत् स्नाननिमित्तकं आचम्येत्यनूद्य तोयेन द्विः स्यात्। तस्य स्नानान्त एव कर्त्तव्यत्वात्। नच मज्जनमात्रं स्नानं तथात्वे [1]पूर्व्वं मज्जनेऽपि द्विराचमनापत्तेः। किन्त्वप्राप्तमेव विधीयते। नचैवमभ्युक्षणमात्रं स्यादिति शङ्कनीयम्।

"जले निमग्नस्तून्मज्ज्य उपस्पृश्य यथाविधि।"

इति शङ्खवचनात्। ततः पुनस्तीरं गत्वा "मा नस्तोक" इत्यृचा "हवामह" इत्यन्तया कुत्सार्षेया जगत्या रौद्र्या पृथक्स्थापितगोमयं सकृत् सर्व्वाङ्गेषु लेपयेत्। लेपनकाले च "अग्रमग्रं चरन्तीनां" इति मन्त्रं जपेत्। "अग्रमग्रमिति ब्रुवन्" इति वचनेन समानकालो[2]च्चारणविधानात्। करणत्वनिर्द्दिष्ट-"मा नस्तोक" इति मन्त्रेण सहास्य विकल्पानुपपत्तेः। "काण्डात् काण्डात्" इति कण्डिकाद्वयेन दूर्व्वया सर्व्वाङ्गमुपस्पृशेत्। एतद्वशिष्ठोक्तं "स्मृतिशास्त्रं विकल्पस्तु" इति वचनात् वैकल्पिकमेव। ततो वक्ष्यमाणमन्त्रैः शिरसि जलप्रक्षेपरूपमभिषेकं कुर्य्यात्।

## अभिषेकः।

सच प्रतिमन्त्रमावर्त्तनीयः। यदा पुनः सर्व्वमन्त्रकरणकमेकमेवाभिषेककर्म्म, अन्तेऽनुष्ठेयं स्यात् तदार्थैकत्वाद्[3]विभक्तिमानसाकाङ्क्षस्य यथा कथञ्चित् कल्पनीयत्वादेवमेव मन्त्रवाक्यं स्यात्।

---

(१) पूर्व्वमज्जने०। (२) ०च्चारणमात्रविधा०।

(३) विभक्त्यन्यमानसा०।

ततश्च "ततोऽभिषिञ्चेन्मन्त्रै"रित्येतन्मन्त्र-बहुत्वाभिधानमसङ्गतं स्यात् । अतएवोक्तमरुणाधिकरणवार्त्तिके,—

यथा पश्वङ्गमेकत्वं पदश्रुत्या प्रतीयते ।

समानप्रत्ययश्रुत्या बलीयस्याः क्रियाङ्गता ॥

यागार्थन्तु श्रौतमेव प्रत्युत पश्वर्थमेव दुर्ब्बलम् । तद्धि पदश्रुत्या साकाङ्क्षत्वात् । कारकादेस्त्वेकाभिधाननिबन्धनं तदेवाभिधानकं [1]तच्च पदश्रुतेर्बलीय इति । तस्मात् परस्परा[2]नपेक्ष्यतयैवाभिषेक-प्रतिपादनं तेषां बहुवचनबलात् कल्पनीयम् । ततश्चैकेन स्मृते च्छिन्ने परशोरन्यस्योपयोगासम्भवात् "परशुभिश्छिन्धि" इत्युक्ते छिदाबहुत्वजन्मन्त्रबहुत्वाभिधानादभिषेकबहुत्वमपि विहितं ज्ञातव्यम् । यथा "स प्रोक्षति यमाय त्वे" ति श्रुतौ प्रतिमन्त्रं वाक्य-भेदादिति वदता कात्यायनेनोक्तम् । नह्यत्र "तां चतुर्भिरादत्त" इत्यत्र "आदत्तस्य" पुनरादानमिव कृतेऽभिषेके पुनरभिषेको न सम्भवति येन तद्वदहष्टमात्रार्थतोत्तरमन्त्राणां कल्प्यत इति । [3]तत्र "इमस्मे वरुण" इत्यृचा "चक" इत्यन्तया गायत्र्या आद्यं, "तत्वायामि ब्रह्मणे" इत्यृचा "प्रमोषी" रित्यन्तया त्रिष्टुभा द्वितीयं, एते[4] शुनःशेफार्षे वारुण्ये । "त्वन्नो अग्ने वरुणस्य" इत्यृचा[5]"त्रस्म" दित्यन्तया तृतीयं, "सत्वन्नो अग्न" इत्यृचा "एधी"-त्यन्तया चतुर्थं, एते वामदेवार्षे त्रैष्टुभे वारुण्ये । "मापो मौषधी

---

(१) यच्च ० ।
(२) ० नपेक्षयैवाभि ० ।
(३) तत "इमं मे वरुण" ० ।
(४) ० पुनः शुनः ० ।
(५) "स्म" दि ० ।

हिंसी''रिति यजुः "धाम्नो धाम्नो" इति यजुः "[1]यदुरग्ना" इति "मुञ्च"त्यन्तया गायत्र्या एतत् त्रयं प्राजापत्यार्षम् । एको मन्त्रः । कण्डिकाभिप्रायपाठेन कण्डिकाग्रहणस्य न्याय्यत्वात् । यद्यप्यङ्गयजुः श्रुतौ हृदयशूलदैवतं तथाप्यत्र विनियोगानुरोधादेकवाक्य[2]तया उत्तरवाक्यस्थो वरुण एव सम्बोध्य इति स एव त्रिष्वपि देवता । एवमन्यत्रापि विनियोगवशाद्देवतान्तरमूह्यम् । विनियोगवशादेव हि शब्दार्थः कल्पते । यथैन्द्र्यामृचि इन्द्रशब्दो गार्हपत्यार्थ इति । एतेन पञ्चमम् । "उदुत्तमं [3]वरुण" त्यृचा षष्ठं, "मुञ्चन्तु [4]मा सपथ्या" इत्यृचा "किल्बिषा" दित्यन्तया आथर्वणीयया अनुष्टुभा औषधीदैवत्या सप्तमं, "अवभृथ निचुम्बुण" ति यजुषा "देवरिषः पाहि" त्यन्तेन प्राजापत्यार्षेण यज्ञदैवतेन अष्टमम् । तत्र यद्यपि गोमयालम्भनार्थं तीरमागतस्यैव तीर्थजलप्रवेशाभिधानं नास्ति "जलमध्ये स्थितो विप्र" इति अपां मध्ये स्थितस्यैव[5]मितिवत् जलस्थत्वमप्यत्र नोक्तम् ।

शङ्खेनापि "ततः सम्मार्जनं जल" इति सम्मार्जन एव जलस्थत्वनियम उक्तः । तथापि स्नानार्थं संस्कृतजलत्यागेनाप्रकृतदेशान्तरस्थजलोपादानायोगाद् गोमयालम्भनानन्तरं पूर्ववज्जले प्रविश्यैवाभिषेकः कर्त्तव्यः । ततः पूर्ववज्जले निमज्ज्योन्मज्ज्य सकृदाचम्य प्रणवेन व्याहृतिभिर्गायत्र्याभिषेकत्रयं कुर्य्यात् । तेनैव

---

(१) "यदाङ्ग०"।
(२) ०वाक्यत्रयमुत्तर०।
(३) ०वरुणपाश"त्यृचा०।
(४) ०माशपथ्या०।
(५) ०वमिति। तत्र जलस्य०।

प्रणवादित्रयेण मार्जनत्रयं कृत्वा वक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रतिमन्त्रं मार्जनम्। तत्र "दर्भैस्तु[1] पावयेन्मन्त्रैः" इतिवचनात् कुशत्रयेण [2]पवित्रं कृत्वा "अद्भिर्मार्जयती"ति बौधायनवचनादनन्तगर्भसाग्रप्रादेशसम्मितकुशद्वयेन वा शिरसि जलप्रक्षेपः। मन्त्राश्चैते,—"आपोहिष्ठाः, यो वः, तस्मा अरम्, तिस्रः सिन्धुद्वीपार्षाः, गायत्र्यः। "इदमापः" इत्यृक् [3]"उपद्रुत" इत्यन्ता, "हविष्मतीः" इत्यृक् "सूर्य्य" इत्यन्ता, द्वे अनुष्टुभौ। "देवीरापो अपां न पाद्" इति यजुः, "स्वाहा" इत्यन्तं, "कार्षिरसी"ति, "औषधी"रित्यन्तं यजुस्त्रयमेकधानेकविषयत्वादेको मन्त्रः। यद्यपि "देवीराप" इति द्वयञ्चान्यदस्ति तथापि "इदमापो" "हविस्मती"रित्येतत् सान्निध्यादेतदेव ग्राह्यम्।

चतस्रः प्राजापत्यार्षाः। "अपो देवा" इत्यृक् "अराती"रित्यन्ता त्रिष्टुप् वरुणार्षा। "द्रुपदादिव" इत्यृक् "मैनसः" इत्यन्ता, कोकिलराज[4]सुतार्षा अनुष्टुप्। "शन्नो देवीः" इत्यृक्, "स्रवन्तु न" इत्यन्ता गायत्री दध्यङ्ङाथर्व्वणार्षा। "अपः सर" इत्यृक्, "उत्तम" मित्यन्ता अनुष्टुप् बृहस्पत्यर्षा। "अपो देवी" [5]रित्यृक् "सुपिप्पला" इत्यन्ता, बृहती सिन्धुद्वीपार्षा। एताः सर्व्वा अब्दैवत्याः। कात्यायनोक्तं "यद्देवा" इति ऋक्त्रयं वैकल्पिकम्। "पुनन्तु मा पितर" इति "पुनन्तु मा पिता-

(१) ० प्लावयेदिति वचनात् ०।
(२) ० पवित्रे ०।
(३) "ऋतामृत" इत्यन्ता।
(४) ० पुत्रा ०।
(५) ० मित्यृक् ०।

महा" इति च । पित्रेः प्राजापत्यार्षे । "अग्न आयुंषी"ति गायत्र्याग्नेया वैखानसार्षा । "पुनन्तु मा देवे" त्यनुष्टुप् । देवजनधाविश्वभूतजातवेदोदेवत्या । "पवित्रेण"त्याग्नेयी । "यत्ते पवित्र"मित्यग्निब्रह्मदेवत्या । "पवमानः सो अद्येति सौम्या उभाभ्या"मिति सावित्री । चतस्रो गायत्र्यः । वैश्वदेवी त्रिष्टुप् । इयं सौत्रामण्यां सुराकुम्भाभिधायिकाप्यत्र विनियोगानुरोधादब्देवत्याः । षट्प्राजापत्यार्षाः । "चित्पतिर्मा पुनातु" इति यजुः । "अच्छिद्रेणे"त्यादि "शकेय"मित्यन्तसहितम् । एवं वाक्यान्तरिति । "देवो मे"ति च त्रयं लिङ्गोक्तं देवतं प्राजापत्यार्षम् । एतैर्मन्त्रैश्चतुर्विंशतिमार्जनानि कृत्वा सामर्थ्ये सति "हिरण्यवर्णा" इत्यादिभिरेकैकमन्त्रभिन्नानि मार्जनानि कुर्य्यात् । सर्व्वाङ्गेष्वशक्तस्य करणासम्भवात्[2] शक्तादेव करणप्राप्ते यदत्र शक्तितः सम्प्रयोजयेदित्याह तेनान्यत्रा[प्य]शक्त्याप्यकरणेऽङ्गवैगुण्य[म् । अत्र तु शक्तं प्रत्येव चैतदङ्ग]मित्यशक्तस्य तेन विनापि स्नानकर्म्म सम्पूर्णमेव । न पुनस्तत्र समर्थस्य तदभावे स्नाननिष्पत्तिः । एवमन्यत्रापि [3]शक्तौ द्रष्टव्यम् । ते च मन्त्राः,—

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु
जातः कश्यपो यास्विन्द्रः ।

(१) ० इति च द्वे अनुष्टुभौ ।

(२) ० सम्भवाद् वा शक्तानेव करणे ० ।

(३) शक्त्युक्तौ ० ।

[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते ।

अग्निं या गर्भं दधीरे विरूपा
स्ता न आपः सꣳस्योना भवन्तु ॥
यासां राजा वरुणो यान्ति मध्ये
सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् ।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावका
स्ता न आपः सꣳस्योना भवन्तु ॥
यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्ष्यं
या अन्तरीक्षे बहुधा भवन्ति ।
याः पृथिवीं पयसोऽन्दन्ति शुक्रा-
स्ता न आपः सꣳस्योना भवन्तु ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यति यः
शिवया तनुं वोपस्पृशत्वन्तरं मे ।
सर्व्वां अग्नीरप्सु सदोहुवे वो
मयि वर्गं बलमोजो निधत्त ॥

[१]पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघाहि घृतश्चुतः ।
ऋषिभिः सम्भृतो रसो ब्राह्मणेष्यमृतं हितम् ॥
पावमानीर्दिशन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
कामात् संमर्दयन्तु नो देवी देवैः समाहिताः ॥

"येन देवा" इत्यृक् ।

पावमानीः स्वस्त्ययनीर्याभिर्गच्छन्ति नान्दनम् ।
पुण्यान् भक्ष्यान् भक्षयत्यमृतत्वञ्च गच्छति ॥

---

(१) पावमानीः ९ ।

तरत् समन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः । तरत् समन्दी धावति उस्रा वेदवसूनां मर्त्यस्य देवासः तरत् समन्दी धावति । वत्सयोः पुरुषं धीर्वां सहस्राणि च दद्महे । तरत् समन्दी धावति आवयोस्त्रिंशतं तना सहस्राणि च दद्महे । तरत् समन्दी धावति ।

एतोन्विन्द्रꣳस्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।
शुद्धै रुक्थैर्वावृधा संशुद्ध आशीर्वान्ममत्तु ॥
इन्द्रः शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभि रूतिभिः ।
शुद्धोरयिं निधारय शुद्धो [1]ममद्धि सौम्य ॥
इन्द्रः शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।

शुद्धो वृत्राणि [2]जिघ्नुसे । शुद्धो वाजं शिषामसि । पवित्राणि च । अघमर्षणमुक्तञ्च । देवकृतस्यैनसो व यजनमसि । मनुष्यकृतस्यैनसो व यजनमसि । [पितृकृतस्यैनसो व यजनमसि] आत्मकृतस्यैनसो व यजनमसि । एनस एनसो व यजनमसि । [यच्चाह मेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांश्चकार तस्य सर्व्वस्यैनसो व यजनमसि । ] कुष्माण्डसंज्ञकं यद्देवादेव हेलनमित्यृक्त्रयं तच्चाश्विनार्षमानुष्टुभं अग्निवायुसूर्य्यदैवत्यमित्यादि । अत्र शक्तित इति पुनरभिधानं कपिञ्जलाधिकरणन्यायापवादार्थम् । तेन शक्तौ त्रयाधिकमपि कुर्य्यात् । वारुण्यश्च ऋचः । "आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठते" इतिवत् प्रकरणस्थ "उदुत्तम" मित्यादीनां त्रयं वारुणं सूक्तञ्च ।

---

(१) ० माम्हद्धि० । [ ] चिह्नितांशौ न दृश्येते ।

(२) ० जघ्निसे ।

"मोषु वारुणमृन्मयं गृहं [1]राजं नहं गमम् । मृलासु यत्र मृलाययदेमि विप्रस्य रं निवद्वत्तिर्नध्मातोऽद्रिवः । मृलासु यत्र मृलयक्रत्वस्य महदीनता [2]प्रतिपं जगामाशुचे । मृलासु यत्र [3]मृलयअपां मध्ये तस्थिवांसं कृष्णाविव दर्जितारम् । मृलासु यत्र मृलय ।" यत् किञ्चेदमितिच । ततस्तद्विष्णोरितिमन्त्रेण हरिं स्मरेत् ।

गायत्री वैष्णवी ह्येषा विष्णोः संस्मरणाय वै । इति सामान्येनोक्तत्वात् । एवमन्यत्रापि । ततः पूर्व्ववदोङ्कारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्याभिषिकत्रयं कृत्वा तथैव मार्ज्जनत्रयं कुर्य्यात् । अत्रान्तरे चैतदिति कात्यायनवचनात् "इमं मे वरुण" इत्यादिभिरभिषेकाष्टकं वैकल्पिकं कार्य्यम् । ततः स्रोतोऽभिमुखस्तदभावे भास्कराभिमुखो जले मग्नः "ऋतञ्च सत्यं" इत्यादि "अथो स्वर्" इत्यन्तमघमर्षणसूक्तमघमर्षणार्षमानुष्टुभं, भाववृत्तदैवतं त्रिर्जपेत् । ब्रह्मोपादानकजगत्सृष्टिप्रतिपादकत्वात् भावे जगद्भवने वृत्तं प्रवृत्तमिति व्युत्पत्त्या भाववृत्तं ब्रह्मैवास्यार्थ इति मन्त्र[4]प्रकाशकस्यैव देवतात्वात् तदत्र तद्दैवतम् । अयञ्च मन्त्रस्तैत्तिरीयशाखायां "रात्रिरजायत" इति, "अन्तरीक्षम्" इति, "स्वर्" इति चान्यथा आम्नायते । तथापि,—

---

(१) ० राजन्नहंगमम् । मृणाहु यत्र मृलययदेमि प्रस्फुरन्निवदिति निध्मातोऽद्रिवः ।

(२) ० प्रतापं ० ।

(३) मृलया ० तृष्णाद्दिवज्जरितारम् ।

(४) ० प्रकाश्यस्यैव ०

स्वाध्यायग्रहणेनैका शाखा हि परिगृह्यते ।
एकार्थानां विकल्पश्च कर्म्मैकत्वे भविष्यति ॥

इति न्यायेनैकस्मिन् वेदे अनेकशाखाध्ययनानुपपत्तेः । अस्मदध्ययनार्हऋग्वेदस्थितप्रकारं परित्यज्याध्ययनानर्हशाखास्थप्रकारोपादानानुपपत्तेः । समाचारसिद्धऋग्वेदाम्नातप्रकारेणैव[१] प्रयोक्तव्यः । "द्रुपदादिव" इति ऋचं वा त्रिर्जपेत् । "हंसः शुचिषद्" इति ऋचं "अद्रिजा ऋत" मित्यन्तां [२]त्रिरावर्त्त्य "आयं गौः" इति ऋचं वा सकृत् । ततः [३]सप्रणवव्याहृतिकां गायत्रीं प्रणवं वा त्रिर्जपेत् । अत्रायतनमप्यत्र विष्णुं वा स्मरेत् । नात्रान्तर्जलमग्नतानियमः । तत "त्वद्विष्णो"रिति ऋचा गायत्र्या वैष्णव्या प्राजापत्यार्षेया स्रोतोऽभिमुखस्तदभावे भास्कराभिमुखस्त्रिर्दण्डवन्मज्जेत् । स्नानादन्तरं तिलतैलं न स्पृशेत् । अस्य च स्नानाङ्गत्वात् स्नानसन्निधानादेतदतिक्रमे स्नानवैगुण्यं नान्यदा । एवं शिरोवस्त्रावधूननम्लेच्छान्त्यजपतितसम्भाषणपरपीड़ावर्जनानि च स्नानाङ्गानि । एवं जलमध्ये इतस्ततो गमनप्रतरणवस्त्रमलनिर्णेजनगात्रमलापकर्षणानि हस्तादिनोदकाहननधावनक्षोभणानि च न कुर्य्यात् । प्रमादादिनैतत्करणे "नमोऽग्नये[४]ऽप्सुमते नम इन्द्राय नमो वरुणाय नमो वारुण्यै नमोऽद्भ्यः"

(१) ० "रात्री"ति, "अन्तरीक्ष"मिति, "स्वरि"त्यन्तं प्रयोक्तव्यम् ।
(२) त्रिरावृत्य ।
(३) ० प्रणवव्याहृतिपूर्व्विकां ० ।
(४) ० नमोऽप्सुमते ० ।

[१]इत्यपामुपस्थानं प्रायश्चित्तम्। [२]तत्र चाम्भोऽवगाहनं स्नानमिति [३]स्नायाद्, वा "दण्डव"दित्यादिवचनात् लोकप्रसिद्धेश्च मज्जन-साध्यं सर्व्वाङ्गक्षालनमेव प्रधानम्। अन्यत् सर्व्वमङ्गमेव। यत्तु मानसस्नाने "तत्राभिषेकं कुर्व्वीत" इत्युक्तं न तावताभिषेकस्यैव स्नानशब्दार्थत्वम्। नहि तस्य स्नानत्वमपि मुख्यम्। प्रशंसामात्रार्थ-त्वात् तदभिधानस्य। प्रशंसायाश्च स्नानादन्येनापि सम्भवात्। न चात्र वारुणस्नानशब्दप्रयोगात् मज्जनस्य तु वैष्णवमन्त्रसाध्यत्वा-दभिषेक एव वारुणमन्त्रयुक्तः स्नानशब्दार्थ इति। भस्मस्नानादिषु आग्नेयादिशब्दवद् वरुणदैवततोयसाध्यत्वादेव वारुणशब्दप्रयोगो-पपत्तेः। अतएव कल्पतरौ,—

नद्यां स्रवत्सु च स्नायात् प्रतिस्रोतस्थितो द्विजः।
तड़ागादिषु तोयेषु प्रत्येकं स्नानमाचरेत्॥

इत्युक्ता व्यवस्था मज्जनाङ्गतयोक्ता। एवञ्च ब्रह्मत्स्नाने "आपो अस्मान्" इति मज्जनमपि प्रधानम्। एवमन्तर्जले च मज्जनम्। जपमात्रन्तु तत्राङ्गमिति। एतद् ब्रह्मत्स्नानविधानं प्रातरग्निमतापि होमकालाविरोधेन सम्भवे कर्त्तव्यम्। "प्रातर्न-तनुयात्" इत्यत्र सापेक्षस्य विस्तरस्यानियतत्वात् "सन्देहे होम-लोपोऽपि विगर्हित" इति वाक्यशेषात् "सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्" इति न्यायेन होमकालविरोधिनो विस्तरस्य निषेधोपपत्तेः। एवं,—

(१) इत्युपस्थानं०। (२) ततोऽम्भोऽव०।
(३) ०न्यायाद्०।

प्रातः संक्षेपतः स्नानं होमार्थं तद्विधीयते ।
मृन्मन्त्रविधिनिष्पाद्यं मध्याह्ने तत्सुविस्तरम् ॥

इति व्यासवचनं वदन्ति तदप्येतदर्थमेवेति। न चात्र "मृन्मन्त्र" इति विशेषणात् समन्त्रमृदालम्भनयुक्तविधिरूपस्यैव विस्तरस्य निषेधान्न सन्देहोऽपीति वाच्यम् ।

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव [1]गरीयसी ।

इति युक्तिसिद्धार्थानुवादित्वोपपत्तौ अदृष्टार्थनिषेधपरत्व-कल्पनानुपपत्तेः । किञ्च "यथाहनि तथा प्रात"रिति शास्त्र-प्रापितस्य तस्य निषेधे अदृष्टदोषदुष्टो विकल्प एव स्यादिति। न च "नानुयाजेषु ये यजामहं करोति" इतिवद् बृहत्-स्नानस्य पर्य्युदासत्वमपि सम्भवति । अतिदेशवाक्यसन्निधावश्रुतत्वेन तच्छेषत्वासम्भवात् । एतेन यत्र,—

वारेष्विन्दोर्भृगोर्भानोर्मृदा स्नानं विवर्जयेत् ।

इति पठन्ति तस्य प्रामाण्ये पर्य्युदासपरत्वायोगादगत्या विकल्पपरमेव स्यात् । तत्र च,—

इन्दुक्षये व्यतीपाते संक्रान्त्यां राहुपर्व्वणि ।
अष्टम्याञ्च श्राद्धदिने वारदोषो न विद्यते ॥
आदित्यादि[2]निषेधेऽपि मृदा स्नानं विधीयते ।
तर्पणं तिलमिश्रञ्च गङ्गादिषु न संशयः ॥

इति व्यवस्थामप्याहुः । एतद्बृहद्विधिस्नानानुष्ठानासामर्थ्ये

(१) ० बलीयसी । (२) ० निषेधे च ० ।

इतः [1]'किञ्चिदूनं कात्यायनोक्तमात्रं वा कुर्य्यात्। तच्चैवं—प्रक्षाल्य पाणिपादं कुशोपग्रहो बद्धशिखो यज्ञोपवीती आचम्य "उरु' हि" इति तोयमामन्त्र्यावर्त्तयेत् "ये ते शत"मिति, [2]"सुमित्रिया न" इत्यपामञ्जलिमादाय "दुर्म्मित्रिया" इति द्वेष्यं प्रति निषिञ्चेत्।

कटिं वस्तिमूरू जङ्घे चरणौ च करौ मृदा।
त्रिस्त्रिः प्रक्षाल्याचम्य नमस्योदकमालभेत्॥

अङ्गानि मृदा "इदं विष्णु"रिति। सूर्य्याभिमुखो मज्जेत् "आपोऽस्मान्" इति। स्नात्वा "उदिदाभ्य"इत्युन्मज्य निमज्योन्मज्याचम्य गोमयेन विलिम्पेत "मा नस्तोक" इति। ततः—अभिषिञ्चेत् "इमं मे वरुण" इति चतसृभिः। "मापः उदुत्तमं मुञ्चन्तु अवभृथ" इति अन्ते चैतत्। निमज्याचम्य दर्भैः पावयेत् "आपो हिष्ठा" इति तिसृभिः। "इदमापो हविष्मती" "देवीराप" इति द्वाभ्याम्। "आपो देवी द्रुपदा शन्नो देवी अपां रसमपो देवी यद्देवा" इति ऋचं "पुनन्तु[3]म" इति नवभिश्चित्पतिर्मे इति ओंकारेण व्याहृतिभिर्गायत्र्या चादावन्ते चान्तर्जल एवाघमर्षणं त्रिरावर्त्तयेत्। "[4]द्रुपदा वा आयं गौः"रिति वा ऋचं प्राणायामो वा सशिरः ओंमिति वा विष्णोर्वा स्मरणमिति। अत्राप्यसामर्थ्ये अघमर्षणसूक्तेन त्रिरावृत्तेन तीर्थावाहनं जलाभिमन्त्रणमवभक्षणं मार्जनं जलमग्नजपं मज्जनञ्च इत्येतावदेव कुर्य्यात्। [5]तत्राव्

---

(१) ० किञ्चिदुन्मृज्य कात्या ०।
(२) "सुमित्र्यान" इत्यपोऽञ्जलि ०।
(३) ० न ०।
(४) द्रुपदां वा ०।
(५) अत्रा ०।

भक्षणमार्जनमज्जनानि प्रतिमन्त्रं वाक्यभेदादिति न्यायात् [त्रि] स्त्रिर्भवन्ति । यद्यप्यत्र मन्त्रविशिष्टपदार्थषट्कात्मकं स्नानकर्म्मान्तरं न विधीयते गुणमात्रविध्युपपत्तौ विशिष्टविधिगौरवाश्रयानुपपत्तेः । अतएव कल्पतरावुक्तं,—पूर्व्वप्रतिपन्नक्रमवत् तीर्थपरिकल्पनादिपदार्थानुवादेन मन्त्रमात्रविधौ विपरीतक्रमाभिधानेऽपि स एव क्रमो वाच्य इति । तथाप्यसामर्थ्यान्न कुर्य्याच्चेदिति तदनुष्ठानासमर्थं प्रत्येतत् पदार्थानुवादेन मन्त्रान्तरविधानेऽपि तत्-पदार्थषट्काश्रितमन्त्रविशेषमात्रेणोक्तस्नानफलप्राप्तिरुक्ता भवतीति नेतरपदार्थप्राप्तिरिति । स्मृत्यन्तरोक्तविधिना वा स्नायात् । स्मृत्यन्तरोक्तविधिर्न वाजसनेयिनामिति नाशङ्कनीयम् ।

त्रिधैव ज्ञायते कर्त्ता विशेषेण प्रतिक्रियम् ।
योग्यत्वाप्रतिषिद्धत्वविशेषणपदान्वयैः ॥ [1]इति ।

तत्र न स्मृत्यन्तरोक्तविधिषु एषामयोग्यत्वम् । नापि "नासोममाजो सन्नयेत्" इतिवत् प्रतिषेधः । नापि वैश्यो "वैश्यस्तोमेन यजेत [2]इतिवत् विशेषणपदमस्ति । [तस्मात्] गृह्यगौतम-[3]सूत्रादि सर्व्वसाधारणमिति [4]होमवाक्याधिकरणे चिन्तितम् । तत्र विष्णूक्तविधिः—मृत्तोयेन देहं प्रक्षाल्य "आपो अस्मान्" [ इति निमज्य "भूर्भुवः स्व" रित्याचम्य "आपो हिष्ठा" इति

(१) इत्यत्र । न च विधिषु एषामयोग्यत्वम् ।
(२) इत्यादिवत् कर्त्तृव्यवच्छेदकपदमस्तीति ।
(३) ० सूत्रं सर्व्व ० ।
(४) ० होलाकाधिकरणे चिन्तितत्वात् ।
[ ] चिह्निनांशाः पुस्तकान्तरे न दृश्यन्ते ।

तिसृभिः "हिरण्यवर्णा" इति चतसृभिः "इदमाप" इतिच तीर्थमभिमन्त्र्यान्तर्जले मग्नस्त्रिरघमर्षणसूक्तं जपेत्। तद्विष्णोरिति वा द्रुपदां वा सावित्रीं वा युञ्जते नम इत्यनुवाकं वा पुरुषसूक्तं वा। शङ्खोक्तविधिः—मृद्भिरद्भिश्च देहं प्रक्षाल्य "आपोऽस्मान्" इति निमज्योन्मज्य "भूर्भुवः स्व" रित्याचम्य "प्रपद्ये वरुण" मिति तीर्थमावाह्य—

रुद्रान् प्रपद्ये वरदान् सर्व्वानप्सुसदस्त्वहम्।
सर्व्वानप्सुसदश्चैव प्रपद्ये प्रणतः स्थितः॥
देवमप्सुसदं वह्निं प्रपद्येऽघनिसूदनम्।
आपः पुण्याः पवित्राश्च प्रपद्ये शरणं तथा॥
रुद्राश्चाग्निश्च सर्पाश्च वरुणस्त्वाप एव च।
शमयन्त्वाशु मे पापं पुनन्तु च सदा मम॥

इति [1]जपित्वा "आपो हिष्ठा" इति तिसृभिः "हिरण्यवर्णा" इति चतसृभिः "शन्नो देवीरभीष्टये" इति "शन्नो आपो धन्वन्या" इति "इदमापः प्रवहत" इति मार्जनानि कृत्वान्तर्जलमग्नोऽघमर्षणसूक्तं त्रिर्जपेत्। (क) एतत्सर्व्वप्रकारासामर्थ्ये तीर्था-

(१) त्रिर्जपित्वा०।

(क) अत्र पुस्तकान्तरे—"नरसिंहपुराणोक्तविधिः—मृत्तोयैः सवस्त्रं देहं संशोध्याचम्य "उदुत्तम" मिति शनैर्जलं प्रविश्य "यत्किञ्चेद"मिति वरुणं नमस्कृत्य हरिं स्मरन् "आपोऽस्मान्" इति शरवन्निमज्योन्मज्य "आपो वा इदं सर्व्वं विश्वा-भूतान्यापः प्राणा" वा "आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथ्वी पूता पुनातु मां पुनातु ब्रह्मण-स्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु मां। यदुच्छिष्टमभोज्यञ्च यद्वा दुश्चरितं मम। सर्व्वं पुनन्तु मामापो असताञ्च प्रतिग्रहं स्वाहा" इति "भूर्भुवः स्व" रिति वा आपः पीत्वा

वाहनादिपदार्थषट्कं "इमं मे वरुण, तत्त्वायामि, त्वं नो अग्ने, सत्वं नो अग्ने, माप, उदुत्तमम्" इति ऋग्भिः "तत्त्वायामि" इत्यादिभिः "मुञ्चन्तु" इत्यन्ताभिर्वा "त्वन्न" इत्यादिभिः अवभृथ" इत्यन्ताभिर्वा कुर्य्यात् । "वारुणानि" इति सामान्योक्तावपि "आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठत" इतिवत् प्रकृतानामेव ग्राह्यत्वात् । प्रकृतक्रमस्यापि त्यागकारणाभावेन ग्राह्यत्वात् । एवं समाचाराच्च । न च "त्वन्नः, सत्वन्न" इत्यनयोर्न वारुणत्वम् । अग्निविशिष्टवरुण-प्रकाशकत्वेऽपि तत्त्वाविरोधात् । यत्त्वैन्द्र्यास्तुतेर्माहेन्द्रग्रहदेवता-प्रकाशकत्वाभाव उक्तः । सन्निधिशब्दस्यैव मन्त्रेषु प्रयोज्यत्वनियमा-देव त्वत्र तथा । अत्र चैतदनूद्यमानपदार्थषट्कस्य पृथङ्मन्त्रतया सिद्धत्वान्मन्त्रबहुत्वमपि सिद्धमनूद्य वारुणत्वमात्रं विधीयत इति न प्रत्येकं मन्त्रत्रित्वाशङ्का । नाप्येकमन्त्रेण सर्व्वानुष्ठानम् । तदुक्तं प्राचीनाचारपद्धतौ,—

"इमं मे वरुणः पूर्व्वं तत्त्वायामीति तत्परम् ।
त्वन्नो अग्ने च सत्वन्नो [अग्ने] मापो मौषधीश्च तैः ॥

उदुत्तममित्यैकावृत्तैरेभिः क्रमेण च इत्येतेन [1]यत् केनचित् तत्त्वायामीत्यनेनान्येन [वा] वारुणमन्त्रेणैव षड़पि कुर्य्यादित्युक्तं

---

द्विराचम्य वारुणमन्त्रत्रयेण मार्जनं कृत्वा 'इदं विष्णु" रिति मृत्तिकया सर्व्वाङ्ग-मालभ्य नारायणं स्मरन् जले प्रविश्य निमग्नोऽघमर्षणसूक्तं त्रिर्जपेत् ।" इत्यधिक-पाठो दृश्यते ।

(१) ० येन केनचित् ० ।

[ ] चिह्नितांशौ पुस्तकान्तरे न दृश्येते ।

तदप्यपास्तमिति। अत्र प्रथमकल्पसमर्थस्यालस्यादिनोत्तरपक्षाचरणे—

अगम्यागमनात् स्तेयात् पापेभ्यश्च प्रतिग्रहात्।
रहस्यचरितात् पापान्मुच्यते स्नानमाचरन्॥

इत्याद्युक्तदुरितक्षयादिफलस्य न सिद्धिः। प्रत्यवायपरिहारस्तस्मादेव स्नानशब्दानुष्ठानात्। अतएव प्रभुः प्रथमकल्पस्य इति फलस्यैवानुत्पाद उक्तः। एवमन्यत्रापि मुख्यानुकल्पभावे द्रष्टव्यम्। [1]अत्र च सर्व्वस्नानप्रकृतिभूते आह्निकस्नानकर्म्मणि समर्थासमर्थपुरुषव्यवस्थितानां प्रकाराणां विहितत्वादेतद्विकृतिभूतेषु काम्यनैमित्तिकस्नानेष्वपीत्थं व्यवस्था। अतएवैते प्रकाराः प्राप्नुवन्ति। नह्यत्र "सोमाभावे पूतिकानभिषुणुयात्" इति बहुतरप्रकाराणां प्रतिनिधित्वम्। येन विकृतिषु प्राप्तिर्न स्यात्। सर्व्वत्र चैवं मुख्यानुकल्पभावेऽनुकल्प एव मुख्यकल्पासमर्थस्यैवाधिकार इति नियमो नतु मुख्यकल्पे किञ्चिदधिकारनियामकमिति। सर्व्वाङ्गोपेतानुकल्पानुष्ठानसम्भवेऽपि नित्यकर्म्मान्तरवदसम्भवात् किञ्चिदङ्ग[2]हानेनापि नित्ये मुख्यकल्पानुष्ठानमविरुद्धम्। केवलं सर्व्वाङ्गोपेतमुख्यकल्पासामर्थ्यादनुकल्पेऽप्यधिकार इत्येच्छिक एव तत्र तयोः परिग्रहः। गुणतारतम्यात् फलतारतम्यमात्रम्। काम्येत्वनुकल्पस्यैव प्राप्तिः। यदाचानुकल्पस्यापि [न] सद्गुणानुष्ठानसम्भवस्तदा नित्ये विकल्पः। काम्येतूभयाप्राप्तिरिति।

---

(१) अतएव सर्व्व०। (२) ०हीनेना०।

अत,—

वापीकूपतड़ागेषु दूषितेषु कथञ्चन।
उद्धृत्य वै कुम्भशतं पञ्चगव्येन शुद्ध्यति॥
मृतपञ्चनखात् कूपादत्यन्तोपहताच्चथा।
अपः समुद्धरेत् सर्व्वाः शेषमस्त्रेण शोधयेत्॥
जलाशयेष्वथान्येषु स्थावरेषु चरेषु च।
कूपवत्कथिता शुद्धिर्महत्सु च न दूषणम्॥

इति स्नानार्थं जलशुद्धिर्ज्ञातव्या। अत्र "उद्धृताद् भूमिष्ठं पुण्य"मित्यादिना पूर्व्वपूर्व्वापेक्षयोत्तरोत्तरेषामुत्कर्षमात्राभिधानादुत्तरापेक्षया पूर्व्वेषां हीनकल्पत्वमिति। "प्रभुः प्रथमकल्पस्य" इति न्यायेनोत्तरालाभ एव [1]प्राप्तिः पूर्व्वत्र।

त्रिरात्रफलदा नद्यो याः काश्चिदसमुद्रगाः।
समुद्रगास्तु पक्षस्य मासस्य सरितां पतिः॥

इत्यादिना तु "दध्नेन्द्रियकामस्य" इतिवत् संयोगपृथक्त्वेन स्नानार्थस्यैवासमुद्रगानद्यादेस्तत्फलहेतुत्वमुच्यते। तेषाञ्च गुणफलानां मध्याह्नस्नानप्रकरणाम्नातत्वाद् विकृतिप्रातःस्नानादावयोगः। तदुक्तं—"खादिरं वीर्य्यकामस्य" इत्यस्य विकृतावप्रवृत्तिप्रतिपादनार्थं सप्तमतन्त्ररत्ने। यद्धि क्रत्वर्थं तद्विकृतौ प्रवर्त्तते नच क्रत्वर्थम्। नच फलं यथाविहिताश्रयलाभः। येनासत्यप्यतिदेशे स्वेच्छयैव पुरुषः फलार्थं खदिरमुपाददीत। अग्नीषोमीयापूर्व्वप्रयुक्तपशुनियोजनं तस्याश्रयः न च तद्

(१) ० पूर्व्वप्राप्तिः।

विकृतावस्तीति। भाष्यकारमते पुनर्विकृतावपि गुणफलानि स्युरेव। तदुक्तं तत्रैव,—तेन क्रत्वर्थत्वात् खादिरोऽपि विकृतौ प्रवर्त्तते। तस्मिंश्च प्रवर्त्तमाने तदाश्रितः कामोऽपि प्रवर्त्तित एवेति। यत्तु स्नानप्रकरणाद्बहिरेव स्नानार्थं तीर्थमभिगम्य व्रतोपवासनियम [1]उक्तः त्र्यहमवगाहमानस्त्रिरात्रमुषित्वा सर्व्व-पापैः प्रमुच्यत इति सामान्यतो विशेषतश्च यत् तत्र तीर्थस्नानं तत् तत्फलार्थमुक्तं तस्य कर्म्मान्तरत्वे पृथगेवानुष्ठानं युक्तम्। एवं देव्यास्त्रिंशत्सहस्रं जलधिगतनदीस्नानमन्योन्यतुल्यमिति। तथा—

शिवलिङ्गसमीपस्था नद्यः सर्व्वा द्विजोत्तमाः।
वापीकूपतड़ागाश्च शिवतीर्था इति स्मृताः॥
स्नात्वा तेषु नरो भक्त्या शिवतीर्थेषु मानवः।
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः॥

इति विहितं स्नानमपि पृथक् कार्य्यम्। नित्यस्नाने पुनस्तीर्थे कृते नित्यस्नानफलमेव विशेषादुत्कृष्टं स्यान्न तीर्थस्नानफलम्। यस्तु स्नानद्वयासामर्थ्यान्मध्याह्ने तीर्थस्नानफलं कामयमानः स्नाति तस्य तत् फलमेव भवेत् न नित्यस्नानफलम्। केवलं मन्त्रस्नानादिनैव तत्सदृशेन कर्म्मान्तरेणापि तेन प्रत्यवायपरिहारः स्यात्। यत्तु स्वर्गकामनया कृतेऽप्यग्निहोत्रे नित्यफलमपि भवति तत् कर्म्माभेदादेककालप्राप्तेश्चोपपद्येत। इह तु कालभेदसम्भवात्

(१) ० प्रयुक्तः।

[1]कर्म्मभेदाच्च न तथा। एतदपि प्रातःकाले न [2]भवति। प्रातः-सन्ध्योपासनात् [3]पूर्व्वत एव विशेषविहितेतरकर्म्मसु "सन्ध्या-हीनोऽशुचिः" इत्यनेनाधिकाराभिधानात्। विशेषतः सन्ध्याकाल-प्राप्तेतरस्नानानां न सन्ध्यायामिति निषेधाच्च। "कार्त्तिकं सकलं मासं वहिः स्नायी" इति चान्द्रकार्त्तिकमासविहितस्नानमप्येव-मेव। [4]यत्तु,—

तुलामकरमेषेषु प्रातः स्नायी भवेन्नरः।
हविष्यभुग् ब्रह्मचारी सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥

इति पठन्ति तेनान्यदेव सौरमासत्रयसाध्यमेकं कर्म्म इति नास्य तदेकार्थता। तत्र माघफाल्गुनविहितन्तु प्रातःस्नानमेक-कालत्वाद् [5]गोदोहनं चमसस्येव नित्यस्नानस्य बाधकमेवेति सूतकादाविव तत्र न तस्याप्राप्तिः।

एवं—

प्रातः स्नात्वा मुनिश्रेष्ठाः शिवतीर्थेषु मानवः।
अश्वमेधफलं प्राप्य रुद्रलोकं स गच्छति॥

इत्यादावपि। अथवा नित्यकाम्याग्निहोत्रवत् तत्रानुष्ठानं कर्म्मभेदेऽपि कालाद्यभेदे तत्र निष्पत्तेः। [6]तदुक्तं चिन्तामणौ,—एकरूपानेकश्राद्धनिमित्तसमागमे पृथक् श्राद्धानुष्ठानाशङ्कापूर्व्वक-मत्रोत्पत्तिवाक्यैक्यादेककर्म्मावगमात्। काम्यापूर्व्वार्थमनुष्ठिता

(१) कर्म्मभेदः।
(२) ० सम्भवति।
(३) ० पूर्व्वं तत्र विशेष ०।
(४) यत्तत्।
(५) गोदोहेन पशुकामस्येतिवन्नित्य ०।
(६) तथाच ०।

भ्यामिव दर्शपौर्णमासाभ्यां नित्यानुष्ठानसिद्धौ न पृथगनुष्ठानं क्रियत इत्युक्ता प्रसङ्गादुक्तम्। भिन्ने तु कर्म्मण्यन्यापूर्व्वस्यान्येनासिद्धे स्तदर्थमन्यस्याप्यनुष्ठानमिति केचित् तदयुक्तम्। कर्म्मभेदेऽपि देशकालकर्त्तृभेदात् सकृदनुष्ठानेन सर्व्वकर्म्मसिद्धेर्युगपदेव सर्व्वनिष्पत्तिर्जायते। अतएव युगपदनेकामेध्यदर्शनादिनिमित्तसमवाये विशेषग्रहणाभावात् सकृदेवावद्धं मनो दरिद्रं चक्षुरित्यादिरूपनैमित्तिकानुष्ठानमित्येकादशे स्थितमिति।

तत्र,—

पुरुषाख्यं सकृद् दृष्ट्वा सकृत् स्नात्वा महोदधौ।
ब्रह्मविद्यां सकृद् गत्वा न भूयः पुरुषो भवेत्॥
आजन्मशतसहस्रेषु यत्पापं कुरुते क्वचित्।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यः स्नात्वैव लवणाम्भसि॥
कोट्यो नवनवत्यश्च यत्र तीर्थानि सन्ति वै।

कौर्म्मे,—

सर्व्वत्र सागरः पुण्यः पञ्चस्थानेषु मोक्षदः।
गङ्गा-सरस्वती-सिन्धु-सेतु-श्रीपुरुषोत्तमे॥

इत्याद्युक्तफलं समुद्रस्नानं लिख्यते। तच्च काम्यत्वादनुष्ठेतै[1]नैवोक्तम्। यत्तु,—"न समुद्रोदकमवगाहेत" इति तद्दृष्टदोषतया दूरप्रवेशमात्रनिषेधपरं विहितेतरसुखार्थावगाहननिषेधपरं वा विहितस्य निषेधासम्भवात्। अतएव

(१) ० नैवेत्यन्यत्र।

अग्निश्च ते योनिरिला च देहे
रेतोधा विष्णोरमृतस्य नाभिः ।
एतद् ब्रुवन् पाण्डव सत्यवाक्यं
ततोऽवगाहेत पतिं नदीनाम् ॥

एतद् विधाय—

अन्यथा हि कुरुश्रेष्ठ देवयोनिरपांपतिः ।
कुशाग्रेणापि कौन्तेय न स्पृष्टव्यो महोदधिः ॥

इति [ तद् ] विहितव्यतिरिक्तमेव स्पर्शनमात्रं निषिद्धम् । एवं—

नोदन्वतोऽम्भसि स्नायान्न च श्मश्रूादि कर्त्तयेत् ।
अन्तर्वत्न्याः पतिः कुर्व्वन्नप्रजो भवति ध्रुवम् ॥

इति पठन्ति तदपि प्रमाणं चेद् विहितेतरविषयमेव । विहितनिषेधे विकल्पापत्तेः । अथवा समुद्रस्नानस्य काम्यत्वात् काम्ये च पुरुषविशेषसम्बन्धो न शास्त्रीय इति वक्ष्यमाणत्वात् तं प्रति स्यान्निषेधः । तद्विधिश्च,—

गत्वाचम्य शुचिस्तत्र ध्यात्वा नारायणं परम् ।
न्यसेदष्टाक्षरं मन्त्रं तीरे मण्डलमध्यतः ॥
ततो जलमुपस्थाय हस्ते काये च विन्यसेत् ।
ॐकारञ्च नकारञ्च द्वयोरङ्गुष्ठयोर्न्यसेत् ।
शेषान् हस्ततलं यावत् तर्जन्यादित्रये न्यसेत् ।
ॐकारं वामपादे तु नकारं दक्षिणे न्यसेत् ।

[ ] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते । (१) ० तत् पुरुष ० ।

ओकारं वामकव्यान्तु नाकारं दक्षिणे न्यसेत्।
राकारं नाभिदेशे तु यकारं वामवाहुके।
णाकारं दक्षिणे न्यस्य यकारं मूर्द्धि विन्यसेत्।
अधश्चोर्द्धञ्च हृदये पार्श्वतः पृष्ठतो न्यसेत्।
ध्यात्वा नारायणं पश्चादारभेत् कवचं बुधः।
पूर्व्वे मां पातु गोविन्दो दक्षिणे मधुसूदनः।
पश्चिमे श्रीधरो देवः केशवश्च यथोत्तरे।
पातु विष्णुस्तथाग्नेये नैर्ऋते माधवोऽव्ययः।
वायव्ये तु हृषीकेशस्तथेशाने तु वामनः।
भूतले पातु वाराहस्तथोर्द्धे च त्रिविक्रमः।
कृत्वैवं कवचं पश्चादात्मानं चिन्तयेद्धरिम्।
अहं नारायणो देवः शङ्खचक्रगदाधरः॥
एवं ध्यात्वा तदात्मानमिमं मन्त्रमुदीरयेत्।
त्वमग्निर्द्विपतां नाथ रेतोधाः कामदीपनः।
प्रधानः सर्व्वदेवानां जीवानां प्रभुरव्ययः।
अमृतस्यारणिस्त्वं हि देवयोनिरपांपते।
वृजिनं हर मे सर्व्वं तीर्थराज नमोऽस्तु ते॥
कृत्वा चाव्दैवतैर्मन्त्रैरभिषेकं च मार्जनम्।
निमज्यान्तर्जले पश्चात् त्रिरावृत्त्याघमर्षणम्।

ततः,—

देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च सन्तर्प्याचम्य वाग्यतः।
हस्तमात्रं चतुःकोणं चतुर्द्वारं सुशोभनम्।

तन्मध्ये विलिखेत् पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम्।
तत्राष्टाक्षरविधिना वासुदेवं प्रपूजयेत्।

अत्र बृहद्विधिमुक्ताभिहितम्,—

अर्चनं ये न जानन्ति हरेर्मन्त्रैर्यथोदितम्।
ते तत्र मूलमन्त्रेण पूजयन्त्यच्युतं तदा॥
एवं सम्पूज्य विधिवत् भक्त्या तं पुरुषोत्तमम्।
प्रणम्य शिरसा पश्चात् सागरं च प्रसादयेत्॥
प्राणस्त्वं सर्व्वभूतानां योनिश्च सरितां पते।
तीर्थराज नमस्तुभ्यं त्राहि मामच्युतप्रिय॥

ततः,—

रामं कृष्णं सुभद्राञ्च प्रणिपत्य च सागरम्।
शतानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः॥
सर्व्वपापविनिर्मुक्तः सर्व्वदुःखविवर्जितः।
कुलैकविंशमुद्धृत्य विष्णुलोकं स गच्छति॥

[१]"अग्निश्च ते योनि"रिति मन्त्रः पठनीयः।

"पिप्पलादसमुद्भूते कृत्ये लोकभयङ्करि।
पाषाणं ते मया दत्तमाहारार्थं प्रकल्पय॥"

इति मन्त्रेण पाषाणक्षेपश्च समाचारसिद्धः।

नित्यस्नानं पुनः समुद्रे उक्तविधिं विनापि कर्त्तव्यम्।

तत्र,—

(१) तत्रादौ, अग्निश्च०।

भूमिष्ठमुद्धृतात् पुण्यं ततः प्रस्रवणोदकम् ।
ततोऽपि सारसं पुण्यं ततः पुण्यं नदीजलम् ॥
तीर्थतोयं ततः पुण्यं महानद्यम्बु पावनम् ।
ततस्ततोऽपि गङ्गाम्बु पुण्यं पुण्यस्ततोऽम्बुधिः ॥

इति मार्कण्डेयवचनात् । दुरितक्षयरूपनित्यफलमेव सर्व्वोत्कृष्टं स्यात् न तीर्थस्नानफलमिति ।

मार्कण्डेयह्रदेऽप्येवं स्नात्वा दृष्ट्वा च शङ्करम् ।
दशानामश्वमेधानां फलं प्राप्नोति मानवः ॥
निमज्जेत् प्राङ्मुखस्तत्र इमं [1]मन्त्रमुदीरयन् ।
"संसारसागरे [2]घोरे पापग्रस्तमचेतनम् ।
त्राहि मां भगनेत्रघ्न त्रिपुरारे नमोऽस्तु ते ॥
नमः शिवाय शान्ताय सर्व्वपापहराय च ।
स्नानं करोमि देवेश मम नश्यतु पातकम् ॥
नाभिमात्रे जले स्नात्वा विधिवत् तर्पयेत् ततः ।
प्रविश्य देवतागारं कृत्वा तं त्रिः प्रदक्षिणम् ॥
मूलमन्त्रेण सम्पूज्य मार्कण्डेयस्य चेश्वरम् ।
अघोरेणैव मन्त्रेण प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥
त्रिलोचन नमस्तेऽस्तु नमस्ते शशिभूषण ।
त्राहि मां त्वं विरूपाक्ष महादेव नमोऽस्तु ते ॥

इति ।

---

(१) ० मुदीरयेत् । (२) ० मग्नं ० ।

इन्द्रद्युम्नसरो नाम अश्वमेधाङ्गसम्भवम्।
तत्र स्नात्वा सकृल्लोकः शक्रलोकमवाप्यते॥
प्रदापयति यः पिण्डं तटे तत्र सरस्सु च।
भाद्रकृष्णत्रयोदश्यां गयाश्राद्धफलं लभेत्॥

---

गोदावरीजलस्पर्शी वातो यत्र [1]प्रवर्त्तते।
तद्देशवासिनां मुक्तिः किमु तत्तीरवासिनाम्॥

## गोदावरीस्नानमन्त्रः।

त्र्यम्बकस्य जटोद्भूते गौतमस्याघनाशिनि।
सप्तधा सागरं यान्ति गोदावरि नमोऽस्तु ते॥
गोवाहनजटाजूटगोमण्डलसमुज्ज्वले।
गोविन्दचरणोद्भूते गोदावरि नमोऽस्तु ते॥
गोगोत्रधाम्नि दीव्यन्ति गोमध्यमविहारिणि।
गोभागकृतसञ्चारे गोदावरि नमोऽस्तु ते॥

---

सकृत्तीर्थं निषेवेत गङ्गाञ्चैव पुनः पुनः।
सर्व्वतीर्थमयी गङ्गा सर्व्वदेवमयो हरिः॥
अवगाहनमात्रेण मानवानां सदैव हि।
पापौघं निर्दहेद्‌ गङ्गा तूलराशिमिवानलः॥

---

(१) ० प्रवीयते।

तीर्थानां परमं तीर्थं नदीनामुत्तमा नदी।
मोक्षदा सर्व्वभूतानां महापातकिनामपि॥
भूतानामपि सर्व्वेषां दुःखोपहतचेतसाम्।
गतिमन्वेषमाणानां न गङ्गासदृशी गतिः॥
गच्छध्वं हि बुधा गङ्गां ज्ञात्वा विश्वमशाश्वतम्।
सुघोरेऽस्मिन् कलौ प्राप्ते मुक्तिर्वो वाञ्छिता यदि॥
कलौ तत् परमं ब्रह्म प्राप्तये सत्वरं नृणाम्।
गङ्गाभजनमेवाहुर्महोपायं महर्षयः॥
ध्यानं कृते मोक्षहेतु स्त्रेतायां तच्च वै तपः।
द्वापरे तद्द्वयं यज्ञः कलौ गङ्गैव केवलम्॥
वृथा कुलं वृथा विद्या वृथा यज्ञो वृथा तपः।
वृथा दानानि तस्येह कलौ गङ्गां न याति यः॥
अहो किं बहुनोक्तेन गङ्गा सेव्या सदा नरैः।
नान्यत् संसारदुःखस्य नाशकं मोक्षकारणम्॥
श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता।
या पावयति भूतानि कीर्त्तिता च दिने दिने॥
इन्दुव्रतसहस्रं तु यः कुर्य्यात् कायशोधनम्।
पिबेद् यश्चापि गङ्गाम्भः समौ स्यातां नवा समौ॥
दृष्टा जन्मकृतं पापं स्पृष्टा जन्मत्रयार्जितम्।
स्नाता जन्मशतोद्भूतं हन्ति गङ्गा कलौ युगे॥

इत्याद्युक्तमहिमगङ्गास्नाने मन्त्रः,—

विष्णुपादार्घ्यसम्भूते गङ्गे त्रिपथगामिनि ।
धर्म्मद्रवीतिविख्याते पापं मे हर जाह्नवि ॥
श्रद्धया भक्तिसम्पन्ने श्रीमातर्देवि जाह्नवि ।
अमृतेनाम्बुना देवि भागीरथि पुनीहि माम् ॥

इति च मन्त्रः,—

गोमती जाह्नवी रेवा चतुर्थी च पुनः पुना ।
कावेरी सरयू कृष्णा ब्राह्मी वैतरणीति च ।
विष्णुपादार्घ्यसम्भूता गङ्गेह नवधा स्थिता ॥

इति विष्णुवचनात् गोमत्यादावपि गङ्गास्नानमन्त्रः प्रयोक्तव्यः । तासु गङ्गोपचारस्यैतावन्मन्त्रप्रयोजनत्वात् ।

वतरण्यास्त्व,—

अयातयामं सर्व्वेभ्यो भागेभ्यो भागमुत्तमम् ।
देवाः सङ्कल्पयामासुर्भयाद् रुद्रस्य शाश्वतम् ॥
इमां गाथामनुस्मृत्य य इहोपस्पृशेन्नरः ।
देवयानस्तस्य पन्थाः शक्रस्येव प्रकाशते ॥

इति महाभारतोक्तमधिकम् ।

[ सर्व्वतीर्थेषु प्रतिकृतिं कुशमयीं तीर्थवारिणि मज्जयेत् ।
मज्जयेत्तु यमुद्दिश्य अष्टभागं लभेत् फलम् ।

तत्र मन्त्रः,—

कुशोऽसि त्वं पवित्रोऽसि ब्रह्मणा निर्म्मितः स्वयम् ।
त्वयि स्नाते स च स्नातो यस्यार्थे ग्रन्थिबन्धनम् ॥

इति। |

तथा,—

करतोये सदानीरे सरिच्छ्रेष्ठेऽतिविश्रुते।
[2]आप्लावयसि गात्राणां पापं हर करोद्भवे॥

इति करतोयास्नानमन्त्रः।

गाधिराजसुते देवि विश्वामित्रसुनेः स्वसः।
ऋचीकभार्य्ये सत्तोये पापं मे हर कौशिकि॥

इति कौशिकीस्नानमन्त्रः।

सह्यपादोद्भवा देवी श्रीशैलोत्सङ्गगामिनी।
कृष्णवेणीतिविख्याता सर्व्वपापप्रणाशिनी॥
सह्यपादोद्भवा देवी कृष्णवेणीति विश्रुता।
सर्व्वपापविशुद्ध्यर्थं स्नास्ये देवि तवाम्भसि॥

प्रसीद मे देवि सदामरेज्या-
देवेशस्रष्टा जगतां विमुक्त्यै।
स्नानेन यस्यामवधूतपापं
प्राप्नोति विष्णोः पदमेव मर्त्त्यः॥
ब्रह्मामृतानन्दरसेन पूर्णां
जलेन पूर्णामिव मेनिरेऽज्ञाः।
तां त्वावगाहामि पिबामि कृष्णे
देवानृषींस्तर्पयिष्ये पितॄंश्च॥

[1] चिह्नितांशः पुस्तकान्तरे न दृश्यते। [2] आप्लावयति ग।

इति कृष्णवेणीस्नानमन्त्रः ।

भीमस्वेदसमुद्भूते रथनेमिविनिःसृते ।
सर्व्वपापप्रणाशार्थं स्नास्ये देवि तवाम्भसि ॥

इति भीमरथीस्नानमन्त्रः ।

आद्ये नमः पुण्यजले नमः सागरगामिनि ।
नर्म्मदे पापनिर्वारे नमो देवि वरानने ॥
नमोऽस्तु ते मुनिगणसिद्धसेविते
नमोऽस्तु ते शङ्करदेहनिःसृते ।
नमोऽस्तु ते धर्म्मभृतां वरप्रदे
नमोऽस्तु ते सर्व्वपवित्रपावनि ॥

इति नर्म्मदास्नानमन्त्रः ।

त्वमेव सरितां नाथ स्त्वं देवि सरितां वरा ।
उभयोः सङ्गमे स्नात्वा मुञ्चामि दुरितानि वै ॥

इति—

गङ्गासागरसङ्गमस्नानमन्त्रः ।

ब्रह्मपुत्र महाभाग शान्तनोः कुलवर्द्धन ।
अमोघागर्भसम्भूत पापं लौहित्य मे हर ॥

इति लौहित्यस्नानमन्त्रः । (क)

---

(क) अत्र पुनः पुस्तकान्तरे,—"सर्व्वतीर्थेषु कुशमयीं प्रतिकृतिं तीर्थवारिणि मज्जयेत् ।
मज्जयेत्तु यमुद्दिश्य अष्टभागं लभेत् फलम् ।
तत्र मन्त्रः,—
कुशोऽसि त्वं पवित्रोऽसि ब्रह्मणा निर्म्मितः स्वयम् ।
त्वयि स्नाते स च स्नातो यस्यार्थे ग्रन्थिबन्धनम् ॥" इति दृश्यते ।

तदेतत् स्नानम्,—

षष्ठ्यष्टमी अमावास्या उभे पक्षे चतुर्द्दशी ।

अस्नातानां गतिं गच्छेत्—

इति निन्दाकल्पितविधिबलात् प्रकरणान्तराधिकरणन्यायेन नित्यात् पृथक् कार्य्यम् । तच्चावश्यकत्वान्नित्यकर्म्मवत् पापक्षयार्थम् ।

[1]संक्रमे ग्रहणे चैव न स्नायाद् यदि मानवः ।

सप्तजन्मसु कुष्ठी स्यात् दुःखभागी च सर्व्वदा ॥

तथा,—

चन्द्रसूर्य्यग्रहे स्नायात् सूतके मृतकेऽपि च ।

अस्नायी मृत्युमाप्नोति स्नायी पापं न विन्दति ॥

अत्र,—

चन्द्रसूर्य्योपरागे तु यावद्दर्शनगोचरे ।

इति चक्षुर्गोचरमेव निमित्तम् ।

मुक्तिं दृष्ट्वा परेऽह्न्यद्यात् ग्रस्तास्तमितयोस्तयोः ।

इत्यत्र "परेऽह्न्यद्यात्" अस्य पूर्व्वदिनभोजननिषेधपरत्वे त्रिदोषा परिसंख्या स्यात् । नहि तत्र निषेधान्तरमस्ति येन "सदृशं प्रतिवीक्षेत" इतिवदनुवादः स्यात् । तेन "मुक्तिं दृष्ट्वा" इति शास्त्रतो ज्ञात्वा अपरेऽहनि रात्रौ वाश्नीयादित्यर्थः । तेन

(१) तथा,—चन्द्रार्कग्रहणे चैव यो न स्नातीह मानवः । सप्तजन्मनि कुष्ठी० ।

ग्रहणकाले च नाश्नीयादित्युक्तनिषेधस्यैवानुवादः । दृष्ट्वेति प्रत्यक्षदर्शनाभिधानात् । परिसंख्याङ्गीकारेऽपि

आदित्येऽहनि सङ्क्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः ।
पारणञ्चोपवासञ्च न कुर्य्यात् पुत्रवान् गृही ॥

इति निषेधात् गृहस्थस्यायुक्तम् ।

यत्तु,—

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

इति । तत् गृहस्थेतरविषयम् ।

तत्र,—

ग्रहणग्रहपरिपीड़ितनाड़ीनक्षत्रदोषशमनाय ।
सह शतपुष्पैः स्नायात् फलिनीफलचन्दनोशीरैः ॥

नाड़ी नक्षत्राणि च,—जन्माद्यं कर्म्म ततो दशमभं साङ्घातिकं षोड़शभं समुदयमष्टादशभं विनाशसंज्ञं त्रयोविंशं आद्यात्तु पञ्चविंशं मानसमेवं नरः षड़्क्षः स्यादिति ।

तत्र,—

रोगाद्यागमवित्तनाशकलहाः सम्पीड़िते जन्मभे
सिद्धिं कर्म्म न याति कर्म्मणि हते भेदस्तु साङ्घातिके ।
द्रव्यस्योपचितस्य सामुदयिके सम्पीड़िते संक्षयो
वैनाशे तु भवन्ति कार्य्यविपदश्चित्तासुखं मानसे ॥

इति दोषाः ।

तथा,—

रविसङ्क्रमणे पुण्ये यो न स्नातीह मानवः ।
सप्तजन्मान्तरे रोगी दुःखभागी सदा भवेत् ॥

अत्रच,—

अर्वाक् षोड़श विज्ञेया नाड्यः पश्चात्तु षोड़श ।
कालः पुण्योऽर्कसङ्क्रान्ते र्विष्णुपद्यां दिवा मतः ॥
षड़शीतिमुखेऽतीते वृत्ते च विषुवद्दये ।
भविष्यत्ययने पुण्यमतीते चोत्तरायणे ॥
विषुवन्मेषतुलायामयनं मकरे रवौ कुलीरे च ।
षड़शीति र्द्विशरीरे विष्णुपदी च स्थिरे राशौ ॥

एतच्च दिवैव । रात्रौ तु,—

दिनार्द्धं भास्करे पुण्यमपूर्णे शर्व्वरीदले ।
सम्पूर्णे तूभये ज्ञेयमिति चैकेऽपरेऽहनि ॥

इति । तथा सर्व्वत्र,—

मन्दा ध्रुवेषु विज्ञेया मृदौ मन्दाकिनी तथा ।
क्षिप्रे ध्वाङ्क्षाभिजनीयादुग्रे घोरा प्रकीर्त्तिता ॥
चरैर्महोदरी ज्ञेया क्रूरै र्कृत्तैश्च राक्षसी ।
मिश्रिता चैव विज्ञेया मिश्रितर्क्षैश्च सङ्क्रमे ॥
त्रिचतुःपञ्चसप्ताष्टनवद्वादश एव च ।
क्रमेण घटिकाह्येतास्तत् पुण्यं पारमार्थिकम् ॥
उग्रः पूर्व्वमघान्तका ध्रुवगणास्त्रीण्युत्तराणि स्वभू
र्वातादित्यहरित्त्रयं चरगणः पुष्याश्विहस्ता लघुः ।

चित्रामित्रमृगान्त्यभं मृदुगणस्तीक्ष्णो हि रुद्रेन्द्रयुक्
मिश्रोऽग्निः सविशाखभः शुभफलाः सर्व्वे स्वकृत्ये शुभाः ॥

अन्यत्रोक्तम्,—

अतीतानागते पुण्ये द्वे तूदग्दक्षिणायने ।
त्रिंशत् कर्कटके नाड्यो मकरे विंशतिः स्मृताः ॥
पुण्याख्या विष्णुपद्यान्तु प्राक् पश्चादपि षोड़श ।
वर्त्तमाने तुलामेषे नाड्यस्तूभयतो दश ॥
षड़शीत्यां व्यतीतायां षष्टिरुक्ता तुलान्तिका ।
अह्नःसंक्रमणे,पुण्यमह्नः कृत्स्नं प्रकीर्त्तितम् ॥
रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्द्धं स्नानदानयोः ।
अर्द्धरात्रादधस्तस्मिन् मध्याह्नस्योपरि क्रिया ॥
ऊर्द्धं संक्रमणे चोर्द्धमुदयात् प्रहरद्वयम् ।
सम्पूर्णे चार्द्धरात्रे तु यदा संक्रमते रविः ॥
तदा दिनद्वयं पुण्यं मुक्त्वा मकरकर्कटौ ।
यद्यस्तमनवेलायां मकरं याति भास्करः ॥
प्रदोषे चार्द्धरात्रे वा स्नानदाने परेऽहनि ।
अर्द्धरात्रे तदूर्द्धं वा संक्रान्ते दक्षिणायने ।
पूर्व्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः ॥

तथा,—

प्रत्यूषे कर्कटं भानुः प्रदोषे मकरं यदि ।
संक्रमेत् षष्टिनाड्यस्तु पुण्याः पूर्व्वोत्तराः स्मृताः ॥

एतत् कल्पतरुकारादिभिर्नादृतम्। रविसंक्रमणे द्वादशस्वपि संक्रान्तिष्वेकरूपमेव तैरुक्तम्।

तथा,—

कुङ्कुमं रोचना मांसी [1]गुरुचन्दनवालुकम्।
हरिद्रासहसंयुक्तं मेषे स्नानं महाफलम्॥
प्रियङ्गुं पद्मकं कुष्ठं त्वचं मांसी निशाकरम्।
रोचनागुरु[2]संयुक्तं वृषे स्नानं महाफलम्॥
उशीरं पद्मकं कुष्ठं रोचना ग्रन्थिपर्णिकम्।
कुङ्कुमागुरुसंयुक्तं मिथुने राज्यदं मतम्॥
रोचना नीलकं मुस्ता मुरा शैलेयचन्दनम्।
हरिद्रासहसंयुक्तं कर्किसंक्रमणे शुभम्॥
पद्मकं रोचना मुस्ता मांसी त्वगथचन्दनम्।
सिंहे स्नानं सुराध्यक्ष आयुःपुष्टिविवर्द्धनम्॥
हरिद्रा वालुकं कुष्ठं मांसी चन्दनरोचना।
कन्ये स्नानं प्रकर्त्तव्यं सन्तानरतिवर्द्धनम्।
रोचना तगरं कुष्ठं पत्रकोशी च पद्मकम्।
हरिद्रावालसंयुक्तं तुले दुष्कृतनाशनम्॥
प्रियङ्गुं स्फटिकं मांसी पद्मकं रोचनागुरु।
मुस्ताकुष्ठसमोपेतं वृश्चिके राज्यदं मतम्॥
प्रबालं मौक्तिकं कुष्ठं रोचना बालपद्मकम्।
मुरामांसीसमोपेतं धनुःसंक्रमणे शुभम्॥

---

(१) सुरं चन्दन०। (२) ०संक्रान्तं०।

रोचनोशीरभार्गीयं मकरे [1]स्नानसौख्यदम् ।
ग्रन्थिपर्णित्वचा बालं केशरं जातिपत्रिका ॥
रोचनासहसंयुक्तं कुम्भे स्नानं च राज्यदम् ।
कर्पूरफलमूले वा मांसी चन्दनपद्मकम् ।
बालकं सप्तलोशीरं स्नानं मीने सुखावहम् ।
द्वादशैते समाख्याताः स्नानाः सुरगणार्चिताः ॥
अलक्ष्मीनाशना धन्या महापातकनाशनाः ।
यस्य जन्मर्क्षमासाद्य रविसंक्रमणं भवेत् ।
तन्मासाभ्यन्तरे तस्य रोगक्लेशधनक्षयाः ॥
नगरसरोरुहपत्रै रजनीसिद्धार्थलोध्रसंयुक्तैः ।
स्नानं जन्मन्यृक्षे रविसंक्रान्तौ नृणां शुभदम् ।

तथा,—

अकालेऽप्यथवा काले तीर्थे श्राद्धं सदा नरैः ।
प्राप्तैरेव सदा कार्य्यं कर्त्तव्यं पितृतर्पणम् । इति ।

तर्पणविधिबलात् तर्पणस्य स्नानवेलाभावदर्शनात् स्नानप्राप्तेः,—

कीर्त्तनाच्चैव तीर्थस्य स्नात्वा च पितृतर्पणात् ।
धुन्वन्ति पापं तीर्थेषु ते प्रयान्ति सुखं दिवम् ॥

इति वाक्यदर्शनाच्च,—

अमावस्या द्वादशी च संक्रान्तिर्भानुवासरः ।
तत्र स्नानं तथा होमो देवतार्चनमेव च ॥

(१) ० सौख्यदं स्मृतम् ।

उपवासस्तथा दानमेकैकं पावनं स्मृतम् ॥

इति तीर्थप्राप्तिनिमित्तकं प्राप्तिमात्रे स्नानम्। तदनन्तरं तत्र स्नानं काम्यमेव तथा चाण्डालसहाध्वगमनदुर्वरेकाद्विस्पन्दन-कर्णक्रोशनशौचविलम्बेषु नैमित्तिकं स्नानम्।

एवं,—

मन्दे चार्के गुरौ चापि वारेष्वेतेषु चैत्रिकी।

स्नात्वाश्वमेधिकं पुण्यं लभते तत्र मानवः॥ इति।

तथा,—

त्र्यहस्पृशि तिथौ स्नानं दानञ्च जप एव च।

सहस्रगुणितं प्राहुरिदमेव दिनक्षये॥

पुनर्वसुबुधोपेता चैत्रे मासि सिताष्टमी।

तस्यां नदीषु स्नानेन वाजपेयफलं लभेत्॥

सप्तमी रविवारेण बुधवारेण चाष्टमी।

अङ्गारकदिने प्राप्ते चतुर्थी च चतुर्द्दशी॥

सोमवारे त्वमावास्या सूर्य्यपर्व्वशताधिका॥

एवमन्यदपि तत्तत्तिथिविशेषादौ तत्तत्फलार्थं विहितं काम्यस्नानमेव कार्य्यम्। यत्तु चाण्डालोदक्यासूतिकापतित-शवानां साक्षात्परम्परास्पर्शे साक्षात्स्पृष्टस्य स्पर्शे बुद्धिपूर्व्वक-तत्स्पृष्टस्य स्पर्शे अनतिक्षुद्रनरास्थि-अभक्ष्यपञ्चनखसस्नेहतदस्थि चिताधूम-चैत्यवृक्षचितियूपकाकपक्ष-पलाण्डुलशुनदेवद्रव्योपजीवि-ग्रामयाजकपाषण्डसोमविक्रयि-म्लेच्छप्रेतहरिणोपजीविव्यङ्गोन्मत्त-संवत्सरपर्य्यन्तनित्यकर्म्माकारिखरोष्ट्रस्पर्शे पादेनाङ्गेण श्मशान-

स्पर्शे येषामधमाङ्गस्पर्शनमाचमननिमित्तमुक्तं तेषामुत्तमाङ्गस्पर्शे विहितेतररुद्रनिर्म्माल्यस्पर्शे शवानुगमने प्रेतस्यास्थिसञ्चयात् प्राग्-रोदने बन्धुमृतौ पुत्रजन्मनि पर्य्युषितवान्ते चौरे दिवामैथुने ऋतुकालमैथुने अयोनिमैथुने च स्नानं विहितं, यच्च मलापकर्षणार्थं स्नानं तत्सर्व्वममन्त्रकं सर्व्वाङ्गक्षालनमात्रम्। मलापकर्षणस्य तावत् दृष्टमात्रार्थत्वेन न मन्त्रापेक्षा। यच्च,—

व्यादित्येषु चरेषु शक्रदिनऋत्[1]पुष्याग्निचन्द्रेषु च
क्रूराहव्यतिपातविष्टिदिवसेष्विन्दावशस्ते तथा।
केन्द्रस्थेऽ[2]प्यशुभेऽप्यकामतिथिषु स्नानं गदो मुक्तितः
शस्तं तत्र न शोभना विधि [3]भुजङ्गर्क्षेन्दुसद्वासराः।

इत्युक्तारोग्यस्नानं तदपि मलापकर्षणार्थमेव। चण्डालादिस्पर्शनस्य चाशुद्धिहेतुत्वाभिधानात्—

तूष्णीमेवावगाहेत [4]यदा स्यादशुचिर्नरः।

इत्यशुचिनिमित्तकस्य चामन्त्रकत्वाभिधानात्। यत्तु,—

तत्राचम्य ततः पश्चात् स्नानं विधिवदाचरेत्।

इत्युत्तरार्द्धं तदाह्निकप्रकरणात् तस्यैवानुवादपरम्।

तदनुवादश्च चण्डालादिस्पर्शे सति तन्निमित्तस्य पृथगेव पूर्व्वमनुष्ठानम्। "न तन्त्रेण" इत्येतत् प्रदर्शनार्थम्।

तत्र पर्य्युषितवान्तादिष्वशुचित्ववचनाभावेऽपि

अस्पृश्यस्पर्शने वान्ते अश्रुपाते क्षुरे भगे।

(१) पुष्योग्रचन्द्रेषु च। (३) भुजङ्गर्क्ष्ये॰।
(२) ॰प्यशुभेषु कामतिथिषु॰। (४) ॰यदि॰।

इत्यस्पृश्यस्पर्शनेन सह पाठात् तद्दर्शनाद्यर्थत्वं गम्यते। तत्र ग्रहणेऽपि।

यदा,—

ग्रहणे शावमाशौचं विमुक्तौ सौतिकं स्मृतम्।

इत्यशौचवचनमस्ति तथापि,—

स्मार्त्तकर्म्मपरित्यागो राहोरन्यत्र सूतकात्।

इति।

स्नात्वा कर्म्माणि कुर्व्वीत शृतमन्नं विवर्जयेत्।

इति च।

तदशौचं तत्कालस्पृष्टपक्वान्नाभोज्यतामात्रपरम्।

अन्यथा,—

सूतके मृतके चैव न दोषो राहुदर्शने।
तावदेव भवेत् शुद्धिर्यावन्मुक्तिर्न दृश्यते॥

इत्यसङ्गतं स्यात्।

तत्र दिवामैथुनायोनिमैथुनयोरनृतवदन इव न स्नानेन दुरितक्षयः किन्तु तत्र वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तम्।

तत्र चण्डालादिपञ्चकस्पर्शे शुनश्च स्पर्शे द्वादशवारमृद्ग्रहणमधिकम्। एवं चण्डालादिस्पर्शे "स्नात्वा पुनर्मनोर्जपः, महाव्याहृतिभिः सप्ताज्याहुतीर्जुहुयात्" इति तद्बुद्धिपूर्व्वकाभ्यासविषयम्। एवं कायिकैर्मलैः सुराभिर्मद्यैर्वा चक्षुष्युपहते उपोष्य स्नात्वा पञ्चगव्येन दशनच्छदोपहतश्चेति।

एवं,—

श्वपाकं पतितं व्यङ्गमुन्मत्तं शववाहकम् ।
सूतिकां सूयिकां नारीं रजसाभिपरिप्लुताम् ।

श्वकुक्कुटवराहांश्च ग्राम्यानशुद्धान् स्वयमप्येतान् शुद्धश्च यदि संस्पृशेत् विशुद्धत्युपवासेन पुनः कृच्छ्रेण चेत्यधिकम् ।

एवं,—

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा ।
स्नात्वा सचेलं स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥

तथा,—

अनस्थिसञ्चिते [1]विप्रे रौति यद्यप्यबान्धवः ।
तदा स्नात उपोष्यैव द्वितीयेऽहनि शुद्ध्यति ॥

तत्र,—[2]शूद्रे तु त्रिरात्रेण स्नात्वा शुद्धिमवाप्नुयादिति ।

चण्डालपतितौ चैव दूरतः परिवर्जयेत् ।
गोबालव्यजनादर्वाक् सवासा जलमाविशेत् ॥

इति पठन्ति [3]तस्य प्रामाण्यसन्देहेऽप्यविरोधादादरणीयम् ।

यत्तु,—

युगं युगं द्वयञ्चैव त्रियुगञ्च चतुर्युगम् ।
चाण्डालसूतिकोदक्यापतितानामधःक्रमात् ॥

इत्यत्र तावद्देशपरिहारमात्रस्योक्तत्वात् तदपरिहारो न स्नाननिमित्तं किन्तु निषिद्धाचरणमात्रं स्यादिति । "देवद्रव्योपजीविनः" अत्र देवानुपयुक्तदेवद्रव्यापहारिणो नतु परवेतना-

(१) विप्रो० ।
(२) शूद्रेण तु० ।
(३) तत्प्रामाण्य० ।

दानेन देवसेवकास्ते ते केवलं धर्म्मविक्रयिणः। न तेषां स्पर्शनं स्नाननिमित्तम्।

देवार्चनपरो विप्रो वित्तार्थी वत्सरत्रयम्।
असौ देवलको नाम हव्यकव्येषु गर्हितः॥
स्पृष्ट्वा देवलकञ्चैव सवासा जलमाविशेत्।

इति वाक्यमस्ति।

तथा,—

शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा वैड़ालव्रतनास्तिकान्।
विकर्म्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सचेलो जलमाविशेत्।

इति वाक्यदर्शनादेतेषामपि स्पर्शनं परिहरणीयम्। अत्र,—

सांख्यं योगं पञ्चरात्रं शैवं पाशुपतं तथा।
अतिप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥

इति योगियाज्ञवल्क्योक्तेः।

मात्स्ये च,—

सम्यक् तेन व्रतं चीर्णं दिव्यं पाशुपतं महत्।

इत्यविमुक्तवासफलत्वेनोक्तेः।

मोक्षधर्म्मे च,—

उमापतिः स्वयं चक्रे शास्त्रं पाशुपतं महत्।

इत्यभिधानाच्च।

कूर्म्मपुराणे,—

अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकसम्मोहनानि तु।
वेदवादविरुद्धानि मयैव कथितानि वै॥

वामं पाशुपतं सौरं —चैव भैरवम्।
असेव्यमेतत्कथितं वेदवाह्यं तथेतरत्॥

इति भगवदुक्तेर्वेदविरुद्धवामपाशुपतपरं तथा प्रायपाठात्। शैवादिच्छद्मरूपधारिणो वैड़ालव्रतिकान् स्पृष्ट्वेत्यर्थः, मार्जार-मूषिकयोश्चाभक्ष्यपञ्चनखत्वेन सामान्यतः स्पर्शस्याशुद्धिहेतुत्वप्राप्तौ "मार्जारमूषिकच्छायासनशयनाम्बुविप्रुषो नित्यं मेध्याः" इति तदपवादे यत् पुनः,—

अभोज्यसूतिकाषण्ढमार्जाराखुश्वकुक्कुटान्।
संस्पृश्य शुद्ध्यति स्नानात्—

इति विशेषवचनं तत्र मार्जारपदं "मार्जारश्चंक्रमे शुचिः" इत्यपवादविशेषणात् स्थिरस्थितमार्जारपरम्। आखुपदञ्च कुक्कुट-पदसमभिव्याहाराद् ग्राम्याखुपरम्। मेध्यवाक्यञ्चारण्याखुपरम्। रौद्रासुराभिचारिकपित्र्यमन्त्राभ्युदीरणे, आत्मालम्भेऽशुभेक्षणे,

अधो वायुसमुत्सर्गे प्रहासेऽनृतभाषणे।
मार्जारमूषिकस्पर्शे आक्रुष्टे क्रोधसम्भवे॥
निमित्तेष्वेषु सर्व्वेषु कर्म्म कुर्व्वन्नपः स्पृशेत्॥

इति।

तेन च चंक्रममाणमार्जारारण्याखुस्पर्शयोरशुद्ध्यभावेऽपि कर्म्माङ्गमप्स्पर्शनमुक्तम्।

अत्रचाभक्ष्यपञ्चनखास्थिस्पर्शस्यैव स्नाननिमित्तत्वोक्तेर्गवा-द्यस्थ्नां नाशुचित्वम्। अतएव दानधर्मे उक्तं,—

पयसा हविषा दध्ना शकृता चर्म्मणा तथा ।
अस्थिभिश्चोपकुर्व्वन्ति शृङ्गैर्वालैश्च भारत ॥

एतेन गोचर्म्मणामपि नामेध्यत्वम् ।

यूपस्पर्शे च,—

"यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते यत् यूपमुपस्पृशेत् यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते तस्मात् यूपो नोपस्पृश्य" इति ।

अत्र, "इष्ट" इत्यपवर्गस्य वक्ता शब्दस्तेनापवृत्त एव यज्ञे यूपस्पर्शनं निषिद्धमिति भाष्यकार आह । वार्त्तिके तु,—इष्ट-पदेन समाप्तिरुच्यते ।

न वा सोपपदस्त्वयं समुदायप्रसिद्ध्यापापवचन एव । समाप्ति-वचनत्वेऽप्यनूद्यमानविशेषणत्वादविवक्षित एव ।

तेन पुरुषः स्वच्छन्दं विहरन् कर्म्ममध्यगतो वा यदि कदाचिद् यूपमुपस्पृशेत् तत् प्रतिषिद्ध्यते "नोपस्पृशेत्" ।

इति ।

तीर्थे विवाहे यात्रायां संग्रामे देशविप्लवे ।
नगरग्रामदाहे च स्पृष्टास्पृष्टं न दूष्यति ॥

स्पृष्टास्पृष्टमीषत्स्पृष्टम् ।

शिशोरभ्युक्षणं प्रोक्तं बालस्याचमनं स्मृतम् ।
रजस्वलादिसंस्पर्शे स्नातव्यन्तु कुमारकैः
प्राक् चूड़ाकरणाद् बालः प्रागन्नप्राशनात् शिशुः ।
कुमारस्तु स विज्ञेयो यावन्मौञ्जीनिबन्धनम् ॥

विष्ण्वालयसमीपस्थान् विष्णुसेवार्थमागतान् ।
चाण्डालपुक्कसान् वापि स्पृष्ट्वा न स्नानमाचरेत् ॥

इति च दृश्यते ।

एवमुक्तकल्पानामेकेन स्नात्वा तीर्थजलमध्ये पादमेकं स्थले चापरं पादं कृत्वा द्विराचामेत् । एतच्च नाप्सु सतः प्रक्षेपणं विद्यते उत्तीर्य्य त्वाचामेदिति, अन्तरेकं वहिरेकं कृत्वा पादमाचामेत्, सर्व्वत्र शुद्धो भवतीति चाप्रायत्यग्रहणार्थमुक्तमिति मलापकर्षण-स्नानेऽपि भवति ।

एवं [1]सूतकाशौचादावपि ।

"अस्नाताशी मलं भुंक्ते" इति ।

वहन् कमण्डलुं रिक्तामस्नात्वा चैव भोजनम् ।
दिवसक्षपणं कृत्वा अहोरात्रेण पूयते ॥

इत्यस्नातस्य भोजननिषेधादिना भोजननिमित्तकतया प्राप्तेऽपि स्नाने कर्त्तव्यम् । तच्च स्नानमदृष्टार्थत्वात् समन्त्रकं नैमित्तिकत्वाच्च सतर्पणं कार्य्यम् ।

एवं,—"अजपो पूयशोणितम्" इति वचनात् भोजननिमित्त-मेव गायत्रीजपोऽशौचेऽपि कार्य्यः ।

अत्र केचित्,—"मन्त्रवत् स्नानभोजन" इति स्नाननिमित्त-तया विहितं मन्त्रवदाचमनं कुर्व्वन्ति तत्त्वयुक्तम् । वस्त्रपरि-वर्त्तनानन्तरमेव "आचान्तः पुनराचामेन्मन्त्रवत्" इति विधानात् । यत्त्वत्र, "स्नानभोजन" इत्युक्तं तत्,—

(१) ० पुत्रकाशौचा ० ।

उपस्थानादिर्यस्तेषां मन्त्रवान् कीर्त्तितो विधिः।
[1]निवेदनान्तस्तत् स्नानमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः"

इति स्नानशब्दपरिभाषितमाध्याह्निककर्म्माङ्गत्वं यत् प्रकरण-प्राप्तं तदनुवादेन भोजनस्यैतन्निमित्ततापरत्वं नतु स्नानस्यापि पृथक् निमित्तत्वं तेनोच्यते येन सर्व्वस्नानानन्तरमात्रकर्त्तव्यता स्यात्।

अतः स्नानशब्दवाच्यमाध्याह्निककर्म्मान्तर्गतसन्ध्यादावेव कर्त्त-व्यम्। भोजनमात्रे च। इति। अतएव कल्पतरौ तत्रैवैतद् वाक्यं लिखितमिति।

दक्षिणावर्त्तशङ्खेन तिलमिश्रोदकेन तु।
उदके नाभिमात्रे तु यः कुर्य्यादभिषेचनम्॥
प्राक् स्रोतसि वै नद्यां नरस्त्वेकाग्रमानसः।
यावज्जीवकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥ इति।
दक्षिणावर्त्तशङ्खेन पात्रे औदुम्बरे स्थितम्।
उदकं यः प्रतीच्छेत शिरसा हृष्टमानसः॥
तस्य जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव शुद्ध्यति॥

इति सम्भवे कर्त्तव्यम्। तथा,—

शृङ्गोदकं गवां पुण्यं सर्व्वाघविनिसूदनम्।
युद्धे भग्नन्तु यत् शृङ्गं दक्षिणं पतितं भुवि॥
निर्मांसं प्राप्य विधिवत् पूरयित्वा जलेन च।

(१) निवेदनात् ततः स्नान०।

स्नानं कृतन्तु मुनिभिर्देवैः सिद्धैस्तु सर्व्वदा ।
अलक्ष्मीनाशनं धन्यं सर्व्वसौभाग्यवर्द्धनम् ॥

तथा,—

लाङ्गूलेनोद्धृतं तोयं मूर्द्ध्नि गृह्णाति यो नरः ।
सरित्स्वनुप्रयान्तीनां स पापेभ्यो विमुच्यते ॥

एवं,—

स चैवावभृतस्नातः स च गङ्गाजलाप्लुतः ।
विष्णुपादोदकं कृत्वा शङ्खे यः स्नाति मानवः ॥
स्थानं नैवास्ति पापस्य देहिनां देहमध्यतः ।
सवाह्याभ्यन्तरं यस्य व्याप्तं पादोदकेन वै ॥
सर्व्वमङ्गलमङ्गल्यं सर्व्वदुःखविनाशनम् ।
दुःस्वप्ननाशनं पुण्यं सर्व्वव्याधिविनाशनम् ॥
विष्णोः पादोदकं मूर्द्ध्नि कल्यमुत्थाय धारयेत् ।
तीर्थानां तत्र सर्व्वेषां सन्निधानं प्रकीर्त्तितम् ॥
स स्नातः सर्व्वतीर्थेषु सर्व्वयज्ञेषु दीक्षितः ।
शालग्रामशिलातोये योऽभिषेकं समाचरेत् ॥

इत्यादि विहितञ्चेह कर्त्तव्यम् ।

अत्र मन्त्रं पठन्ति,—

कृष्ण कृष्ण महावाहो भक्तानामार्त्तिनाशन ।
सर्व्वपापप्रशमनं पादोदकं प्रयच्छ मे ॥

तत्र,—

तुलसीदलसंयुक्तं तोयं गङ्गासमं विदुः ।

तुलसीदलसम्मिश्रं यस्तोयं शिरसा वहेत्।
सर्व्वतीर्थाभिषेकस्य तेन प्राप्तं फलं ध्रुवम्॥

इत्युक्तं कार्य्यम्।

नित्यं पादोदकं मूर्द्ध्नि मया धार्य्यं प्रयत्नतः।

इति वैष्णवधर्म्मनियमात्।

अत्र पटादिरूपप्रतिमासु मुख्यैतत्पादोदकासम्भवे,—

शङ्खपात्रन्तु संक्षाल्य गन्धपुष्पं ततः क्षिपेत्।
आपूर्य्य गन्धतोयेन पुनर्गन्धादिनार्चयेत्॥
पिण्डिकोपरि देवस्य सन्निधाने निधापितम्।
गङ्गादिसर्व्वतीर्थन्तु शङ्खे न्यस्य जपेदिदम्॥
त्रिविक्रम क्रमाक्रान्तत्रैलोक्येश्वर केशव।
त्वत्प्रसादादिदं तोयं पाद्यं तेऽस्तु नमो नमः॥
इत्युक्त्वा प्रणिपत्याथ देवदेवं श्रियःपतिम्।
शङ्खे व्यवस्थितं तोयं वैष्णवेभ्यो निवेदयेत्॥

इत्येवं पञ्चरात्रोक्तविधिकृतं पादोदकं गृह्णीयात्। तत्र,—

पादोदकञ्च निर्म्माल्यं नैवेद्यञ्च विशेषतः।
महाप्रसादः—

इत्युक्तत्वात् पर्य्युषितमपि विष्णुपादोदकं ग्राह्यमेव। यत्तु,—

एकरात्रोषितास्तास्तु त्यजेदापः समुद्धृताः।

इत्युक्तम्। न तेनाप्यशुद्धिरुक्ता। किन्तु,—

अक्षीणास्वेव गोः पानादापः शुचिकराः स्मृताः।

इति सामान्यतो यत् शुद्धिकरत्वं तत्रैव पर्य्युषितपर्य्युदासो

न कार्य्यान्तरे नापि यज्ञपात्रप्रोक्षणार्थजलवत् संस्कारविशेषाधानशुद्धिहेतुत्वेऽपि। एतेन,—

न नक्तोदकपुष्पाद्यैरर्च्चनं स्नानमिष्यते।

इत्यनेनापि देवार्च्चनस्नानयोरेव पर्य्युषितजलनिषेधो न स्नाने। एतेन पर्य्युषितजलपानेऽपि दोषाभावो दर्शित इति। ततः शिरसि जलापगमार्थं,—

राजहंसनिभं श्लाघ्यमुष्णीषं शिथिलार्पितम्।
जलक्षयनिमित्तं वै वेष्टयामास मूर्द्धनि॥

इति लिङ्गात् वस्त्रमेकमगाढ़बन्धं वेष्टयेत्। तत्र नवे,—

युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति
स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥

इति मन्त्रेण ग्रहणम्। यत्तु,—

देवाः पिवन्ति शिरसो मुखस्य पितरस्तथा।
वसवोऽपि च गन्धर्व्वा अधस्तात् सर्व्वजन्तवः॥

इत्युक्त्या, "स्नातोऽङ्गानि वस्त्रेण पाणिना वा न मार्जयेत्" इति वचनाच्च शिरोव्यतिरिक्तेभ्योऽङ्गेभ्यो न तोयं मार्जयेत्। यत्तु—

स्नातो नाङ्गानि निर्मृज्यात् स्नानशाट्या न पाणिना।

इति विशेषवचनम्। तस्य प्रामाण्येऽपि "स्नात्वा न गात्रमवमृज्यात्" इत्यविशेषेण स्नानाङ्गतया निषेधात्।

स्पष्टस्य तु विधेर्नान्यैरुपसंहारसम्भवः ।

इति न्यायात् दोषातिशयार्थमेव तद्भवेत् । तथाचाहुः,—

हस्तेन मार्जिते गात्रे स्नानवस्त्रेण मार्जिते ।

शुनोच्छिष्टं भवेद् गात्रं पुनः स्नानेन शुद्धति ॥ इति ।

तेन वस्त्रान्तरेण मार्जने स्नानवैगुण्यं स्यान्नाधर्म्मः ।

ततो धौते सदृशे शुक्ले,—

रेणवः शुचयः सर्व्वे वायुना समुदीरिताः ।

अन्यत्र रजसो भाजाम्——— ॥

इति वचनात् अरजस्के वाससी परिदध्यात् ।

तत्राधोवस्त्रम्,—

वामे पृष्टे तथा नाभौ कच्चत्रयमुदाहृतम् ।

एभिः कच्चैः परीधत्ते यो विप्रः स शुचिः स्मृतः ॥

अन्यथा नग्न एव स्यात्—

इति वाक्यदर्शनात् समाचाराच्च वेष्टितवस्त्रस्य प्रत्यक् प्रान्तं पृष्ठे प्राक् प्रान्तं वामकच्यां मध्यञ्च नाभ्यां, वस्त्रदेहान्तराले प्रवेशयेत् । नतु वेष्टितवस्त्रस्यैव वाह्येऽवगूहेत । एतदेवोक्तम्,—

परिधानाद् वहिः कच्चा निवद्धा ह्यासुरीर्भवेत् । इति ।

एतेन कच्चायाः परिधानवहिर्भावमात्रे निषेधादेकदेशान्तःप्रवेशेनैकदेशवहिर्भावोऽपि निषिद्ध एव । पूर्व्वपरिहितं वासः प्रक्षाल्यैव परिदध्यात् । एतच्च "नाक्षालितं [1]पूर्व्वपरिहितं वासो विभृयात्" इति गृहस्थधर्म्मप्रकरणाम्नातं यत् तत्रैव वस्त्रद्वय-

(१) पूर्व्वधृतं ० ।

धारणं विहितं प्रकरणात् तदङ्गमेव। अन्यथा फलकल्पनागौरवापत्तेः। तेन गात्रावरणाद्यर्थं वस्त्रान्तरेणायं नियमः। तैलानां सर्व्वेषामापो मृदरिष्टकेङ्गुदविल्वसर्षपकल्कक्षारगोमूत्रगोमयादीनि शौचद्रव्याणि। अहतानां प्रोक्षणमित्येके। अत्राद्भिर्मृदादीनामेकेन युक्ताभिः शुद्धिरित्यर्थः। नोत्तराधोवाससो विपर्य्यासं कुर्य्यात् न रात्रिवासो दिवा परिदध्यात्। अधोवस्त्रमधोनाभ्युपरि जान्वाच्छादयित्विति नातो न्यूनम्। अधिकाच्छादनेऽप्येतदविरोधात् किञ्चिदाधिक्येऽपि न दोषः। केवलं "न रक्तमुल्वणं वासो बिभृयात्" इत्युल्वणं निषिद्धम्। उत्तरवस्त्रञ्च समाख्ययोत्तराङ्गाच्छादकम्। तदेकदेशाच्छादनेऽपि तत्त्वसिद्धेर्यावदेतदधिकाच्छादनं तावद् गुणविशेषात् फलाधिक्यम्। अतो "यज्ञोपवीती द्विवस्त्र" इति सामान्यत उक्तेऽपि,—

देवागारे तथा श्राद्धे गवां गोष्ठे तथाध्वरे।
सन्ध्ययोरुभयोः साधुसङ्गमे गुरुसन्निधौ॥
अग्न्यागारे विवाहे च स्वाध्याये भोजने तथा।
उद्धरेद्दक्षिणं पाणिम्—

इति विशेषोक्तेरेष्वेव यज्ञोपवीतवत् धार्य्यम्। अन्यदात्वनियमः। नचैतद् विशेषवचनं शीतवारणार्थवस्त्रान्तरपरम्। अस्य दृष्टमात्रार्थत्वेन (क) तदपेक्षितविधानसम्भवे चानपेक्षितविधानानुपपत्तेः। केवलमाचमने "शिरः प्रावृत्य कण्ठं वा" इति

---

(क) अत्र पुस्तकान्तरे,—' नियमानपेक्ष्यत्वात्। उत्तरवस्त्रस्य त्वदृष्टार्थत्वेन" इत्यधिकः पाठो दृश्यते।

कण्ठावरणनिषेधाद् [1]'वस्त्रान्तरितमपि दक्षिणं बाहुमुद्धृत्यैव धार्य्यम् । उभयत्राप्युद्धृतं निषिद्धमेव । सति सम्भवे न जीर्ण-मलव[2]दित्यत्रापकृष्टपरिभुक्तं निर्णिक्तमपि वर्जयेत् । असम्भवे तदुपादाने न दोषः ।

तथा सर्व्वरागान् वाससि वर्जयेत् कृष्णञ्च स्वाभाविकम् । तत्र नीलीरक्तं सर्व्वथा हेयमेव । तथा,—

कम्बले पट्टवस्त्रे च नीलीरागो न दूष्यति ।

इति पठन्ति । एवं नीलीवस्त्रस्यास्पृश्यत्वोक्त्यभावात् स्पर्शन-मात्रे न दोषः ।

अत्र पठन्ति,—

नीलीरक्तं परीधाय भुक्त्वा स्नानार्हकस्तथा ।
त्रिरात्रन्तु व्रतं कुर्य्याच्छित्वा गुल्मान् लता अपि ॥

अत्र,—

नीलीरक्तं यदा वस्त्रं ब्राह्मणोऽङ्गेषु धारयेत् ।
अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥

इत्यभिधानात् । [3]ततः,—

स्त्रीणां क्रीड़ार्थसम्भोगे शयनीये तथैव च ।
स्त्रोधृता शयने नीली ब्राह्मणस्य न दूष्यति ॥
नृपस्य वृद्धौ वैश्यस्य पर्व्ववर्जं विधारणम्"

इति क्वचित् ।

---

(१) ०वस्त्रान्तरमपि० । (३) तत्र ।
(२) ०दित्यत्रापकृष्ट० ।

नग्नः कौषेयवासाः स्यात् नग्नः कौपीनवानपि ।
नग्नो मलिनवासाः स्यात् नग्नश्चार्द्रपटस्तथा ॥
अकच्छोऽनुत्तरीयश्च नग्नो वर्ज्यौ विवस्त्रवत् ॥

तथा,—

स्वयं धौतेन कर्त्तव्याः क्रिया धर्म्मविपश्चिता ।
न निर्नेजकधौतेन नाहतेन कदाचन ॥

अत्र कारुहस्तः सदाशुचि(१)रित्यपवादार्थं न निर्णेजकेनेति। एतत् प्रामाण्यञ्च रजकधौतगर्द्दभारूढ़वस्त्रपरिधानमिति दुराचारमध्ये गणनात् भट्टपादैरनादृतम्। उत्तरवस्त्रासम्भवे अधोवस्त्रस्यैकदेशेन नोत्तराङ्गमाच्छादयेत्। अधोनीवीतस्त्वेकवस्त्र इत्यापस्तम्बेनैक-वस्त्रोऽप्यधो-वस्त्रस्यैकदेशेनाधो-नीवीत उत्तराङ्गं नाच्छादयेदिति निषेधात्। यत्तु,—"एकश्चेत् पूर्व्वस्यैवोत्तरं वस्त्रेण प्रच्छादयीत" इति गृह्यवचनं तत् शिरोवेष्टनादिवत् समावर्त्तनकर्म्मान्तर्गतोत्तराङ्गाच्छादनकर्म्म नतु कर्म्मान्तराङ्गद्विवस्त्रत्वार्थम्। तेन वस्त्रासम्भवे वस्त्रप्रतिनिधिरूपेण क्षौमाजिनादिनैव द्विवस्त्रत्वं सम्पादयेत्। नित्यमुत्तरं वासः कार्य्यमपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थं इति विहितं तत् सूत्रम्।

यज्ञोपवीते द्वे धार्य्ये (२)श्रौते स्मार्त्ते च कर्म्मणि ।
तृतीयञ्चोत्तरीयार्थे वस्त्रालाभे तदिष्यते ॥

इति वाक्यदर्शनादविरोधाच्च यज्ञोपवीतलक्षणोपेतं बिभृ-

(१) ० रित्येतदपवादार्थं निर्नेजकधौतेनेति ।

(२) ० श्रौतस्मार्त्तेषु कर्म्मसु ।

यात्। तस्य यज्ञोपवीतत्वात्यागेनैव वस्त्रकार्य्यकारित्वात् यूप-कार्य्यकारिणि परिधौ परिधिमन्त्रवद् यज्ञोपवीतमन्त्र एव भवति न वस्त्रमन्त्रः। [1]तस्मिन् धृतेऽपि होमादिषु वस्त्रमवश्यं धार्य्यम्।

होमदेवार्चनाद्यासु क्रियास्वाचमने तथा।
नैकवस्त्रः प्रवर्त्तेत द्विजो वाचनिके जपे॥ इति।
न भार्य्यादर्शनेऽश्नीयान्नैकवासा न संस्थितः।

इति विशेषोक्तेरेतेषु कर्म्माङ्गतया वस्त्रं धार्य्यम्। तदभावे तु तत्कर्म्मवैगुण्यम्। सूत्रादि तु पुरुषार्थनित्यधार्य्यविषयम्। तस्य वस्त्रकार्य्यकारित्वेऽपि वस्त्रत्वाभावात् स्नानकालेऽपि स्थितेऽस्मिन् वस्त्रेऽपि गृहीते "न वासोभि"रिति निषेधानवकाशः। कुतो जपादिकाले उभयधारणे दोषसम्भावनापि। तत्र वासोभिरिति बहुत्वस्यैव निषेधात् सामान्यतः प्राप्ते द्विवस्त्रस्यानिषेध इति केश्चिदुक्तम्। "बद्धशिखो यज्ञोपवीती" त्यस्मिन् स्नानसूत्रे नित्य-प्राप्तयज्ञोपवीतग्रहण[2]मुत्तरवस्त्रनिवृत्त्यर्थम्। अतएव "निष्पीड्य स्नानवस्त्र"मित्येकवचनम्। याज्ञवल्क्येन "निष्पीड्य स्नानवस्त्र"-मिति,—

"तावन्न पीड़येद् वस्त्रं येन स्नातो [3]न वोदकम्।"

इति व्याख्यातम्। तत्र,—

नग्नः कौपीनवासा वा द्विवासाः स्नाति यो द्विजः।
वृथा स्नानफलं तस्य निराशाः पितृदेवताः॥

---

(१) अस्मिन् ०। (३) ० नचोदके।
(२) ० मुत्तरीयवस्त्र ०।

इति च वाक्यं दृश्यते । अत्र सूत्रमात्रधारणे उभयाविरोध इति । नूतनश्चेदधौतवस्त्रम्,—"परिधास्ये यशो धास्ये दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि शतञ्च जीवामि शरदः सुवर्च्चा रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये" इति मन्त्रेण परिदध्यात् । जरामश्नुत इति जरदष्टि दीर्घजीवी । अस्मि इत्यत्र च्छान्दसमेत्वं । उत्तरवस्त्रञ्च,—यशसा मा द्यावा—पृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती । यशो भगश्च माऽविदद् यशो मा प्रतिपद्यतामिति,—

धात्रानुराधवसुपुष्यविशाखहस्ता-
चित्रोत्तराश्विपवनादितिरेवतीषु ।
जन्मर्च्चजीवबुधशुक्रदिनोत्सवादौ
धार्य्यं [1]नवाम्बरमधीश्वरविप्रतुष्ट्यौ ॥

"वस्त्रलाभो धनहानिर्वस्त्रदाहो [2]धनप्राप्तिर्मूषिकभयं मृत्युः पुत्राप्तिर्धनाप्तिर्विलोपो मृत्यु[3]र्नृभयं धनं कर्म्मसिद्धिः शुभं सुभोज्यं जनप्रियत्वं सुहृद्योगो वस्त्रक्षयो जलप्लुतो रोगो[4]मिष्टान्नं नयनामयो धान्यं विषभयं जलभयं [5]पुत्रलाभो रत्नलाभः" इत्यश्वि-न्यादिषु नववस्त्रभोगफलानि ।

अत्र [6]रजकान्नलिप्तवासःपरिधानसमाचारः "अभोज्यसूतिका-षण्ढ" इत्यादिना अभोज्यस्पर्शस्य स्नाननिमित्तत्वाभिधानाद् रजकान्नस्याभोज्यत्वाद् दुराचार एव । अथ,—

---

(१) ० नवांशुक ० ।
(२) ० धनाप्ति ० ।
(३) ० मृत्युर्भयं धनागमः ० ।
(४) मृष्टमन्नं ।
(५) सुतलाभः ।
(६) ० रजकान्नमण्डवासः ० ।

पलाण्डुलशुनस्पर्शे स्नात्वा नक्तं समाचरेत्।

इत्यादिभिरभोज्यविशेषाणामस्पृश्यत्वाभिधानात्

सामान्यविधिरस्पृष्टः संक्रियेत विशेषतः।

इति न्यायात् पलाण्ड्वादिपरमेव तत्राभोज्यपदम्। शूद्रान्नस्य पुनर्विशेषतोऽस्पृश्यत्ववचनाभावान्न वाचनिकमस्पृश्यत्वं किन्तु समाचारप्रमाणकमेव। समाचारश्च यथादर्शनमेव प्रमाणम्। [1]तत्र यदि वस्त्रलिप्तव्यतिरिक्तशूद्रान्नस्पर्शन एव साधूनां विगानं [2]वस्त्रलिप्तमण्डे त्वविगानं तदा अभोज्यस्यापि तस्य अलाव्वादिवन्नास्पृश्यता। अन्यथा पर्य्युषितस्वकीयभक्तादेरपि अभोज्यत्वादस्पृश्यत्वं स्यात्। अथ तत्र न स्वाभाविकमभक्ष्यत्वं किन्तु औपाधिकम्। एवं तर्हि अस्यापि शूद्रादिसम्बन्धोपाधिकमेवाभक्ष्यत्वं न स्वाभाविकमिति कथमस्पृश्यता स्यात्। किञ्चानौपाधिकाभक्ष्येष्वलावुशोभाञ्जनादिष्वस्पृश्यत्वसमाचार इति नाभोज्यमात्रस्यास्पृश्यतेति। तथापि मूत्रपुरीषलेपानन्नलेपानुच्छिष्टलेपान् रेतसश्च ये लेपास्तान् प्रक्षाल्य मृदाचाचम्य प्रयतो भवतीत्यापस्तम्बवचनात् स्वस्य ब्राह्मणस्यान्नलेपेऽप्यप्रायत्यं किमुत रजकान्नलेप इति।

वस्त्रस्य कोणेषु वसन्ति देवा नरास्त्वमीषान्तु दशान्तमध्ये।

शेषास्त्रयश्चात्र निशाचरांशास्तथैव शय्यासनपादुकेषु॥

रुग् राक्षसांशेष्वथवापि मृत्युः

पुंजन्म तेजश्च मनुष्यभागे।

(१) तत्र हि वस्त्रलिप्तमण्डव्यतिरिक्त०।

(२) वस्त्रमण्डे त्वविगानं ०।

भागेऽमराणामपि भोगवृद्धिः
प्रान्तेषु सर्व्वत्र वदन्त्यनिष्टम् ॥
लिप्ते मसीगोमयकर्द्दमाद्यै
श्छिन्ने प्रदग्धे स्फुटिते च विद्यात् ।
पुष्टं नवेऽल्पाल्पतरञ्च भुङ्क्ते
पापं शुभं चाधिकमुत्तरीये ॥

नववस्त्रे यथोक्तं स्यात् फलं जीर्णे तु नेष्यते ।
विलक्षणं त्यजेद् वस्त्रं कृत्वा देवद्विजार्चनम् ॥
जपहोमोपवासांश्च तथा नाप्नोति किल्बिषम् ॥

अन्यच्च पठन्ति,—

अग्निदग्धन्तु यद् वस्त्रं मूषिकेण [1]तु खादितम् ।
तद् वस्त्रं त्रिगुणीकृत्य पूर्व्वाग्रेण तु धारयेत् ॥
मध्यस्थाने भवेन्मृत्युरैन्द्रे ऐश्वर्य्यमेव च ।
आग्नेयेऽग्निभयं विन्द्यात् याम्ये बन्धुविनाशनम् ॥
नैर्ऋत्यां पुत्रलाभञ्च धनलाभञ्च वारुणे ।
वायव्ये रोगबाहुल्यं धनहानिर्द्धनाधिपे ॥

[2]ऐशान्ये सर्व्वकामाप्तिः—इति ।

[3]एवं वस्त्रं परिधाय मृद्भिरद्भिश्च जङ्घे पादौ हस्तौ च प्रक्षालयेत्। ततः प्रक्षालयेत् पादौ मृत्तोयेनेति ।

---

(१) ० च ० ।

(२) ऐशाने ० ।

(३) ततो मृद्भिरद्भि श्च ० ।

स्नात्वा संगृह्य वासोऽन्यज्जङ्घे संशोधयेन्मृदा ।
प्रक्षाल्योरू मृदद्भिश्च हस्तौ प्रक्षालयेत् तथा ॥

इति,—

इति वचनात् स्नानाङ्गमिदम् । तेन सर्व्वस्नानेषु भवति । तथाप्यपवित्रीकृते तु कौपीनच्युतवारिणेत्यनेन तत्प्ररोचनार्थेनाप्यप्रसिद्धं कौपीनवारिणोऽपवित्रत्वमुच्यते । तेनान्यत्रापि तद्योगे क्षालनं प्राप्तम् । अतएवावश्यकशौचा(१)नन्तरे परिहितवस्त्रे कौपीनवारियोगस्यावश्यकत्वात् वस्त्रपरिवर्त्तनसमाचारः । तत उष्णीषमपहृत्य कङ्कतादिना केशान् संस्कृत्य बद्ध्वा द्विराचामेत् । अत्र वारुणस्नाने रोगादिजीर्णानां निषेधवाक्यस्य दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेर्नानधिकारार्थत्वमिति । व्याधिवृद्धिभयादेतद् कुर्व्वतां येषाञ्च वृष्ट्यादिना कालाल्पत्वेन वा जलाद्यसम्भवाद् वारुणस्नानासम्भवस्तेषाञ्च तत् कार्य्यं मन्त्रस्नानादयो विहिताः । ते च रात्रौ लालास्वेदादिरूपलेपप्रायत्याभावे तन्मात्रं कुर्य्युः । अप्रायत्येत्वशिरस्काङ्गक्षालनमात्रं न मन्त्रस्नानानि ।

"अशिरस्कं भवेत् स्नान"मित्यत्रापि स्नानपदप्रयोगेण स्नानकार्य्यकारित्वसिद्धेः ।

एवम्,—

नाभेरधः प्रविश्याप्सु कटिं प्रक्षाल्य मृज्जलैः ।
जलार्द्र(२)कर्पटेनाङ्गशोधनं कापिलं स्मृतम् ।

इति वाक्यदर्शनादेवं वा कुर्य्यात् । तत्राप्यसामर्थ्ये आर्द्रेण

(१) ०न्तरोपहितवस्त्रे० । (२) ०कर्पटैर्नाङ्ग० ।

वाससा सर्व्वाङ्गप्रोञ्छनं कृत्वा पश्चान्मन्त्रस्नानादि कुर्य्युः। तत्र,— यत् अनवच्छिन्नचिन्मात्ररूपस्यानिराकारस्य, तत्राप्यसामर्थ्ये साकारस्य विष्णोश्चिन्तनं, मानसं स्नानम्। [1]अत्र सामर्थ्ये तदेवान्यतः प्रवरं कार्य्यम्। तत्रैवं पठन्ति,—

स्वस्थितं पुण्डरीकाक्षं मन्त्रमूर्त्तिं प्रभुं स्मरेत्।
तत्पादोदकजां धारां निपतन्तीं स्वमूर्द्धनि॥
चिन्तयेद् ब्रह्मरन्ध्रेण प्रविशन्तीं स्वकां तनुम्।
तथा संक्षालयेत् सर्व्वमन्तर्देहगतं मलम्।
तत्क्षणाद् विरजो मन्त्री जायते स्फटिकोपमः।
इदं स्नानवरं मन्त्रस्नानाच्छतगुणं स्मृतम्॥ इति।

चाण्डालादि[2]स्पर्शाप्रायत्ये तु समर्थस्य वारुणस्नानमेव। असमर्थस्तु अप्रायत्यनिवृत्त्यर्थमन्येन केनचित् तूष्णीमवगाह्य दशकृत्वःस्पृष्ट आचम्य प्रातःस्नानार्थं मन्त्रस्नानादेवं कुर्य्यात्।

आतुरं स्नानसम्प्राप्तं दशकृत्वो ह्यनातुरः।
स्नात्वा स्नात्वा स्पृशेत् [3]तन्तु ततः शुद्धेत् स आतुरः॥

इति आतुरस्नानम्। शुद्धेदिति वाक्यशेषादशुचिनिमित्तं तूष्णीमवगाहनम्। अत्र स्नात्वा स्नात्वा इति विहितं स्नानं प्रकाराकाङ्क्षमेकवाक्योपात्ततयाऽत्यन्तसन्निहितस्यैव प्रकारं [4]गृह्णाति। तस्य मानसस्नानसामर्थ्ये पुनस्तथैवामेध्यलेपव्यतिरिक्तसर्व्वप्रकाराप्रायत्यनिवृत्तिसिद्धेस्तन्मात्रकृते नान्यापेक्षा। मन्त्रस्नानञ्च प्रयतो

(१) तत्र। (३) ०च्चिपं०।
(२) ०स्पर्शजाप्रायत्ये०। (४) गृह्णातीति।

ऽभिषिक्तः प्रक्षालितपाणिपादोऽप आचम्य "अग्निश्च मा मन्यु-श्चे"ति सायमपः पीत्वा, "सूर्य्यश्च मा मन्युश्च, इति प्रातः सपवित्रेण पाणिना सुरभिमत्या, अब्लिं, गाभि, र्वारुणीभि, र्हिरण्यवर्णाभिः, पावमानीभि, र्व्याहृतिभिरन्यैश्च पवित्रैरात्मानं प्रोक्ष्य प्रयतो भवतीत्येतेन आचमनमव्भक्षणं मार्जनञ्चेति बौधा-यनेनोक्तम्। तत्र मार्जने—सुरभिमत्यादीनां तदुक्तानां "शन्न आप" इत्यादिभिर्याज्ञवल्क्योक्तानामदृष्टार्थत्वात् समुच्चयः। अत-एव कल्पतरौ,—एतच्च, अग्निश्च मा, इत्यादि "पवित्रै"रित्यन्तं, योगियाज्ञवल्कीयञ्च "शन्न आप" इत्यादि, प्रयतस्यैव स्नान-कर्म्माङ्गमिति समुच्चय उक्तस्तथापि स्मृतिशास्त्रे विकल्पस्त्विति न्यायादेकत्वान्यसमुच्चयस्य वैकल्पिकत्वादेकोक्तानामनुष्ठानेऽप्य-विरोधः। तेन पादौ प्रक्षाल्याचम्य प्रातः—"सूर्य्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद्दुरितं मयि इदमहमाप अमृतयोनौ सूर्य्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा" इत्यपः पीत्वा द्विराचम्य सुरभिमत्यादिभिरेव, वा "शन्न आपो धन्वन्याः समनः सन्तु नूप्याः शन्नः समुद्रिया आपः समनः सन्तु कूप्याः" इति, "द्रुपदादिव" इत्यृक्, "आपो हिष्ठा" इति ऋचक्, "अघमर्षणसूक्तं च" इत्येतैरेव मिलितैरेव वा मार्जनानि कुर्य्यात्। "सुरभिमती, दधिक्राव्ण" इत्यृक्, वारुण्यः वरुणदैवत ऋक्त्रयं, हिरण्यवर्णाश्चतस्र उक्ताः, "पावमान्यः पवमानः" इत्याद्यं सूक्तं तैत्तिरीयाणाम्। अस्माकं

पुनराद्यास्तु ऋचो नव। अत्र पवित्रैरित्यनेन "शन्न आपः, द्रुपदा, ऋतञ्च," इत्येतेषां ग्रहणमत्रैव [1]सर्व्वसङ्ग्रहात् नान्यो मिलितपक्षः पक्षद्वयमेव। एतद् बौधायनोक्तं [2]मन्त्रेण स्नानम्। सर्व्वकर्म्मणाञ्चारम्भ इत्यनेन यत् स्नातोऽधिकारी भवतीति तन्त्रेण सर्व्वदिनकृत्यार्थं प्रातःस्नानमुक्तम्। तदशक्तौ तदनुकल्परूपन्त्विदं न तथा, किन्तु प्रतिकर्म्मावर्त्तनीयमित्युक्तम्। प्राक् सन्ध्योपासनकालाच्चेति [3]पृथगभिधानात् कृतप्रातःस्नानेनापि सायंसन्ध्यारम्भे कार्य्यमिति। अथवा "शन्न आपः, द्रुपदा, आपो हिष्ठा" इति त्रिभिर्मन्त्रैर्मार्ज्जनत्रयं कृत्वा प्राणवायोः पूरणं यथाशक्तिधारणरेचनानि अघमर्षणसूक्तमभ्यसन् कुर्य्यादिति मात्रम्। तथा गङ्गातीरादिमृत्तिकालेपनं [4]भौमस्नानम्। तथा भस्मलेपनमाग्नेयम्। गोखुरोद्भूतरजोग्रहणं वायव्यम्। सातपवृष्ट्युदकग्रहणं दिव्यम्। अत्र "एतैस्तु मन्त्रतः स्नात्वा" इति सामान्योक्तमन्त्राः।

आग्नेयमग्निलिङ्गेन मन्त्रेण स्नानमाचरेत्।
वायव्यं वायुलिङ्गेन, दिव्यं सौरेण सर्व्वदा ॥

इति वाक्यदर्शनादेवं ग्राह्यम्। भौमस्नाने च मृदालम्भनमन्त्र एव लैङ्गे,—

अनेनैव वराहेण उद्धृतासि वरप्रदे।
कृष्णेनाक्लिष्टकार्य्येण शतहस्तेन विष्णुना ॥

(१) सर्व्वं गृहीतम्। (३) पृथग्विधानात् ०।
(२) मन्त्रस्नानम्। (४) भौमं स्नानम्।

धरणि त्वं महाभागे [1]भूमिस्त्वं धेनुरव्यये ।
लोकानां धरणि त्वं हि मृत्तिके हन पातकम् ॥
मनसा कर्म्मणा वाचा वरदे वारिजेक्षणे ।
त्वया हतेन पापेन जीवामस्त्वत्प्रसादतः ॥
वराहदंष्ट्राभिन्नाया धराया मृत्तिकां द्विजः ।
मन्त्रेणानेन यो बिभ्रत् मूर्ध्नि पापात् प्रमुच्यते ॥
आयुष्मान् [2]धनवान् धन्यः पुत्रपौत्रप्रतिष्ठितः ।
क्रमाद् भुवि दिवं प्राप्य कर्म्मान्ते मोदते सुरैः ॥

इति मृदालम्भनमन्त्रः। एतानि नित्यस्नानानुकल्पतया विहितानि। नान्यत्र। स्नानशब्दस्यात्र गौणत्वात्। अतश्चारब्धे कार्त्तिकमासादिस्नाने व्याध्यादिना असामर्थ्ये [3]धर्म्मप्रतिरूपेण पुत्रादिना धर्म्मक्रियारूपेण मूल्यदानपूर्ब्बकमन्येन वा कारयेत् नान्यथा तत्सिद्धिः। ततः,—

स्नातस्य वर्णकं हृद्यं नित्यं दद्याद् विशाम्पते ।

इति सामान्यतो विशेषतश्च ।

अशुचिर्वाप्यनाचारः पापं वा यदि चिन्तयेत् ।
[4]शुद्ध एव भवेन्नित्यमूर्द्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नरः ॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्राङ्कितो नित्यं विष्णुलोके महीयते ।
यच्छरीरं मनुष्याणामूर्द्ध्वपुण्ड्रविनाकृतम् ।
द्रष्टव्यं नैव यत्किञ्चित् श्मशानसदृशं हि तत् ॥

---

(१) धेनुस्त्वं भूमिरव्यये । (२) ० बलवान् ० । (३) धर्म्मप्रतिग्रहरूपेण ० । (४) शुचिरेव ० ।

इति वाक्यदर्शनात् यज्ञोपवीतवत् नित्यं धार्य्यम् । तथा समाचाराच्च तिलकानि ।

उत्तमो मध्यमो हीनश्चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलैः क्रमात् ।
[1]दण्डदीपाकृतं वापि [2]वेणुपत्राङ्कितं तथा ॥
पद्मस्य मुकुलाकारं कुमुदस्योत्पलस्य च ।
ललाटे दण्डवत् कुर्य्यात् हृदये कमलाकृतिम् ॥
वेणुपत्राकृतिं बाह्वोः कुर्य्यादन्यत्र दीपवत् ।

इत्याकाराणि ।

ललाटे केशवं विन्द्यात् नारायणमथोदरे ।
माधवं हृदये चैव गोविन्दं कण्ठकूपके ॥
उदरे दक्षिणे पार्श्वे विष्णवे नम उच्यते ।
तत्पार्श्वे बाहुमूले तु स्मरेद् वै मधुसूदनम् ॥
त्रिविक्रमं कण्ठपार्श्वे वामे कुक्षौ तु वामनम् ।
श्रीधरं बाहुके वामे हृषीकेशन्तु कण्ठके ॥
पृष्ठतः पद्मनाभन्तु दामोदरं ककुद्मनि ।
लक्ष्मीं वक्षस्थले देवीं वासुदेवञ्च मूर्द्धनि ॥
नामाणि द्वादशैतानि नमस्कारयुतानि च ।
प्रयुञ्जीत हरिं ध्यात्वा वासुदेवेति मूर्द्धनि ॥

इत्येवं [3]विहितस्थानमन्त्राणि । गङ्गातीरमृद्गोपीचन्दन-तुलसीकाष्ठचन्दनादीनामन्यतमेन,—

---

(१) वर्त्तिदीपा० ।
(२) वेणुपत्राकृतिं तथा ।
(३) विहितमन्त्राणि स्थानानि ।

[1]मुमुक्षुः सर्व्वदा कुर्य्यात् प्रदेशिन्या यथाक्रमम् ।
सर्व्वान् कामानभिलषन् सदानामिकया बुधः ॥

तथा,—

गङ्गातीरमृदा चैव स्नात्वा कुर्य्याल्ललामकम् ।
ललाटे वासुदेवाख्यं कण्ठे श्रीपुरुषोत्तमम् ॥
नाभौ नारायणं स्मृत्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ।

इति विहितं तिलकत्रयमेव वा कुर्य्यात् ।

चन्दनेन मृदा वापि कुर्य्यात् पञ्च ललामकम् ।
ललाटकण्ठहृद्बाह्वोः सर्व्व[2]कल्मषनाशनम् ॥
ललाटे वासुदेवाख्यं कण्ठे विष्णुमथाव्ययम् ।
प्रद्युम्नञ्चानिरुद्धञ्च बाह्वो हृदि तथाच्युतम् ॥

इत्यपि क्वचिदस्ति ।

अत्र हरेः पादाकृतिमात्मनो हिताय मध्येच्छिद्रमूर्द्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति स [3]सर्व्वस्याभयो भवति पुण्यवान् मुक्तिभाग् भवतीति श्रुतिरित्याहुः । तथा,—

पादाकृतिं हरेः पुण्ड्रं धारयेच्छिद्रसंयुतम् ।
स याति वैष्णवं स्थानं यज्ञैरपि सुदुर्लभम् ॥
नासिकामूलमारभ्य केशान्तं धारयेद् बुधः ।
मध्ये च्छिद्रं तत्र कृत्वा वैष्णवो विष्णुलोकभाक् ॥
मध्येच्छिद्रन्तु वै कुर्य्याद् वैष्णवस्तु विशेषतः ।

(१) मुमुक्षुस्तु सदा कुर्य्यात् ० । (२) किल्विष

(३) ० सर्व्वस्याश्रयो ० ।

इत्याद्युक्ताकारास्तु गोदोहनवत् फलविशेषार्था एव । दीप-शिखाद्याकारास्तु चमसवन्नित्याः । तत्रापि नासिकामूलमिति ललाटमात्रे सच्छिद्रपादाकारोऽन्यत्र दीपशिखाकार एव ।

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रस्य मध्ये तु दिव्यञ्चूर्णन्तु धारयेत् ।
श्रीकरं विजयं पुण्यं सर्व्वपापप्रणाशनम् ॥
विष्णुगात्रच्युतञ्चूर्णं धृतं पापविनाशनम् ।

तथा,—

सितेन भस्मना कुर्य्यात् त्रिसन्ध्यं यस्त्रिपुण्ड्रकम् ।
सर्व्वपापविनिर्मुक्तः शिवेन सह मोदते ॥
कृतं स्यादकृतं तेन दानमप्याकृतं भवेत् ।
अधीतमनधीतञ्च त्रिपुण्ड्रं यो न धारयेत् ॥

अत्र च नित्यतया पूर्व्वाह्णकाले विहितं निर्म्मलदर्पणतले मुखावलोकनं कुर्य्यात् दृष्टोपयोगात्,

दर्पणे मुखमालोक्य कुर्य्यात् तिलकधारणम् ।

इति वाक्यदर्शनाच्च । तच्च दन्तप्रक्षालनादीनि नित्यानीति गृह्यवचनात् । "रोचिष्णुरसि" इति मन्त्रेण । उदके न मुखं पश्येत् । अज्ञानाद्दर्शने,—"मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणः सुकृत्यमस्तु" इति जपेत् । बृहदारण्यके,—"तदभिमन्त्रयीत" इत्युक्तम् । तत्राभिमुख्येनोदकं पश्यन् मन्त्रं पठेत् । आत्मान-मित्यभिधानात् सर्व्वशरीरदर्शन एवेदमिति व्याख्यातम् ।

द्रव्यान्तरेण तिलकधारणेऽपि गोपीचन्दनं ललाटे प्रयत्नेन धार्य्यम् ।

यो मृत्तिकां द्वारवतीसमुद्भवां
करे समादाय ललाटपट्टके[1]।
करोति नित्यं तनुशुद्धिहेतोः
क्रियाफलं कोटिगुणं सदा भवेत्॥
क्रियाविहीनं यदि मन्त्रवर्जितं
श्रद्धाविहीनं यदि कालवर्जितम्।
कृत्वा ललाटे यदि गोपीचन्दनं
करोति तत् कर्म्म सदाक्षयं बुधः॥

इत्यादिवाक्यात्। एवम्,—

जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्द्ध्ना बिभर्त्ति यः।
बिभर्त्ति रूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम्॥
हरेः पादोदकं मूर्द्ध्नि तुलसी तच्छिरोद्भवा।
तन्मृदा रचितं पुण्ड्रं ललाटे सर्व्वसिद्धिदम्॥
तन्मूलमृत्तिकां यो वै धारयेन्मूर्द्ध्नि मस्तके।
तस्य तुष्टो वरान् कामान् स ददाति जनार्द्दनः॥

वैष्णवेन तु तुलसीकाष्ठसम्भूतचन्दनेन विलेपनं करिष्यामीति प्रतिज्ञातत्वात् तदपि धार्य्यम्। एवम्,—

चन्दनं धूपशेषञ्च सर्व्वपापापहारकः।

इति वचनाद् [2]विष्णुपयुक्तं चन्दनं तद्धूपोपयुक्ताग्निभस्म तच्च धार्य्यम्। यदि सौकर्य्यार्थमेतत् सर्व्वमेकीकृत्य तिलकादि कुर्य्यान्न कश्चिद् विरोधः। तन्त्रेण सर्व्वधारणफलानि तिलक-

(१) ० पट्टके। (२) ० विष्णूपयुक्तचन्दनं ०।

कार्य्यञ्च तदा स्यादेव । नह्यत्र "व्रीहिभिर्यजेत" इतिवत् द्वादश तिलकं प्रति साधननियमोऽस्ति । येन तत्र,—

नैव व्रीहिभिरिष्टं स्याद् यवैर्वापि यथाश्रुतैः ।

मिश्रैर्वा यजमानस्य—

इति दोषः स्यात् । किन्तु तन्त्रेण फलसिद्ध्यर्थमेवैषामेकेन कार्य्यम् । धारणानाञ्च भिन्नफलत्वान्न समुच्चयविरोधः । किञ्चात्र न व्रीह्यादिसाध्यपुरोडाशवत् तिलकं नाम द्रव्यान्तरं येन साधन-भेदात् साध्यभेदे तन्मिश्रयणे विरोधः स्यात् किन्तु तथा लेपन-मात्रं, मिश्रलेपनेऽप्येकैकलेपनं सिद्ध्यत्येव इति ।

नारायणायुधैर्नित्यं चिह्नितो यस्य विग्रहः ।
पापकोटिप्रयुक्तस्य तस्य किं कुरुते यमः ॥
श्रीदमष्टाक्षरा मुद्रा यस्य धातुमयी करे ।
शङ्खचक्रादिभिर्युक्तः पूज्यते सोऽसुरासुरैः ॥
दक्षिणे तु करे विष्णोर्बिभृयाद् वै सुदर्शनम् ।
सव्ये तु शङ्खं बिभृयादेवं ब्रह्मविदो विदुः ॥ इति ।
धारयेद् विष्णुभक्तस्तु चक्रं बाहौ तु दक्षिणे ।
वामे शङ्खं च राजीवमिति ब्रह्मविदो विदुः ॥
शङ्खोपरि कृते पद्मे प्रत्यहं दक्षिणे करे ।
वामे गदाधरश्चक्री वासुदेवः स्वयं भवेत् ॥

इति वचनादुभयतोभयधारणम् ।

धात्रीमाला हरेः शङ्खपद्मे कौमोदकी तथा ।
रथाङ्गचिह्नितो देहो दृश्यते स जनार्द्दनः ॥

नारायणायुधैर्युक्तं कृत्वात्मानं कलौ युगे।
कुरुते पुण्यकर्म्माणि मेरुतुल्यानि तानि तु॥
सर्व्वाङ्गं चिह्नितं यस्य नारायणकरायुधैः।
वैष्णवन्तु कृतं तस्य पापं न प्रविशेत् हृदि॥
स्वदेहे यो लिखेन्मूर्त्तिं मत्स्यकूर्म्मादिकीं मम।
देहे तस्य प्रविष्टोऽहं शुद्धिस्तस्य तु सर्व्वदा॥

इत्यादिवाक्यविहितं शङ्खादिचिह्नधारणञ्च तिलकद्रव्येण कर्त्तव्यम्। तत्रापि,—

कृष्णायुधाङ्कितो देहो गोपीचन्दनमृत्स्नया।
प्रयागादीषु तीर्थेषु स गत्वा किं करिष्यति॥

इति वचनात् गोपीचन्दनमेव मुख्यम्। तेन यत् कैश्चित्,—

शङ्खं चक्रञ्च यः कुर्य्यान्मृदा कार्ष्णायसेन च।
स शूद्रवद् बहिष्कार्य्यः सर्व्वस्माद् द्विजकर्म्मणः॥

इत्युक्तम्। तस्य प्रामाण्येऽपि विहितगोपीचन्दनवत् तुलसीमूलमृदापि शङ्खचक्रधारणं कार्य्यम्।

विलिखेद्देवचिह्नानि तुलसीगोपिकामृदा।

इति उपरितनवाक्यात्,—

उपवीतादिवत् धार्य्याः शङ्खचक्रादयः सदा।
ब्राह्मणस्य विशेषेण वैष्णवस्य च यद्भवेत्॥

यच्च,—

एकजातिरयं धर्म्मो न द्विजातिः कथञ्चन।

इति पठन्ति । तत्—एवमादिवाक्यविरोधादेकजातेः शूद्रस्याग्रमेव धर्म्मो न वेदमन्त्रसाध्यविभूतिग्रहणमपीत्येतत्परमेव ।

स शूद्रवद्वहिष्कार्य्यः सर्व्वस्माद् द्विजकर्म्मणः ।

इति, तदपि—शङ्खादिधारणमात्रेण कृतकृत्यतां मन्यमानो नान्यं धर्म्ममाचरतीति तत्परम् ।

न लिखेद्देवचिह्नानि द्विजो गात्रेषु सर्व्वतः ।
विलिखेद्देवचिह्नानि तुलसीगोपिकामृदा ॥

इति विहितगोपीचन्दनतुलसीमूलमृद्व्यतिरिक्तपरमेव स्यात् । तथा,—

कृत्वा काष्ठमयं विम्बं कृष्णशस्त्रैस्तु चिह्नितम् ।
यश्चाङ्कयति चात्मानं तत्समो नास्ति वैष्णवः ॥

इति वचनं तत् काष्ठविम्बमेव मुख्यं साधनम् । तत्र शङ्खचक्रचिह्नग्रहणमन्त्रं पठन्ति,—

पाञ्चजन्य निजध्वानध्वस्तपातकसञ्चय ।
त्राहि मां पापिनं घोरं संसारार्णवपातनम् ॥
सुदर्शन निजज्योतिर्ध्वस्तपातकसञ्चय ।
अज्ञानान्धस्य मे नित्यं विष्णोर्मार्गं प्रदर्शय ॥ इति ।

क्वचित् शङ्खादिचिह्नधारणनिषेधो दृश्यते, स पुनरेवं, तद्धारणस्य विहितत्वात् विकल्पपर एव । तन्निन्दावाक्यानि च उदितहोमनिन्दावत् विहितपक्षान्तरप्ररोचनाद् यागव्यवस्थापराणि । अत्रैवं व्यवस्था,—अस्ति तावत् क्वचित् शिवैकभक्तिपरं वाक्यं क्वचित् विष्णुभक्तिपरं क्वचिदुभयपरम् । तत्र द्वयाणां

प्रामाण्याविशेषात् तथापि श्रेयः प्राप्तिः। तत्र ये केवलं शैवास्तेषां विभूतित्रिपुण्ड्ररुद्राक्षादिधारणमेव धर्म्मः। ये केवलं वैष्णवास्तेषां गोपी[1]चन्दनोर्द्ध्वपुण्ड्रशङ्खादिचिह्नतुलसीकाष्ठमालादिधारणमेव। ये तूभयभक्तास्तेषामुभयधारणमेव धर्म्म इति।

"अग्ने अच्छावदेहन" इति गोरोचनामष्टसहस्राभिमन्त्रितां ललाटे तिलकं कुर्य्यात्। स सर्व्वजनप्रियो भवति। अञ्जनं पूर्व्वाह्णे विहितम्। तेन "अक्ष्णोश्चक्षुष्येण त्वत्स्य" इति "चक्षुर्मे देहि" इत्यन्तेन मन्त्रेण "सव्यं हि मनुष्याः प्रथममाञ्जन्" इत्यर्थवाददर्शनात् सव्यपूर्व्वकमञ्जनं कुर्य्यात्। तत्र,

तिमिरघ्नं मधूद्दिष्टं रक्तचन्दनमञ्जनात्।
छागमूत्रेण सम्पिष्टं भद्रमुस्ताजलेन च॥
चिरकालोद्भवं पुष्पं रक्तत्वञ्च विहन्यते।
सूतकं गन्धकोपेतं गाङ्गेरीरसमूर्च्छितम्॥
अञ्जनं दृष्टिदं नृणां नेत्रामयविनाशनम्।
एकगुणा पिप्पली द्विगुणा हरीतकी सलिलपिष्टा।
वर्त्तिरियं नयनसुखा तिमिरामयपटल—हरा॥
पुनर्णवा नेत्ररुजापहारिणी
घृतेन पुष्पं मधुनाश्रुपातम्।
क्षीरेण कण्डुं तिमिरं जलेन
रात्र्यन्धदोषं सह काञ्जिकेन॥

तथा,

(१) ० चन्दनाद्दूर्द्ध्व ०।

अशीतिस्तिलपुष्पाणि षष्टि पिप्पलितण्डुलाः ।
जातिपुष्पाणि पञ्चाशन्मरीचानि च षोड़श ॥

एषा [१]कुसुमिका वर्त्तिर्गतं चक्षुर्निवर्त्तयेत् ।

तथा,—

हरीतकी वचा कुष्ठं पिप्पली मरिचानि च ।
विभीतकस्य मज्जा च शङ्खनाभिर्मनःशिला ॥
सर्व्वमेतत् समं कृत्वा छागीक्षीरेण पेषयेत् ।
नाशयेत् तिमिरं कण्डुं पटलान्यर्वुदानि च ॥
अधिकानि च मांसानि यच्च रात्रौ न दृश्यते ।
अपि द्विवार्षिकं पुष्पं मासेनैकेन नाशयेत् ॥

तथा,—

सैन्धवं पिप्पलीनाञ्च तण्डुलाश्च मनःशिलाः ।
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं विषमज्वरनाशनम् ॥ इति

तथा,—

निर्म्माल्यं शिरसा धार्य्यं त्वदीयं सादरं मया ।

इति वैष्णवेन सङ्कल्पितत्वात्—

विष्णुर्मूर्द्ध्नि स्थितं पुष्पं शिरसा यो वहेन्नरः ।
अपर्य्युषितपापः स्यात् यावद् युगचतुष्टयम् ॥
यस्य नाभिस्थितं पर्णं मुखे शिरसि कर्णयोः ।
तुलसीसम्भवं नित्यं तीर्थैस्तस्य मखैश्च किम् ॥

---

(१) ० कुमारिका ० ।

विष्णोः शिरःपरिभ्रष्टां भक्त्या यस्तुलसीं वहेत्।
सिद्ध्यन्ति सर्व्वकार्य्याणि मनसा चिन्तितान्यपि॥
यः कश्चिद् वैष्णवो लोके मिथ्याचारोऽप्यनाश्रमी।
पुनाति सकलान् लोकान् शिरसा तुलसीं वहन्॥
अहोरात्रं मूर्द्ध्नि यस्य पत्रं तुलसिसम्भवम्।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
धारिता भगवद्भक्तैस्तुलसी मूर्द्ध्नि सर्व्वदा।
हरते सर्व्वदुःखानि पापानीव सुरापगाः॥
यः कृत्वा तुलसीपत्रं शिरसा विष्णुतत्परः।
करोति [1]सर्व्वकार्य्याणि फलमाप्नोति चाव्ययम्॥
विष्णोरङ्गात् परिभ्रष्टं [2]मालतीकुसुमं खग।
यो धारयति शिरसा सर्व्वधर्म्मफलं लभेत्॥

इत्यादिफलदर्शनाच्च निर्म्माल्यं नित्यं धार्य्यम्। तत्र,—

द्रोणाब्जपुष्पं श्रीवृक्षपत्रं मूर्द्ध्नि न धारयेत्।
न जिघ्रेन्नाक्रमे[3]दब्जं तद्बीजं न च भक्षयेत्॥
अहोरात्रोषितां मालां शालग्रामशिलार्पिताम्।
न जहाति धृतां कण्ठे [4]करुणान्तर्दलामपि॥
दशाश्वमेधजं पुण्यं पुष्पे पुष्पे प्रकीर्त्तितम्।

तथा,—

(१) ० धर्म्म ०।
(२) तुलसी ०।
(३) ० द्बीजं तद्बीजं ०।
(४) ० करेणा ०।

तुलसीदलमालान्तु कृष्णोत्तीर्णान्तु यो वहेत्।
पत्रे पत्रेऽश्वमेधानां दशानां लभते फलम्॥
निर्म्माल्यतुलसीपत्रै र्योऽङ्गानि परिमार्जयेत्।
तस्य पापानि नश्यन्ति व्याधयो यान्ति [1]च क्षयम्॥
वैष्णवप्रतिमालिप्तं गन्धं [2]पुष्पमथोदकम्।
प्रमादादपि संस्पृश्य मर्त्त्यो याति परां गतिम्॥

तथा,—

तुलसीकाष्ठसम्भूतां यो मालां वहते नरः।
सदा [3]प्रीतमना राजन् विष्णुर्द्दैवकिनन्दनः॥
निवेद्य केशवे मालां तुलसीकाष्ठसम्भवाम्।
वहते यो नरो भक्त्या तस्य वै नास्ति पातकम्॥
तुलसीकाष्ठमालाया भूषितः पुण्यमाचरन्।
पितॄणां देवतानाञ्च कृतं कोटिगुणं भवेत्॥
तुलसीकाष्ठमालान्तु कण्ठे लग्नां वहेत्तु यः।
अशुचिर्वाप्यनाचारो मामेवैति न संशयः॥
तुलसीकाष्ठसम्भूतं शिरसो बाहुभूषणम्।
वहते यस्तु मर्त्त्यस्य देहे तस्य सदा हरिः॥

तत्र,—

धारयन्ति न ये मालां तुलसीकाष्ठसम्भवाम्।
नरकान्न निवर्त्तन्ते दग्धाः कोपाग्निना हरेः॥

(१) ० संक्षयम्। (२) पुष्पं तथोदकम्।
(३) ० प्रीतमनास्तस्य कृष्णो देवकि ०।

इति दोषदर्शनात्। तथा,—

तुलसीकाष्ठसम्भूता माला धार्य्या सदा हरेः।

इति वैष्णवसङ्कल्पाच्च नित्यं धार्य्या।

पद्माक्षं धारयेन्नित्यं विशेषेण जपादिषु।
अश्वमेधफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते॥

ये शङ्खचक्रपरिचिह्नितबाहुमूलाः
कण्ठावलम्बिसरसीरुहबीजमालाः।
ये वा ललाटफलकोल्लसदूर्द्ध्वपुण्ड्रा-
स्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥

तथा,—

धात्रीफलकृतां मालां कण्ठे वहति मानवः।
सोऽश्वमेधायुतं पुण्यं यामे यामे लभेन्नरः॥

तथा,—

पुण्यानां परमं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम्।
रुद्राक्षधारणं श्रेष्ठमिह लोके परत्र च॥
मूर्खो वाप्यन्त्यजो वापि युक्तो वा सर्व्वपातकैः।
रुद्राक्षं धारयेद् यस्तु स रुद्रो नात्र संशयः॥
रुद्राक्षं धारयेद् यस्तु सन्ध्यादिषु च कर्म्मसु।
अरुद्राक्षधरो भूत्वा यद्यत् कर्म्म च वैदिकम्।
करोति जपहोमादि तत् सर्व्वं निष्फलं भवेत्॥
हस्ते बाहौ तथा कण्ठे मूर्द्ध्नि रुद्राक्षधारणात्।
अवध्यः सर्व्वभूतानां रुद्रवद् विहरेन्नरः॥

सर्व्वपापविनिर्म्मुक्तः स गच्छति परां गतिम् ॥
यज्ञोपवीतस्थाने च विप्राणां धारणं मतम् ।
[1]शतकोटिगुणं पुण्यं धारणाल्लभते जपे ॥
चतुर्द्दशमुखं यावद् रुद्राक्षाः परिकीर्त्तिताः ।

तथा,—

यावत् षोड़शवक्त्रान्तमेकवक्त्रादि ते स्थिताः ।
दुर्लभस्त्वेकवक्त्रस्तु तथैकादशषोड़श ॥
त्रिचतुःपञ्चमुखाः सुलभाः शेषा मध्यमाः ।
एकवक्त्रः शिवः साक्षाद् ब्रह्महत्यां व्यपोहति ।
भक्तारन्धनकाले तु स्थाल्यूर्द्ध्वं स्थाप्यते यदि ।
अग्निस्तम्भस्तदा नूनमेकवक्त्रस्य लक्षणम् ॥
स्रोतसि प्रतिस्रोतश्च स याति च मुहुर्मुहुः ।
स च यावत् शरीरस्थस्तावन्मृत्यु र्न बाधते ।
द्विवक्त्रो गोबधं त्रिवक्त्रः स्त्रीबधं चतुर्वक्त्रो नरबधम् ।
[2]अगम्यागमनाच्चैव अभक्ष्यस्य च भक्षणात् ।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यः पञ्चवक्त्रस्य धारणात् ॥
षड्वक्त्रः कार्त्तिकेयस्तु धारणाद्दक्षिणे भुजे ।
ब्रह्महत्यादिभिः पापैर्मुच्यते नात्र संशयः ॥
सप्तवक्त्रमैश्वर्य्यदं सर्व्वपातकनाशनम् ।
जीवेद् वर्षशतं साग्रमष्टवक्त्रस्य धारणात् ॥

---

(१) दश० । (२) अगम्यागमनञ्चैव अभक्ष्यस्य च भक्षणम् ।

नश्यन्ति सर्व्वपापानि न विघ्नः कुत्रचिद् भवेत्।
नववक्त्रं वामहस्ते [1]धारयन् मुक्तिमाप्नुयात्॥
लक्षकोटिसहस्रन्तु ब्रह्महत्यां करोति यः।
तत् सर्व्वं दहते शीघ्रं दशवक्त्रस्य धारणात्॥

सर्व्वे दुष्टाश्च नश्यन्ति शिखायामेकादशवक्त्रस्य धारणात्। अश्वमेधसहस्रादि फलम्।

तथा द्वादशवक्त्रस्य कण्ठदेशे च धारणात्।
नचैवाग्निभयं तस्य न च व्याधिः प्रवर्त्तते॥
अर्थलाभः सुखञ्चैव ईश्वरो न दरिद्रता।

हिंसापापक्षयगोमेधफलं सौभाग्यानि। त्रयोदशवक्त्रस्य कण्ठधारणात् सर्व्वकामावाप्तिः सर्व्वपापक्षयश्च।

वक्त्रं चतुर्द्दशं यत्तु पुण्येन प्राप्यते यदि।
धारयेत् सततं मूर्ध्नि सर्व्वपापप्रणाशनम्॥
पञ्चामृतं पञ्चगव्यं मुद्रा घोरस्तथा मनुः।
एतैः प्रतिष्ठा रुद्राक्षे धारयेत्तु जपेत्तु तान्॥

एकवक्त्रादि चतुर्द्दशवक्त्रान्तेषु,—ओं क्रीं क्रीं हुं लुं कं मां भां चौं नं मां तं मां डूं ओं क्रीं ओं वीं हं ओं हं। ओं क्रीं। ओं क्रुं। क्रुं क्रीं। ऋं ऋं। ओं क्रुं। ओं क्ष्मां। ओं स्वौं। ओं क्रीं। वा —हुं सः नमः। ओं ऐं ओं ओं ओं क्रुं ओं क्रीं ओं ऋं ओं वं ओं हुं ओं स्वं ओं यं ओं क्षं ओं ओं ओं चं। इति मन्त्रानुक्त्वा प्रत्येकं अष्टोत्तरशतं तदर्द्धं वा जप्त्वा धारयेदित्युक्तम्।

---

[1] ० धारणान्मुक्तिदं स्मृतम्।

अत,—

अमन्त्रैर्धारणादेषां गुणा एते प्रकीर्त्तिताः ।
समन्त्रं धारयेद् यस्तु फलं वक्तुं न शक्यते ॥

इति वचनादमन्त्रं धारणमपि प्राप्तम् । तेन,—

विना मन्त्रेण यो धत्ते स याति नरकं ध्रुवम् ।

[1]इत्येतन्नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुमिति न्यायात् समन्त्रक-प्ररोचना[2]मात्रार्थम् ।

तथा,—

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशति द्वे
षट् षट् कर्णोपकण्ठे करयुगलगतान् द्वादश द्वादशैव ।
बाह्वो रिन्दोः कलाभिः पृथगभिगदिता ह्येकमेकं शिखायां
वक्षस्यष्टाधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः ॥

तथा,—

मूलं धार्य्यं त्रिशूल्याः सवितरि विगुणे चोरिकामूलमिन्दौ
जिह्वाह्वे भूमिपुत्रे रजनीकरसुते वृद्धदारस्य मूलम् ।
भार्ग्यां जीवेऽथ शुक्रे भवति शुभकरं सिंहपुच्छस्य मूलं
वाट्यालं चार्कपुत्रे तमसि मलयजं केतुदोषेऽश्वकन्दम् ॥

सूर्य्यादिदोषशान्त्यै धार्य्याणि भुजे ताम्रशङ्खौ च ।
विद्रुमकाञ्चनमुक्तारजतत्रपुलोहराजपट्टानि ॥
मूलं जयन्त्याः शिरसा धृतं सर्व्वज्वरापहम् ।
निर्गुण्ड्याः सहदेव्याश्च कटौ बद्धं शिफाद्वयम् ।

(१) इति तत् ०। (२) ० मात्रकम् ।

प्रातरादित्यवारे च सर्व्वज्वरविनाशकृत्।
हस्ते बद्धा रवौ नित्यज्वरं हन्तीषुपुङ्खिका।
कन्याकर्त्तितसूत्रेण बद्धापामार्गमूलिका।
ऐकाहिकज्वरं हन्ति शिखायामतिवेगतः॥
नखेनोत्पाटिता देवीमूलिका कर्णबन्धनात्।
ज्वरं चातुर्थिकं हन्ति भानुवारे न संशयः॥
विवस्त्रोत्पाटिता देवीमूलिका कर्णबन्धनात्।
इन्द्राक्षीमूलिका शीर्षे चतुर्थज्वरनाशिनी॥
काकजङ्घाजटा निद्रां कुरुते मस्तके स्थिता।

---

स्नातकमात्रेण नित्यं यज्ञोपवीतद्वयं शिरो दक्षिणबाहुञ्चोद्धृत्य वामस्कन्धे धार्य्यम्। तत्र,—

ऊर्द्ध्वन्तु त्रिवृतं कार्य्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतञ्चोपवीतं स्यात् त्रिवृता ग्रन्थिना युतम्॥
पृष्ठदेशे च नाभ्याञ्च धृतं यद् विन्दते कटिम्।
यज्ञोपवीतं तज्ज्ञेयं नातिलम्बं नचोच्छ्रितम्॥
स्तनादूर्द्ध्वमधोनाभेर्न कर्त्तव्यं [1]कदाचन।

इति लक्षितम्। अस्य [2]ग्रहणे मन्त्रः,—"यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वोपवीतेनोपलव्ध्यामि"[3] इति, "यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं

---

(१) ० कथञ्चन। (२) ग्रहणमन्त्रः।

(३) ० नोपह्यामि।

बृहस्पतेर्यत् सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः” इति ब्रह्मोपनिषदाम्नातो मन्त्रश्च । तत्र,—

सेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥

तथा मेखलादण्डाजिनयज्ञोपवीतावपातनेषु त्रय्या हुत्वा यथार्थमुपेयात् इति ब्रह्मचारिणं प्रत्युक्तमपि इतरेषाञ्चैतदविरोधादिति वचनादन्यैरपि कर्त्तव्यम् । तत्र अवपातनं पादमार्गेण निःसारणम् । त्रयी च “तुभ्यमङ्गिरः,” “पुनर्मनः,” “अग्ने व्रतपा” इति ऋक् त्रयं तच्च पूर्व्वोक्तम् ।

ब्रह्मसूत्रं विना भुंक्ते विण्मूत्रं कुरुते तथा ।
गायत्र्यष्टसहस्रेण प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥

इति पठन्ति ।

एवं सौवर्णे कुण्डले—“अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं मे भूयात्” इति दक्षिणकर्णे । ततोऽनेनैव मन्त्रेण वामकर्णे । दक्षिणानामिकायां सौवर्णमुद्रिकां धारयेत् । तत्र,—न सुवर्णमनग्रं धारयेदित्यनग्रपर्य्युदासादग्रमेव सुवर्णमङ्गम् । अनग्रधारणेत्वङ्गवैगुण्यमात्रं न तु दोषः । दक्षिणानामिकाङ्गुलिकाद्वयव्यतिरिक्तकायवर्ज्यं सुवर्णधारणं कुर्य्यादितिनिन्दाकल्पितवाक्येन एतद्व्यतिरिक्तस्थानेषु सुवर्णधारणं न विहितं नापि सर्व्वदा प्रतिषिद्धं केवलं कथञ्चित् पापकर्म्माचरणप्राप्तौ तत्काले प्रतिषिद्धम् ।

कायस्थेन च हेम्ना तु कर्म्म यत् कुत्सितं नरः।
आचरेत् तत्फलं तस्य वज्रलिप्तं भविष्यति ॥

इति निन्दाकल्पितनिषेधस्य विहितगोचरत्वासम्भवादनामिकाङ्गुलिकायान्त्वित्यस्य पर्य्युदासस्य विहितोपलक्षणपरत्वात्। न वज्रलेपवचनात् पापस्यानाशः, उत्पत्तिमतोऽनाशायोगात्। वज्रलेपपदस्यातिशयमात्रपरत्वादिति कल्पतरौ तथाचरणे पापाधिक्यं [1]भवतीति व्याख्यातम्। तत्र,—रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादगतं तत् पापकर्म्म फलातिशयस्यैवानिष्टस्य कल्पत्वात् कथञ्चित् पापाचरणे तद्विहितप्रायश्चित्तमेव द्विगुणं त्रिगुणं वा कर्त्तव्यम्। यदा बध्नं दाक्षायणमिति हिरण्यं सहस्राभिमन्त्रितं कृत्वा दक्षिणहस्ते बध्नीयात्। पापचक्षुर्व्यपोहति, राजा न किञ्चिद्-विचारयति, प्रियदर्शनो भवति।

तथा—

माणिक्यं मौक्तिकं चारु विद्रुमं गारुडं पुनः।
पुष्परागं [2]लसद्वज्रं नीलं गोमेदकं शुभम् ॥
वैदुर्य्यं नवरत्नानि मुद्रां तैः कारयेत् शुभाम्।
यो मुद्रां धारयेदेनां तस्य स्युर्वशगा ग्रहाः ॥
सौभाग्यं वर्द्धते तस्य नश्यन्ति सकलापदः।
उपर्य्युपरि वर्द्धन्ते धनरत्नानि सम्पदः ॥

पुष्यार्कादितिपित्रमित्रशशभृद्वित्तध्रुवत्वष्टृषु
मुक्तादन्तसुवर्णविद्रुममणीन् दध्याद् विबुद्धे हरौ।

(१) भवतीत्युक्तम्। (२) लसद्वज्रं।

पुष्टेज्ये समये शुभे भुवसुराचार्य्योऽदितीशेऽङ्गना

नो रत्नं बिभृयात् प्रवालकमणी शङ्कं हिता स्वामिने ॥

तथा —

यज्ञोपवीतं वेदश्च शुभे रौक्मे च कुण्डले ।

इति वेदशब्दवाच्यो दर्भवटुश्च नित्यं धार्य्यः । स च ग्रन्थियुक्तं पवित्रमेव । तत्र विशेषमाह,—

सन्त्यज्य वैष्टरं मार्गं ब्रह्ममार्गविनिर्गतम् ।

सकृत् प्रदक्षिणीकृत्य पवित्रमभिधीयते ॥

इति ।

दक्षावृत्तो भवेद् ब्रह्मा सव्यावृत्तस्तु विष्टरः ।

इत्युक्तौ तन्मार्गगौ सकृदिति च ।

ब्रह्मयज्ञे जपे होमे ब्रह्मग्रन्थिर्विधीयते ।

इति वचनात् द्विवेष्टितग्रन्थौ ब्रह्मग्रन्थिपदप्रसिद्धेरेतद्ग्रन्थि-व्यतिरिक्तविषयम् ।

सव्यापसव्यौ कर्त्तव्यौ सपवित्रौ करौ द्विजैः ।

इति ।

उभाभ्यामेव पाणिभ्यां विप्रै र्दर्भपवित्रकौ ।

धारणीयौ प्रयत्नेन ब्रह्मग्रन्थिसमन्वितौ ॥

इति वाक्यदर्शनादविरोधाज्जस्तद्द्वयेऽपि धार्य्यः । तत्र हस्त-द्वयविधिपरे प्राप्ते कर्म्मणि अनेकगुणविधानायोगाद् ब्रह्मग्रन्थे-र्ब्रह्मयज्ञादित्रयप्राप्तस्यानुवादः । पवित्रञ्च अनन्तर्गर्भेणं साग्रं प्रादेशमात्रकुशदलद्वयम् ।

यत्तु,—

चतुर्भिर्दर्भपिञ्जलैर्ब्राह्मणस्य पवित्रकम् ।

इति, तदनन्तर्गर्भणमित्यादिवाक्ये "पवित्रं यत्र कुत्रचित्" इति सर्व्वार्थत्वाभिधानादनादेयम् । यतस्तत्प्रामाण्येऽपि विकल्प एव स्यात् । उक्तञ्चान्यत्र,—

पवित्रन्तु द्विजैः कुर्य्यात् कुशपत्रद्वयेन वै ।
पत्रत्रयेण वा कार्य्यं नैकपत्रेण कर्हिचित् ॥

अत्र च,—

अग्रपर्व्वस्थिते दर्भे तपःसिद्धिः सदैव हि ।
मध्ये चैव प्रजाकामो मूले सर्व्वार्थसाधकः ।

इति स्मरन्ति । तेन कामनाविशेषे स्थानविशेषनियमः । तदभावे—

अनामिकायाः प्रथमं पर्व्व स्वर्णेन पूरयेत् ।
तृतीयं दर्भसंयुक्तं कार्य्यं विप्रेण नित्यशः ॥

इत्यविरोधाद् ग्राह्यम् । अत्र चैवं,—

कुशहस्तः सदा तिष्ठेद् यो विप्रो दम्भवर्जितः ।
स निर्दहति पापानि तूलराशिमिवानलः ॥

इति वाक्यदर्शनाच्च पुरुषार्थतया प्राप्तस्य नित्यधार्य्यस्य दीक्षितदानादिनिषेधवत्—

ग्रन्थिर्यस्य पवित्रस्य न तेनाचमनं चरेत् ।

इत्यनेन कर्म्माङ्गनिषेधः । अत्रापि जीर्णमलवद्वासोनिषेधवद् विशेषणमात्रोपसंक्रमाद् ग्रन्थिरहितपवित्रधारणमनिषिद्धम् ।

अथवा,—

न भुञ्जीयान्नचाचामेद् ब्रह्मग्रन्थौ करे स्थिते।

इति वाक्यदर्शनात् तद्‌ग्रन्थिपदं ब्रह्मग्रन्थिपरम्।

तथाचाहुः,—

ब्रह्मग्रन्थिं विना ग्रन्थिदर्भैराचामयेत्तु यः।
सोमपानफलं तस्य भुक्तौ यज्ञफलं लभेत्॥

इति।

भोजने वर्त्तुलं प्रोक्तं तथैवाचमने स्मृतम्।

इति च। एवमुभयथापि आचमने न पवित्रनिषेधः। अतएव पठन्ति,—

कुशं त्यक्त्वा तु यो मोहादाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत्।
यद्‌यत् करोति कर्म्माणि तत् सर्व्वं निष्फलं भवेत्॥

यत्तु,—

सव्ये पाणौ कुशान् कृत्वा कुर्य्यादाचमनक्रियाम्।

इति। तत्र सव्येऽपीत्यपिशब्दोऽध्याहार्य्यः। तेन तस्यैव विवरणम्—

सव्यः सोपग्रहः कार्य्यो दक्षिणः स पवित्रकः।

इति। ततश्च जपादौ सव्यापसव्याविति वाक्यबलात् पवित्रमेव सव्ये धार्य्यम्। सन्ध्यायां पुनः कुशा एव धार्य्या इति सिद्ध्यति। केचित् पुन"र्मध्ये पाणौ कुशान् कृत्वा" इति पठन्ति। तथा पाठे मध्यमाङ्गुलिद्वये कुशद्वयधारणसमाचारः सम्यग् युज्यते तथैव पाणिमध्यत्वसिद्धेः। तथा पाठाभावेऽप्यनामिका-

धारणवाक्यस्याभियुक्तानादरादङ्गुलिद्वय-धारणेऽप्यनामिका-धारणसिद्धेश्च समाचाराविरोध एव। तत्र [1]यदा,—

वामहस्ते स्थिते दर्भे दक्षिणेनोदकं पिबेत्।
रक्तपानसमं ज्ञेयं प्रायश्चित्तीयते द्विजः॥

इति व्यासवाक्यम्। तत्तु,—

उभयत्र स्थिते दर्भे समाचामति यो द्विजः।
सोमपानफलं तस्य भुंक्ते यज्ञफलं तथा॥

इति तदीयवचनादेव वामहस्तमात्रस्थितनिषेधपरम्।

अत्र,—

दर्भाः पवित्रमित्युक्तमतः सन्ध्यादिकर्म्मसु।

इति वचनात्—

हरिता यज्ञिया दर्भाः पीतकाः पाकयज्ञियाः।
समूलाः पितृदैवत्याः कल्मषा वैश्वदेविकाः॥
ह्रस्वाः प्रचरणीयाः स्युः कुशा दीर्घाश्च वर्हिषः।

इत्युक्तवर्णादिनियमाभावः।

चितौ पथि यज्ञभूमौ स्थिता, आस्तरणासनपिण्डपितृतर्पणे च, ये ये वा अमेध्याशुचिलिप्ताः, ये च मूत्रोत्सृष्टोद्धृता दर्भास्ते त्याज्याः।

तत्र,—

नीवीमध्ये च ये दर्भा यज्ञसूत्रे च ये स्थिताः।
पवित्रांस्तान् विजानीयात्————॥

(१) यः।

अन्यत्र,—

वल्मीकोदकच्छायासु भूमिदग्धाश्च ये कुशाः ।
शूद्रोत्पाटितगोच्छिष्टा आप्लुताश्छेदिता नखैः ॥
ब्रह्मयज्ञे च ये दर्भा ये दर्भाः पितृकर्म्मणि ।

तेऽपि त्याज्या उक्ताः । प्रामाण्यसन्देहेऽपि [1]परिहारो युक्तः ।

मासे नभस्यमावास्या तस्यां दर्भोच्चयो मतः ।

"आयातयामास्ते दर्भाः" इति वचनात्

"दर्भाः कृष्णाजिनं मन्त्रा ब्राह्मणा हविरग्नयः ।
आयातयामान्येतानि——— ॥"

इत्यत्रापि दर्भपदस्यैतत्तिथि [ सम्पादितदर्भपरत्वादन्यतिथि] सङ्गृहीतानामेकत्र विनियुक्तानां न कर्म्मान्तरयोग्यता ।

तथा,

सङ्ग्रहाद् वत्सरं यावच्छुद्धिः स्याद्भिवर्हिषाम् ।
ततः परं न गृह्णीयाज्जपादौ यज्ञकर्म्मणि ॥

[ यत्तु, ] अथ स्नातकश्चान्तर्वास उत्तरीयं वैणवदण्डं धारयेत् सोदकञ्च कमण्डलुं [ द्वे ] यज्ञोपवीते उष्णीषं उपानहौ छत्रञ्चेति [2]तदत्र,—

"वर्षातपादिके छत्री दण्डी रात्र्यटवीषु च ।
शरीरत्राणकामो वै सोपानत्कः सदा व्रजेत् ॥

(१) परित्यागो० । (२) तत्,—

[ ] चिह्नितांशाः पुस्तकान्तरे न दृश्यन्ते ।

न विना कमण्डलुमध्वानं व्रजेत् । पर्य्यटेत् प्रावृतो रात्रौ” इत्यादिवाक्यैर्गमनाङ्गमेव । दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेः ।

[1]तत्र,—

उपानहौ च [2]वस्त्रञ्च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।

अत्र—

कुण्डिकां मण्डलीं शाटीं प्रसाधनमुपानहौ ।
वर्जयेत् परभुक्तानि निर्णिक्तञ्चैव तान्तवम् ॥

इति वस्त्रे निर्णिक्तोपादानात् निर्णिज्याशक्ताविल्युक्तेश्च वस्त्रादन्यन्निर्णिक्तं धार्य्यम् । यत्तु,—कलियुगे कमण्डलुधारण-निषेधस्य प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद् विकल्पः स्यादिति न्यायेन विकल्प-पर एव न्याय्य इति । एवं सुराग्रहहोमोऽग्निवेदापित्ताशौच-सङ्कोचवर्जनोक्तिश्च विकल्पार्थः । यत्तु,—“देवरेण सुतोत्पादनं, दत्तकन्यायाः पुनः श्रेयसे दानं, यज्ञमधुपर्कयोर्गोबधः, असवर्ण-स्त्रीविवाहः, दत्तौरसेतरपुत्रग्रहः”, इत्येते कलौ वर्ज्या इत्युक्तं तदतिप्रसङ्गवारणार्थमेव । विहितप्रतिषेधायोगात् । तेन तत्-करणे न दोषः । एवम्,—वानप्रस्थाश्रम-दीर्घकालब्रह्मचर्य्य-मरणान्तिकप्रायश्चित्तानां यद् वर्जनं तदल्पसत्वत्वान्मनुष्याणां तेषामसम्भवादर्थवादमात्रमित्या[3]युक्तम् । तत्र केवलं दृष्टस्यार्थस्य प्रकारान्तरेणापि सिद्धेस्तत्र [4]तद्द्रव्यादिनियमो धनार्जनादिनियम-

(१) तत्र,— (२) ० मित्याद्युक्तम् ।
(३) ० वस्त्रञ्च ० । (४) ० तद्द्रव्या ० ।

विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम् ।

इति दोषः । तस्य—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन तु ।

इत्येतच्छेषत्वात् । अत्र चूड़ाकरणविधिप्राप्तशिखाबद्धत्वमात्रवचनात् विध्युपक्रमार्थवादस्य च विध्यनुरोधेनैवार्थकल्पनाद् विद्यमानशिखाया बन्धनाभावदोषोऽभिप्रेतः । अतएव "मुण्डः शिखी वा" इति यतं ब्रह्मचारिणश्च मुण्डत्वं वैकल्पिकमुक्तम् ।

ततः—

सन्ध्यात्रयन्तु कर्त्तव्यं द्विजेनात्मविदा सदा ।
सन्ध्या उपासिता येन विष्णुस्तेन उपासितः ॥
यावन्तोऽस्यां विकर्म्मस्थाः पृथिव्यां वालिशा द्विजाः ।
तेषाञ्च पावनार्थाय सन्ध्या सृष्टा स्वयम्भुवा ॥
सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या नैवाप्युपासिता ।
जीवन्नेव भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाभिजायते ॥
नोपतिष्ठति यः पूर्व्वामुपास्ते न च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् वहिष्कार्य्यः सर्व्वस्माद् द्विजकर्म्मणः ।
अनागतान्तु ये पूर्व्वां सादित्याञ्चैव पश्चिमाम् ।
सन्ध्यां नोपासते विप्राः कथं ते ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
कामं तान् धार्म्मिको राजा शूद्रकर्म्मसु योजयेत् ।

इत्यादिवाक्यबलात् सन्ध्याकर्म्म कुर्य्यात् ।

यथा,—

गृहेषु प्राकृती सन्ध्या गोष्ठे शतगुणा स्मृता।
नदीषु शतसाहस्रो अनन्तः शिवसन्निधौ॥
अनृतं मद्यगन्धञ्च दिवामैथुनमेव च।
पुनाति वृषलस्यान्नं वहिः[1]सन्ध्याह्युपासिता॥

इत्युक्तफलदेशानां यथासम्भवमेकं शुद्धं देशमास्थाय कुर्य्यात्। तत्र,—

भूशुद्धिर्मार्जनाद् दाहात् कालाद् गोक्रमणात् तथा।
सेकादुल्लेखनाल्लेपाद् गृहं मार्जनलेपनात्॥
ग्रामाद्धस्तशतं त्यक्त्वा नगराच्च चतुर्गुणम्।
भूमिः सर्व्वत्र शुद्धा स्याद् यत्र लेपो न दृश्यते॥
पन्थानश्च विशुद्धान्ति सोमसूर्य्यांशुमारुतैः।
ब्राह्मणावसथे भूमिर्देवागारे तथैव च॥
मेध्या चैव सदा भूमि र्गवां गोष्ठे च या भवेत्।

अनेकोद्धार्य्ये दारुशैले भूमिसमे, इष्टकाश्च सङ्कीर्णीकृताः। [2]यद्यपि शङ्खादिचूर्णे काष्ठभस्मनि काष्ठत्ववदस्थित्वाभावस्तदभावेऽपि अभक्ष्यपञ्चनखास्थ्नामेवास्पृश्यत्वादन्येषान्त्वस्पृश्यत्वाभावात्—

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर्विजानता कार्य्या गोमूत्रेणोदकेन वा॥
सुवर्णरजताब्जानां वारिणा शुद्धिरिष्यते।

इति शुद्धिविधानात् तल्लिप्तभूमावासने न कर्म्मवैगुण्यम्। केवलमस्थ्नां भस्मनां वाक्रमणनिषेधात् तत्रासनं पुरुषानिष्टकरं

(१) ० सन्ध्याप्युपासिता। (२) यद्दपि ०।

स्यात्। तदपि नास्ति तत्र भस्मबुद्ध्यभावात्। अस्थित्वाभाव एवोक्तः स्यात्। इति देशशुद्धिः।

तत्र,—ऐशानदिगभिमुख आसने[1] उपविश्य प्रादेशमात्रं साग्रमनन्तर्गर्भं कुशदलद्वयमच्छिन्नदलत्वसिद्ध्यर्थं सनाभिदक्षिण-हस्ताङ्गुलिमध्ये धृत्वा सव्येन कुशमुष्टिं कृत्वाचम्य प्रणवं त्रिमात्र-मुच्चार्य्य नारायणं नमस्कृत्य [2]विनियोगमन्त्राणामृष्यादीन् स्मृत्वा अघमर्षणसूक्तेन [3]उदकचुलुकं पिबेत्। यद्यपि आचान्तः पुनराचामेद् द्रुतमित्यभिमन्त्र्य चेत्यत्र पूर्व्वोक्तवदत्रभक्षणत्व-नियामकद्वितीयन्तापशब्दो न श्रूयते तथाप्यभिमन्त्रणकर्म्मतया तस्यावश्याध्याहार्य्यत्वात् तेनैव रूपेण तस्याचमनसम्बन्धस्य न्याय्य-त्वान्मन्त्रवदाचमनत्वसाम्यात् समाचाराच्च अत्रभक्षणमात्रार्थत्वं नाचमनाख्यकर्म्मार्थत्वं ततस्तन्निमित्तं द्विराचमनम्। एतच्छन्दोग-परिशिष्टोक्तम्। याज्ञवल्क्यादिभिर्नोक्तम्। तत्र तदुक्तत्वात् तदुक्तानामपि मार्जनादीनामुक्तत्वात् न तन्मूलाज्ञानात् तथा सत्यसर्व्वदर्शितया तेषामश्रद्धेयवचनत्वापातात् ततस्तन्मूलश्रुतौ विकल्पितत्व-करण-पक्ष-माश्रित्यान्यत्रोक्त-मप्यकरण-पक्षाश्रयणेनैव नोक्तमिति मन्तव्यम्। एतदेवोक्तं,

स्मृतिशास्त्रविकल्पस्तु आकाङ्क्षापूरणे सति।

इति। नचानेन स्मृतीनामन्योन्यविकल्प एवोच्यत इति वाच्यम्। आकाङ्क्षितार्थानां निषेधानां वान्यत्र स्थितानामपि

(१) ० मुखः स्वासने ०। (३) जलचुलुकं ०।
(२) ० विनियोज्यमन्त्राणां ०।

साकाङ्क्षत्वेन ग्राह्यतया विकल्पायोगात्। विरुद्धार्थानामशक्यया विकल्पस्यानुक्तावप्यर्थसिद्धत्वात्। अतएव कृत्यचिन्तामणौ याज्ञवल्क्योक्तं ग्राह्यमुक्त्वा नित्यविकल्पत्वादन्यत् सदपि नोच्यत इत्युक्तम्। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। ततो वारिणा स्वदेहं वेष्टयित्वा देवतीर्थाख्यकराग्रस्थैः कुशैः शिरसि तोयविन्दुसेकरूपं मार्जनं कुर्य्यात्। तच्च प्रणवव्याहृतिसहितगायत्र्या त्रिरभ्यस्तया एकं "आपो हि ष्ठा" इत्याद्यया "जयतेहन" इत्यन्तया सार्द्धर्चा अधः प्रक्षिप्य "उशतीरिव" इत्याद्यया "तन" इत्यन्तया सार्द्धर्चा द्वितीयं, अघमर्षणसूक्तेन तृतीयम्। ततः "शन्न आपो, द्रुपदा" इत्येताभ्यां मन्त्रलिङ्गोक्तफलकामो मार्जनद्वयं कुर्य्यात्। ततो मार्जनविध्यनन्तरम्—

व्याहृतिः कीर्त्तयेद्देवं तथैवाक्षरमव्ययम्।

इति शङ्खवचनात् "भूर्भुवः [1]स्वः" इति जपेत्। वैकल्पिकमेतत् स्मृतिशास्त्रविकल्पस्त्विति वचनात्। ततो योगशास्त्रसिद्धपद्मस्वस्तिकाद्यन्यतमेनासनवन्धेन दर्भेष्वासीनश्चित्तं स्थिरीकृत्य सन्निमीलितदृक्

सप्तव्याहृतिभिः सार्द्धं दशोङ्कारसमन्विताम्।
शिरसा सहितां देवीं प्राणायामे प्रयोजयेत्॥

इति प्रणवसप्तव्याहृतिगायत्रीशिरोमन्त्राणि तेषामृष्यादीन् स्मृत्वा "ओं भूः ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यं ओं तत् सवितु" रित्यादि "प्रचोदयात्" इत्यन्तं "ओं

(१) ० स्वरोम् ० ।

आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्" इति मन्त्रं मानसं त्रिर्जपन् एकं प्राणायाम इत्येवं प्राणायामत्रयं कुर्य्यात्। ततः, ओंकारस्य—ब्रह्म ऋषिः गायत्री च्छन्दः प्रकाशात्मतया अग्निरूपः परमात्मा देवता। गायत्र्याः—विश्वामित्र ऋषिः गायत्री च्छन्दः सविता देवता। व्याहृतीणां—प्रजापतिः ऋषिः। अन्यत्र जमदग्निभरद्वाजभृगुगौतमकाश्यपविश्वामित्रवशिष्ठाख्या उक्ताः। गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्[1]जगत्य श्छन्दांसि। [ अग्निवायुसूर्य्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवताः। अन्यत्र—

समार्चिरनिलः सूर्य्यो वाक्पति र्वरुणो वृषः।
विश्वेदेवा इति प्रोक्ताः——— ॥
हृन्मुखांसोरुयुग्मेषु सोदरेषु क्रमात्मताः॥
विश्वामित्रस्तु गायत्र्या ऋषिश्छन्दः स्वयं स्मृतः।
सविता स्याद् देवता च ब्रह्मशिर ऋषिः स्मृतः॥

शिरसः प्रजापति ऋषिः। ब्रह्मा]ग्निवायुसूर्य्या देवताः। छन्दोऽत्र नास्ति।

आसनञ्च।—

समजानुरेकजानुरुत्तानः सुस्थिरोऽपि च।

इति वायुपुराणवचनात् यथाकथञ्चित् स्थिरोपवेशनमात्रम्। न पद्मासनादिनियमः। तदुक्तं पतञ्जलिना,—स्थिरसुखमासनमिति।

प्राणायामश्च द्वेधा।

---

(१) ० पंक्तिजगत्य ०। [ ] पुस्तकान्तरे न दृश्यते।

आदानं रोधमुत्सर्गं वायोस्त्रिस्त्रिः समभ्यसेत्।

त्रिविधः प्राणायामः। कुम्भको रेचनं पूरणमित्यादिवाक्य-बलात् त्रितयात्मा एकः।

प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात् कुरुते तु यः।

प्राणायामः स विज्ञेयः सबीजोऽबीज एव च॥

इत्यत्र यो व्यापारः स्वाभ्यासात् प्राणानिलं वश्यं कुरुते स व्यापारः प्राणायामो ज्ञेयः इत्युक्तत्वात् कुम्भकाभ्यासस्यैव प्राण-वशीकरणहेतुत्वात्

सहितं केवलं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्।

इत्युक्तत्वाच्च। पुनश्च,—

परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यदानिलौ।

कुरुतः स द्विधा तेन तृतीयः संयमात् तयोः॥

स एव प्राणेनापानाभिभवरूप एकः। अपानेन प्राणाभिभवः अपर इति द्वेधा। तेनाभिभवाभ्यासेनोभयोः स्थैर्य्येणावस्थानात् तृतीय इति कुम्भकस्यैव त्रिविधतयोक्तत्वात् तन्मात्रमपि प्राणा-यामः। तथाच भगवान् पतञ्जलिः,—स तु वाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्ति-रिति[1]रेचनपूरणकुम्भकरूपत्रयात्मकमेकं प्राणायाममुक्त्वा वाह्या-न्तरविषयाक्षेपाच्चतुर्थ इत्युद्घाधोवृत्तिरोधककुम्भकमात्रमपरं प्राणा-याममुवाच। तत्र द्वितीयासामर्थ्यादाद्यपरिग्रहे मन्त्रस्यैकस्मि-न्नेकैकस्योच्चारणम्। न च त्रिः पठेदायतप्राण इति वचनात् कुम्भकमात्रे मन्त्र इति वाच्यम्। आयतशब्दस्य नियमित-

(१) ० रेचकपूरककुम्भक ०।

वचनत्वेन तथा क्रियमाणयोः पूरणरेचनयोरपि तच्छब्दवाच्यत्व-सम्भवात्। कथमन्यथा त्रिविधः प्राणायाम इत्युक्तम्। समर्थस्य द्वितीयपरिग्रहे तु वारत्रयमपि कुम्भकमात्रे। तथाच पठन्ति,—

आसने सम्यगासीनो वायुनापूर्य्य चोदरम्।
कुम्भके च त्रिरावृत्य दक्षिणेन विरेचयेत्॥

इति। तत्रापि यावच्छक्ति धारणाभ्यासस्यैव प्राणवशहेतुत्वा-दधिकधारणसामर्थ्ये मन्त्रसमाप्तावपि यावच्छक्ति धारणं कर्त्तव्यम्। एवञ्चैकेन धारणेन षड्वारं नववारं वा मन्त्रजपसामर्थ्येऽप्येक एव प्राणायामो न द्वयं त्रयं वा। तत्र,—

रेचकं दक्षिणेनोक्तं पूरकं वामकेन तु।

इति वाक्यदर्शनात् तथैव कर्त्तव्यम्। यदा,—

आकृष्य श्वसनं वाह्यात् पूरयेदिलयोदरम्।

इत्यादियोगशास्त्रविधिबलादादौ वामेन पूरयित्वा यथाशक्ति धारयित्वा दक्षिणेन विरेच्य तेनैव पूरयेत्। ततो धारणपूर्व्वकं वामेन विरेच्य तेनैव पूरयेत् इत्येवं कुर्य्यात्। तथा—

अङ्गुष्ठानामिकाभ्याञ्च कनिष्ठाङ्गुलिनापि च।
प्राणायामजपं कुर्य्यान्मध्यमातर्जनी विना॥

इति वाक्यदर्शनादविरोधाच्च नासिकावामपुटपीड़नमना-मिकाकनिष्ठाभ्यामेव कुर्य्यात्। तत्र च जपस्य मानसत्वनियमात् तत्र शब्दार्थचिन्तनाभ्यास उक्तो मानसो जप इति मन्त्रार्थचिन्तन-स्यावश्यकत्वात्। ओंकारार्थात् परिपूर्णशुद्धचिद्रूपाद् भूरादिकं

जगज्जातं, तच्च जगत् [1]सवितृज्योतिःस्वरूपं सर्व्वबुद्धिप्रेरकतया जगत्स्थितेरपि मूलम्। तत्रैव वागादिकं पञ्चमहाभूततत्-कार्य्यस्वरूपं लीनमित्येवं रूपं मन्त्रार्थमेव चिन्तयेत्। अन्यत्र तु सन्मात्रत्वाद् भूः, भूतत्वात् कारणत्वाच्च भुवः, सर्व्वस्वीकरणत्वात् स्वः, महत्वाच्च महतस्तत्त्वाच्च महः, सर्व्वजननाद् जनः, जगत्तापात्तपः, सत्यं परत्वादात्मत्वाच्चेति व्याहृतयो व्याख्याताः। यत्र तु,—

आदानं रोधमुत्सर्गं वायोस्त्रिस्त्रिः समभ्यसेत्।
ब्रह्माणं केशवं शम्भुं ध्यायन् मुच्येत बन्धनात्॥

इति तेनान्तस्तद्धर्म्मोपदेशादित्येतत्सूत्रनिर्णीतादित्यान्तर्गत-हिरण्मयपुरुषोपहितब्रह्मोपासनवत् ब्रह्मादिशरीरोपहितं मन्त्रार्थ-भूतं ब्रह्मैव चिन्तनीयम्।

तत्र,—

नीलोत्पलदलश्यामं नाभिमध्ये प्रतिष्ठितम्।
चतुर्भुजं महात्मानं [2]पूरके तु विचिन्तयेत्॥
कुम्भकेन हृदिस्थाने ध्यायेत्तु कमलासनम्।
ब्रह्माणं रक्तगौराङ्गं चतुर्वक्त्रं पितामहम्॥
रेचकेनेश्वरं ध्यायेल्ललाटस्थं महेश्वरम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं निर्मलं पापनाशनम्॥

इति योगियाज्ञवल्क्योक्तः क्रमो ज्ञातव्यः। ततः,—

---

(१) ० सवितुर्ज्योतीरूपं ०।
(२) ० पूरकेण ०।

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपोज्योतीरसोऽमृतम्॥

इति पठित्वा सकृदाचमनं कुर्य्यात्।

उपस्पृशेत् ततः पश्चान्मन्त्रेणानेन मन्त्रवित्।

इति शङ्खवचनात्। यत्त्वत्र,—

सायमग्निश्चमेत्युक्त्वा प्रातः सूर्य्यश्चमेति च।
आपः पुनन्तु मध्याह्ने उपस्पृश्य यथाविधि॥

इति। तस्याप्रामाण्यत्वसम्भवेऽपि शङ्खोक्तेनान्तश्चरतीत्यनेन विकल्प एवेत्यभियुक्तपरिग्रहादेवं कर्त्तव्यम्। समाचारबाहुल्यात्तु मन्त्रलिङ्गस्यातिप्रलोभनीयत्वाच्च तदेव कर्त्तव्यम्। तत्र "सूर्य्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद्दुरितं मयि इदमहमापोऽमृतयोनौ सूर्य्ये ज्योतिषि परमात्मनि जुहोमि स्वाहा" इति मन्त्रः। ततः "आपो हि ष्ठा" इति त्र्यृचेनात्मानं संप्रोक्षेत्। नात्र कुशनियमः। मार्जने हि तथा स्यात् नैतत् तथा। संप्रोक्षेदिति सेचनमात्रविधानात्। ततः,—

समुद्धृत्योदकं पाण्योर्जप्त्वा त्रिर्द्रुपदां क्षिपेत्।

[1]इत्येतदसम्भवप्रामाण्यकारणव्यासवाक्यदर्शनात् समाचाराच्च एतत् कुर्य्यात्। ततो दक्षिणहस्तेनोदकं गृहीत्वा तद् घ्राणे संयोज्याघमर्षणसूक्तं त्रिः सकृद् वा जपेत्। निरुद्धप्राण-

(१) इत्येतदसम्भवादप्रामाण्य०।

वायुरन्यथापि वा। अत्रायतासु पक्षे केचिदाचमनमिच्छन्ति तत्र मूलं न पश्यामः। यत्तु—

प्राणस्यायमनं कृत्वा आचामेत् प्रयतोऽपि सन्।

इति। तेन प्रकृते प्राणायामानुवादेन तदङ्गतयैवाचमनविधानम्।

अन्तरं शुद्ध्यते यस्मात्तस्मादाचमनं स्मृतम्।

इति [1]"अश्रुतेन ह्यन्नं क्रियते"[इति]वत् प्ररोचनामात्रार्थत्वान्न तेनाचमनस्य प्राणनिरोधमात्राङ्गताप्राप्तिः। एवं पृथक् प्राणायामानुष्ठानेऽपि न तत् प्राप्तिरिति।

तत उत्थाय सन्ध्येति तमुपासीना यत् क्षिपन्ति महज्जलमिति वचनात् सूर्य्यमण्डलं रक्तवर्णगायत्र्याख्यं पूर्व्वसन्ध्यादैवतयमिति ध्यायन् प्रणवव्याहृतिसहितया गायत्र्या तोयाञ्जलिं सूर्य्यदेशाभिमुखमुत्क्षिपेत्। एवं सन्ध्यादेवतोपासनात्मकत्वाद् गायत्रीजपवदस्यापि प्रधानत्वम्। तत्र सौकर्य्यार्थं ताम्रादिपात्रधृतजलप्रक्षेपेऽपि [2]न विरोधः। नह्यत्राञ्जलेः करणत्वं स्मृतं येन तद्विरोधशङ्का स्यात्। किन्त्वञ्जलिशब्दस्यात्र परिमाणपरमात्रत्वम्। केवलम्,—

अमङ्गल्यन्तु यत्नेन देवकार्य्येषु वर्जयेत्।

इत्यन्यपरेणापि देवकर्म्ममात्रे रजतनिषेधात् न तेन कार्य्यम्। एवमन्यत्रापि देवकर्म्मसु विशेषविध्यभावे "रजतं नोपादेय"मिति। यत्त्वत्र,—

---

(१) अस्य ह्यन्नं क्रियते०। (२) ०न दोषः।

करार्भ्यां तोयमादाय गायत्र्या चाभिमन्त्र्य च ।
आदित्याभिमुखस्तिष्ठन् त्रिःक्षिपेत् सन्ध्ययोर्द्वयोः ॥

इति व्यासोक्तं, तस्याप्रामाण्यकारणाभावेऽपि

"उत्थायार्कं प्रति प्राह्णे त्रिकेणाञ्जलिमम्भसः" ।

इति छन्दोगपरिशिष्टे प्रातःसन्ध्यायामञ्जलिमित्येकवचनोपादानाद् विकल्प एव। तथाप्यधिकरणे तथाविरोधाभावात् प्रायः समाचाराच्च एवमपि युज्यते। अत्र चाभिमन्त्रणवचनान्मन्त्रस्यापि त्रिरावृत्तिः। तत्र सन्ध्ययोरिति वचनात् मध्याह्ने एक एवाञ्जलिः। तत्र,—

बालां विद्यान्तु गायत्रीं लोहितां चतुराननाम् ।
रक्ताम्बरद्वयोपेतां [1]यज्ञसूत्रधरां तथा ॥
कमण्डलुधरां देवीं हंसवाहनसंस्थिताम् ।
ब्रह्माणीं ब्रह्मदैवत्यां ब्रह्मलोकनिवासिनीम् ॥
मन्त्रेणावाहयेद् विद्वान् आयान्तीं सूर्य्यमण्डलात् ॥
तथा मध्यमसन्ध्यायां सावित्रीं द्विजसत्तमः ।
युवतीं शुक्लवर्णाञ्च चारुरूपां चतुर्भुजाम् ॥
शुक्लवासोद्वयोपेतां वृषारूढ़ां त्रिलोचनाम् ।
उमां त्रिशूलहस्ताञ्च रुद्राणीं रुद्रदैवताम् ।
कैलासनिलयां देवीमायान्तीं सूर्य्यमण्डलात् ॥
एवं पश्चिमसन्ध्यायां वृद्धावस्थां सरस्वतीम् ।
कृष्णाङ्गीं कृष्णवसनां [2]तार्क्ष्यस्कन्धस्थितां शुभाम् ॥

---

(१) ० अक्षसूत्रधरां ० । (२) ० तार्क्ष्यकन्धरसंस्थिताम् ।

शङ्खचक्रगदापद्मधारिणीं विष्णुदैवताम्।
विष्णुलोकनिवासान्तामायान्तीं सूर्य्यमण्डलात्॥

इति वाक्यदर्शनादविरोधाच्च। यत्र च,—

रक्ता भवति गायत्री सावित्री शुक्लवर्णिका।
कृष्णा सरस्वती ज्ञेया सन्ध्यात्रयमुदाहृतम्॥

इत्युक्तानुगुणत्वादेवमेव सन्ध्यारूपध्यानं कर्त्तव्यम्। अत्र च, "आयान्ती" मित्यत्र स्थानत्रयेऽपि स्वस्थानाद् ब्रह्मलोकादेरिति योजनीयम्। सूर्य्यमण्डलादिति सप्तम्यर्थे पञ्चमी। सन्ध्येति तमुपासीना इति सूर्य्यमण्डलस्यैव सन्ध्यात्वेनो[1]पास्यत्वविधानात्। "मन्त्रेणावहयेत्" इत्यत्र,—

आवाह्य यजुषानेन तेजोऽसीति विधानतः।

इति वाक्यसिद्धिः। तेनानेनावाह्य यथोक्तं ध्यायन् अञ्जलित्रयं प्रक्षिप्य यत् प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति तेन पाप्मानमवधुन्वन्ति। "असावादित्यो ब्रह्मे"ति तैत्तिरीयश्रुतेरनेन मन्त्रेण प्रदक्षिणमावर्त्त्य "उदुत्यं जातवेदसं, चित्रं देवानां, उद्वयं तमस" इति ऋक्त्रयेण गायत्र्युष्णिगनुष्टुपछन्दस्केनाद्यन्ते प्रस्कण्वार्षेण मध्ये कौत्सार्षेण सूर्य्यदैवत्येन भूम्यलग्नगुल्फद्वयो भूम्यलग्नैकपादो [वा] भूमिलग्नपादाग्रो वा स्थितः सूर्य्यमुपतिष्ठेत्। यद्यपि,—

कुर्य्यात् कृताञ्जलिर्वापि ऊर्द्ध्वबाहुरथापि वा।

इत्यविशेषेणोक्तम्। तथापि

(१) ० नोपास्यत्वे ०।

सायं प्रातरुपस्थानं कुर्य्यात् प्राञ्जलिरानतः ।
ऊर्द्ध्वबाहुस्तु मध्याह्ने

इति वाक्यदर्शनादविरोधात् समाचाराच्च तथैव कर्त्तव्यम् । अत्र "उत्, चित्र" मृग्द्वयेनेति पाठो यद्यपि सर्व्वैस्तु टीकाकारैरादृतस्तथापि कल्पतरावृग्द्वयेनेति व्याख्यानाद् विहिताविहितत्वसन्देहेऽपि क्रममात्रविरोधिनोऽविहितकरणाद् विहिताकरणे महान् दोष इति करणमेव न्याय्यमिति "उद्वय"मित्यृगवश्यं प्रयोक्तव्या । यत्तु,

"उदुत्यं, चित्रं, तच्चक्षु" रुपस्थाय दिवाकरम् ।
वाङ्मनः कर्म्मजं पापं सर्व्वमेव व्यपोहति ॥

इति कात्यायनोक्तं तत् स्मृतिशास्त्रविकल्पस्त्विति न्यायादविकल्पपक्षपरं गुणफलसम्बन्धार्थं वा । अत्र पापक्षयविशेषेच्छायां "विभ्राड्" इत्यनुवाक् शिवसङ्कल्पमण्डलब्राह्मणपुरुषसूक्तानामपि प्रयोगः । ततः सन्ध्यादेवतया कृतसंध्यानं सूर्य्यबिम्बमेव "धियो यो न" इति मज्जन्तीनामप्यस्मद्बुद्धिवृत्तीनां प्रचोदयादिति विशेषप्रकाशतासम्पादकमहंपदलक्ष्यं जीवरूपं तदोङ्कारगम्यम् । भूर्भुवः स्वरिति भूरादिजगज्जनकम् । यद्वा भवत्यस्तीति भूः, भवत्यस्मात् सर्व्वमिति भुवः, सर्व्वं प्रसवतीति स्वरिति । सवितुर्देवस्येति,—आदित्यमण्डलान्तर्गतहिरण्मयपुरुषोपहितत्वेनोपास्यत्वात् सवितुर्देवस्य सम्बन्धि वरेण्यं भर्ग इत्यशेषजगत्प्रकाशकतया श्रेष्ठतरप्रकाशं रूपमशेषपापभञ्जनं ब्रह्मैवेति । धीमहि चिन्तयामीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यवत्

गायत्रीमन्त्रप्रतिपादितशुद्धचैतन्यात्मकब्रह्मरूपेण चिन्तयन्, तत्ता-समर्थ्येन,—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् कनककुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः॥

इति वाक्यार्थभूतसाकारब्रह्मरूपेण ध्यायन् प्रणवव्याहृति-पूर्व्विकां गायत्रीं सूर्य्योदयपर्य्यन्तं गणयन् जपेत्। अत्र यत् "सवितुः" शब्दस्य राहोः शिर इतिवत् षष्ठीं कल्पयित्वा जगत् प्रसवितृति भर्गविशेषणत्वमाहुः, तत् एतदेव तुरीयं दर्शितं परं यत् परोरजा य एष तपतीति [१]सवितुर्मण्डलस्यैव गायत्र्यर्थत्वे-नोक्तेरयुक्तम्।

तथा योगियाज्ञवल्कीये,—

देवस्य सवितु र्यच्च भर्गमन्तर्गतं विभुम्।
ब्रह्मवादिनमेवाहुर्वरेण्यं सोऽस्य धीमहि॥ इति।
आदित्यान्तर्गतं भर्गः सेव्यते वै मुमुक्षुभिः। इति।

तथा—

हिरण्यश्मश्रुभर्गस्तेजोमयं परम्।
आदित्यान्तर्गतं यत्तत् सदा ध्येयं मुमुक्षुभिः॥

इति। यच्च,—

---

(१) सवितृमण्डलस्यैव ।

इत्थम्भूतं यदेतस्य देवस्य सवितुर्विभोः ।
वरेण्यं भजतां पापविनाशनकरं परम् ॥
भर्गोऽस्माभिरभिध्यातं धियस्तन्नः प्रचोदयात् ।

इति प्रार्थनार्थत्वमुक्तं तद् योगियाज्ञवल्क्योक्तविरोधान्नादेयम्। उदयात् प्राक् जपत्यागे तु ऐन्द्रवायवादिग्रहयागानां कतिपयाकरण इव प्रधानकर्म्मण एवाकरणं स्यात्। एवञ्च यन्निरग्निकैः प्रागुदयाद् गायत्रीजपं परित्यज्य कर्म्मान्तरं क्रियते तत्र सन्ध्यालोपदोषः। कर्म्मान्तरस्य च सन्ध्याहीनोऽशुचिरित्यनधिकारादानर्थक्यम्। केवलं दर्भेष्वासीनो दर्भान् धारयमाणः प्राङ्मुखः सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्त्तयेत्। प्राणायामो वा शतकृत्वः उभयतः सप्रणवां सव्याहृतिकां मनसा द्वादशकृत्व इत्युक्ताश्रयणमेव ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च शतमष्टोत्तरं जपेत् ।
वानप्रस्थो यतिश्चैव द्विसहस्राधिकं जपेत् ॥

इति वाक्यदर्शनादुदयावध्यभावात् संख्यासमाप्तौ त्यागो युक्त इति सूर्य्योदयावधित्वेन संख्यानियमाभावेऽपि,—

दर्भहीना च या सन्ध्या यच्च दानं विनोदकम् ।
असंख्यातञ्च यज्जप्तं तत् सर्व्वं निष्फलं भवेत् ॥

इति वचनाद् गणना कार्य्या ।

यत्तु—

ओंकारं पूर्व्वमुच्चार्य्य भूर्भुवः स्वस्तथैव च ।
गायत्रीं प्रणवञ्चान्ते जपेत् ह्येवमुदाहृतम् ॥

इति [1]वाक्यं, मनुना,—

एतदक्षरमेताञ्च जपन् व्याहृतिपूर्व्विकाम् ।
सन्ध्ययोरुभयोः,

इत्येतावन्मात्रविधानात् तद्व्यतिरिक्तजपपरम् ।

ओंकारं पूर्व्वमुच्चार्य्य भूर्भुवः स्वस्तथैव च ।
गायत्रीं च ततः पश्चात् सन्ध्याकाले जपेत् त्रिकम् ॥

इति च दृश्यते । तत्र आद्य, द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, नवम, त्रयोदश, षोड़श, एकविंश, त्रयोविंश [ पञ्चविंश ] सप्तविंश उदात्ताः । चतुर्थाष्टम, द्वादश, पञ्चदश, द्वाविंश, षड़्विंशा अनुदात्ताः । पञ्चम, सप्तम, दशम, चतुर्दश, सप्तदश, चतुर्विंशाष्टाविंशाः स्वरिताः । एकादशाष्टादशोनविंशाः प्रचिताः । ततः ऋष्यादिस्मरणानन्तरं भूमिरन्तरीक्षं द्यौ रिति त्रैलोक्यात्मा प्रथमः पादः । ऋचो यजूंषि सामानि त्रय्यात्मा द्वितीयः पादः । प्राणापानव्यानात्मा तृतीयः पादः । एवं शब्दात्मिकास्त्रयः पादाः । अविधेयात्मा च परोरजोंनामकादित्यमण्डलान्तस्थपुरुषोपहितं ब्रह्म चतुर्थः पादः । तस्याग्निरेव मुखं यदिह वाग्नावभ्यादधाति सर्व्वमेव तत् संदहत्येवमेव विपापं कुरुते सर्व्व एव संपूतोऽजरोऽमृतः सम्भवति इति चिन्तयेत् । एवं,—

ओं भूर्विन्यस्य हृदये ओं भुवः शिरसि विन्यसेत् ।
ओं स्वः शिखायां विन्यस्य गायत्र्याः प्रथमं पदम् ॥

(१) स्टह्यम् ।

विन्यसेत् कवचे विद्वान् द्वितीयं नेत्रयोर्न्यसेत् ।
तृतीयेनास्त्रविन्यासश्चतुर्थं सर्व्वतो न्यसेत् ॥
विन्यस्यैवं क्रमेणैव सन्ध्याकाले जपेद् द्विजः ।
शिरोमन्त्रन्तु सर्व्वाङ्गे प्राणायामे परं न्यसेत् ॥
उपस्थाय तुरीयेण जपेत् तान्तु समाहितः ।

इति वाक्यदर्शनात् समाचारश्चैतत् कर्त्तव्यम् ।

अथ तस्या उपस्थानम् ।

गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे सापदो मा प्रापदिति ब्राह्मणवचनात् तुरीयशब्देन तुरीयवाचकपरो रजः-शब्दः प्रयुक्तः । सकलो गायत्र्यसीति मन्त्रो विवक्षितः । अयमेव चतुर्थशब्देनाप्युक्तः । अत्र द्वेष्यापकारकामोऽसाविति द्वेष्यनाम ब्रूयात् । तत्र यं द्विष्यादसावस्मै काममासमृद्धीति श्रुतेः । अद्य एतद् गायत्रीजपफलमसौ न प्राप्नोत्वित्यर्थः । यत्तु,—आग्नेयं प्रथमे ज्ञेयमित्याद्यक्षरदेवताचिन्तनमुक्तं तस्य

जपकाले तु सञ्चिन्त्य आशु सायुज्यमाप्नुयात् ।

इति कामफलार्थत्वेन प्रामाण्येऽपि न विरोधः । एवं वक्ष्यमाणं योगियाज्ञवल्क्योक्तं मासचतुष्टयं काम्यमेव । जपश्च वर्णोच्चारणमात्रं जपो मानसेऽर्चने इति धातुपाठेन व्यक्तवचने मानसेऽर्चने जपशब्दार्थत्वसिद्धेः । ध्यानन्तु, अक्षमालामादाय देवतां ध्यायन् जपं कुर्य्यादित्यादिवाक्यैरङ्गमात्रम् । एवं मानस-जपेऽपि । यद्यपि,—

मन्त्रार्थचिन्तनाभ्यासः स उक्तो मानसो जपः।

इति शब्दस्यार्थस्येति द्वयोरपि चिन्तनमुक्तं तथापि जपशब्द-बलात् शब्दचिन्तनमेव प्रधानम्। अर्थचिन्तनन्तु अङ्गमेव। अतएवान्यत्रोक्तम्,—

ध्यायेत्तु मनसा मन्त्रं जिह्वोष्ठौ नतु चालयेत्।

इति। गणनन्तु,—पुत्रञ्जीवबीजरुद्राक्षेन्द्राक्षपद्माक्षस्फटिक-मुक्ताफलमणिसुवर्णकुशग्रन्थीनामेकेन निर्म्मितया मालया। तद-भावे अङ्गुलिपर्व्वभिः कुर्य्यात्। तत्राविरोधाद् वक्ष्यमाणानि पञ्चरात्रोक्तानि अक्षमालालक्षणानि ग्राह्याणि। यत्तु दीक्षा-पर्व्वणि,—

सर्व्वासामक्षमालानां जपे यत् फलमुच्यते।
तत् फलं शतमादेयं जपेनाङ्गुलिपर्व्वभिः॥

इति भविष्यपुराणवाक्यं, तत् प्रकरणात् सर्व्वमङ्गल्यमन्त्रपरमेव।

अभावे त्वक्षमालायाः कुशग्रन्थ्याथ पाणिना।

इति साधारणतयोक्तत्वात्।

शक्त्या शतं सहस्रं वा दश वानुदिनं जपेत्।
कुर्य्यादथाधिकन्तेषामिति जप्यविधिः स्मृतः॥

इति पठन्ति। तदत्र सूर्य्योदयावधिनियमादन्यत्र ज्ञातव्यम्। तथा,—

प्रातरुत्तानपाणिस्तु मध्याह्ने समपाणिकः।
अधोमुखकरः सायं वस्त्रावृतकरो जपेत्॥

इति पठन्ति।

## जपधर्म्माश्च ।

प्रागाचमनम् । नात्र सन्ध्याकर्म्मादौ कृतस्यैव तन्त्रोपकारकस्य विद्यमानत्वान्न पृथक् कार्य्यम्। दर्भेष्वासीन इति वचनेन दर्भाधारत्वं समासीनत्वञ्चेत्यङ्गद्वयमुक्तम् तेनात्र तिष्ठन् जपेऽपि प्रागग्रदर्भाधारत्वं स्यादेव। "दर्भान् धारयमाणः" इत्यनेन दक्षिणपर्व्वणः सव्यस्योपग्रहणञ्चोच्यते। तत्रादौ देवतामार्षं छन्दश्च स्मरेत्। प्रयतमनस्कश्चंक्रमण-हसनपार्श्वावलोकन-कुड्याश्रयणशिरः-प्रावरण-शिरोग्रीवकम्पन-दन्तप्रकाशनब्राह्मणेतरपुरुषसम्भाषणचण्डालपतितरासभरजस्वलादर्शन-पदापदक्रमणवर्जितो नार्द्रकाषायवासा [1]अवहिर्जानुहस्तो जपेत्।

जपकाले न [2]भाषेत व्रतहोमादिकेषु च।
एतेष्वेवावसक्तं तु यदागच्छेद् द्विजोत्तमः॥
अभिवाद्य ततो विप्रं योगक्षेमञ्च कीर्त्तयेत्।

इत्यत्र विप्रपर्य्युदासेनेतरसम्भाषणनिषेधोऽङ्गत्वेनोच्यते। अभिवाद्य योगक्षेमञ्चेति विशेषणानामनुवादत्वेनाविवक्षितत्वात्। अत्र द्विजोत्तम इतिपदेन निषादस्थपतिवत् कर्म्मधारयसमासस्यैव युक्तत्वादपतितत्रैवर्णिकजातीयपुरुषसम्भाषणमात्रे न दोषः। अत्र यद्यपि लिङ्गस्याविवक्षा युक्ता तथापि

स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव रासभञ्च रजस्वलाम्।
जपकाले न भाषेत

(१) अन्तर्जानुहस्तो ०। (२) ० सम्भाषेत् ०।

इति सम्भाषणनिषेधस्य विशेषपरत्वस्वीकरणाच्चोत्तरवाक्ये स्त्रीग्रहणात् पुंलिङ्गविवक्षावगम्यते। तत्र पतितानां चण्डालस्य च सम्भाषणे स्नानं, [1]स्त्रीसम्भाषणेऽव्ययस्य विष्णोः स्मरणं, वैष्णव-मन्त्रजपो वा। चण्डालादिदर्शने चोदकस्पर्शनं, सुराविष्ठादिदर्शने आचम्य सौरमन्त्रजपः। शक्तौ "पावमान्य"श्च।

उपविष्टो जपन् स्नातः क्षुतप्रस्खलनादिषु।
पूजायां नाम कृष्णस्य सप्तवारान् प्रकीर्त्तयेत्॥
पाषण्डिनो विकर्म्मस्थान् नालपेच्चैव नास्तिकान्।
सम्भाष्य तान् शुचिपरश्चिन्तयेदच्युतं बुधः॥
इदञ्चोदाहरेत् सम्यक् कृत्वा तत्प्रवणं मनः।

शरीरमन्तःकरणं तथा धी-
र्वातश्च विष्णुर्भगवानशेषः।
शमं [2]नयत्वस्तु ममेह शर्म्म
पापान्यनन्ते हृदि सन्निविष्टे॥

अन्तःशुद्धिं वहिःशुद्धिं शुद्धधर्म्ममयोऽच्युतः।
करोतु विमले तस्मिन् शुद्ध एवास्मि सर्व्वदा॥
[3]वाह्योपपातं मनसो बुद्धेश्च भगवानजः।
शुद्धिं नयत्वनन्तात्मा विष्णुश्चेतसि संस्थितः॥
एतत् सम्भाष्य जप्तव्यं पाषण्डादीनुपोषितैः।

[4]नियमस्थैरुपोषितैरित्यस्यार्थः।

---

(१) स्त्रीशूद्रसम्भाषणे ०। (२) ० नयन्त्वस्तु ०। (३) वाह्योपघातं ०। (४) उपोषितैर्नियमस्थैः।

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये पितृतर्पणे ।

अशून्यन्तु करं कुर्य्यात् सुवर्णे रजतैः कुशैः ॥

अत्र,—

तर्ज्जनी रूप्यसंयुक्ता हेमयुक्ता त्वनामिका ।

सैव युक्ता तु दर्भेण कार्य्या विप्रेण सर्व्वदा ॥

इति व्यवस्थावाक्यञ्च दृश्यते। तत्र कुशैरिति बहुवचनात् सव्यहस्तेऽपि धारणं प्राप्तम्। अनार्द्रजीर्णा[1]मलिनवासोद्वय-धारणञ्चात्रावश्यकम्। तत्र कर्म्मयुक्तो नाभेरधःस्पर्शनं वर्ज्जयेदिति वचनादुपविष्टजपेऽप्यूर्व्वादौ यथा हस्तो न लगति तथा जपेत्। केवलं वस्त्रावृते तस्मिन् हस्तस्थापनेऽपि औदुम्बरीसर्व्ववेष्ठने तत्-स्पर्शनासम्भव इव तत्स्पर्शाभावः। वाचिकोपांशुमानसभेदात् त्रिविधो जपः। तत्र,—

नोच्चैर्जपं बुधः कुर्य्याद् गायत्रयास्तु विशेषतः।

इति पर्य्युदासाद् गायत्रीव्यतिरिक्तमन्त्रजपेषु वाचिको जपोऽल्पफलः। तत्र "यदुच्चनीचस्वरिते"रिति लक्षणवाक्यबलात् स्वरो, नियतः सः—अन्यत्र तु विभाषा च्छन्दसीति पाणिनि-वचनाद् वैकल्पिक एव। न च,—"एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ यज्ञकर्म्मण्यजपन्" इत्येकश्रुत्यविधौ जपवर्जनात् जपे स्वर-नियमः। स्वरनियमाभावेऽप्येकश्रुत्यभावसम्भवादिति। अत्र केचित् "जपन्नासीत" इति "तिष्ठेदासूर्य्यदर्शनात्" इत्यादिवचनबलात्

(१) मलवद्वासो०।

स्थानासनयोरेव प्राधान्यं गायत्रीजपस्त्वङ्गमेवेत्याहुः। तदयुक्तम्। सन्ध्यादेवतोपासनारूपतया जपस्यैव प्राधान्यसिद्धेः।

पूर्व्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य यथाविधि।
गायत्रीमभ्यसेद् विद्वान् यावदादित्यदर्शनम्॥

इत्येवंविधवाक्यसद्भावाच्च। एवं सूर्य्योदयपर्य्यन्तं जपं कृत्वा "गायत्र्यसौ"त्युपस्थाय महाव्याहृतिभिर्जलं गायत्र्या प्रणवेनैव दद्यादेतद् विसर्जनमिति। तथा,—

प्रदक्षिणं समावृत्य नमस्कृत्योपविश्य च।
मण्डलस्थं ततो ध्यायेत् पुरुषन्तु हिरण्मयम्॥
त्वं ब्रह्मा त्वं तथा विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमेव चात्मा भगवान् चरस्य स्थावरस्य च॥
इत्युक्त्वापः समादाय प्रदद्यादञ्जलित्रयम्।
ब्राह्मवैष्णवरौद्रैस्तु मन्त्रैर्वा प्रणवेन वा॥

इति वाक्यदर्शनात् समाचारादविरोधाच्चैवं कुर्य्यात्।

अत्र दीर्घायुःकाम उदयपर्य्यन्तगायत्रीजपानन्तरमघमर्षणसूक्तादिशङ्खोक्तपवित्रमन्त्रजपेन गायत्र्या एव सहस्रपरिमितादिजपेन वा सन्ध्याकर्म्मणो दीर्घकालव्याप्तिं कुर्य्यात्। एतत् सन्ध्याकर्म्मालस्यादिना स्नानकालविलम्बेन सूर्य्योदयासत्तौ जलमध्यस्थेनापि कर्त्तव्यम्। यत्तु जपादावार्द्रवासोनिषेधस्तेनाङ्गवैगुण्यमात्रं स्यात् तत् कालानुरोधेन सह्यत एव। नचात्र तदपि—

जलेषु शुष्कवस्त्रेण स्थले चैवार्द्रवाससा।
जपो होमस्तथा दानं तत्सर्व्वं निष्फलं भवेत्॥

इति वचनदर्शनात्।

केवलम्,—

नोदकस्थो जपेद् विप्रो गायत्रीं वेदमातरम्।

इति वाक्यदर्शनात् तामुत्थाय जपेत्। तत्रापि कालातिक्रम-प्रसङ्गे स्थलत्वगुणहानेनापि कालग्रहणार्थं जलस्थ एव जपेत्। यस्त्वार्द्रवस्त्रत्वनिषेधः स

आर्द्रवासा जले कुर्य्यात् तर्पणाचमनं जपम्।

इति वाक्यदर्शनात् स्थलत्वपर एव।

यद्येतत् सन्ध्याकर्म्म सूर्य्योदयात् प्राङ् न कृतं तदा—

न प्रात र्न प्रदोषे च सन्ध्याकालो [1]विपद्यते।
मुख्यः कालोऽनुकल्पश्च सर्व्वस्मिन् कर्म्मणि स्मृतः॥

इति वृद्धमनुवचनात् मुहूर्त्तत्रयात्मके प्रातःकालमध्ये कर्त्तव्य-मेव। तत्र "प्रभुः प्रथमकल्पस्य" इतिवचनात् प्रागुदयात् कर्त्तुं समर्थस्य तथाकरणे सन्ध्याफलं न भवति तदत्यन्तासम्भवे तु भवति। तत्रापि केवलं,—

प्राक् पर्य्युदयतः सन्ध्यामुपासीत सदा द्विजः।
उदिते तु जलं पीत्वा गायत्र्या दश मन्त्रितम्॥

इत्युक्तप्रायश्चित्तपूर्व्वकं कार्य्यम्। मुहूर्त्तद्वयपर्य्यन्तमेतावत् कार्य्यम्। तृतीयमुहूर्त्ते तु,—

(१) ० निगद्यते।

यामस्यार्द्धं गते सूर्य्ये तथाचास्तमुपागते।
विप्रः पतितसन्ध्यस्तु स्नात्वा सन्ध्यां समाचरेत्॥

इति स्नानमधिकम्। तथा सायमतिक्रमे रात्र्युपवासः। प्रातरतिक्रमे दिवोपवास इति सन्ध्याप्रकरणाम्नातत्वात् पुरुषार्थ-तया कर्त्तव्यम्। अतिक्रमणशब्दोऽत्र(१) उक्तकालातिक्रमार्थ एव न कर्म्मपतनार्थः। (२)तत्र तु पतने,—ब्रह्मचारी सन्ध्यामनुपास्यो-त्थितः सावित्र्याः सहस्रेणादित्यमुपतिष्ठेतेत्युक्तस्योत्तरेषाञ्चैतद-विरोधीति सर्व्वसाधारणस्य विद्यमानत्वात्

सन्ध्योपासनहानौ च नित्यश्राद्धं विलोप्य च।
होमञ्च नैत्यिकं शुद्धेद् गायत्र्यास्तु सहस्रकृत्॥

इत्यन्यत्राप्युक्तत्वाच्च। तेन मुहूर्त्तत्रयादूर्द्ध्वमेतदेव कर्त्तव्यमिति। एतत् सन्ध्याकर्म्म अशौचं विना कर्त्तव्यम्। यत्तु,—

अन्यत्र सूतिकाशौचविभ्रमातुरभीतितः।

इति। तत्रेश्वराभ्यागमादिनिमित्तकचित्तात्यन्तविक्षेपरूप-विभ्रमादावत्यन्तासम्भवात् यत् प्राप्तमकरणं तदेव

सामान्येनाभ्यनुज्ञानाद् विशेषो हि विशिष्यते।

इति न्यायसिद्धं दोषाभावार्थमनूद्यते तेन विभ्रमादावपि सम्भवेऽनुष्ठानमेव न्याय्यमिति।

दशकृत्वः पिबेदापो गायत्र्या श्राद्धभुग् द्विजः।
ततः सन्ध्यामुपासीत शुद्ध्यते तदनन्तरम्॥

इति वाक्यदर्शनात् तत् कार्य्यम्।

---

(१) ०ऽत्रोक्तकाला०। (२) स्वतः पतने।

उभे सन्ध्येऽवतिष्ठामि भास्करं तद् व्रतं मम।
तस्मादष्टाक्षरं मन्त्रं मद्भक्तै[1]र्वीतकल्मषैः॥
सन्ध्याकाले च जप्तव्यं शतश्चात्मविशुद्धये।

इति भगवद्वचनाद् गायत्रीजपान्ते तदपि जपेत्। तथा—

[2]दण्डमात्रं जपेन्मन्त्रं नारसिंहञ्च सन्ध्ययोः।
सर्व्वरोगविनिर्मुक्तः शतं वर्षाणि जीवति॥

तत स्तिष्ठन्नेव,—

कर्म्मणा मनसा वाचा यद् रात्र्यां कृतमेनसः।
उत्तिष्ठन् पूर्व्वसन्ध्यायां प्राणायामैर्व्यपोहति॥

इति वचनात् प्राणायामत्रयं कुर्य्यात्। एतच्च "फलश्चाकर्म्मसन्निधा"विति न्यायेन सन्ध्याकर्म्मान्तर्गतप्राणायामाद् भिन्नम्। ततः, "विश्वानि देव सवितः" इत्यृचा आदित्योदयकाले उपतिष्ठते विपापो भवति। अस्याः,—नारायण ऋषिः, गायत्री च्छन्दः, सविता देवता। "[3]भद्रो नोऽग्निराहुतः" इत्यादित्योदयकाले जपेत् सुभगो भवति।

तथा—

"तच्चक्षु"रित्यृचा स्नात उपतिष्ठेद् दिवाकरम्।
उद्यन्तं मध्यगञ्चैव दीर्घमायुर्जिजीविषुः।

तथा,—

---

(१) ॰र्व्रतकर्षितैः। (३) रुद्रो नो॰।
(२) दशमात्रं॰।

"उत्" इत्यृग्भ्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेद् दिने दिने।
क्षिपेज्जलाञ्जलीन् सप्त मनोदुःखं व्यपोहति॥

तथा,—

सूर्य्योऽर्य्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः।
गभस्तिमानजः कालो मृत्युर्धाता प्रभाकरः॥
पृथिव्यापश्च तेजश्च खं वायुश्च परायणम्।
सोमो बृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गारक एव च॥
इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः शौरिः शनैश्चरः।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्दो वैश्रवणो यमः॥
वैद्युतो जाठरश्चाग्निरिन्धनस्तेजसां पतिः।
धर्म्मध्वजो वेदकर्त्ता वेदाङ्गो वेदवाहनः॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिः सर्व्वामराश्रयः।
कलाः काष्ठा मुहूर्त्ताश्च पक्षो मास ऋतुश्च यः॥
संवत्सरकरोऽश्वत्थः कालचक्रो विभावसुः।
पुरुषः शाश्वतो योगी व्यक्ताव्यक्तसनातनः॥
लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो विश्वकर्म्मा तमोनुदः।
वरुणः सागरेशश्च जीमूतः पवनोऽरिहा[1]॥
भूताशयो भूतपतिः सर्व्वभूतनिषेवितः।
स्रष्टा संवर्त्तको वह्निः सर्व्वस्यादिकरोऽनलः॥
अनन्तः कपिलो भानुः कामदः सर्व्वतोमुखः।
जयो विशालो वरदः सर्व्वधात्तनिषेवितः॥

---

(१) ० पवनोऽङ्गिरा।

मनुः सुपर्णो भूतादिः शीघ्रगः [1]प्राणधारणः ।
धन्वन्तरिर्धूमकेतुरादिदेवोऽदितेः सुतः ॥
द्वादशात्मारविन्दाक्षः पिता माता पितामहः ।
स्वर्गद्वारं प्रजाद्वारं मोक्षद्वारं त्रिपिष्टपम् ॥
देहकर्त्ता प्रशान्तात्मा विश्वात्मा सर्व्वतोमुखः ।
चराचरात्मा सूक्ष्मात्मा मैत्रेण वपुषान्वितः ॥
एतद् विकर्त्तनीयस्य सूर्य्यस्यामिततेजसः ।
नाम्नामष्टशतं प्रोक्तं शक्रेण सुमहात्मना ॥

सूर्य्योदये यः सुसमाहितः पठेत्
सुपुत्रलाभं धनरत्नसञ्चयान् ।
[2]लभेच्च जातिस्मरतां सदा नरः
स्मृतिञ्च मेधाञ्च स विन्दते भृशम् ॥

* * * *

* * * *

स मुच्यते शोकदवाग्निसागरात्
लभेत कामान् मनसा यथेप्सिताम् ॥

तथा,—

विकर्त्तनो विवस्वांश्च मार्त्तण्डो भास्करो रविः ।
लोकप्रकाशकः श्रीमान् लोकचक्षुर्ग्रहेश्वरः ॥
लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्त्ता हर्त्ता तमिस्रहा ।

---

(१) ० प्राणिधारणः ।

(२) लभेत ० ।

तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः।
गभस्तिहस्तो ब्रह्मा च सर्व्वदेवनमस्कृतः॥
य एतेन महाबाहो द्वे सन्ध्येऽस्तमनोदये।
स्तौति मां प्रयतो भूत्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥

तथा,—

कुर्व्वीत प्रणतिं भूमौ मूर्द्धा नमति पात्य च।
खगोल्काय च सूर्य्याय कारणत्रयहेतवे॥
निवेदयामि चात्मानं नमस्ते ज्ञानरूपिणे।
त्वमेव ब्रह्म परममापो ज्योतीरसोऽमृतम्।
भूर्भुवस्वस्त्वमोङ्कार [1]स्त्वं रुद्रस्त्वं सनातनः॥
एतद् वै सूर्य्यहृदयं जपंस्तवमनुत्तमम्।
प्रातःकाले च मध्याह्ने नमस्कुर्य्याद् दिवाकरम्॥

नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चि-नारायण-शङ्करात्मने॥
यस्योदयेनैव जगत् प्रबुध्यते
प्रवर्त्तते चाखिलकर्म्मसिद्धये।
ब्रह्मेन्द्र-नारायण-वन्दितश्च यः
स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः॥

---

(१) ० स्त्वञ्च रुद्रःसनातनः

तत उपविश्य,—

ब्रह्महा गुरुतल्पगोऽगम्यगामी तथैव च ।
सुवर्णचोरस्तेनश्च गोघ्नो विश्वासघातकः ॥
एवमादिषु चान्येषु पापेषु निरताः सदा ।
प्राणायामान् त्रींश्च कुर्य्युः सूर्य्यस्योदयनं प्रति ॥

इत्यत्रिणाभिहितं कुर्य्यात् । तत्र चोदयनं प्रतीति वीप्सार्थ-प्रतिशब्दप्राप्ताभ्यासस्यैव फलसम्बन्धाभिधानात् फलस्य चातिशयात् यावज्जीवाभ्यासादेव फलं तेनाशौचमध्येऽपि कर्त्तव्यम् । उदयस्य निमित्तत्वादुदयकाले कर्त्तव्यम् ।

---

तत्र,—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं त्रिविधं स्नानमुच्यते ।
तर्पणन्तु भवेत् तत्र अङ्गत्वेन प्रकीर्त्तितम् ॥

इति वचनात् सर्व्वाङ्गजलक्षालनस्यैव स्नानशब्दस्य मुख्यार्थत्वात् ।

शिरःस्नातस्तु कुर्व्वीत दैवं पित्र्यमथापि वा ।

इति वचनात् प्रातःस्नानमनुद्धृतैरुद्धृतैर्वा जलैरुष्णैर्वापि सशिरस्कं चेत् कृतं तदा तदङ्गदेवादितर्पणं कुर्य्यात् । अन्यथा तु प्रातस्तर्पणाभावः ।

यत्तु,—

कृत्वा शिरः स्नानमथाह्निकं वा
सन्तर्प्य तोयेन

इत्यादि, तस्य यथाप्राप्तानुवादपरत्वस्य कल्पतरावप्युक्तत्वाच्च

तेनाशिरस्कस्नानेऽपि तर्पणप्राप्तिः । एवं काम्यस्नानेषु,—तीर्थेषु यत् स्नानं तदपि काम्यमेवेति तत्रापि तर्पणं कार्य्यम् । यत्तु,—कृतप्रातःस्नानस्य प्रातःसन्ध्यानन्तरं दैवपित्र्यकर्म्माङ्गतया स्नानं तत्र विध्यभावात् न तर्पणं, समन्त्रकस्नानमात्रम् । एवमस्पृश्यस्पर्शनादिव्यतिरिक्तसर्व्वनैमित्तिकस्नानेषु [1]तर्पणं कार्य्यम् । मलापकर्षणशुद्ध्यर्थस्नानयोस्तु मन्त्रस्याप्यभाव इत्युक्तमेव । अत्र यद्यपि स्नानाङ्गतया विहितं तर्पणं स्नानानन्तरमेव प्राप्नोति तथापि,—

तर्पणन्तु शुचिः कुर्य्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः ।

इति मध्याह्ने विहितं प्रधानभूतम् । तर्पणकर्म्म स्नानाङ्गस्य, नित्याग्निहोत्रमिव सत्राङ्गाग्निहोत्रस्य, प्रकृतीभूतम् । तत्र माध्याह्निकस्नाने सन्ध्याकर्म्मोत्तरकालत्वं साक्षादुक्तं विकृतावपि सम्भवे प्राप्तम् । तथा ज्योतिष्टोमस्येष्ट्यनन्तरकालत्वं विकृतिसोमेऽप्यतिदेशप्राप्तम् । किञ्च गृहमेधीयप्रयोगमध्ये अग्निहोत्रकाले आगते तत्पदार्थक्रमबाधनाग्निहोत्रानुष्ठानं [2]लिखितं तस्य प्रामाण्येऽप्यरुणप्रकाशमात्रस्नाने कृते प्रागुदयान्मुहूर्त्तमात्रस्य सन्ध्या-

(१) तर्पणशङ्कायां मलाप० ।

(२) निर्णीतम् । तथात्र स्नानानन्तरं सन्ध्याकाले प्राप्ते तर्पणमकृत्वैव सन्ध्याकरणं युक्तम् । यत्तु स्मृतिरत्नमालायां,—आचम्य प्रयतो नित्यं प्रातःस्नानं समाचरेत् । स्नात्वा सन्तर्पयेद्देवान् ऋषीन् पितृगणांस्तथा । आचम्य प्रयतो नित्यं पुनराचम्य वाग्यतिः । सम्मार्ज्य मन्त्रैरात्मानमित्यादिना तर्पणानन्तरं सन्ध्यानुष्ठानं लिखितं तस्य । प्रामाण्येऽपि ० ।

कालत्वप्राप्तावेव तथा युक्तम् । तत्रापि सुपूर्व्वा [ मपि पूर्व्वा ] मित्येतत्पक्षपरिग्रहे मध्ये तर्पणानवकाश एव । आलस्यादिना किञ्चित् स्नान [ काल ] विलम्बे पुनर्मध्ये तर्पणसम्भावनापि नास्ति । न चैवं स्नानादपि प्राक् सन्ध्याकर्म्मप्राप्तिः "स्नातोऽधिकारी भवति" इत्यस्नातस्य तत्राधिकाराभावादिति ।

तत्र "चाङ्गिरेवाप्सु" इति बौधायनवचनात् जलमध्य एव जलप्रक्षेपः कर्त्तव्यः ।

यत्तु,—

स्थलस्थस्तु यदा कुर्य्यात् स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम् ।

इत्यादिवाक्यं तत्प्रामाण्येऽपि बौधायनोक्तेन सह विकल्प एव । एतदेवाभिप्रेत्य कल्पतरावुक्तं नतु स्थलस्थस्य स्थल एवेति नियम इति ।

यत्तु,—

स्थलस्थः शुष्कवासा यः प्रयच्छेदुदके जलम् ।
दाता पापी भवेत् तोयं पितॄणां नोपतिष्ठते ॥

इत्यादि निन्दावचनं तदुदितहोमविधावनुदितहोमनिन्दावद् विकल्पविहितपक्षप्रशंसार्थमेव । तत्र असंस्कृतप्रमीतानां तु यत्कार्य्यं तर्पणं तत्रैव,—

देवतानां पितॄणाञ्च जले दद्याज्जलाञ्जलिम् ।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम् ॥

इति वचनात् स्थलनियमः ।

---

[ ] बन्धनीमध्यस्था अंशाः पुस्तकान्तरे न दृश्यन्ते ।

तत्रादौ,—तर्पणजलप्रक्षेपस्थाने प्रागग्रं कुशत्रयमास्तीर्य्य देवानावाहयेत्। तत्र "आवाह्य पूर्व्ववन्मन्त्रै"रिति श्राद्धसम्बन्ध्यावाहनेतिकर्त्तव्यतादेशेऽपि तत्र "विश्वान् देवानावाहयिष्ये" इति प्रश्नस्यानुज्ञात्वसम्बोधनार्थत्वादत्र च तदसम्भवात् द्वारलोपादकर्म्म स्यादिति न्यायेनाभावः। एवं "पितॄनावहयिष्ये" इत्यादिकरणसमाचारस्त्वविचारपूर्व्वक एव। अतश्च यवान् गृहीत्वा "विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमं हवं इदं वर्हिर्निषीदत" इति वैश्वदेवीं गायत्रीमृचमुक्त्वा "विश्वेदेवा अत्रागच्छत" इत्यावाह्य यवान् विकीर्य्य "विश्वेदेवाः शृणुतेमम्" इत्यृचं "मादयध्वम्" इत्यन्तां वैश्वदेवीं त्रिष्टुभं जपेत्। अत्र तु "ब्रह्मा तृप्यता" मित्येवं वाक्यैः सकृत् सकृदुच्चारितैः, ब्रह्मा, विष्णुः, रुद्रः, प्रजापतिः, देवाः, छन्दांसि, वेदाः, ऋषयः सनातनाः, पुराणाचार्य्याः, गन्धर्व्वाचार्य्याः, इतराचार्य्याः, संवत्सरः सावयवः, देव्यः, अप्सरसः, देवानुगाः, सागराः, पर्व्वताः, सरितः दिव्याः, मनुष्याः, यक्षाः, रक्षांसि, पिशाचाः, सुपर्णाः, भूतानि, पशवः, वनस्पतयः, पृथिवी, ओषधयः, भूतग्रामश्चतुर्विधः इत्येतेभ्यः।

दक्षिणं पातयेज्जानुं देवान् परिचरन् सदा।

इति सामान्यतो विधानात् दक्षिणं जानुमानम्य अन्तर्जानुरुदङ्मुखश्च

दिव्येन देवानुदकेन तर्पयेत्

इति वचनादुदङ्मुखः सव्यपाण्यन्वारब्धदक्षिणपाण्यङ्गुल्यग्रेण ऋजुदर्भैं दैवं स्यात्। कार्य्यं मानुषकं तथा,—

मूलाग्रश्लिष्टदर्भैस्तु पितॄणां तर्पणं स्मृतम् ।

इति वाक्यदर्शनात् समाचाराच्च ।

"अग्रैस्तु तर्पयेद्देवान् मनुष्यान् कुशमध्यतः ।

पितॄंश्च कुशमूलाग्रैः"

इति च सदर्भपत्रत्रयेण सयवा आपः

प्रादेशमात्रमुद्धृत्य सलिलं सलिले क्षिपेत्

इति वाक्यात् प्रादेशमात्रमुद्धृत्य त्रिस्त्रिरेकैकस्य दद्यात्। दर्भपदेन च सर्व्वत्र दुर्व्वादिवदनेकपत्रारब्धैकावयव्यभावात् धान्यादिराशिवत् पत्राणामेकैकमूलसंयुक्तत्वम्। तत्र प्रजापतेः कनिष्ठामूलरूपप्राजापत्यतीर्थेन सकृदेव ।

यत्तु,—

एकैकमञ्जलिं देवा द्वौ द्वौ तु सनकादयः ।

अर्हन्ति पितरस्त्रीं स्त्रींस्त्रयस्त्वेकैकमञ्जलिम् ॥

इति पठन्ति तस्य प्रामाण्येऽपि—

त्रिरपः प्रीणनार्थाय देवाना[1]मपवर्जयेत् ।

पितॄणाञ्च यथान्यायं सकृच्चापि प्रजापतेः ॥

इति विष्णुपुराणाद्[2]विकल्प एव स्यात् ।

अन्वारब्धेन सव्येन पाणिना दक्षिणेन तु ।

इत्यत्र पाण्यन्वारम्भो न साक्षात् पाणिस्पर्शनम्। परम्परा-स्पर्शनस्यैवान्वारम्भार्थत्वात्। यथा पलाशशाखया पशुमन्वारभत इति। अतएव "इलामन्वारभत" इत्यत्रान्वारम्भः कुशैरेव क्रियते।

(१) ० मपवर्त्तयेत् । (२) विकल्पपर एव ० ।

तेनात्र बाहुस्पर्शेऽपि[1] पाण्यन्वारम्भः सिद्ध्यतीति। जलप्रक्षेपश्चास्तीर्य्य कुशेष्वेव। कुशास्तरणस्य प्रक्षेपस्थानसंस्कारत्वेनापेक्षितार्थसम्भवेऽत्यन्तानपेक्षितार्थत्वकल्पनानुपपत्तेः। "अग्निमग्न आवह" इत्यादि यष्टव्यदेवतावाहनस्य [2]हविःप्रक्षेपस्थाने आहवनीयाग्नौ दृष्टत्वाच्च। श्राद्धेऽपि स्वीकारभोजनरूपप्रक्षेपस्थानभूत एव ब्राह्मणे आवाहनं दृष्टम्। [3]ब्राह्मणा आवाहनीयार्था इति। सर्व्वत्र चात्र वक्ष्यमाणे च मन्त्रान्ते मनसा देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागरूपं प्रधानकर्म्म अङ्गभूतप्रक्षेप[4]समानकालं कर्त्तव्यम्। तत्र देवतोद्देशो मन्त्रगतेन देवतापदेनैव तन्त्रसिद्धः। त्यागस्तु मनोमात्रव्यापारो न शब्दरूपः। सचानुद्धृतस्य त्यागायोगात् तत्कालभेदाच्च एकस्यैव सोमयागस्यैन्द्रवायवादिग्रहणभेदाधीनाभ्यासवत् प्रत्यञ्जलिमभ्यसनीयः। एवं पितृतर्पणेऽपि। तत्रचोद्धृतस्यैवेदं जलमिति निर्द्देशसम्भवात् तद्भेदाच्च मन्त्रोऽपि प्रत्यञ्जलि अभ्यस्यते। अत्र पुनर्द्रव्यवाचकपदाभावाद् वेदिं त्रिः प्रोक्षतीति वेदिप्रोक्षणमन्त्रवत् त्रिरभ्यासविशिष्टेऽम्भःसेके मन्त्रविधानात् तन्त्रेण मन्त्रः सकृदेव प्रयोक्तव्यः। तेन देवतोद्देशोऽपि तन्त्रेण त्यागत्रयेऽपि [5]सिद्ध्यति। अत्र यद्यपि तृपिधातुः परस्मैपदीति तृप्यतामिति भावे स्यात्, ततश्च ब्रह्मादिकर्त्तृपदेषु तृतीया प्राप्नोति, तथापि,—

तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना।

(१) ० स्पर्शेनापि ०। (४) ० समकालं ०।

(२) द्रव्य ०। (५) सिद्ध्यतीति।

(३) तथाच तत्रोक्तं ब्राह्मणा आह्वनीया वा इति।

इति प्रातिपदिकमात्रसाहित्याभिधानात् तृतीयान्तेन नाम्ने-त्यवचनात् प्रातिपदिकमात्रविहितप्रथमाविभक्त्यन्तनाम्नैव सह तृप्यतामिति प्रयोगो विवक्षितः। तच्च पितृतर्पणे तृप्यध्वमिति च त्रिवैँ इति बहुवचननिर्द्देशेन स्फुटीकृतम्। अतएव कल्पतरौ तथैव वाक्यं दर्शितम्। एवञ्च देवास्तृप्यन्तामित्येवं बहुवचनान्त-तया प्रयोगः कर्त्तव्यः। अत्र ऋषींश्चैव [१]सनातनानिति सनातन-पदस्य स्वरूपतो देवताभिधायित्वाभावान्मध्ये चकारनिर्द्देशाच्च ऋषिविशेषणपरत्वम्। अत्र यद्यपि विशेषणस्य परस्य पूर्व्व-भावित्वं युक्तं तथापि पाठानुरोधात् ऋषयः [२]सनातनास्तृप्यन्ता-मित्येव प्रयोगः। एवं संवत्सरः सावयव इति भूतग्रामश्चतुर्विध इति च। अत्र ऋषींश्चैव तपोधनानिति वा पाठ[३]स्तथा समाचारात्। तदनन्तरं आचार्य्यांश्चैवेति याज्ञवल्क्योक्तम्। तथापि पुराणा-चार्य्यानिति छन्दोगपरिशिष्टेऽभिधानात् तथैव प्रयोक्तव्यम्। ततो गन्धर्व्वाचार्य्यानिति वचनात् गन्धर्व्वाचार्य्यास्तृप्यन्तामिति प्रयोगः। नात्र गन्धर्व्वानिति केवलमाचार्य्यानित्यस्येतरानित्यनेन सम्बन्धा-दिति शङ्कनीयम्। अत्रैव सम्बन्धसन्देहेऽपि गृह्यसूत्रे उत्सर्गकर्म्मणि पुराणाचार्य्यान् गन्धर्व्वाचार्य्यानितराचार्य्यानिति तर्पणदेवता-निर्द्देशात्। एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रापि तथेति न्यायेना-त्रापि तथैव देवतारूपं निर्णेतव्यम्। तेनेतरपदेन पूर्व्वोपात्ता-चार्य्यव्यतिरिक्तानामाचार्य्याणामेवाभिधानमिति। मनुष्यपदे

---

(१) ० तपोधनानिति तपो धनं यस्य स्वरूपतो ०।

(२) ० स्तपोधना ०।

(३) समाचारश्च सनातनानिति।

दिव्यविशेषणं छन्दोगपरिशिष्टोक्तम्। तथौषधिभ्यः पूर्व्वं तत्रैव पृथिव्युक्ता। [1]एतद्द्वयं वैकल्पिकम्।

ततः—

देवासुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्व्वराक्षसाः।

पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कुष्माण्डास्तरवः खगाः॥

जलेचरा भूनिलया वाय्वाहाराश्च जन्तवः।

[2]तृप्तिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥

इति जपेत्। जपकाले चोदकदानं वैकल्पिकम्।

इदं वापि जपेदम्बु दद्याद् वा स्वेच्छया * *॥

इति वचनात्।

यद्यपि विष्णुपुराणे,—[3]"सर्व्वदेव पितृतर्पणान्त एवेदं जपेत्" इति विहितं तथाप्यौचित्यात् पद्मपुराणपाठानुरोधात् देवतर्पणान्ते देवमन्त्रजपः। पितृतर्पणान्ते पितृमन्त्रस्यैव जपः। ततः,—

* * * * * निवीती च भवेत् ततः।

मनुष्यांस्तर्पयेत् तथा * * * * *॥

इति पद्मपुराणवचनात् यज्ञसूत्रं कण्ठावसक्तं कृत्वा उदङ्मुख एव प्राजापत्येन तीर्थेन सनकस्तृप्यतामित्येवं वाक्यैः सनकः सनन्दः सनातनः कपिलः आसुरिः वोढुः पञ्चशिख इत्येतान् तर्पयेत्। अत्र द्वौ द्वौ तु सनकादय इत्यस्य बाधकाभावात् द्वि-र्द्विर्दद्यात्। यद्यप्यत्र,—

---

(१) तत्र द्वयं०।

(२) प्रीतिमेते०।

(३) सर्व्वदा पितृ०।

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥
सर्व्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुना सदा ।

इति पद्मपुराणवचनात् सकृदेव तर्पणं प्राप्नोति, तथापि,—

प्राजापत्येन तीर्थेन मनुष्यांस्तर्पयेत् पृथक् ।

इति, "द्वौ द्वौ च सनकादय" इति वाक्यदर्शनात् समाचाराच्च पृथक् तर्पणमपि वैकल्पिकम् । ततो मरीचिस्तृप्यतामित्येवं वाक्यैर्मरीचिरत्रिरङ्गिराः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः प्रचेता वशिष्ठो भृगुर्नारद इत्येतांश्च त्रिस्त्रिस्तर्पयेत् । एतच्चर्षितर्पणञ्चाचमनहोम-तर्पणादि प्राजापत्येन कुर्य्यादिति सामान्यवचनात् बाधकाभावाच्च कनिष्ठामूलप्रदेशेन कुर्य्यात् ।

"एतदन्तं निवीतित्वं," "निवीती च भवेत् ततः" ।

इति विधायैतदनन्तरमेव, "अपसव्यं ततः कृत्वा" इति विधानात्, "निवीतं मनुष्याणा" मिति श्रुतेः, ऋषिपुत्रसनकादि-वत् ऋषीणां मरीच्यादीनामपि मनुष्यत्वाच्च । अत्र सामान्येना-भिहितं निवीतत्वमुत्तरवस्त्रस्यापि कर्त्तव्यम् । यज्ञसूत्रमात्रस्य विशेषानभिधानात् ।

यथा यज्ञोपवीतन्तु धार्य्यते सद्द्विजोत्तमैः ।
तथा सन्धार्य्यते यत्नादुत्तराच्छादनं शुभम् ॥

इति वाक्यदर्शनाच्च । एवमपसव्यं वासोयज्ञोपवीते कृत्वेति श्राद्धप्रकरणेऽभिधानाच्चापसव्यत्वमपि । एतत् सनकादिमरी-च्यादितर्पणं याज्ञवल्क्यानुक्तत्वाद् वैकल्पिकमेव । ततो यज्ञो-

पवीतमपसव्यं कृत्वा दक्षिणाभिमुखः सव्यं जान्वन्वारभ्यान्तर्जानु "पित्र्येण पितॄन्" इति श्रुतवचनात् जानुपातने चान्तर्जानुत्वस्य तथा सम्भवाभावादूर्द्ध्वजानुरेव चास्तृतकुशान् दक्षिणाग्रान् कृत्वा तिलानादाय "उशन्तस्त्वा" इत्यादि ऋचं पैत्रीमानुष्टुभमुक्त्वा कव्यबालादयो वस्वादयोऽस्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अस्मन्मातृ-पितामहीप्रपितामह्यः अस्मन्मातामहप्रमातामहवृद्धप्रमातामहा अत्रागच्छतेति । सामान्याकारेण वा पितरोऽत्रागच्छतेत्यावाहयेत् ततस्तिलान् विकीर्य्य "आयान्तु नः पितर" इत्यृचं पैत्रीं जपेत् । ततो राजतेन पात्रेण तदभावे सौवर्णेन तदभावे ताम्रेण खड्गशृङ्गनिर्म्मितेन वाञ्जलिधृतेन ।

तथा,—

राजतैर्भाजनै र्वापि अथवा रजतान्वितैः ।
वार्य्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥

इत्यस्य श्राद्धप्रकरणाम्नातस्यापि "वारुणो यज्ञावतर" इत्यस्याधानप्रकरणाम्नातस्य वाक्येन क्रतुसंयोगवत् पितृतर्पण-परतोपपत्तेः । पात्रासम्भवे एतदन्यतमकीलकयुक्ताञ्जलिमात्रेण वा तिलमिश्रोदकैरङ्गुष्ठतर्जनीमध्यमात्मना पितृतीर्थेन पितॄं-स्तर्पयेत् । यत्तु कैश्चित् सुवर्णादि संस्कारमात्रं न पात्रमञ्जलि-नैव तर्पणमित्युच्यते तत् सुवर्णेन पात्रेण राजतेनोदुम्बरेण वा खड्गपात्रेण वेति श्रुत्योक्तं,

राजते मनसा पायात् सौवर्णे हस्तनिर्गतम् ।
ताम्रेण द्विमुहूर्त्तेन———

इति मरीच्युक्तञ्च द्रष्टा इति। यत्त्वत्र,—

पितृश्राद्धे रवौ शुक्रे सप्तम्यां निशिसन्ध्ययोः ।
सङ्क्रान्त्यां जन्मदिवसे न कुर्य्यात् तिलतर्पणम् ॥

इति निषेधवाक्यं पठन्ति तत्प्रामाण्यं सद्विहितप्रतिषेधार्थत्वाद् विकल्पपरमेव ।

तत्रापि,—

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः ।
उपाकर्म्मणि चोत्सर्गे युगादौ पितृवासरे ॥
रविशुक्रदिने वापि न दुष्येत् तिलतर्पणम् ।

तथा,—

तीर्थे तिथिविशेषे च गङ्गायां प्रेतपक्षके ।
निषिद्धेऽपि दिने कुर्य्यात् तर्पणं तिलमिश्रितम् ॥

इति वचनादेतेषु विकल्पसम्भावनाया अप्यभावः। तथा पात्रेण तर्पणेऽपि "पितृतीर्थसमीपतः" इति समीपपदस्यैतत्परत्वम्। अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यस्थपात्रप्रदेशे जलं गृहीत्वा तत्र तिलान् मिश्रयेत्। पात्राभावे तु पूर्व्वं वामकरमध्ये तिलान् दत्वाञ्जलिना जलं गृह्णीयात्। एतदेव,—

यदुद्धृतं प्रसिञ्चेद् वै तिलान् सम्मिश्रयेज्जले ।
अतोऽन्यथा तु सव्येन तिला ग्राह्या विचक्षणैः ॥

इति श्लोकेनोक्तम्। एवं दृष्टानुवादकत्वसम्भवेऽदृष्टार्थविधिपरत्वकल्पनानुपपत्तेः। न चैतत् कूपादुद्धृतभूमिष्ठजलतर्पणविषयम्। पात्रे गृहीते पश्चात् तिलमिश्रयणसम्भवात्। अञ्जलिना

ग्रहणे त्वर्थसिद्धिग्रहणानुवादेन सव्यहस्तधारणमात्रविधिपरत्व-सम्भवे दृष्टमात्रार्थानेकविधिपरत्वकल्पनानुपपत्तेः। अतएव "सव्येनैव तिला देया" इति यत् कैश्चिदुच्यते तदप्यपास्तम्। दृष्टार्थत्वसम्भवेऽत्यन्तादृष्टार्थत्वायोगात्। किञ्च तदान्यथेति न सङ्कल्पे पूर्व्वोक्तविपरीताभिधानमेव तथोच्यते। न च पूर्व्वं दक्षिणेन ग्रहणमुक्तं तेनाग्नेयेन प्रतिगृह्णीयादितिवत् वामे स्थापनमेवोच्यते। तदुक्तं मरीचिना,—

सव्यहस्ते तिला ग्राह्या मुक्ता हस्तन्तु दक्षिणम्।

इति।

वामहस्ते तिलान् दत्वा जलमध्ये तु तर्पयेत्।

इति वाक्यदर्शनात्।

मुक्तहस्तन्तु दातव्यं न मुद्रां तत्र दर्शयेत्।

इति वाक्यदर्शनात् तिलग्रहणमपि अङ्गुष्ठतर्जनीयोगरूप-मुद्रया न कुर्य्यात्।

अङ्गस्थे न तिलैः कुर्य्यात् देवतापितृतर्पणम्।

इति वाक्यदर्शनात् सौकर्य्यार्थमुर्व्वादौ तिलस्थापनं न कार्य्यम्

अत्र तिलसंख्यानुक्तापि ग्राह्यासम्भवे यत्,—

तिलैः सप्ताष्टभिर्वापि समवेतान् जलाञ्जलीन्।
भक्तिनम्रः समुद्दिश्य भुव्यस्माकं प्रदास्यति॥

इति सतिलतर्पणमुक्तं तत्गता तिलसंख्या अत्रापि ज्ञातव्या तत्र,—

विना रूप्यसुवर्णाभ्यां विना[1]ताम्रमयेन च।
विना दर्भैश्च मन्त्रैश्च पितॄणां नोपतिष्ठते॥

इति वचनाद् दर्भाः प्राप्ताः। ते च "पित्र्ये च द्विगुणा दर्भा" इति सामान्यवचनाद् द्विगुणाः कार्य्याः।

तिलानामप्यभावे तु सुवर्णरजतान्वितम्।
तदभावे निषिञ्चेत्तु दर्भैर्मन्त्रेण वा पुनः॥

इत्यनेन

सामान्येनानुज्ञानाद् विशेषो हि विशिष्यते।

इति न्यायबलात् तिलाद्यसम्भवे वैगुण्यदोषाभावः। [2]दर्भमन्त्रासम्भवे कियान् इत्युच्यते।

तत्र कव्यवालस्तृप्यतामित्येवं वाक्यैः कव्यवालः नलः सोमः [3]यमपुरुषः अग्निष्वात्ताः पितरः सोमपाः पितरः वर्हिषदः पितरः, इत्येतान् पितृगणांश्च यथान्यायमिति पितृतर्पणमात्रे त्रित्वाभिधानात् त्रिस्त्रिस्तर्पयेत्। यमपुरुषोऽत्र छन्दोगपरिशिष्टोक्तत्वाद् वैकल्पिकः।

अत्र केचित् "स्वधा नमः" इति प्रयोगमिच्छन्ति तदयुक्तम्,—

एतांश्च वक्ष्यमाणांश्च प्रमीतपितृको द्विजः।
तर्पयेत्————————॥

इत्यध्याहारेण समाप्ते वाक्ये पृथग्वाक्येनैव,—

(१) ० ताम्रतिलेन च। (३) यमः अर्य्यमा।
(२) दर्भमन्त्राभावे कियान् दोष इत्युच्यते।

वसूंश्च रुद्रानादित्यान् नमस्कारस्वधान्वितान्।
आचार्य्यांश्च पितॄन् स्वांश्च——— ॥

इति विधानादेकवाक्यत्वे वक्ष्यमाणपदासङ्गतिः। ततो यमांश्चैके।

यमाय धर्म्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च।
वैवस्वताय कालाय सर्व्वभूतक्षयाय च॥
औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने।
[1]वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः॥
एकैकशस्तिलोन्मिश्रान् त्रींस्त्रीन् दद्याज्जलाञ्जलीन्।
यावज्जन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥

"जीवत्पितृकोऽप्येतानन्यांश्चेतर" इति कात्यायनवचनात् "यमाय नमः" इत्यादिवाक्यै द्विचत्वारिंशद्वारं सतिलजलाञ्जलीन् दद्यात्। अत्र,—

न जीवत्पितृकः कृष्णैस्तिलैस्तर्पणमाचरेत्।

इति वाक्यदर्शनादकृष्णतिला ग्राह्याः। यदत्र केचिद् यमगणस्य देवतात्वाद् यज्ञोपवीतित्वाद् देवतर्पणधर्म्म एवेत्युक्तं तत्र कात्यायनोक्तक्रमदृष्ट्या कल्पितमित्युपेक्षणीयम्। कथञ्चिद् देवतात्वाद् देवतीर्थेन पितृत्वाद् दक्षिणामुख इति वाचनिकं ग्राह्यम्। एतच्च तर्पणं संयोगपृथक्त्वन्यायेन "यमांश्चैके" इति वचनान्नित्यतर्पणान्तर्गतं "यावज्जन्मकृतं" इत्यनेन पापक्षयार्थञ्च।

यत्तु कृष्णचतुर्द्दश्यां प्रागर्कोदयान्नदीस्नानपूर्व्वकं सप्तभिरञ्जलिभिर्यमतर्पणं सर्व्वपापक्षयार्थं विहितं तस्य नदीस्नानेन सहैक-

(१) दध्नोदराय०।

कर्म्मत्वात् स्नात्वेति क्त्वा निर्द्देशाच्च स्नात्वा जलस्थेनैव कर्त्तव्यम् । तेनैव स्नानेन तन्त्रेण प्रातःस्नानसिद्धेर्न पृथक् तदनुष्ठानम् । तत्र चोत्पत्तिवाक्ये धर्म्मराजं समुद्दिश्येत्युक्तत्वाद् "धर्म्मराजाय नमः" इत्येव प्रयोग इति । एतावज्जीवत्पितृकस्य तर्पणं नित्यम् । "यदि स्याज्जीवत्पितृक एतानि" इति नियमनात् मृतमात्रादि-[1]मातामहादितर्पणस्याप्यभावः ।

येभ्यो वापि पिता दद्यात् तेभ्यो वापि प्रदापयेत् ।

इति वैकल्पिक[2]पितामह्यादितर्पणपक्षे पुनर्मृतमात्रादितर्पणम् । प्रमीतपितृकः पुनः,—ॐ वसवस्तृप्यन्तामिदं जलं तेभ्यः स्वधा नमः इत्येवं वसवो रुद्रा आदित्या आचार्य्या इत्येतांस्तथैव तर्पयित्वा सतिलोदकमादाय पितृरूपं ध्यायन् "उदीरतामवर" इत्यृचं "हवेषु" इत्यन्तां पैत्रीं त्रिष्टुभं प्राजापत्यार्षां जपित्वा ॐ अमुकसगोत्रोऽस्मत्पिता अमुकशर्म्मा तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नमः इति तर्पयेत् ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा
अथर्व्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियाना-
मपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥

इति यमार्षां त्रिष्टुभं पैत्रीं जपित्वा तथैव पितरं तर्पयेत् । पुनः—"आयान्तु नः पितरः," "त्वस्मान्" इत्यन्तां पैत्रीं त्रिष्टुभं जपित्वा तथैव पितरं तर्पयेत् ।

(१) ० पितामह्यादि ० ।    (२) पितामह्यादि ० ।

ततस्त्रीनञ्जलीन् दद्यादुच्चैस्त्वरितं ततः।
गोशृङ्गमात्रमुद्धृत्य जलमध्ये जलं क्षिपेत्॥

इति वाक्यदर्शनादविरोधात् तथैव कर्त्तव्यम्। ततः,—"ऊर्ज्जं वहन्ती" इत्यृचं जपित्वा अमुकसगोत्रोऽस्मत्पितामहोऽमुकशर्म्मा तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नम इति तर्पयेत्। एवं "पितृभ्यः स्वधायिभ्य" इति मन्त्रं "पितरः शुन्धध्वम्" इत्यन्तं पित्र्यं जपित्वा तथैव पितामहं तर्पयेत्। यद्यप्येते पञ्च मन्त्रास्तथापि सुराग्रहणशेषप्रतिपत्तिरूपैकार्थत्वाविशेषात् सर्व्वमन्त्रो गृह्यते। एवं "ये चेह पितरः" इत्यृचं "जुषस्व" इत्यन्तां जपित्वा तथैव तर्पयेत्। "मधु वाता" इत्यृचं जपित्वा अमुकसगोत्रोऽस्मत्प्रपितामहोऽमुकशर्म्मा तृप्यतामिदं जलं तस्मै स्वधा नम इति तथैव तर्पयेत्। "मधु नक्त"मित्यृचं जपित्वा तथैव तर्पयेत्। पुनः—"मधुमान्न" इत्यृचं जपित्वा तथैव तर्पयेत्। [1]अत्र गोतम ऋषिः गायत्रीच्छन्दः विश्वेदेवा देवताः। अत्र यद्यपि पितृप्रभृतिनामतो मन्त्रैश्च देयमुदकमिति नामानन्तरमेव मन्त्रोपादानं तथापि नामयुक्तस्य तृप्यतामितिपदस्य निष्कृष्टप्रधानप्रकाशकतया मन्त्रान्तानुष्ठेयप्रधानाव्यवधान[2]स्योचितत्वात् "तृप्यतामिति सेक्तव्य" मिति [3]साधारणवचनाच्च विशेषप्रकाशकानां मन्त्राणां पूर्व्वमेव प्रयोगो यवागुपाकाग्निहोत्रहोमवदुचितः। न च प्रसिञ्चन् वै जपेन्मन्त्रान् यथाक्रममिति शङ्ख-

(१) अस्याः। (२) ० स्यौचित्यात्। (३) ० सर्व्वसाधारण ०।

प्रत्ययेन प्रसेकसमकालित्वमुच्यते इति वाच्यं "मन्त्रैश्च देय-मुदक" मिति प्राप्तकरणत्वाधान[1]प्रसेकपूर्व्वकालजपमन्त्रानुवादेन यथाक्रममिति नवस्वञ्जलिषु क्रमेण एकैकमन्त्रविनियोगविधि-मात्रपरत्वात् तस्य । अत्र मन्त्राणामादौ

ओंकारं प्रथमं कृत्वा ततो ब्रह्म प्रवर्त्तयेत् ।

इति वचनादोङ्कारप्रयोगः प्राप्नोति । तथापि कर्म्मारम्भ-[2]प्रयुक्तेनैव तेन सर्व्वमन्त्रोपकारसिद्धेर्न पृथक् प्रयोगः । केवलं

तृप्यतामिति सेक्तव्यं नाम्ना तु प्रणवादिना ।

इति विशेषेण विधानान्नामादौ पृथक् प्रयोगः । सच गोत्रादि-पदानां नामविशेषणतया नामान्तर्गतत्वादादावेव कार्य्यः । तत्र "पित्रादिनामगोत्रेणे"ति पश्चादुक्तमपि गोत्रपदं विशेषणत्वा-दादौ प्रयुज्यते । तत्र "सन्ततिर्गोत्र[3]चरण"मिति पर्य्यायपाठात् सन्तानार्थं सन्तानादिभूतेन भरद्वाजादिना ऋषिणा अवच्छिन्नम् । तस्य पित्रादिविशेषणतासिद्धौ तदपत्यसमानगोत्र इत्यभिप्रेत्य भरद्वाजसगोत्र इत्येवमुच्यते । अन्ये तु मध्यपदलोपिसमास-मभिप्रेत्य सकारं परित्यज्य भरद्वाजगोत्र इत्येवमाहुः । व्यधिकरण-बहुव्रीह्यभिप्रायेण भरद्वाजगोत्र इत्येवमपि केचिदाहुरिति । ततः,—अमुकसगोत्रा अस्मत्पितृपितामहप्रपितामहा अमुका-मुकशर्म्माणस्तृप्यध्वमिदं जलं युष्मभ्यं स्वधा नम इति तर्पयेत् । त्रिकृत्वः । ततः प्राञ्जलिरानतो "नमो वः पितर" इति मन्त्रं

(१) ० प्ररोचकपूर्व्व ० ।
(२) युक्तेनैव ० ।
(३) ० जननीति ० ।

"पितरो नम" इत्यन्तं प्राजापत्यार्षं [1]पैत्रं जपेत्। अत्र षडञ्जलि-करणसमाचारः श्राद्धगततद्दर्शनभ्रान्तिमूलः, तथा वचनाभावात्। श्राद्धेऽप्यञ्जलिकरणं सम्पुटरूपेणैव "षट्कृत्वो नमस्करोती"ति श्रुतेः। तथाच "नमो व इत्यञ्जलिं करोती"ति सूत्रेण कर्काचार्य्यै-रुक्तं नमस्काररूपत्वात् सम्पुटाञ्जलिमिति। तत्र पितामहादि-जीवने स्वान् पितॄनिति [2]देवतात्वेन सिद्धानामभिधानात्।

पिता यस्य तु वृत्तः स्याज्जीवेद्वापि पितामहः।

पितुः स्वनाम सङ्कीर्त्य कीर्त्तयेत् प्रपितामहम्॥

इति तत्राभिधानाद् वृद्धप्रपितामहादियोगेन तानेव तर्पयेत्। नात्र पितामहे च जीवति पितर्य्येव समापयेदिति पक्षः। अत्रोत्पत्तिवाक्येऽपि "पितॄन् स्वान्" इति बहुवचननिर्द्देशादिति। ततो योगियाज्ञवल्क्यादौ मातामहतर्पणमुक्तम्। तथापि तत्र मातृपितामह्यादि[3]त्रिपुरुषतर्पणं नोक्तं किन्तु पित्रादितर्पणेने-वोपलक्षितम्। बौधायनशङ्खयोश्च पित्रादेरुक्त्वा मात्रादेरेवोक्तं। तदन्तरमेव मातामहादीन्। तदुक्तमेवाभिप्रेत्य कल्पतरुकारेण "मात्रादितर्पणस्य नित्यता तु स्मृत्यन्तरानुसारात्" इत्युक्तम्। न हि ततोऽन्यत्र मात्रादितर्पणमुक्तम्। तथा "त्रीन् पितृतस्त्रीन् मातृत" इति गोभिलसूत्रम्। तत् पद्धतौ च "मातृतः" इति शब्दबलेन पितृमातामहयोर्मध्ये मातृतर्पणमौरसस्य प्रतिपादित-मित्युक्तम्।

(१) पित्र्यं०। (३) ०पुरुषत्रयतर्पणं०।

(२) ०श्राद्धदेवतात्वेन०।

[1]शङ्खः,—

पित्रे पितामहेभ्यश्च मात्रे दद्यात् ततो जलम् ।
पितामह्यै ततो दद्यान्मातामहकुले ततः ॥

[2]इति । एवं स्मृत्यन्तरम्,—

पितृभ्यः प्रथमं दद्यान्मातृभ्यस्तदनन्तरम् ।
ततो[3]मातामहादीनां पितृसम्बन्धिनां ततः ॥
पितॄणां तर्पणं पूर्व्वं मातॄणां तदनन्तरम् ॥

इति मरीचिः ।

पित्रादित्रयपत्नीनां मुख्यं देयं ततो जलम् ।
ततो [4]मातामहादीनां क्रम एष तु तर्पणे ॥

इति । स्मृत्यन्तरे च,—

मातामहानां यः कृत्वा [5]मातॄणां यः प्रयच्छति ॥
तर्पणं पिण्डदानञ्च नरकं स तु गच्छति ॥

ततो मातुः परमगुरुत्वाच्च मात्रादितर्पणमेवादौ कार्य्यम् । यत्तु विष्णुपुराणे,—मातामहादितर्पणानन्तरं मात्रादितर्पणमुक्तं तत् पुराणवाक्यात् स्मृतिवाक्यस्य धर्म्मं प्रति बलीयस्त्वात् तत्र "काम्यञ्चान्यच्छृणुष्व" इति काम्याभिधानाच्च सपत्निमात्रादि-परत्वेन नेयम् ।

---

(१) विष्णुस्मृतौ चादौ स्ववंशानामिति सामान्याकारेणोक्तम् । शङ्खः,—
(२) इत्येवं स्मृत्यन्तरम्,—० ।
(३) ० मातामहानाञ्च ० ।
(४) ० मातामहानाञ्च ० ।
(५) ० मातॄणाञ्च ० ।

पितॄणां प्रथमं देयं ततो मातुः पृथग् जलम्।
ततो मातामहानाञ्च पितृव्यस्य सुतस्य च॥

इति केचित् पठन्ति। तन्मते पश्चात् पितामह्यादितर्पणं स्यादिति। तत्र "पित्रादिनामगोत्रेण" इति। "नमस्कारस्वधान्वितान्। पितॄन् स्वांश्च"।

इति साधारणवचनाद् बौधायनेन "मातृभ्यः स्वधा नमस्तर्पयामि" इत्यादिनिर्देशाच्च अमुकसगोत्रा अस्मन्माता अमुका देवी तृप्यतामिदं जलं तस्यै स्वधा नमः इति त्रिस्त्रिस्तर्पयेत्। "पितॄन् मातामहान्" इति "प्रतिपुरुषमभ्यसेत्" इत्यत्र पितृशब्देन मातॄणा(१)मित्युपलक्षणात्

मातृमुख्यास्तु यास्तिस्रस्तासां दद्याज्जलाञ्जलीन्।
सपत्निमातुरुद्दिश्य स्त्रियस्त्वेकैकमञ्जलिम्।

इति वाक्यं केचित् पठन्ति। तथा—

न सकृत्प्रतिपद्येत मातॄणां पितृवत् तथा।
ततो मातामहानाञ्च तत्पत्नीनां सकृत् सकृत्॥

इति। एवं पितामह्याः प्रपितामह्याश्च त्रिस्त्रिः। अत्र मातृजीवने जीवत्पितृकस्येव जीवन्मातृकस्य इति इतरतर्पणपरिसंख्याभावादितरयोस्तर्पणम्। न तत्र वृद्धप्रपितामह्यादियोगो मातृपितामहीप्रपितामहीनामेव तर्पणविधानात्। "पितॄन् स्वान्" इतिवत् सामान्यवचनाभावात्। एवं मातामहजीवनेऽपि तदुत्तरद्वयतर्पणम्। प्रमातामहादिजीवनेऽपि द्वयो-

---

(१) ०मप्यप०।

रेव। अत्र,—अमुकसगोत्रोऽस्मन्मातामहोऽमुकशर्म्मा तृप्यतामित्यादि त्रिर्मातामहतर्पणम्। एवं प्रमातामहस्य वृद्धप्रमातामहस्य च। तत्र मातामहादितर्पणे "नमः" शब्दं केचिन्नेच्छन्ति। न च तत्र मूलं दृश्यते। न च "पितॄन् स्वांश्च" इति "स्व" पदात् तद्व्युदासः। तत्र "स्व" पदस्य कव्यवालनलादिसर्व्वसाधारणपितृव्यवच्छेदेनासाधारणपितृगणग्रहणमात्रार्थत्वात्। अन्यथा पितामहादेरपि व्यवच्छेदः स्यादिति। अत्र "नमस्कारस्वधान्वितान्" इति समासपदस्योभयान्वयमात्रार्थत्वाद् बौधायनादितर्पणवाक्यानुरोधेन "स्वधा नमः" इति ब्रूमः।

ततो मातामहीप्रमातामहीवृद्धप्रमातामहीना[1]माचार्य्यपत्नीगुरुपत्नीनाञ्च तर्पणं बौधायनेन नोक्तम्। ज्येष्ठभ्रातृपितृव्यमातुलानाञ्च छन्दोगपरिशिष्टोक्तं "स्मृतिशास्त्रविकल्पस्तु" इति वैकल्पिकम्।

अत्र सखिसपत्निमातृमातृस्वसृमातुलानीपितृस्वसृशिष्यर्त्विजां तर्पणमानृशंस्यार्थमिति वचनात् काम्यं न नित्यम्। तेनाह्निककाल एवैतत् कर्त्तव्यं न स्नानाङ्गतया। न च "ततो मातामहान् सर्व्वांस्तर्पयेदानृशंस्यार्थ"मिति वचनान्मातामहादितर्पणमपि काम्यम्। पूर्व्वं "मातामहांश्च सतत"मित्युक्तत्वात्। अत्र तत इति क्रमार्थ एव। मातामहोपादानात्। ततस्ततः सम्बन्धिबान्धवानां ततः [2]सुहृदाम्। एवं नित्यस्नायी स्यादिति

(१) ० आचार्य्याचार्य्यपत्नी ०। (२) सुहृदामेव।

विष्णुस्मृतौ नित्यस्नानाङ्गतयाभिधानादस्मत्सम्बन्धिबान्धवास्तृप्यध्व-मिति अस्मत्सुहृदस्तृप्यध्वमिति च तर्पयेत्।

अत्रापि यथाश्रद्धं [1]यथाप्रकाशमिति शङ्खवचनाद् यस्य यस्य नाम्नो विशेषतस्तर्पणे श्रद्धा भवति तस्य तस्य तथा कुर्य्यादिति।

तत्र सपत्निमात्रादेस्तर्पणे,—

नामतस्तु स्वधाकारैस्तर्प्याः स्युरनुपूर्व्वशः।

[2]इति नियमनात् "नमः" शब्दस्याप्राप्तिः। बौधायने तु सर्व्वत्र स्वधा नम इति तर्पयामीति निर्द्देशात् प्राप्तिरिति विकल्प एव। तत्र ज्येष्ठभ्रातृपितृव्यमातुलादीनां वैकल्पिकं तर्पणमुक्तं तदविशेषात् पुत्रवतामपि तेषां स्यादेव। अत्रैवं क्रमं पठन्ति,—

देवं पिता च माता च मातामहपितृव्यकौ।
भ्राता च पितृभगिनी मातुलः श्वशुरस्तथा॥
मातुःस्वसा च भगिनी पत्नी पुत्रस्तथैव च।
गुरवः स्वामिनश्चैव भावुकः श्यालबान्धवाः॥
पितृतर्पणकाले च कारुण्यश्राद्धकर्म्मणि।
क्रमेणैते प्रयोक्तव्याः शौनकस्य वचो यथा॥

ततः सर्व्वतर्पणान्ते अनुतीर्थमासिञ्चति "ऊर्जं वहन्ती"त्यृच-मुक्त्वा तृप्यत तृप्यतेति बौधायनोक्तं वैकल्पिकम्। ततश्च,—

नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद् दीयते सलिलं मया॥

---

(१) यथागममिति ०।

(२) इति नियमात् "नमः" शब्दप्रयोगस्यापि प्राप्तिः।

ये बान्धवा अबान्धवा अन्यजन्मनि बान्धवाः ।

ते तृप्तिमखिला यान्तु येचास्मत्तोयकाङ्क्षिणः ॥

इति जलं ददज्जपेत् ।

एतद्देवादितर्पणमाह्निककर्म्ममध्ये प्रधानम् । केवलं तेनापि प्रसङ्गात् स्नानोपकारोऽपि क्रियते ।

एवम्,—

देवाश्च पितरश्चैव काङ्क्षन्ति सरितं प्रति ।

अदत्ते तु निराशास्ते प्रतियान्ति यथागतम् ॥

इति वचनात् नदीप्राप्तनिमित्तकञ्च तत्र प्रतिनिमित्तमावर्त्तत इति । ततः,—

स्नानशाट्यां प्रदातव्या मृदस्तिस्रो विशुद्धये ।

इति वचनात् मृद्भिः प्रक्षाल्य तन्निष्पीड़नोदकं—

असंस्कृतप्रमीतादीनुत्सृष्टस्य च भागिनः ।

इत्युद्दिश्य स्थल एव क्षिपेत् । तत्र मन्त्रमाहुः,—

ये चास्माकं कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।

ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीड़नोदकम् ॥

इति । एतच्च प्रतिपत्तिकर्म्मापि स्विष्टकृद् यागवद् देवोद्देश-त्यागांशेऽदृष्टार्थञ्च तेनासामर्थ्यादकृतस्नानस्य प्रतिपाद्याभावेऽपि जलान्तरेणापि कर्त्तव्यम् । जीवत्पितृकेण च एतानेवेति नियम-पक्षेऽदृष्टांशस्तर्पणरूपत्वान्न कर्त्तव्यः । निष्पीड़नप्रक्षेपमात्रं कर्त्तव्य-मेव । यद्यप्येतन्माध्याह्निकप्रकरणे पठितं तथापि "वस्त्रनिष्पीड़नं तोयस्नातस्य" इत्यादिवाक्येन स्नानसम्बन्धाभिधानात् पौर्वमासेनेष्टा

वै मृधं निर्वपतीतिवत् प्रकरणाद् वाक्यस्य बलीयस्त्वाददृष्टार्थ-स्नानमात्रे कर्त्तव्यम् ।

अत्र,—

द्वादश्यां पञ्चदश्याञ्च संक्रान्त्यां श्राद्धवासरे ।
वस्त्रं न पीड़येच्चैव न च क्षारेण योजयेत् ॥

इति पठन्ति । अतो यज्ञोपवीती भूत्वा सकृदाचम्य पुरुष-सूक्तेन प्रत्यृचं पुरुषाय पुष्पाञ्जलिं दद्यादुकाञ्जलिं वेति विधायैवं नित्यस्नायी स्यादिति विष्णुनोक्तत्वाद् विष्ण्वर्चनं तर्पणवत् स्नानाङ्ग-तया कर्त्तव्यम् । तत्र तर्पणानन्तरं योगियाज्ञवल्क्येन "आवाहना-दिकं कर्म्म" इत्यादिनोक्तं तद्रूपत्वादस्यापि तदेव मूलमेव युक्तमिति ।

यदत्र प्रत्यृचं दानमुक्तं तत् तत्रापि ज्ञातव्यम् । तत्रापि "एतद् दद्याद् पुरुषसूक्तेन" इत्युक्तेऽपि प्रतिमन्त्रं वाक्यभेदादिति पृथगेव प्राप्नोति । किञ्च यत् "पुष्पाणीति" बहुवचनेन,—

ध्यात्वा प्रणवपूर्व्वन्तु दैवतन्तु समाहितः ।
नमस्कारेण पुष्पाणि विन्यसेच्च पृथक् पृथक् ॥

इति सर्व्वार्थतया पृथगित्यभिधानाच्च दर्शितमेव । एवं मन्त्र-लिङ्गप्राप्तपुरुषदेवतार्थत्वं "पुरुषाय" इत्यन्यत्रोक्तं तदत्र ज्ञातव्यम् । अतएव तत्र,—

आद्ययावाहयेद् देवमृचा तु पुरुषोत्तमम् ।

इत्युक्तम् । तद्बलादौचित्याच्चात्र श्रीपुरुषोत्तमपद एव प्रयो-क्तव्यः । तथाच प्रणवेनावाहनाद्यत्र ज्ञातव्यं तत्र "ओं आगच्छ

श्रीपुरुषोत्तम" इत्यावाहनम् । "ओं श्रीपुरुषोत्तमायासनं ददामि नमः" इत्यासनार्थं (१)पुष्पं जलं वा दद्यात् । एवं पाद्यार्घ्याचमनीयवस्त्राचमनयज्ञोपवीतगन्धान् दत्वा सहस्रशीर्षेत्यादिषोड़शर्चामेकैकया प्रणवाद्यया श्रीपुरुषोत्तमाय नम इत्यन्तया षोड़शजलाञ्जलीन् पुष्पाञ्जलींश्च दधिपयोवत्तन्त्रेण दद्यात् । "यः पुष्पाण्यप एव वा" इति वचनात् पुष्पमात्राञ्जलीन् जलमात्राञ्जलीन् वा । ततो धूपदीपनैवेद्याचमनीयानि "तत् सवितु"रित्याद्यया गायत्र्या दत्वा ओं श्रीपुरुषोत्तमाय नम इत्यञ्जलिबन्धनप्रदक्षिणावर्त्तनोद्वासनानि कुर्य्यात् । "गायत्र्या दद्यात्" इति देयेष्वेव तद्विधानात् । तत्र धूपाद्यसम्भवे "यथाशक्ति" इति वचनादप्रदानेऽप्यविरोधः ।

ओं सूर्य्याय नमः प्रातः सायञ्चैवाग्नये नमः ।
अनग्निमान् ब्रह्मचारी प्रदद्यादुदकाञ्जलिम् ॥

इति व्यासवचनात् समाचाराच्च कुर्य्यात् । ततः,—

एवमष्टाक्षरं मन्त्रं जपन्नारायणं स्मरेत् ।
सन्ध्यावसाने सततं सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

इति कुर्य्यात् । एतेन,—

अजप्त्वाष्टाक्षरं मन्त्रं नाहमश्नामि किञ्चन ।

इति वचनात् स्वयंहोमिनोऽग्निहोत्रहुतशेषाशननिमित्ततया प्राप्तोऽपि जपस्तन्त्रेण कृतो भवति । तत्रादौ,—

(१) पुष्पाञ्जलिं दद्यात् ।

इत्युक्तोऽष्टाक्षरन्यासः सर्व्वपापहरस्त्रिधा ।
स सन्ध्ययोरिति श्रेयान्——— ॥

इति कल्पतरुवचनात् मन्त्राभिमृष्टपाण्योः पर्व्वस्वक्षराणामङ्गुष्ठादिष्वङ्गमन्त्राणां व्यापकं मन्त्रस्य नाभ्यादिष्वक्षराणां च न्यासं कुर्य्यात्। [1]तथा सर्व्वास्वपराधक्रियास्वप आचामेत् "अहश्च मादित्यश्च पुनातु" इति प्रातः "रात्रिश्च मा वरुणश्च पुनातु" इति सायम्। इति गौतमोक्तं कुर्य्यात्। ततः,—

वरुणं वायुमादित्यं पर्जन्यं जातवेदसम् ।
स्थाणुं स्कन्दं तथा लक्ष्मीं विष्णुं ब्रह्माणमेव च ॥
वाचस्पतिं चन्द्रमसमपः पृथ्वीं सरस्वतीम् ।
सततं ये नमस्यन्ति तान् नमस्याम्यहं प्रभो ॥

इति दानधर्म्मे नारदवचनादेतान् नमस्येत् ।

ततः,—

ज्यायानपि कनीयांसं सन्ध्याकालेऽभिवादयेत् ।
विना पुत्रञ्च शिष्यञ्च दौहित्रं दुहितुःपतिम् ॥

इति वाक्यदर्शनात् समाचाराच्च तत्रस्थानभिवादयेत् ।

यत्तु,—

ज्येष्ठो यदि नमस्कुर्य्यात् कनिष्ठाय तयोः पुनः ।
जन्मप्रभृति यत् पुण्यमायुश्चैव प्रणश्यति ॥

इति पठन्ति, तदेतद्वाक्यबलात् सन्ध्याकालेतरकालपरमेव स्यात्। तत्र,—

(१) मन्त्रैर्दिग्बन्धनं वक्ष्यमाणप्रकारेण कुर्य्यात्। तथा सर्व्वास्वपराध०।

जन्मप्रभृति यत् किञ्चिच्चेतसा पुण्यमर्जितम् ।
सर्व्वं तन्निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ॥

यद्यप्येवं तथापि,—

तथा कर्णेन विद्वांसं यतिं सम्पुटपाणिना ।
मूर्खञ्चैकेन हस्तेन कनिष्ठं नाभिवादयेत् ॥

इति वाक्यात् मूर्खं वा एकहस्तेन नमस्कुर्य्यात् ।

यदि विप्रः प्रमादेन शूद्रमप्यभिवादयेत् ।
अभिवाद्य दश विप्रान् ततः पापात् प्रमुच्यते ॥

अभिवादिताश्च कनीयांसः,—

ज्येष्ठं कनिष्ठो यो मोहात् स्वस्तिवाचं करोति वै ।
ज्येष्ठस्य हरते सर्व्वं दुष्कृतं यत् त्रिधा कृतम् ॥

इति निषेधात्,—

अभिवादे कृते यस्तु न करोत्यभिवादनम् ।
आशीर्व्वा कुरुशार्दूल स याति नरकं ध्रुवम् ।

इति व्यवस्थापरवाक्यद्वयदर्शनात् समाचाराच्च प्रत्यभिवादनमेव कुर्य्युर्नाशीर्व्वादनम् ।

तदेतत् कर्म्मजातं निरग्निकैरेवंक्रमेण कर्त्तव्यमुपनीतमात्रेण । प्रागुपनयनात् कामपरत्वादित्युपनयनात् प्राक् कर्म्मानधिकारात् ।

उपनयनञ्च गर्भाधानादिभिः संस्कारैः संस्कृतस्यैवेति प्रसङ्गात् तानि लिख्यन्ते ।

तत्र,—

पापासंयुतमध्यगेषु दिनकृल्लग्नत्तपास्वामिषु
तद्दिनेष्वशुभोज्झितेषु विकुजेच्छिद्रे विपापे सुखे।
सद्युक्तेषु त्रिकोणकण्टकविधुष्वायत्रिषष्ठ्यन्विते
पापे युग्मनिशास्वगण्डसमये पुंस्युचितः सङ्गमः॥
अश्विनीमघमूलानां तिस्रो गण्डाद्यनाड़िकाः।
अन्त्याः पौष्णोरगेन्द्राणां पञ्चैव यवना जगुः॥

तत्र,—

विवाहादिः कर्म्मगणो य उक्तो
गर्भाधानं·········चान्ते।
विवाहादावेकमेवात्र कुर्य्यात्
श्राद्धं नादौ कर्म्मणः कर्म्मणः स्यात्॥

इति वचनान्नात्र वृद्धिश्राद्धम्।

तत्र,—रात्रौ स्वं दक्षिणं हस्तं जायाया दक्षिणांशोपरि नीत्वा हृदयमालभेत।

यत् ते सुषीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तत् मां तद् विद्यात् पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। इति।

ततोऽभिगच्छेत्। एवं सर्व्वदाभिगमनेषु। एवमत ऊर्द्ध्वमिति वचनात्। अत्र [1]बृहदारण्यके विशेषः श्रूयते, [2]तथैनामभिपद्यते अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै पुंसे

(१) बृहदारण्यकेऽष्टमे विशेषः०। (२) अथैना०।

पुत्राय इति । अथास्या ऊरू विश्लेषयति "विजिहीतां द्यावा-पृथिवी" इति । योनौ शिश्नं प्रवेश्य मुखेन मुखं सन्धाय शिर आदि पदान्तं 'त्रिरेनामनुमार्ष्टि,—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुले ।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ ॥
हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ ।
तत्ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये ॥
यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।
वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधातु ते ॥

सावित्रीति स्त्रिया नामग्रहः । तथा,—

इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि ।

इति ऋतुस्नातामुपेयात् । यामकामयमानां कामयेत मामिच्छत्विति चेत् तदा योनौ शिश्नं प्रवेश्य मुखेन मुखं संयोज्य योनिमभिमृश्यात्,—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे । स त्वमङ्ग-कषायोऽसि दिग्धसिद्धमिव मादये ।

माममुं वै तु । अमुमिति नामग्रहः स्त्रियाः । यामिच्छेद् गर्भं दधीतेति तस्या योनौ शिश्नं प्रवेश्य वक्त्रेण वक्त्रं संयोज्य प्राणपूरणं कृत्वा,—

---

(१) त्रिरनुमार्ष्टि ।

इन्द्रियेण ते रेतसा रेत अदधामि।

इति रेचयेत्। गर्भाधानेच्छया प्राणं विरेच्यानेनैव मन्त्रेण दद इत्यादधामि स्थाने कृत्वा पूरयेत्। सम्पूर्णायुर्वेदपारगपुत्रजन्मेच्छायां ऋतुस्नातां व्रीहीनवघातयेत्। पुत्रगौरवर्णेच्छायां क्षीरोदनं पाचयित्वा बहुघृतं दत्वाश्नीयाताम्। कपिलवर्णेच्छायां दध्योदनम्। श्यामवर्णेच्छायां मुद्गोदनम्। दुहितुरिच्छायां तिलोदनम्। प्रातरवहततण्डुलैः स्थालीपाकं श्रपयित्वाज्यभागानन्तरं स्थालीपाकस्य जुहोति। अग्नये स्वाहा अनुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा इति। ततः स्विष्टकृदादि समाप्य चरुं प्राश्यार्द्धं पत्न्यै दत्वा पाणी प्रक्षाल्य उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षति,—"उत्तिष्ठातो विश्वावसो (१)यामिच्छ प्रपं संजायाम् पत्या सह" इति।

सा यदि गर्भं न दधाति, सिंह्याः श्वेतपुष्पाया उपोष्य पुष्येण मूलमुत्थाप्य चतुर्थीस्नातायां निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायामासिञ्चति,—

"इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।" इति।

पिप्पल्यः शृङ्गवेरञ्च मरीचं केसरं तथा।
समं घृतेन पातव्यं बन्ध्यापि लभते सुतम्॥
वटवृक्षोद्भवान् शृङ्गान् गोघृतेन समांशकान्।
ऋतुकाले पिबेद् या तु नियतं पुत्रिणी भवेत्॥

---

(१) ० अन्यामिच्छ ०।

क्वाथेन हयगन्धायाः साधितं सघृतं पयः ।
ऋतुस्नाताबला पीत्वा गर्भं धत्ते न संशयः ॥

गोघृतेन सह नागकेशरं
श्लक्ष्णचूर्णितमृतौ नितम्बिनी ।
गव्यदुग्धनिरता पिबेद्धि या
सा तदातिशयमेव वीरसूः ॥

कुरुण्टकोऽश्वगन्धा वा कर्कोटा शिखिचूलिका ।
एकैका कुरुते गर्भं पीता क्षीरेण योषितः ॥
ऋतौ कसेरुकं शुण्ठीं सर्पिर्दिनचतुष्टयम् ।
क्षीरपीतं स्त्रिया गर्भं ग्राहयेन्नरसङ्गमे ॥
लक्ष्मणा शिखिचूली वा दुग्धपीता दिनत्रयम् ।
ऋतौ जाते स्त्रियं गर्भं ग्राहयेन्नरसङ्गमे ॥
बीजानि मातुलङ्गस्य दुग्धस्विन्नानि सर्पिषा ।
सगर्भां तानि कुर्व्वन्ति पानाद् बन्ध्यामपि स्त्रियम् ॥
उपोषितेन पुष्ये तु जयामूले समुद्धृते ।
एकवर्णगवीक्षीरपीते स्त्री लभते सुतम् ॥
पूतञ्जीवकमूले वा पयःपीते सुतं लभेत् ॥
लिङ्गाङ्कं लक्ष्मणामूलं घृतेन स्यादृतौ सुतम् ।
दक्षनासापुटे नारी लभते पतिसङ्गमे ॥

गोष्ठजातवटस्य प्रागुत्तरशाखजे उभे शृङ्गे, माषौ तथा गौर-सर्षपौ दधियोजितौ पुष्यपीतौ आपन्नगर्भायाः पुत्रकारकौ ।

द्वादश्यां शुक्लपक्षे तु चरुं कुर्व्वीत [1]वै ततः।
दम्पत्योरुपवासः स्यादेकादश्यां सुरालये॥
ऋग्भिः षोड़शभिः सम्यगर्च्चयित्वा जनार्द्दनम्।
चरुं पुरुषसूक्तेन जुहुयात् पुत्रकाम्यया॥
प्राप्नुयाद् वैष्णवं पुत्रमचिरात् सन्ततिक्षमम्॥
तथापरः प्रकारोऽयमेकादश्यामभोजनम्।
दम्पत्योश्च गुरुस्तत्र नित्यकर्म्माविरोधिनि॥
काले जपेदिदं सूक्तमेकादश्यां निरन्तरम्।
द्वादश्यां प्रयतो भूत्वा पयसा श्रपयेच्चरुम्॥
द्वादशद्वादशीष्वेवं श्रपयेद् विधिवच्चरुम्।
हुत्वाज्यं विधिवच्चादौ ऋग्भिः षोड़शभिर्बुधः॥
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा स्तवं चाभिप्रयोजयेत्।
समिधोऽश्वत्थवृक्षस्य हुत्वाज्यं जुहुयात् पुनः॥
उपस्थानं हुताशस्य ध्यात्वा च मधुसूदनम्।
हविर्होमं ततः कुर्य्यात् प्रत्यृचं वाग्यतः शुचिः॥
हविःशेषं नमस्कृत्य नारी नारायणं पतिम्।
भक्षयित्वा हविःशेषं लघ्वाशी (?) संविशेत् क्षणे॥
ततः कृत्वा त्विदं कर्म्म कर्त्तव्यं द्विजतर्पणम्।
अपुत्रा मृतपुत्रा वा या च [3]कन्यां प्रसूयते।
क्षिप्रं सा जनयेत् पुत्रं ऋष्यशृङ्गो यथाब्रवीत्॥

एवमजाते गर्भे सौभरिमन्त्रोपासना कार्य्या। साचैवम्,—

---

(१) ० वैष्णवम्। (२) ० पुरुषसूक्त ०। (३) ० कन्याः ०।

अरं हृद्भगवान्···ब्रह्मणे वेधसे तथा ।
अष्टौ मे पुत्रा जायन्तामक्षीणरेतसोऽर्द्धिनः ॥
ब्रह्मास्य देवता प्रोक्ता ऋषिः स्यात् सौभरिः स्वयम् ।
छन्दोऽनुष्टुप् ततो बीजं अरः शक्ति र्वसुप्रिया ॥

अरुणकमलसंस्थो रक्तवर्णो विरिञ्चि-
र्विविधरुचिरभूषालङ्कृतो विश्वयोनिः ।
अभयवरकमण्डल्वक्षसूत्रैः सुबाहु-
र्वितरतु विविधान् नो विश्वभोगान् सुपुत्रान् ॥

समर्चयेच्चामरयुग्ममध्ये
नानोपचारैः कमलादिपुष्पैः ।
विदिक्षु धर्म्मादिचतुष्टयं यजेद्
दिशासु धर्म्मादिचतुष्टयञ्च ॥
ऊर्द्ध्वं प्रलम्बश्च तथोर्द्ध्वकेशो
विमोहनो गन्धपतिः पुरस्तात् ।
कामः कलिङ्गः कपिरित्यथाष्टौ
यजेद् वहिः षोड़शपत्रपद्मे ॥
लोकेश्वरान् इन्द्रमुखांस्तथायुधान्
मध्ये च देवं प्रयजेच्च मन्त्री ।
* * * * *
* * * * * ॥
अनुदिनमिति मन्त्रं संयतो यो जपेत् तं
प्रतिनियतविहाराहारशय्यानिवासः ।

अनुभवति सदैवं व्याधिदारिद्र्यहीना-
नपरिमितधनाढ्यान् पुत्रपौत्रान् पवित्रान् ॥
अनुदिनमुदये यो भक्तिनम्रस्त्रिसन्ध्यं
शतमितमथवाष्टं तस्य मन्त्रं जपेच्च।
सलिलमपि पिबेत् यो मन्त्रपूतं प्रभाते
स तु सुनिश्चितबुद्धीन् प्राप्नुयादष्ट पुत्रान् ॥
स्नात्वा शिरसि मन्त्रं वा प्रजपेदेकविंशतिम्।
प्रोक्षयेन्मूर्द्धनि जलं पिबेद्‌ वा मन्त्रपावितम् ॥
मूर्द्धगैश्च तथा सुक्तैरद्भिर्मन्त्रोदकं मनोः।
वर्णसंख्यायुतं जप्त्वा पर्य्युक्षेच्चैव मूर्द्धनि ॥
उपास्य सन्ध्यां मन्त्रेण गृहीत्वाञ्जलिना जलम्।
मन्त्रावृत्त्यैकविंशत्या पुनस्तदुदकं पिबेत् ॥
पाययेद्‌ वाथवा मर्त्त्यानन्यानपि यथाविधि।
आयुर्वृद्धिं यशः कीर्त्तिं लभते ह्यर्द्धवत्सरात् ॥
सर्व्वलक्षणसंयुक्तानष्टौ पुत्रान् स विन्दति।

निषेककालवशेन शुभाशुभज्ञानम्।

उपचयगौ रविशुक्रौ बलिनौ पुंसः स्वमंशकं प्राप्तौ।
युवतेर्वा कुजचन्द्रौ यदा तदा गर्भसम्भवो भवति ॥
शुक्रार्कभौमशशिभिः स्वांशोपचयस्थितैः सुरेज्ये वा।
धर्म्मोदयात्मजस्थे बलवति गर्भसम्भवो भवति ॥
विषमे विषमांशगता होरा शशिजीवभास्करा बलिनः।
पुंसां समे समांशे च युवतीनामोजर्क्षे गुरुसूर्य्यौ बलिनौ ॥

पुंसां समे शितेन्दुकुजाः कन्यानां जन्मकरा गर्भाधाने
स्थिता बलिनः ।

कुम्भं मुक्त्वा विषमे शनैश्वरः पुत्रजन्मदो भवति ॥
योगे विहङ्गमानां बलं वीक्ष्य वदेन्नरं स्त्रियं वापि ।
क्रूरान्तस्थे चन्द्रे लग्नं वा युगपदेव मरणाय ॥
सौम्येन दृष्टमूर्त्तिं युवतीनां गर्भसहितानाम् ।
उदयं यातैः पापैः सौम्यैरनवेक्षितैर्मरणमस्याः ॥
उदयस्थितेऽर्कजे वा क्षीणे शशिनि भौमसंदृष्टे ।
व्ययगेऽर्के शशिनि कृशे पाताले लोहितः सगर्भं वा ॥
स्त्री म्रियतेऽस्मिन्नथवा शुक्रे पापद्वयान्तस्थे ।
चन्द्रचतुर्थे क्रूरे विलग्नतो वा विपद्यते गर्भः ॥
होराष्टमगे क्षितिसुते म्रियते गर्भः सह जनन्याः ।
हिबुकगते धरणिसुतेऽरिष्टं गते क्षपाकरे क्षीणे ॥
गर्भेण सह म्रियते पापग्रहदर्शनं प्राप्ते ।
लग्ने रविसंयुक्ते क्षीणेन्दौ वा म्रियते गर्भः ॥
व्ययधनसंस्थैः पापैस्तथैव सौम्यग्रहादृष्टैः ।
यामित्रगेऽर्कदृष्टे लग्नगते वा कुजे निषिक्तस्य ॥
गर्भस्य भवति मरणं शस्त्रच्छेदैः सह जनन्याः ॥

दिवाकरेन्द्वोः स्मरगौ कुजार्कजौ
गदप्रदौ पुम्बलयोषितः क्रमात् ।
व्ययस्वगौ मृत्युकरौ युतौ तथा
तदेकदृष्ट्या मरणाय कल्पितौ ॥

शुक्रारजीवशशिसौरबुधलग्नपविलग्नमङ्गलादित्याः ।
मासपतयः स्युरेतैर्गर्भस्य शुभाशुभे चिन्त्ये ॥
उत्पातक्रूरहते तन्मासस्याधिपे गते स गर्भः ।
अथवा निषेककाले विलग्नसंस्थौ यदा रुधिरमन्दौ ।
तद्गृहगतेऽथवेन्दौ तदीक्षिते पतति गर्भः ॥
व्ययभुवनस्थश्चन्द्रो वामं चक्षुर्विनाशयति हीनः ।
सूर्य्यस्तथेतराक्षं शुभदृष्टो याप्यतां नयति ।
सौम्ये त्रिकोणस्थे लग्ने च्छेदग्रहैर्बलविहीनैः ।
विगुणास्यपादहस्तो योगेऽस्मिन्नाहितो भवति गर्भः ॥
वामनको मकरान्ते लग्ने रविचन्द्रसौरिभिर्दृष्टे ।
शशिनि विलग्ने कर्किणि कुजार्कदृष्टे तथा कुब्जः ॥
अन्योऽन्यं रविचन्द्रौ विषमर्क्षसमर्क्षगौ निरीक्षेते ।
इन्दुजरविपुत्रौ वा दृष्टौ बलिनौ नपुंसकं कुरुतः ॥
सूर्य्यं समराशिगतं वक्रो विषमर्क्षगोऽवलोकयति ।
विषमर्क्षे लग्नेन्दुकुजेक्षितौ षण्ढसम्भवं कुरुतः ॥
बुधचन्द्रौ कुजदृष्टौ विषमर्क्षसमर्क्षगौ तथैवोक्तौ ।
ओजनवांशकसंस्था लग्नेन्दुशितास्तथैवोक्ताः ॥
पश्यति वक्रः समभे सूर्य्यं चन्द्रोदयौ विषमर्क्षे ।
यद्येवं गर्भस्थः क्लीवो मुनिभिः सदा दृष्टः ॥
ओजसमराशिसंस्थार्केन्दू षण्ढं कुजे कुरुतः ।
चरभे विषमनवांशे होरा चन्द्रशितबुधार्कदृष्टा ॥

॥ इति ॥

## अथ पुंसवनम् ।

कुर्य्यात् पुंसवनं सुयोगकरणे नन्दे सभद्रे तिथौ
भाद्राषाढ़नृभेश्वरेषु नृदिने वेधं विनेन्दौ शुभे ।
अक्षीणे च त्रिकोणकण्टकगते सौम्ये शुभे हृद्दिगे
श्रीशुद्ध्या घटयुग्मसूर्य्यगुरुभेषूद्यत्सु मासत्रये ॥

तत्राभ्युदयश्राद्धं कृत्वा मासे द्वितीये तृतीये वा उपवास्याप्लाव्याहते वाससी परिधाप्य न्यग्रोधावरोहान् शृङ्गांश्च निशायामुदपेषं पिष्ट्वा पूर्व्ववदासेचनं "हिरण्यगर्भः," "अद्भ्यः सम्भूतः" इत्येताभ्याम् । उदकशरावञ्चोपस्थे कृत्वा यदि कामयेत वीर्य्यवान् स्यात् इति विकृत्यैनमभिमन्त्रयते "सुपर्णोऽसि" इति ।

## अथ सीमन्तोन्नयनम् ।

मासेशे प्रबले शुभेच्छितविधौ मासे च षष्ठेऽष्टमे
मैत्रे पुंसवनोदितर्क्षसहिते रिक्ताविहीने तिथौ ।
सीमन्तोन्नयनं मृगाजरहिते लग्ने नवांशोदये
योज्यं पुंसवनोचितं यदपरं तत्सर्व्वमत्रापि च ॥

मासे षष्ठेऽष्टमे वा तिलमुद्गमिश्रं स्थालीपाकं श्रपयित्वा प्रजापतये हुत्वा पश्चादग्नेः मृदुपीठे उपविष्टाया युग्मेन सटालुग्लप्सेनोदुम्बरेण वा त्रिभिश्च दर्भपिञ्जूलैस्त्रेण्या शलल्या वीरतरशङ्कुना पूर्णचात्रेण च सीमन्तमूर्द्ध्वं विनयति "भूर्भुवःस्वः" इति प्रति

महाव्याहृतिभिर्वा त्रिवृतमाबध्नाति "अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव" इति। अथाह वीणागाथिनौ राजानं संगायेतामिति नियुक्तामप्येके गाथामुदाहरन्ति,—"सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः। अविमुक्तचक्रा आसीरंस्तीरे तुभ्यमसौ" इति। यां नदीमुपवसितारो भवन्ति तस्या नाम गृह्णाति। ततो ब्राह्मणभोजनम्।

सकृच्च कृतसंस्काराः सीमन्तेन द्विजस्त्रियः।
यं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्व्वः संस्कृतो भवेत्॥
कुशकाशोरुबूकाणां मूलैर्गोक्षुरकस्य च।
घृतं दुग्धशितायुक्तं गर्भिण्याः शूलनुत् परम्॥
चन्दनं शारिवालोध्रमृद्वीकाशर्कराऽन्वितम्।
क्वाथं कृत्वा प्रदातव्यं गर्भिण्या ज्वरशान्तये॥
ह्रीवेरालुकरञ्जचन्दनबलाधन्याकवत्सादनी-
मुस्तोशीरयवासपर्पटविषाक्वाथं पिबेद्‌ गर्भिणी।
नानावर्णकजातिसारकगदे रक्तस्रुतौ वा ज्वरे
योगोऽयं मुनिभिः पुरा निगदितः सूत्यामयेषूत्तमः॥
गर्भे शुष्केऽतिवातेन बालानामपि शुष्यताम्।
शितामधुकंकाश्मर्य्यैः शृतमुत्थापने पयः॥
समभागसितायुक्तं शालितण्डुलचूर्णकम्।
उदुम्बरशिफाक्वाथः पीतो गर्भः सुरक्षितः॥
पतन्तं स्तम्भयेद्‌ गर्भं कुलालकरमृत्तिका।
मधुच्छागीपयः पीता तथा श्वेतापराजिता॥

तिथिवारेन्दुपार्श्वस्थसगर्भासंख्यया कृते ।
राशौ सप्तहृते कन्या समे स्याद् विषमे पुमान् ॥

प्रसवकाले च सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति,—"एजतु दशमास्य" इति [1]विराड्जगत्या । [2]अथावरावपतनसाधनं जपति । [3]अवैतु पृश्निं शेवलं शुने जरायन्त्ववेनैव मांसेन पीवरी कस्मिंश्च नामतमवजरायुः पद्यतामिति । अत्र श्रुतौ विशेषः,—सोष्यन्ती मद्भिरभ्युक्षति । यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्व्वतः । [4]एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा । [5]इन्द्रस्यायं व्रजस्कृतः सार्गलः सपरिश्रयः तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सापरां सह । इति ।

हिङ्गुसैन्धवसंयुक्ततप्तकाञ्जिकया युता ।
प्रसूते स्त्री कटौ बद्धे मूले वा मातुलङ्गजे ॥
पाठापामार्गमूलाभ्यां योनिमध्ये विलेपनात् ।
प्रसूति र्जायते शीघ्रं सुखं दुःप्रसवस्त्रियाः ॥
पाठालाङ्गलिसिंहास्यमयूरकजटैः पृथक् ।
नाभिवस्तिभगालेपात् सुखं नारी प्रसूयते ॥

---

(१) प्राग् यस्मात् इति ।

(२) अथावरावपतनं जपति ।

(३) अवैतु पृश्निः शेवलं शुने जरा यन्तु वेनैव मांसेन पीवरा न कस्मिंश्च नायत मवजराय पद्यतामिति ।

(४) एवात्व त गर्भ ० ।

(५) इन्द्रः सायं व्रजस्तान्तः सार्गलः ० ।

मातुलुङ्गस्य मूलानि मधुकं मधुसंयुतम्।
घृतेन सह पातव्यं सुखं नारी प्रसूयते॥
सुप्रसूतिकरी बद्धा कदलीमूलिका कटौ॥

---

## अथ जातकर्म्म।

तत्र जाते कुमारे पितॄणामामोदात् पुण्यं तदहः। तत्र तिलपूर्णानि सहिरण्यपात्राणि ब्राह्मणानाहूय पितृभ्यो दद्यादिति वचनात् मातृपूजापूर्व्वकनान्दीमुखश्राद्धविधिना [1]सहिरण्य पात्राणि नान्दीमुखमातादिभ्यो [2]नवभ्यो दद्यात्। एतदेवाभिप्रेत्य,—

जातकर्म्मणि बालानां चूड़ाकर्म्मादिके तथा।

इत्युक्तम्।

यत्तु,—

न सोष्यन्तीजातकर्म्म[3]प्रोषितागमकर्म्मसु।

इति नान्दीमुखश्राद्धनिषेधः सोऽन्नश्राद्धपरः। तत्र,—

स्वपितृभ्यः पिता दद्यात् सुतसंस्कारकर्म्मसु।
पिण्डानोद्वहनात् तेषां तस्याभावे तु तत्क्रमात्॥

अथाच्छिन्नायां नाड्यां अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा "भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि"[4] इति। अथास्य नाभ्यां दक्षिणकर्णे वा जपति।

---

(१) सहिरण्यतिलपात्राणि ०। (२) ० नवभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्। (३) ० प्रोषितागत ०। (४) ० भूर्भुवः स्वः सर्व्वं त्वयि दधामीति।

कालान्तरे मेधाजननाभावेऽपि आयुष्करणं स्यादिति कर्कः। अग्निरायुष्मान् स वनस्पतीभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषा आयुष्मन्तं करोमि। एवम्,—सोम ओषधीभिः, ब्रह्म ब्राह्मणैः, देवा अमृतैः ऋषयो व्रतैः, पितरः स्वधाभिः, यज्ञो दक्षिणाभिः समुद्रः स्रवन्तीभिः, इति त्र्यायुषमिति च। वात्सप्रेण चैनमभिमृशेत्। दिवस्परीत्यनुवाकस्योत्तमामृचं परिशिनष्टि। प्रतिदिशं पञ्च ब्राह्मणान् संस्थाप्य ब्रूयादिममनुप्राणितेति। पूर्व्वो ब्रूयात् प्राणेति। व्यानेति दक्षिणः। अपानेत्यपरः। उदानेत्युत्तरः। समानेति पञ्चमः। उपरिष्टादवेक्षमाणः स्वयं वा कुर्य्यात्। अनुपरिक्रामन्नविद्यमाने स यस्मिन् देशे जातो भवति तमभिमन्त्रयते,—"वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद् विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्" इति। अथैनमभिमृशति,—"अश्मा भव परशुर्भव हिरण्य [1]मस्तुतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदः शतम्"। अथास्य मातर [2]मभिमन्त्रयेत्,—

इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनः।
सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकरत्॥

इति।

अथास्या दक्षिणं स्तनं प्रक्षाल्य प्रयच्छति "यस्ते स्तनः, इमं स्तनम्" इत्यृग्भ्यां "उत्तर"मित्युदपात्रं कुमारस्य शिरःप्रदेशे निदधाति।

---

(१) ० मस्तृतं भव। (२) ० मभिमन्त्रयते।

"आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ। एव मस्यां सूतिकायां जाग्रथ" इति द्वारदेशे सूतिकाग्निमुपसमाधाय उत्थानात् सन्धिवेलयोः फलीकरणमिश्रान् सर्षपानग्नावावपति,—"षण्डा मर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा।" "[१]आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्य्यक्षः [२]कुम्भीशत्रुः पात्रपाणि र्नृमणि [३]र्हर्तृमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा।" इति।

अत्र बृहदारण्यकाष्टमे विशेषः,—जाते लौकिकमग्निमुपसमाधाय स्वाङ्के पुत्रमाधाय कांस्यपात्रे पृषदाज्यं कृत्वा स्रुवेण जुहोति,—"अस्मिन् सहस्रं पुष्या समेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसन्द्यां च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणां स्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत् कर्म्मणाऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् स्विष्टं सुहुतं करोतु नः स्वाहा"॥ इति।

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय "वाग् वाग्" इति त्रिर्जपेत्। अथ दधिमधुघृतं सन्नियोज्यान्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति "भूस्त्वयि" इत्यादि। अथास्य नाम करोति "वेदोऽसि" इति। तदस्य गुह्यमेव नाम भवतीति।

यत्तु,—वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते, यस्मिन् जाते एतामिष्टिं निर्वपन्ति पूत एव स तेजस्वी अन्नाद

(१) आदिखन्न०। (३) हन्त्रीमुखः

(२) कुम्भागाहपाणि०।





इन्द्रियवान् पशुमान् भवतीति तदग्निमता आगते पर्व्वण्यन्वा-रम्भणीयापूर्व्वकं कुर्व्वीत ।

## अथ जातस्य जन्मकालवशेन शुभाशुभ (१)ज्ञानम् ।

अश्विनीमघ(२)मूलाद्याः पादगण्डाः प्रकीर्त्तिताः ।

रेवतीसर्पणाक्रान्तपादा——— ॥

(३)इति देवलः ।

तथा,—

अश्विनीमघमूलानां तिस्रो गण्डाद्यनाडिकाः ।

अन्ते पौष्णोरगेन्द्राणां पञ्चैव यवना जगुः ।

सन्ध्यारात्रिदिवाभागे गण्डयोगोद्भवः शिशुः ।

आत्मानं मातरं तातं विनिहन्ति यथाक्रमम् ॥

गण्डप्रसूतं पुरुषं शुभमाहुरपश्यताम् ।

नृणामर्कोऽदर्शनञ्च,—

अश्विन्यां षोड़शाब्दानि पित्रेर चाष्टौ च वत्सरान् ।

मूलेऽब्दानि च चत्वारि ज्येष्ठे वर्षयुगन्तथा ॥

सार्पेऽब्दपञ्चकञ्चैव रेवत्यामब्दपञ्चकम् । इति ।

अन्यत्र,—

सर्व्वेषां गण्डजातानां परित्यागो विधीयते ।

जातस्यादर्शनं तावद् यावत् पूर्णं समाष्टकम् ॥ इति ।

अन्ये तु होमपूर्व्वकदानेन तद्दर्शनं शुभमित्याहुः । तत्र,—

(१) ० कथनम् ।

(२) ० मूलाद्य ० ।

(३) ० इति त ० ।

कांस्यपात्रं प्रकुर्व्वीत फलैः षोड़शभिर्बुधः।
अष्टाभिर्वा चतुर्भिर्वा द्वाभ्यां वा शोभनं समम्॥
तन्मध्ये स्थापिते शङ्खे नवनीतेन पूरिते।
राजतं चन्द्रमभ्यर्च्च्य सितपुष्पसहस्रकैः॥
दैवज्ञः सोपवासश्च शुक्लाम्बरविभूषितः।
सोमोऽहमिति सञ्चिन्त्य कुर्य्यात् होममतन्द्रितः॥
जपेत् साहस्रिकं जाप्यमोमऽमृतात्मने नमः।
दद्याद् वै दक्षिणां हेमताम्रपात्रं तिलान्वितम्॥
यानि प्रशस्तकार्य्याणि तानि गण्डे विवर्जयेत्॥

अन्यत्र चोक्तम्,—

कुङ्कुमं चन्दनं कुष्ठं गोरोचनमथापि वा।
घृतैरेवान्वितं कृत्वा चतुर्भिः कलशैर्बुधः॥
सहस्राक्षेण मन्त्रेण बालकं स्नापयेत् ततः॥
पितृयुक्तं दिवाजातं मातृयुक्तन्तु रात्रिजम्।
स्नापयेत् पितृमातृभ्यां सन्ध्ययोरुभयोरपि॥
कांस्यपात्रं घृतैः पूर्णं गण्डदोषोपशान्तये॥
दद्याद्धेनुं हिरण्यञ्च (१)ग्रहांश्चापि प्रपूजयेत्॥

वाच्यं शिशोर्जन्म पितुः परोक्षे
क्षपाकरे पश्यति नो विलग्नम्।
चरस्थिते वाष्टमधर्म्मगो वा
जातः परोक्षे पितरीति वाच्यम्॥

---

(१) ० ग्रहांश्चैव ०।

विषमर्क्षे विषमनवांशे संस्थिता गुरुशशाङ्कलग्नार्काः ।
सर्व्वे एव पुंजन्मकारका योषितः समगृहे नवांशगताः ॥
बलिनौ विषमेऽर्कगुरू नरं स्त्रियं समगृहे कुजेन्दुसिताः ।
यमलौ द्विशरीरांशेष्विन्दुजदृष्ट्या स्वपक्षसमौ लग्ने ॥
विषमोपगतः शनैश्वरः पुत्रजन्मदो भवति ।

एतच्च लग्ननिश्चयार्थं ज्ञातव्यम् ।

यमवक्रौ द्युनेऽर्कात् पुंसो रोगप्रदौ दिशतः ।
स्त्रियश्चन्द्रान्मध्यगयोर्मृत्युस्तदेकयुतदृष्टयोश्चैव ॥
क्लेशो मातुः क्रूरै रन्ध्रगतैः शशाङ्कयुतैर्वा ।
चन्द्रात् सप्तमराशौ पापौ मरणाय निर्द्दिष्टः ॥
[1]चन्द्राद्दूर्द्धगमे भानुर्मातुर्मरणं करोति पापयुतः ।
शुक्रात् पञ्चमभवने सौरयुक्तोऽथवा दृष्टः ॥
चन्द्रात् त्रिकोणराशौ रविजो मातुर्वधं करोति रात्रौ ।
शुक्रात् तथैव दिवसे भौमः पापेन सन्दृष्टः ॥
क्षीणे शशिनि सपापे माता म्रियते पिता रवौ तद्वत् ।
बलिभिर्दृष्टे मिश्रैर्व्याधिः सौम्यैः शुभं भवति ॥
सोपप्लवे शशाङ्के सक्रूरे लग्नगे कुजेऽष्टमगे ।
मृत्युर्माता सार्द्धं चन्द्रवदर्के च शस्त्रेण ॥
पापास्त्रिकोणकेन्द्रे सौम्याः षष्ठाष्टमव्ययगताश्च ।
सूर्य्योदये प्रसूतः सद्यः प्राणांस्त्यजति जन्तुः ॥

---

(१) चन्द्राद्द्युगमे भानु० ।

षष्ठेऽष्टमे चन्द्रः सद्यो मरणाय पापसन्दृष्टः ।
अष्टाभिः शुभदृष्टो वर्षैर्मिश्रैस्तदर्द्धेन ॥

सुतमदननवान्त्यलग्नरन्ध्रे-
ष्वशुभयुतो मरणाय शीतरश्मिः ।
भृगुसुतशशिपुत्रदेवपूज्यै-
र्यदि बलिभिर्नियुतोऽवलोकितो वा ॥

द्युनचतुरसंस्थे पादद्वयमध्यगे शशिनि जातः ।
विलयं प्रयाति नियतं देवैरपि रक्षितो बालः ॥

क्षीणे शशिनि विलग्ने पापैः केन्द्रे मृत्युसंस्थैर्वा ।
भवति विपत्तिरवश्यं सुधारसो येन पीतोऽपि ॥

भौमे विलग्ने शुभदैरदृष्टः
षष्ठेऽष्टमे चार्कसुतेन युक्तः ।
सद्यः शिशुं हन्ति वदेन्मणित्थः
स्मरे यमारौ न शुभेक्षितौ च ॥

कर्कटधामनि सौम्यः षष्ठाष्टमराशिगो विलग्नर्क्षात् ।
चन्द्रेण दृष्टमूर्त्तिर्वर्षचतुष्केण मारयति ॥

बृहस्पतिर्भौमगृहेऽष्टमस्थः
सूर्य्येन्दुभौमार्कजदृष्टमूर्त्तिः ।
वर्षैस्त्रिभिर्भार्गवदृष्टिहीनो
लोकान्तरं प्रापयति प्रसूतम् ॥

रविशशिभवने शुक्रो द्वादशरिपुरन्ध्रगैः शुभैः सर्व्वैः ।
दृष्टः करोति मरणं षड्भिर्वर्षैः किमिह चित्रम् ॥

मारयति षोडशाहात् शनैश्चरः पापवीक्षितो लग्ने ।
संयुक्तो मासेन तु वर्षाच्छुक्रस्तु मारयति ॥
राहुश्चतुष्टयस्थो मरणाय भवति निरीक्षितः पापैः ।
वर्षैर्वदन्ति दशभिः षोडशभिः केचिदाहुराचार्य्याः ॥
लग्ने ये द्रेक्काणा निगड़ा हि विहङ्गपाशधरसंज्ञाः ।
मरणाय सप्तवर्षैः क्रूरयुता न स्वपतिदृष्टाः ॥
मीनकर्कटयोरन्त्यौ वृश्चिकस्यादिमध्यमौ ।
सर्पाश्चत्वार एवैते द्रेक्काणा निगड़ाश्च ते ॥
तुलामध्यान्तसिंहाद्यकुम्भाद्याः पक्षिणः स्मृताः ।
[1]वृषमकराद्याद्या द्रेक्काणाः पाशधारिणः ॥
लग्नाधिपजन्मपती षष्ठाष्टमराशिगौ प्रसवकाले ।
अस्तमितौ मृत्युकरौ राशिप्रमितैर्वदेद्वर्षैः ॥
सौम्याः षष्ठाष्टमगाः पापैर्वक्रोपसङ्गतैर्दृष्टाः ।
मासेन मृत्युदास्ते यदि न शुभैस्तत्र सन्दृष्टाः ॥
एकः पापोऽष्टमगः शत्रुग्टहो पापवीक्षितो वर्षात् ।
मारयति नरं जातं सुधारसो येन पीतोऽपि ॥

एकोऽपि केन्द्रभवने नवपञ्चमे वा
भास्वन्मयूखविमलीकृतदिग्विभागः ।
निःशेषदोषमपहृत्य [2]सुखप्रसूतं
वीर्य्यायुषं विगतरोगभयं करोति ॥

---

(१) वृषाद्या मकराद्यान्ता ० ।
(२) ० शुभप्रसूतं ।

सर्व्वानिमानतिबलः स्फुरदंशुजालो
लग्नाधिपः प्रशमयेत् सुरराजमन्त्री ।
पक्षे सिते भवति जन्म यदि क्षपायां
कृष्णेऽथवाहनि शुभाशुभदृष्टमूर्त्तिः ॥
बुधविबुधोसुरसचिवद्रेक्काणद्वादशांशे शशिनि ।
भवति चिरायुरथ सुतः सम्प्राप्तानेकरिष्टोऽपि ॥
चन्द्रः शुभवर्गस्थः क्षीणोऽपि शुभेक्षितो हरति रिष्टम् ।
जलमिव महातिसारं जातीफलवल्कलक्कथितम् ॥
स्वोच्चस्थः स्वगृहेऽथवा निजसुहृद्वर्गेऽपि सौम्येऽपि वा
सम्पूर्णः शुभवीक्षितः शशधरो वर्गे स्वकीयेऽथवा ।
शत्रूणामवलोकनेन रहितः पापैरयुक्तेक्षितो
रिष्टं हन्ति सुदुस्तरं दिनपतिः प्रालेयराशिं यथा ॥
सुवाक् सुशरीरः स्यात् सुतः सौख्यान्वितः ख्यातः ।
बुधगुरुभार्गवदृष्टो विद्वान् दीर्घायुरर्थपरिपूर्णः ॥
[1]रविशशिलोहितदृष्टो जातो मलिनश्च रोगार्त्तः ।
निर्द्धनो विरूपदेहः प्रेष्यो मूर्खः खलो दीनः ॥
आचारसत्यसुखशौर्य्ययुताः सुरूपा-
स्तेजस्विनः कृतधियो द्विजदेवभक्ताः ।
सद्वस्त्रमाल्यकुलभूषणसंप्रियाश्च
सौम्यग्रहैर्बलयुतैः सुखिनो भवन्ति ॥

---

(१) रविशनिलोहितदृष्टो विधनो मलिनोऽलसश्च रोगार्त्तः ।

लुब्धाः कुकर्म्मनिरता निजकार्य्यनिष्ठाः
साधुद्विषः सकलहाश्च तमोऽभिभूताः।
प्रेष्याः खला बधरता मलिनाः कृतघ्नाः
पापग्रहैर्बलयुतैः पिशुनाः कुरूपाः॥
जीवेक्षितः पण्डितशान्तमूर्त्ति-
र्वेदान्तशास्त्रागमपारबुद्धिः।
दीर्घायुरत्यन्तशुचिः सुशीलो
जातः सुपूर्णां भजते विभूतिम्॥
धर्म्मख्यातियुतो विद्वान् सुदीर्घायुरतिसुभगः।
सौम्यषड्वर्गजातो विपरीतः पापवर्गसंजातः॥
प्रचण्डरूपः पुरुषः प्रलापी
प्रज्ञाधिकः स्वल्पकरोऽसहिष्णुः।
पित्तप्रधानः प्रणतप्रियोऽपि
रवौ विलग्ने भवति प्रजातः॥
सम्भोगशीलो बहुधर्म्मशीलः
शीलप्रधानो बहुमित्रवर्गः[1]।
मेषे वृषे कर्किणि वा विलग्ने
विधौ विलग्ने परिशेषभेषु॥
अल्पायुरल्पद्रविणो दुरात्मा
कुजे विलग्ने परवित्तहर्त्ता।

(१) ० बहुमित्रपुत्रः।

विद्वान् सुधर्म्मा नृपपूजितश्च
लग्नस्थिते चन्द्रसुते चिरायुः ॥

होरासंस्थे जीवे सुशरीरः प्राणवांश्च दीर्घायुः ।
* * * * * ॥

भूयोऽथ भूपप्रतिमो मृगेन्द्रे
जीवे विलग्ने चिरभुक् चिरायुः ।
धर्म्मार्थवान् काव्यकृदुत्तमश्च
शुक्रे शतायुः सकलत्रपुत्रः ॥
भवेन्नरेन्द्रप्रतिमः प्रसूत-
सुङ्गाङ्गिरोगेहगते विलग्ने ।
* * * *
* * * * ॥

वर्गोत्तमगते चन्द्रे चतुरादिभिरीक्षिते विलग्ने वा ।
नृपजन्म भवति राज्यं नृपयोगे बलयुतदशायाम् ॥
मन्दहगस्थिरवचनः प्रभूतपरिश्रमो भवति वेशौ ।
उत्कृष्टवाक् स्मृतिमान् स्तब्धगतिः सात्विको वेशौ ॥
सुभगो बहुभृत्यधनो बन्धूनामाश्रयो नृपतितुल्यः ।
नित्योत्साही हृष्टो भुनक्ति भोगानुभयचर्य्याम् ॥
बहुवित्तकुटुम्बारम्भी नित्यमुद्विग्नचित्तमपि दौरधुरे ।
मृतकं दुःखितमधनं जातं केमद्रुमे विन्द्यात् ॥

चन्द्रस्योभयतो ग्रहसद्भावे दुरधुरः । उभयत्राभावे केमद्रुमः ।

सूर्य्याद् द्वयगैर्वेशिः, द्वितीयगैश्चन्द्रवर्जितैर्वेशिः । उभयस्थितै-र्ग्रहेन्द्रैरुभयचरी नामतः प्रोक्ता ।

अधमसमवरिष्ठान्यर्ककेन्द्रादिसंस्थे
शशिनि विनयवित्तज्ञानधीनैपुणानि ।
अहनि निशि च चन्द्रे स्वेऽधिमित्रांशके वा
सुरगुरुसिततदृष्टे वित्तवान् स्यात् सुखी च ॥

प्रायः शुभाः समेता धनभोगयशोऽन्वितं नृपति[1]तुल्यम् ।
पापाश्च दुःखचरितं कुर्व्वन्त्यधनं दुर्भगं दीनम् ॥

चतुरादिभिरेकस्थैः प्रव्रज्यां स्वां ग्रहः करोति बली ।
अस्थिरविभूतिमित्रं वनमटनं स्खलितनियममपि चरभे ॥

स्थिरभे तद्विपरीतं क्षमान्वितं दीर्घसूत्रञ्च ।
द्विशरीरे योगयुक्तं कृतघ्नमुत्साहिनं विविधचेष्टम् ॥

शतानिकादित्यविशाखमित्रशक्रोद्भवा मिश्रफलाः प्रदिष्टाः ।
शिवाजहस्ताहिभवा जघन्याः शेषोद्भवाः सत्पुरुषा भवन्ति ॥

क्षेत्राधिपसंदृष्टे शशिनि नृपः [2]सुहृद्भिरपि धनवान् ।
तद्द्रेक्काणांशकगैर्वा प्रायः सौम्यैः शुभं नान्यैः ॥

शुभं वर्गोत्तमे जन्म वेशिस्थाने च संग्रहे ।
अशून्येषु च केन्द्रेषु कारकाख्यग्रहेषु च ॥

पुष्णन्ति शुभान् भावान् मूर्त्त्यादीन् घ्नन्ति संश्रिताः पापाः ।
सौम्याः षष्ठेऽरिघ्नाः नेष्टाः [3]पापाद्वयाष्टमगाः ॥

---

(१) ० चेष्टम् ।
(२) ० सत्सुहृद्भिरपि ० ।
(३) ० पापाव्ययाष्टमगाश्च ।

सामर्थ्यं तनु कल्पयेत समुदये वित्तं कुटुम्बं ततो
विक्रान्तिं सहजं तृतीयभवने योधञ्च सञ्चिन्तयेत् ।
बन्धून् वाह्यसुखालयान्यपि ततो धीमन्त्रपुत्रांस्ततः
षष्ठेऽथ क्षतविद्विषौ मदगृहे कामं स्त्रियं वर्त्म च ॥
रन्ध्रायुर्मृतयोऽष्टमे गुरुतपोभाग्यानि वित्तं ततो-
मानाज्ञास्पदकर्म्मणां दशमभे कुर्य्यात्ततश्चिन्तनम् ।
ग्रामगायावथ चिन्तयेद् भवगृहे रिप्फे च मन्त्रव्ययौ
सौम्यस्वामियुतेक्षणैरपचय[1]श्चैषां क्षतिस्त्वन्यथा ॥
ओजे लग्नेन्दोः स्त्री दुःशीला शील[2]संयुता युग्मे ।
शून्ये बले कदर्य्यः पतिश्चरस्थे प्रवासी च ॥
बाल्ये विधवा भौमे पतिसन्त्यक्ता दिवाकरेऽस्तस्थे ।
[3]सौम्ये पापैर्दृष्टे कन्यैव [4]जरां समुपयाति ॥
क्रूरैरस्ते विधवा भवति पुनर्भूः शुभाशुभैर्नारी ।
क्रूरेऽष्टमेऽपि विधवा * * * सा स्वयं म्रियते ॥
नीचे चोङ्कं ह्रसति हि ततश्चान्तरस्थेऽनुपातो
होरान्त्वंशप्रतिममपरे राशितुल्यं वदन्ति ।
हित्वा वक्रं रिपुगृहगतैर्हीयते स्वात् त्रिभाग-
सूर्य्योच्छन्नद्युतिषु च दलं प्रोज्झ्य शुक्रार्कपुत्रौ ॥
सर्व्वार्द्धत्रिचतुरपञ्चषष्ठभागाः
क्षीयन्ते व्ययभवनादसत्सु वामम् ।

---

(१) ० श्चैषां ० । (३) सौरे ० ।
(२) ० संयुक्ता ० । (४) ० जरामुपयाति ।

सत्स्वर्द्धं ह्रसति तथैकराशिगाना-
मेकोऽग्रं हरति बली यथाह सत्यः ॥
सार्द्धोदितोदितनवांश[1]हतात् समस्ताद्
भागोऽष्टयुक्तशतसंख्य उपैति नाशम् ।
क्रूरे विलग्नसहिते विधिनात्वनेन
सौम्येक्षिते [2]बलमतः प्रलयं प्रयाति ॥

[3]रव्यंशकलागुणितद्वादशनवभिर्ग्रहस्य गणेभ्यः ।
द्वादशहृताद् विशेषोऽर्द्धमासदिननाड़िकाः क्रमशः ॥
दीनारं शत्रुभे त्र्यंशं स्यादर्द्धं नीचसूर्य्यगाः ।
हित्वा सितासितौ हन्युश्चक्रपातश्च पूर्व्ववत् ॥
वर्गोत्तमस्वराशिद्रेक्काणनवांशे सकृद् [4]विगुणः ।
वक्रोच्चयस्त्रिगुणितो द्विस्त्रि[5]गुणिते सकृत् त्रिगुणः ॥
शोध्यक्षेप्यविशुद्धः कालो यो येन जीवतोदन्तः ।
स विचिन्त्यस्तस्य दशास्वदशासु फलप्रदास्ते च ॥
लग्नार्कशशाङ्कानां यो बलवांस्तद्दशा भवेत् प्रथमा ।
तत् केन्द्रपणफरापोक्लिमोपगानां बलाच्छेषाः ॥
अष्टमेन्दोर्दशा मृत्युर्वन्धमस्तमितस्य च ।
शुभस्य वक्रिणो राज्यं पापस्य [6]व्यसनाटनम् ॥

---

(१) ० हतात् ० ।
(२) ० दलमतः ० ।
(३) राश्यंशकलागुणिता ० ।
(४) ० विगुणम् ।
(५) ० गुणत्वे ० ।
(६) ० व्यसनाटने ।

अङ्गप्रत्यङ्गानां छेदं विदधाति षष्ठशत्रुदशा।
द्युनारिदशा काणं निधनारिदशा शिरश्छेदम्॥
क्रूरराशिस्थितः पापः [1]षष्ठे च निधने तथा।
तत् स्थितेनारिणा दृष्टः स्वपाके मृत्युदो ग्रहः॥
आदौ शीर्षोदये राशावन्ते पृष्ठोदये ग्रहाः।
उभयोदये च मध्यस्थाः फलं दद्युर्बलाबलात्॥
एकर्क्षेऽर्द्धं त्र्यंशं त्रिकोणयोः सप्तमे सप्तमांशम्।
चतुरस्रयोस्तु पादं पारयति गतो ग्रहः स्वगुणैः॥
पापग्रहदशायान्तु पापस्यान्तर्दशा यदि।
अरियोगे भवेन्मृत्युर्मित्रयोगे च संशयः॥
विलग्नाधिपतेः शत्रुर्लग्नस्यान्तर्दशां गतः।
करोत्यकस्मान्मरणं सत्याचार्य्यः प्रभाषते॥
प्रवेशे बलवान् खेटः शुभैर्वा संनिरीक्षितः।
सौम्याधिमित्रवर्गस्थो [2]मृत्युदो न भवेत्तदा॥
गोचरे वा विलग्ने वा ये ग्रहा रिष्टसूचकाः।
पूजयेत् तान् प्रयत्नेन पूजिताः स्युः [3]शुभा ग्रहाः॥

---

(१) ० षष्ठेऽथ ०। (३) ० शुभावहाः।
(२) ० मृत्यवे ०।

## सत्पुरुषलक्षणानि ।

बाहू नेत्रान्तरञ्चैव हनुर्नासा तथैव च ।
स्तनयोरन्तरञ्चैव पञ्च दीर्घं प्रशस्यते ॥
ग्रीवा प्रजननं मुष्कं जङ्घे ह्रस्वेषु शस्यते ।
अङ्गुलीनाञ्च पर्व्वाणि दन्तलोमनखत्वचः ॥
अक्षि कुक्षिश्च वक्षश्च पादः स्कन्धो ललाटिका ।
सर्व्वभूतेषु निर्द्दिष्टमुन्नतञ्च प्रशस्यते ॥
पाणिपादतले चैव नेत्रान्तोऽपि नखानि च ।
तालुजिह्वाधरोष्ठानि सप्तरक्तोऽर्थवान् भवेत् ॥
स्वरः सत्वञ्च नाभिश्च त्रिगम्भीरं प्रशस्यते ।
उरश्चापि ललाटञ्च द्वि विस्तीर्णं प्रशस्यते ॥
न श्रीस्त्यजति रक्ताक्षं नार्थः कनकपिङ्गलम् ।
[१]न बाहुदीर्घमैश्वर्य्यं न मांसोपचितं सुखम् ॥
दीर्घशेफे न दारिद्र्यं स्थूलशेफे न पुत्रकम् ।
कृशशेफे न सौभाग्यं ह्रस्वशेफे नराधिपम् ॥
अकर्म्मकठिनौ हस्तौ पादौ चाध्वनिकोमलौ ।
यस्य पुंसो भवेतां वै तस्य राज्यं विनिर्द्दिशेत् ॥
अङ्गुष्ठोदरमध्ये तु यवो यस्य विराजते ।
उत्पन्नभोगनित्यश्च स नरः सुखमाप्नुयात् ॥
रेखाभिर्बहुभिः क्लेशान् स्वल्पाभिश्च धनक्षयम् ।
रक्ताभिः सुखमाप्नोति कृष्णाभिः प्रेष्यतां व्रजेत् ॥

---

(१) न बाहुदैर्घ्य० ।

ललाटे यस्य दृश्यन्तेऽव्युच्छिन्नाः पञ्च रेखिकाः।
शतवर्षं समुद्दिष्टं सामुद्रिकवचो यथा ॥

अस्वेदनौ मृदुतलौ कमलोदराभौ
श्लिष्टाङ्गुली रुचिरताम्रनखौ सुपार्ष्णी।
उष्णौ शिराविरहितौ सुनिगूढ़गुल्फौ
कूर्म्मोन्नतौ च चरणौ मनुजेश्वराणाम् ॥

सूर्पाकारविरूक्षपाण्डुरनखौ वक्रौ शिरासन्ततौ
संशुष्कौ विरलाङ्गुली च चरणौ दारिद्र्यदुःखप्रदौ।
* * * * * *
* * * * * * ॥

रोमैकैकं कूपके पार्थिवानां
द्वे द्वे ज्ञेये पण्डितश्रोत्रियाणाम्।
त्र्याद्यैर्निःस्वा मानवा दुःखभाजः
केशाश्चैवं निन्दिताः पूजिताश्च ॥

निर्मांसजानुर्म्रियते प्रवासे
सौभाग्यमन्दैर्विकटैर्दरिद्राः।
स्त्रीनिर्ज्जिताश्चैव भवन्ति निम्नै
राज्यं समांसैश्च महद्भिरायुः ॥

निःस्वोऽतिस्थूलस्फिक् मांसलमध्यस्फिक् सुखान्वितो भवति।
व्याघ्रान्तो बद्धस्फिक् मण्डूकस्फिक् नराधिपो भवति ॥
सिंहकटिर्मनुजेन्द्रः कपिकरभकटिर्द्धनैः परित्यक्तः।
समजठरा भोगयुता घटपिठरोदरा निःस्वाः ॥

सर्पोदरा दरिद्रा भवन्ति बह्वाशिनश्चैव ।
परिमण्डलोन्नतनाभिर्विस्तीर्णनाभिश्च नातिसुखी ॥
अल्पा त्वदृश्यनिम्ना नाभिः क्लेशावहा भवति ।
वलिर्मध्यगता विषमा स्थूला बाधां करोति नैःस्वञ्च ॥
शास्त्रान्तं स्त्रीसम्भोगमाचार्य्यत्वं बहुसुखं यथासंख्यम् ।
एकद्वित्रिचतुर्भिर्विन्द्यात्, नृपं ह्यबलिम् ॥
सुभगा भवन्त्युद्गतचिवुका निर्द्धना विषमदीर्घैः ।
पीनोपचितनिमग्नैः क्षितिपतयश्चिवुकैः सुखिनः ॥
हृदयं समुन्नतं पृथुवेपनं मांसलं नृपतीनाम् ।
अधनानां विपरीतं खररोमचितं शिरालं च ॥
समवक्षसोऽर्थवन्तः पीनैः शूरा निर्द्धनास्तनुभिः ।
विषमं वक्षो येषां ते वै निःस्वाः शस्त्रनिधनाश्च ॥
पृष्ठमभग्नमरोम चार्थवतामशुभ [1]मतोऽन्यत् ।
अस्वेदनपीनोन्नतसुगन्धिमृदुरोमसमकक्षाः ।
विज्ञातव्या धनिनामतोऽन्यथार्थैर्विहीनानाम् ॥
निर्मांसौ रोमचितौ भग्नावल्पौ च निर्द्धनस्यांशौ ।
विपुलावव्युच्छिन्नौ संश्लिष्टौ सौख्यवीर्य्यवताम् ॥
करिकरसदृशौ वृत्ता[2]वाजान्ववलम्बिनौ समौ पीनौ ।
बाहू पृथिवीपानामधनानां रोमशौ ह्रस्वौ ॥
हस्ताङ्गुलयो दीर्घाश्चिरायुषां सुवलिताश्च सुभगानाम् ।
मेधाविनाञ्च सूक्ष्माणि चिपिट्यः परकर्म्मनिरतानाम् ॥

(१) मतोऽन्यत्त । (२) ॰वाजानुविलम्बितौ॰ ।

स्थूलाभिर्धनरहिता वह्निर्नताभिश्च शस्त्रनिर्याणाः।
कपिसदृशकरा धनिनो व्याघ्रोपमपाणयः पापाः॥
पितृवित्तेन विहीना भवन्ति निम्नेन करतलेन।
संवृतनिम्नैर्धनिनः प्रोत्तानकराश्च दातारः॥
तुषसदृशनखाः क्लीवाश्चिपिटैः स्फुटितैश्च वित्तसन्त्यक्ताः।
कुनखविवर्णैः परतर्ककाश्च ताम्रैश्च भूपतयः॥
अङ्गुष्ठयवैराढ्याः सुतवन्तोऽङ्गुष्ठमूलजैर्यवैश्च।
दीर्घाङ्गुलिपर्व्वाणः सुभगा दीर्घायुषश्चैव॥
स्निग्धा निम्नरेखा धनिनां तद्व्यत्ययेन निःस्वानाम्।
विरलाङ्गुलयो निःस्वा घनाङ्गुलयो धनसञ्चयिनः॥
तिस्रो रेखा मणिबन्धोत्थिताः करतलोपगता नृपतेः।
(१)मीनयुगाङ्कितपाणिर्नित्यं (२)सुतप्रदो भवति॥
वज्राकारैर्धनिनो विद्याभाजश्च मत्स्यपुच्छनिभैः।
शङ्खातपत्रशिविकागजाश्वपद्मोपमा नृपतेः॥
कलशशूलपताकाङ्कुशोपमाभिर्भवन्ति निधिपालाः।
दामनीभिश्च गवाढ्याः स्वस्तिकरूपाभिरैश्वर्य्यम्॥
अङ्गुष्ठमूलरेखाः पुत्राः स्युर्दारिकाः सूक्ष्माः।
रेखाः प्रदेशिनीगता गतायुषां कनीयसां च मूलाभिः॥
छिन्नाभि र्द्रुमपतनं बहुरेखारेखिणो निःस्वाः॥

(१) मीनयुगाञ्चितपाणि०। (२) पुत्र०।

## अथ मुखलक्षणम्

स्त्रीमुखमनपत्यानां शाठ्यवतां मण्डलं परिज्ञेयम् ।
दीर्घं निर्द्रव्याणां भीरुमुखाः पापकर्म्माणः ॥
चतुरस्रं धूर्त्तानां निम्नं वक्रञ्च तनयरहितानाम् ।
कृपणानामतिह्रस्वं सम्पूर्णंभोगिनां कान्तम् ॥
कृपणाश्च ह्रस्वकर्णाः शङ्कुश्रवणाश्चभूपतयः ।
लोमशकर्णा दीर्घायुषश्च धनभागिनो विपुलकर्णाः ॥
आकुञ्चितनासाश्चौराः शस्त्रैर्मृत्युः स्याच्चिपिटनासस्य ।
धनिनोऽवक्रनासा दक्षिणवक्राः प्रभक्षणाश्चौराः ॥
धनिनां क्षुत् सकृत् द्विचि पिण्डितहार्दिं न सानुनादञ्च ।
दीर्घायुषां प्रमुक्तं विज्ञेयं संहतञ्चैव ॥
पद्मनालाभैर्धनिनो रक्तान्तविलोचनाः श्रियो भाजः ।
मधुपिङ्गलैर्महार्था मार्जारविलोचनाः पापाः ॥
हसितं शुभदमकम्पं निमीलितलोचनञ्च पापस्य ।
दुष्टस्य हसितमसकृत् सोन्मादः स्यात् सकृत् प्रान्ते ॥
तिस्रो रेखाः शतजीविनां ललाटायतस्थिता यदि ताः ।
केशान्तोपगताभी रेखाभिरशीतिवर्षायुः ॥
पञ्चभिरायुः सप्ततो[१]रेखाग्रावस्थिताभिरपि षष्ठिः ।
बहुरेखेण ततोऽर्द्धं चत्वारिंशच्च वक्राभिः ॥
त्रिंशद् भ्रूलग्नाभिर्विंशतिको वामवक्राभिः ।
क्षुद्राभिः स्वल्पायुर्न्यूनाभिरतोऽन्तरे कल्प्यम् ॥

(१) ० रेखाग्रं स्थिताभि ० ।

परिमण्डलैर्गवाद्यस्छत्राकारैः शिरोभिरवनीशाः।
चिपिटैर्मातृपितृघ्नाः करोति शिरसां चिरान्मृत्युः॥
निम्नन्तु शिरो महतां बहुनिम्नमनर्थदं भवति।
एकैकभवैः स्निग्धैः कृष्णैराकुञ्चितैरच्छिन्नाग्रैः।
मृदुभिर्न चातिबहुभिः केशैः सुखभाक् नरेन्द्रो वा॥
बहुमूलविषमकपिलस्थूलस्फुटिताग्रपरुषह्रस्वाश्च।
अतिकुटिलाश्चातिघना मूर्द्धजा वित्तहीनानाम्॥
अष्टशतं षस्नवतिः परिमाणं चतुरशीतिरिति पुंसाम्।
उत्तमसमहीनानां स्वाङ्गुलसंख्यामानेन॥
विंशतिवर्षा नारी पुरुषः खलु पञ्चविंशतिभिरब्दैः।
अर्हति मानोऽन्योन्यं जीवितभागे चतुर्थे वा॥
लिङ्गेऽल्पे धनवान् * * * स्थूले विहीनो धनै-
र्मेढ़्रे वामनते सुतार्थरहितो वक्रेऽन्यथा पुत्रवान्।
दारिद्र्यं विनते त्वनल्पतनयो लिङ्गे शिरासन्तते
स्थूलग्रन्थियुते सुखी मृदुकरोत्यन्तं प्रमेहादिभिः॥
केशनिगूढैर्भूपा दीर्घैर्भग्नैश्च वित्तपरिहीनाः।
ऋजुवृत्तशेफसो लघुशिरालशिश्नाश्च धनवन्तः॥
जलमृत्युरेकवृषणो विषमे स्त्रीचञ्चलः समे क्षितिपः।
भग्नायु[१]श्चोर्द्ध्वदण्डः प्रलम्बवृषणस्य शतमायुः॥
सुखिनः सशब्दमूत्रा निःस्वा निःशब्दधाराश्च।
द्वित्रिचतुर्धाराभिः प्रदक्षिणावर्त्तमूत्राभिः॥

---

(१) ० श्चोहण्डः ०।

पृथिवीपतयो ज्ञेया विकीर्णमूत्रा धनहीनाः ।
एकैकमूत्रधारा वनितारूपप्रधानसुतदात्री ॥
शिश्नोन्नतसममणयो धनवनितारत्नभोक्तारः ।
मणिभिश्च मध्यनिम्नैः कन्यापितरो भवन्ति निःस्वाश्च ॥
कुसुमसमगन्धिशुक्रा विज्ञायन्तां महीपालाः ।
मधुगन्धे बहुवित्तो मत्स्यगन्धे बह्वन्यपत्यानि ॥
तनुशुक्रः स्त्रीजनको [1]मांसगन्धे महाभोगी ।
मदिरासमगन्धे यज्वा क्षीरसमगन्धे रेतसि दरिद्रः ॥
शीघ्रं मैथुनगामी दीर्घायुरतोऽन्यथाल्पायुः ॥

---

## अथ शिशुचिकित्सा ।

बालेयबालधेर्बालमघोरेणाभिमन्त्रितम् ।
अष्टोत्तरसहस्रेण सर्व्वरक्षाकरं भवेत् ॥
मयूरचूलिकामूलमादित्यग्रहणोद्धृतम् ।
बालकस्य गले बद्धं समस्तग्रहदोषहृत् ॥
शङ्खोत्पलवचाकुष्ठं कृष्णालोहविधारणम् ।
सर्व्वोपद्रवतो बालं कालादपि स रक्षति ॥
अर्कदुग्धं निशाशुण्ठीगोघृतेन विलेपनम् ।
सर्व्वोपद्रवदोषेभ्यो बालं रक्षति सन्ततम्[2] ॥

---

(१) ० मांसगन्धेन महा ० । (२) ० मन्त्रितम् ।

[1]भेषज्यं पूर्व्वमुद्दिष्टं नराणां यज्ज्वरादिषु ।
कार्य्यं तदेव बालानां मात्राल्पस्य कनीयसी ॥
प्रथमे मासि जातस्य शिशोर्भैषज्यरज्जिका ।
एकैकं [2]वर्द्धयेत् तावद् यावत् संवत्सरो भवेत् ।
तदूर्द्धं मासवृद्धिः स्यात् यावदाषोड़शाब्दिकम् ॥
लाजाञ्जनशिलामांसीमधुकैश्चूर्णितैः समैः ।
मधुयुक्तैः शिशोर्लेहः सर्व्वज्वरविनाशनः ॥

शृङ्गीसमुस्तातिबलां विचूर्ण्य
लेहं विदध्यान्मधुना शिशूनाम् ।
कासज्वरच्छर्द्दिभिरन्वितानां
समाक्षिकां वातिविषामथैकाम् ॥

विल्वमूलकषायेण लाजाश्चैव सशर्कराः ।
आलोड्य पाययेद् बालं छर्द्यतीसारनाशनम् ॥
सहकारवल्ककल्को विधृतो ह्यनाड़िताल्वादौ ।
छर्द्यतीसारजं वेगं प्रबलं धत्ते तदैव नियमेन ॥
धातकीमुस्तलोध्रेन्द्रपिप्पलीश्रीफलं मधु ।
चूर्णं हन्ति कषायो वा बालातीसारमुल्वणम् ॥
श्यामासौवीरमुस्तानां चूर्णं च मधुसंयुषाम् ।
अतिसारं तृषां छर्द्दिं बालानां हन्ति पानतः ॥

पाठावचासैन्धवसिग्रुपथ्या-
कटुत्रयं गोनवनीतपक्वम् ।

(१) भेषज्जं ०। (२) ० बर्द्धयेत् ०।

एतद्घृतं पानत एव कुर्य्यात्
मतिस्मृती नीरुजतां शिशूनाम्

---

## अथ बालग्रहोपद्रवशान्तिः ।

अथ यदि बालो बालग्रहगृहीतो भवति तदा,—अकस्मात् भीत इव रोदिति ज्वरादिपीड़ितो भवति। तमभिस्पृशति,—"न रुदति न हृष्यति यत्र वयं वदामो यत्र वाभिमृषामसि।" इति पीड़ितम्। तथान्यत्रेति,—तत्र यदि कुमार उपद्रवेत् जालेन उत्तरीयेण वा पिधाय पिता अङ्कमाधाय जपति—"कूर्क्कुरः सुकूर्क्कुरः कूर्क्कुरो बालबन्धनश्चेच्चेच्छुनक सृज नमस्तेऽस्तु सीसरो लपेताऽपह्वर तत् सत्यं यत्ते देवा वरमददुः स तं कुमारमेव वावृणीथाः। चेच्चेच्छुनक सृज नमस्तेऽस्तु सीसरो लपेताऽपह्वर तत् सत्यं यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशवलौ भ्रातरौ चेच्चेच्छुनक सृज नमस्तेऽस्तु सीसरो लपेताऽपह्वर।" अभिमृशति,—"न रुदति न हृष्यति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृषामसि।" तथान्यत्रेति,—

नदीतीरद्वयाकृष्टमृदा देवीस्वरूपकम्।
कृत्वा पूजा प्रकर्त्तव्या पुष्पधूपादिभिस्ततः॥

तत्र प्रथमदिने षोड़शदिनादूर्द्ध्वं प्रथममासे च "मातृदायिनै नमः" इति। द्वितीयदिने द्वितीयमासादौ सुनन्दायै पुनन्तायै

विभीषणायै [1]वितानिशकुनिशुष्कायै जम्भिकायै आजिकायै वाजिकायै भद्रकाल्यै तारायै सर्व्वमुख्यै कुमार्य्यै इति।

पूजेयं सर्व्वदेवानामपराह्ले तथा बलिः।

ओं नमो भगवति अमुके देवि बालं मुञ्च मुञ्च बलिं गृहाण स्वाहा इति।

बालं संस्नापयेत् पश्चाच्छान्तितोयेन मन्त्रवित्॥

---

## अथ प्रसूतिचिकित्सा।

एरण्डतैलसंयुक्तशुण्ठीमूलप्रलेपतः।
नवप्रसूतनारीणां योनिशूलं प्रशाम्यति॥
एक एव यवक्षारो योनिशूलं निवारयेत्।
सर्पिषा चोष्णतोयेन पीतः शीतं यथानलः॥
योनिशूलहरं पीतं सर्पिः कार्पासबीजयुक्।
शालितण्डुलपिष्टेन दुग्धपीतेन योषिताम्॥
भूरिदुग्धं भवेत् सप्तदिनं क्षीरान्नभोजनात्।
भूमिकुष्माण्डमूलेन दुग्धं पीतं भवेत् स्त्रियाः॥
पयोधरः पयो भूमौ मुञ्चत्युच्चैर्यथा घनः।
स्तनपीड़ा शमं याति विशालामूललेपतः।
कुमारीकन्दलेपो वा सहरिद्रोऽतिवेगतः॥

---

(१) विपनिशकुनिगुह्यायै।

## अथ नामकरणम् ।

एकादशाहे ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्य्यान्नतद्धितम् । अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियास्तद्धितान्तं वा ।

---

## अथ निष्क्रामणम् ।

चतुर्थे मासि[1] सूर्य्यमुदीक्षयति "तच्चक्षु"रिति ।

---

## अथान्नप्राशनम् ।

षष्ठे मासि स्थालीपाकं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वा जुहोति,— "ॐ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति सा नो मन्द्रेषमूर्ज्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा ।" "वाजो नो अद्य" इति च । स्थालीपाकस्य जुहोति,—ॐ प्राणेनान्नमशीय स्वाहा, अपानेन गन्धानशीय स्वाहा, चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा, श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा इति प्राशनान्ते सर्व्वान् रसान् सर्व्वमन्नमेकतोद्धृत्य प्राशयति ।

---

## अथ चूड़ाकरणम् ।

तृतीये वा वर्षे ब्राह्मणान् भोजयित्वा माता कुमारमादाय [2]आप्लाव्याहते वाससी परिधाप्याङ्कमाधाय पश्चादग्नेरुपविशति

(१) मासि० । (२) स्नाप्याहते० ।

अन्वारब्ध आहुतीर्हुत्वा प्राणनान्ते शीतास्वप्सु 'उष्णा आसिञ्चति,— "उष्णेन वाय उदकेनेह्यदिते केशान् वप" इति। तत्र नवनीत-पिण्डं दधिघृतपिण्डं वा प्राश्य ततो दक्षिणं गोदानमुन्दति,— "सविता प्रसूता" इति त्रेण्या शलल्या विनीय त्रीन् कुशतरूणन्त-र्दधाति,—"ओषधे त्रायस्व" इति। "शिवो मामासि सुधिति स्ते पिता नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः" इति लोहक्षुरमादाय "निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजाय सुवीर्य्याय" इति प्रवपति। "येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् तेन ते ब्रह्मणो वपतीदमस्यायुष्यं जरदष्टि-र्यथाऽसत्" इति सकेशान् कुशान् प्रच्छिन्द्यानडुहगोमयपिण्डे प्रास्यत्युत्तरतः। एवं द्विरपरं तूष्णीमिति। इतरयोश्चोन्दनादि पश्चात् "कश्यपस्य" इति। उत्तरतो "येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक्च पश्चाधिसूर्य्यं तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये" इति त्रिः क्षुरेण प्रदक्षिणं परिहरति। "यत् क्षुरेण मज्जयता सुपेषसा वप्ता वा वपति केशांश्छिन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषी"रिति तावतीभिरद्भिः शिरः समुद्य नापिताय क्षुरं प्रयच्छति "अक्षुण्वं परिवप" इति। यथामङ्गलं केशशेषकरणम्।

---

(१) उष्णाः सिञ्चति।

## अथोपनयनम्।

अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेत्[1] गर्भाष्टमे वा।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य्यं विप्रस्य पञ्चमे।

तथा सप्तमे ब्रह्मवर्चसकामस्य। अष्टमे आयुष्कामं नवमे तेजस्कामं दशमेऽन्नादिकामं एकादशे इन्द्रियकामं द्वादशे पशुकामं [2]उपनयेत्। ब्राह्मणान् भोजयेत्। तञ्च पर्य्युप्तशिरसमलङ्कृतमानयन्ति। शिरसः परिवपणं भोजनात् पूर्व्वं पश्चादग्नेः स्थाप्य "ब्रह्मचर्य्यमागा"मिति वाचयति। "ब्रह्मचार्य्यसानि" इति। वासः परिधापयति,—"येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्य्यदधादमृतं तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुष्टाय बलाय वर्च्चसे" इति। मेखलां बध्नाति,—

इयं दुरुक्तं परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥

अजिनमुत्तरीयम्,—"मित्रस्य चक्षुर्वरुणं" इत्यादिना।

"युवा सुवासा" इति तूष्णीं वा। दण्डं प्रयच्छति। तं प्रतिगृह्णाति,—"यो मे दण्डः परापतद् वैहायसोऽधिभूम्यां, तमहं पुनराददाम्यायुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्च्चसाय" इति। अथास्याञ्जलिनाञ्जलिं पूरयति "आपो हिष्ठा" इति [3]तिसृभिः। [4]सूर्य्यमुदी-

---

(१) ० मुपनयीत ०।
(२) ० उपनयीत।
(३) ० तिसृभिः ऋग्भिः।
(४) सूर्य्यमुदीक्षस्व इति "तच्चक्षुः" ०।

त्रयति "तच्चक्षुः" इति मन्त्रेण। अस्य दक्षिणांशमधि हृदयमालभते,— "मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु, मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्।" अथैनमाह दक्षिणं हस्तं गृहीत्वा,—"को नामासि" इति। "असावहं भोः" इति प्रत्याह। "कस्य ब्रह्मचार्य्यसि" इति, "भवतः" इत्युच्यमाने "इन्द्रस्य ब्रह्मचार्य्यस्यग्नि-राचार्य्यस्तवाहम्" इति। अथैनं भूतेभ्यः परिददाति,—"प्रजापतये त्वा परिददामि, देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यस्त्वा परिददामि द्यावा पृथिवीभ्यां त्वा परिददामि, विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि, सर्व्वेभ्यस्त्वा [1]भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै" इत्युक्त्वा प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति। अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्ते [2]एनं संशास्ति,—ब्रह्मचार्य्यसि, अपोशान, कर्म्म कुरु, मा दिवा सुषुप्थाः, वाचं यच्छ, समिधमाधेहि, अपोशान। अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखोपविष्टायोपसन्नाय, समीक्षमाणाय, समीक्षिताय। दक्षिणतस्तिष्ठते, आसीनाय इत्येके। पादं पादमर्द्धर्चशः सर्व्वाञ्च समिदाधानम्। पाणिनाग्निं परिसमूहयति,—"अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु, यथा त्वमग्ने सुश्रवः, सुश्रवा असि, एवमग्ने सुश्रवः, सौश्रवसं कुरु, यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि, एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्" इत्युत्तिष्ठन्नग्निं पर्य्युक्षन् समिधमादधाति,—

---

(१) ० देवेभ्यः ०। (२) एवं ०।

"अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्च्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-वर्च्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्य्यो मेधाव्यहमसान्यनिरा-करिष्णुरायुष्मान् यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्च्चस्व्यन्नादो भूयासमग्नये स्वाहा" इत्येवं द्वितीयम्[1]। तथा [2]तृतीयं, "एषा ते" इति वा, समुच्चयो वा। पूर्व्ववत् परिसमूहनपर्य्युक्षणे। पाणी प्रतप्य मुखं विमृशेत् "तनूपा अग्ने" इत्यादि। "मेधां देवः सविता आदधातु, मेधां देवी सरस्वती आदधातु, मेधामश्विनौ देवावा-धत्तां पुष्करस्रजौ" इति। "अङ्गानि च म आप्यायन्तां" इति वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशोबलमिति त्र्यायुषाणि कुरुते भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणांशे हृदि त्र्यायुषमिति प्रतिमन्त्रमिति।

भवत्पूर्व्वां ब्राह्मणो भिक्षेत। तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः षट्[3] वा दश अपरिमिता वा। मातरं प्रथमामेके। आचार्य्याय भैक्ष्यं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके। अहिंसन्नरण्यात् समिधमाहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्व्ववदाधाय वाचं विसृजते। वासांसि शाणक्षौमादिकानि, ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य। मौञ्जी रसना मुञ्जाभावे कुशाश्मान्तकविल्वजानां। पालाशदण्डो ब्राह्मणस्य, वैणवो राज्ञः, औदुम्बरो वैश्यस्य। सर्व्वे वा सर्व्वेषाम्। अधःशायी, अक्षारलवणाशी,—दण्डधारणं, अग्निपरिचरणं,

(१) ० द्वितीया।

(२) ० तृतीया ०।

(३) ० द्वादश अपरिमितावेति

शुश्रूषा, [1]भिक्षाचरणं, मधुमांसाञ्जनोपर्य्यासनस्त्रीगमनानृत-दन्तधावनानि वर्जयेत्।

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धमाल्यरसान् स्त्रियः।
शुक्तानि चैव सर्व्वाणि प्राणिनाञ्चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनञ्चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम्॥
गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अभावेत्वन्यगेहानां पूर्व्वं पूर्व्वं विवर्जयेत्॥
ब्रह्मचर्य्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीड़यन्॥

अकामापन्नं मधु वाजसनेयके न दुष्यति। स चेत् व्याधि-पीड़ितः कामं गुरोरुच्छिष्टं प्राश्नीयात्।

न ब्रह्मचारिणः कुर्य्युरुदकं पतितानि च।
आदिष्टा नोदकं कुर्य्यादाव्रतस्य समापनात्॥
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
आचार्य्यपित्रुपाध्यायान् निहृत्यापि [2]व्रतीव्रती॥
[3]शकटान्नञ्च नाश्नीयान्न च तैः सह संविशेत्[4]।

[5]व्रतीव्रतीति ब्रह्मचारी व्रत्येव न व्रतभ्रंशः। शकटशब्देना-शौचं लक्ष्यते तत्सहचरितमन्नं शकटान्नं ब्रह्मचारी नाश्नीयात्।

(१) भिक्षाचर्य्यं।
(२) व्रतिव्रती।
(३) शकटान्नं न चाश्नीयात् ०।
(४) ० संवसेत्।
(५) व्रतिव्रतीति ०।

एवञ्चाचार्य्यव्यतिरिक्तप्रेतनिर्हरणे ब्रह्मचारिणो व्रतलोपात् स्नानञ्चात्र।

अकृत्वा भैक्ष्यचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतञ्चरेत्॥

एवं ब्रह्मचारिण उक्तशौचे मृत्संख्या द्विगुणा दन्तधावनाभावः प्रातःस्नानञ्च "प्रयतोऽनभिषिक्तः" इति वचनात् अप्रयत... अतएव स्नायी स्नायी वा दण्डवदित्यप्रायत्यहानार्थत्वान्न... सुक्तम्। यत्तु,—

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं वानप्रस्थगृहस्थयोः।
यतेस्त्रिसवनस्नानं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः॥ इति।

तेनादृष्टार्थं स्नानं भोजनात् प्राक् यदा कदाचित् कर्त्तव्यं न तत्र कालनियमः। एवं ब्रह्मचारिणः सन्ध्याद्वयोपासनमिति वचनात् माध्याह्निकाभावः। यत्तु,—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्य्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्च्चनञ्चैव समिदाधानमेव च॥

इत्युक्तं, तेन यदाकदाचित् कर्त्तव्यं तर्पणमात्रमुक्तमिति। एवं द्वादशाब्दानि पञ्चाब्दानि वा साङ्गैकवेदशाखासमाप्तिपर्य्यन्तं वा ब्रह्मचर्य्यं चरित्वा

गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया।

इति गुरुणानुज्ञात उपसंगृह्य गुरुं समिधोऽभ्याधाय परिस्रुतस्योत्तरतः कुशेषु प्रागग्रेषु पुरस्तात् स्थित्वा अष्टानामुदकुम्भानां,— "येऽप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूखो मनोहाः खलो

विरुजस्तनूदूषिरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि" इति एकस्मादपो गृहीत्वा त्वेकैकमभिषिञ्चति,—"तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय। येन श्रियमकृणुतां येनावमृषतां सुरां येनाक्षावभ्यषिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः" इति। "आपो हिष्ठा" इति प्रत्यृचं तिसृभिः, तूष्णीमितरैः। "उदुत्तम" मिति मेखलामुन्मुच्यान्यद् वासः परिधायादित्यमुपतिष्ठते,—"उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद्दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्व्वा विदन्मागमय उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्व्वा विदन्मागमय।" इति दधितिलान् वा प्राश्य जटालोमनखान् संहृत्योदुम्बरेण दन्तान् धावयेत्,—"अन्नाद्याय" इति "बलाय" चेत्यन्तेन। पुनः स्नात्वा अनुलेपनम्, नासिकयोर्मुखस्य चोपगृह्णीते,—"प्राणापानौ मे तर्पय, चक्षुर्मे तर्पय, श्रोत्रं मे तर्पय"। "पितरः शुन्धध्व" मिति पाण्योरवनेजनम्। दक्षिणेनानुलिप्य जपेत्,—"सुचक्षाहमक्षिभ्यां सुवर्चा मुखेन सुश्रुक् कर्णाभ्यां भूयासम्।" अहतं वास आच्छादयीत "परिधास्ये" इति। तथा उत्तरीयं "यशसा मा" इति। सुमनसः प्रतिगृह्णाति,—"या आहारज्जमदग्निः श्रद्धायै मेधायै कामाय इन्द्रियाय ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च बले च।" अथ बध्नीते,—"यद्यशोऽप्सरसामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु तेन संग्रथिताः सुमनसः आबध्नामि यशो मयि" इति। उष्णीषेण शिरो वेष्टयेत्,—"युवा सुवासा" इति। "अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं मे भूयाः" इति कुण्डले।

"वृत्रस्य" इत्यक्षिणी अञ्जयेत्। "रोचिष्णुरसि" इत्यात्मानमादर्शे प्रेक्षते। छत्रं प्रतिगृह्णाति,—बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्द्धेहि, तेजसो यशसो मामन्तर्द्धेहि" इति। "प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पात"मिति उपानहौ प्रतिगृह्णीयात्। "विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यः परिपाहि सर्व्वत" इति वैणवं दण्डमादत्ते।

अथ समावर्त्तनानन्तरं "तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्" इत्यादि "इन्द्र"मिव इत्यन्तो ज्ञातव्यः स्नातकव्रतसङ्कल्पः। तत्र यद्यपि स्मृतिषु बहवो नियमा उक्तास्तथापि,—

बह्वल्पं वा स्वगृह्योक्तं यस्य यावत् प्रकीर्त्तितम्।
तस्य तावति शास्त्रार्थे कृते सर्व्वः कृतो भवेत्॥

इति वचनात् स्वगृह्योक्तमेव सङ्कल्पयेत्। स्मृत्युक्तानामसङ्कल्पे दोषाभावः सङ्कल्पे फलाधिक्यम्। गृह्योक्तञ्च तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेदमांसाश्यमृन्मयपात्रपायी स्त्रीशूद्रशकुनिशुनाञ्चादर्शी असम्भाषी च तैः। शवशूद्रसूतकान्नानि नाद्यात् मूत्रपुरीषनिष्ठीवनञ्चातपे न कुर्य्यात्, सूर्य्यादात्मानं नान्तर्दधीत, तप्तेन नोदकार्थान् कुर्व्वीत, अवद्यमुक्त्वा रात्रौ भोजनं सत्यवदनमेव इति।

तथा यावज्जीवानुष्ठेयानि।

नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्य्यात्। न च गच्छेत् कामन्तु गीतं गायति चैव, गीते वा रमते इत्यपरम्। क्षेमे नक्तं ग्रामान्तरं न गच्छेत्, न च धावेदुदपानावेक्षणवृक्षादिरोहणफलप्रचयनसन्धिसर्पण-विवृतस्नानविषमलङ्घन-सूक्तवदनसन्ध्यादित्यप्रेक्षणाभीक्षणानि न कुर्य्यात्। "नहवै स्नात्वा भिक्षेतापहवै स्नात्वा भिक्षां

जयति" इति श्रुतेः वर्षत्यप्रावृतो व्रजेत्। "अयं मे वज्रः पाप्मानमपहनत्" इत्यप्सु आत्मानं नावेक्षेत। जातलोम्नीं विनसं षण्ढञ्च नोपहसेत्। न च गच्छेद् गर्भिणीम्। "विजय" इति ब्रूयात्। सकुलमिति नकुलं, भगालमिति कपालं, मणिधनुरितीन्द्रधनुः, गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत, उर्व्वरायामनन्तर्हितायां भूमावुत्सर्गं, तिष्ठन् न मूत्रपुरीषे कुर्य्यात्। स्वयं प्रशीर्णेन काष्ठेन गुदं प्रमृजीत, विहृतं वासो नाच्छादयीत। दृढ़व्रतोऽवधत्रः स्यात् सर्व्वेषां मित्रमिव। एतत् सर्व्वं यावज्जीवं सङ्कल्पपूर्व्वकं कुर्य्यात्। उक्तानि च कर्म्माणि अग्न्याधेयपर्य्यन्तमेवं क्रमेण कुर्य्यात्।

## अग्न्याधानं विवाहानन्तरमिति विवाहार्थं कन्यावरणम्।

तत्र,—कन्यानिर्णयः।

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥

पितृपत्न्यः सर्व्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलास्तद्दुहितरो भगिन्यस्ताः सङ्करकारिण्यः।

अनन्यपूर्व्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्।
अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजाम्॥

[1]अभिसन्धिमात्रात् पुत्रिकेत्येके तत्कन्यां नोपयच्छेदभ्रातृकाम्।

---

(१) अभिसन्धिमात्रं पुत्रिकां त्वेके। तत् स्वकन्यां नोपगच्छेद ०।

पञ्चमात् सप्तमादूर्द्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ।

मातृतो मातृसन्ताने, मातामहादिपिण्डेन सपिण्डामपि पञ्चमादूर्द्ध्वमुद्वहेदित्यर्थः । एवं पितृतः पितृसन्ताने पितामहादि-पिण्डेन सपिण्डामपि सप्तमादूर्द्ध्वम् । आदिपुरुषस्य सगोत्रजत्वे पितृसन्तानो भवति । अन्यगोत्रजत्वे मातृसन्तान इति । यत्तु,—

पञ्चमीं सप्तमीञ्चैव मातृतः पितृतस्तथा ।

इति, यच्च,—त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य पितृत इति, तदत्यन्तासम्भवपरम् । कल्पतरौ,—असमानजातीयकन्या[१]विषय-मित्युक्तम् ।

मातुलस्य सुता मुच्चा मातृगोत्रा तथैव च ।

समानप्रवरां चैव गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति मातृगोत्रजापि निषिद्धा ।

तत्र,—

सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युद्वाहकर्म्मणि ।

जन्मनाम्नोरविज्ञानादुद्वहेदविशङ्कितः ॥

तथा पितुरेवमेव । गोत्रभेदेऽपि प्रवरैक्यं भवतीति पृथक् प्रवरैक्यनिषेधः । तत्र,—

जमदग्निर्भरद्वाजो विश्वामित्रोऽत्रिगोतमौ ।

वशिष्ठः काश्यपोऽगस्तिरेषां [२]येष्वनुवर्त्तनम् ॥

येषां तुल्यार्षिभूयस्त्वं नोद्वहन्ति मिथस्ततः ।

(१) ॰ विषयत्वमुक्तम् । (२) ॰ येऽप्यनुवर्त्तिनः ।

एषामष्टानामेकस्यापि येषु प्रवरेष्वनुवर्त्तनं साम्यं, येषां प्रवराणां त्रार्षे द्वयोः पञ्चार्षे त्रयाणामैक्यं तत्राविवाहः स्फुट एव ।

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोम्नीं न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्व्वतनामिकाम् ।
न यक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥
नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घां न च वामनाम् ।
ह्रस्वया निःस्वता प्रोक्ता दीर्घया च कुलक्षयः ॥

ग्रीवया पृथुलया योषितः प्रचण्डता ।

नेत्रे यस्याः केकरे पिङ्गले वा
सा दुःशीला श्यावलोलेक्षणा च ।
कूपौ यस्या गण्डयोश्च स्मितेषु
निःसन्दिग्धं बन्धकीं तां वदन्ति ॥
प्रविलम्बिनि देवरं ललाटे
श्वशुरं हन्त्युदरे, स्फिचोः पतिञ्च ।
अतिरोमचयान्वितोत्तरोष्ठी
न शुभा भर्त्तुरतीव या च दीर्घा ॥
कनिष्ठिका वा तदनन्तरा वा
स्पृशेन्न यस्या धरणीं युवत्याः ।
गताथवाङ्गुष्ठमतीत्य यस्याः
प्रदेशिनी सा कुलटातिपापा ॥

मध्याङ्गुलीं या मणिबन्धनोत्था
रेखा गता पाणितलेऽङ्गनायाः ।
ऊर्द्धस्थिता पादतलेऽथवान्या
पुंसोऽथवा राज्यसुखाय सा स्यात् ॥
कनिष्ठिकामूलभवा गता या
प्रदेशिनीमध्यमिकान्तरालम् ।
करोति रेखा परमायुषः सा
प्रमाणमूना तु तदूनमायुः ॥
अङ्गुष्ठमूले प्रसवस्य रेखाः
पुत्रा बृहत्यः प्रमदास्तु तन्वः ।
अच्छिन्नदीर्घा बृहदायुषां ताः
स्वल्पायुषां च्छिन्नलघुप्रमाणाः ॥

एतच्च पुंसामपि ।

स्निग्धोन्नताग्रतनुताम्रनखौ कुमार्य्याः
पादौ समोपचितचारुनिगूढ़गुल्फौ ।
श्लिष्टाङ्गुली कमलकान्तिनिभौ च यस्या
स्तामुद्वहेद् यदि भुवोऽधिपतित्वमिच्छेत् ॥
मत्स्याङ्कुशाब्जयववज्रहलासिचिह्ना-
वस्वेदनौ मृदुतलौ चरणौ प्रशस्तौ ।
जङ्घे च रोमरहिते विशिरे सुवृत्ते
जानुद्वयं सममनुल्बनसन्धिदेशम् ॥

ऊरू घनौ करिकरप्रतिमावरोमा-
वश्वत्थपत्रसदृशं विपुलञ्च गुह्यम्।
श्रोणीललाटमुरुकूर्म्मसमन्नतञ्च
गूढ़ो मणिश्च विपुलां श्रियमादधाति॥

## अथ कन्यापरीक्षा।

अष्टौ पिण्डान् कृत्वा "ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋतं सत्यं प्रतिष्ठितम्। यदियं कुमार्य्यभिजाता तदिदमिह प्रतिपद्यताम्, यत् सत्यं तद् दृश्यता"मिति पिण्डानभिमन्त्र्य कुमारीं ब्रूयात्,—"एषामेकां गृहाण" इति। उर्व्वरापिण्डे स्पृष्टे धान्यवती भवति, गोष्ठपिण्डे स्पृष्टे पशुमती, वेदिपिण्डे स्पृष्टे अग्निहोत्रशुश्रूषणपरा, लौकिकस्थानपिण्डे स्पृष्टे अविवेकिनी सर्व्वजनावर्जनपरा, उदकपिण्डे स्पृष्टे रोगिणी, ईरिणाक्षेत्रे बन्धा, चतुष्पथे व्यभिचारिणी, श्मशाने विधवा।



## अथ विवाहे शुभाशुभराशिकथनम्।

एकराशौ च दम्पत्योः शुभं स्यात् समसप्तके।
चतुर्थदशके चैव तृतीयैकादशे तथा॥
मरणं नाड़ीयोगे कलहः षट्काष्टके विपत्तिर्वा।
अनपत्यता त्रिकोणे द्विद्वादशके च दारिद्र्यम्॥
एकाधिपत्यं भवनेशमैत्रं वश्यं यदि स्यादुभयोडुशुद्धौ।
द्विद्वादशे वा नवपञ्चमे वा कार्य्यो विवाहो न षड़ष्टके च॥

षष्ठाष्टके गोमिथुनं प्रदेयं
कांस्यं सरूप्यं नवपञ्चके तु ।
द्विद्वादशाख्ये कनकान्नताम्रं
विप्रार्चनं हेम च नाड़िदोषे ॥

पुष्याश्विनीमृगादित्यपौष्णागे मैत्रोऽनलं तथा ।
श्रवणं हस्तसंयुक्तं दिव्यञ्च भगणं श्रिये ॥
रोहिणी भरणी रौद्रं पूर्ब्बोत्तरत्रिकं तथा ।
मनुजानां गणः प्रोक्तः * * * ॥
विशाखामूलसर्पञ्च मघाग्निवसुवारुणम् ।
ज्येष्ठा चित्रा च भगणं राक्षसानां प्रकीर्त्तितम् ॥
स्वकुले चोत्तमा प्रीति र्मध्यमा देवमानुषे ।
देवासुरे कनिष्ठा च मृत्युर्मानुषराक्षसे ॥

अश्वेभाजफणिद्वयं श्वद्वयभुक्मेषौतबो मूषिक
आखुर्गौ क्रमशस्तथाहि महिषव्याघ्राः पुनः सैरिभाः ।
व्याघ्रा गोमृगमण्डुकौ कपिरथो वभ्रुद्वयं वानरं
सिंहोऽश्वो मृगराट् पशुश्च करटी योनिश्च भानामिदम् ॥
गोव्याघ्रं गजसिंहमश्वमहिषं श्वैणेयवभ्रूरगं
वैरं वानरमेषकञ्च सुषमं तद्वद् विड़ालोन्दुरम् ।
लोकानां व्यवहारतोऽन्यदपि च ज्ञात्वा प्रयत्नादिदं
दम्पत्योर्व्ययहार्द्दयोरपि सदा वर्ज्यं शुभस्यार्थिभिः ॥

## अथ विवाहे विधिवाक्यानि।

वर्षैरेकगुणां भार्य्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्।
अष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्म्मे सीदति सत्वरः॥
कन्या द्वादशवर्षाणि याऽप्रदत्ता गृहे वसेत्।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वरयेत् स्वयम्॥
एवञ्चोपनतां पत्नीं नावमन्यात् कदाचन॥
पितृवेश्मनि या कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता।
भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता॥

इति।

यस्तु तां वरयेत् कन्यां ब्राह्मणो ज्ञानदुर्ब्बलः।
अश्राद्धेयमपांक्तेयं तं विन्द्याद् वृषलीपतिम्॥
क्रीता द्रव्येण या नारी न सा पत्नी विधीयते॥
शुल्केन ये प्रयच्छन्ति सुतां लोभविमोहिता।
न सा दैवे[1] न सा पैत्रे दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्।
आत्मविक्रयिणः पापा महाकिल्विषकास्तु ते।
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चासप्तमं कुलम्॥
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥

(१) ० दैव्ये

## विवाहानुकूले प्रश्नः ।

स्वर्क्षं स्वलग्नञ्च तयोश्च नाथौ
तयोस्त्रिषष्ठायगृहं यदि स्यात् ।
नवांशकं (१)वा स्वगृहं नृभं वा
प्रश्नोदये स्यात् कुशलं तदानीम् ॥

त्रिषष्ठायदशास्तेषु प्रश्नलग्नात् निशाकरः ।
सम्पत्करस्तु दम्पत्योर्गुरुणा यदि दृश्यते ॥

प्रश्नोदयाच्छशधरः परिणेतुरेव
वर्षेऽष्टमे निधनदो निधनारिसंस्थः ।
वर्षेषु सप्तसु यदोदयगौ च पापौ
मासाष्टके शनिकुजावुदयास्तसंस्थौ ॥

जामित्रसंस्थे म्रियते महीजे
प्रजाविहीना कुलटा च सूर्य्ये ।
सुरारिपूज्ये रजनीकरे वा
कन्यान्यरक्ता पतिघातिनी च ॥

गोचरशुद्धाविन्दुं कन्याया यत्नतः शुभं वीक्ष्य ।
तिग्मकिरणञ्च पुंसः शेषैरबलैरपि विवाहः ॥

बन्ध्या वित्तविवर्जिता पतिहिता दौर्भाग्यदुःखोत्तरा
स्वल्पापत्यवती पतिप्रियतमा बन्धुच्युता बन्धकी ।
निःस्वा सौख्यसमन्विता सुतधनप्रीत्यन्विता निःसुखा
व्यूढानुक्रमशः सहस्रकिरणे जन्मादिराशिस्थिते ॥

---

(१) ० वा सशुभं न्टभं ० ।

जन्माष्टमद्वादशगः सुरेज्यो
वैधव्यदः स्त्रीव्ययकृत् त्रिषष्ठः।
दौर्भाग्यदाता दशमश्चतुर्थः
शेषेषु सौभाग्यसुखार्थसम्पत्॥

रेवत्युत्तररोहिणीमृगोशिरोमूलानुराधामघा-
हस्तास्वातिषु तौलिषष्ठमिथुनेषूद्यत्सु पाणिग्रहः।
सप्ताष्टान्त्यवहिःशुभैरुडुपतावेकादशद्वित्रिगे
क्रूरैस्त्र्यायषड़ष्टगे नतु भृगौ षष्ठे कुजे चाष्टमे॥

दम्पत्योर्द्विनवाष्टराशिरहिते दारानुकूले रवौ
चन्द्रे चार्ककुजार्कशुक्रवियुते मध्येऽथवा पापयोः।
त्यक्त्वा च व्यतिपातवैधृतिदिनं विष्टिञ्च रिक्तां तिथिं
क्रूराद्ययनचैत्रपौषरहिते लग्नांशके मानुषे॥

आद्ये मघा चतुर्भागे [1]नैर्ऋतस्याद्य एव च।
रेवत्यन्ते चतुर्भागे विवाहः प्राणनाशकः[2]॥

यस्यांशः कल्पितो लग्ने स चेत् स्वाम्यवलोकितः।
तदा पुंसः शुभं विन्द्यात्सप्तमांशे तथा स्त्रियाः॥

सुतहिबुकवियद्विलग्नधर्मे-
ष्वमरगुरुर्यदि दानवार्चितो वा।
यदशुभमुपयाति तच्छुभत्वं
शुभमपि वृद्धिमुपैति तत्प्रभावात्[3]॥

---

(१) ० निर्ऋतस्या ०। (३) ० प्रसादात्।
(२) ० नाशनः।

लग्नं यदा नास्ति विशुद्धमन्यद्
गोधूलिकां साधु समामनन्ति।
* * * *
* * * * ॥
सन्ध्यातपारुणितपश्चिमदिग्विभागे
व्योम्नि स्फुरद्विमलतारकसन्निवेशे।
रुद्धे गवां खुरपुटोद्दलितै रजोभि-
र्गोधूलिरेष कथितो भृगुजेन योगः॥
नास्मिन् ग्रहा न तिथयो न च विष्टिवारा
ऋक्षाणि नोपजनयन्ति कदापि विघ्नम्।
अव्याहतः सततमेव विवाहकाले
यात्रासु चायमुदितो भृगुजेन योगः॥

---

## अथ ब्राह्मविवाहलक्षणकथनम्।

"ब्राह्मो विवाहः आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता" इति यद् ब्रह्मचारिणे अर्थिने दानं स ब्राह्मः।

अद्भिर्या दीयते कन्या ब्रह्मदेयेति तां विदुः।
ज्योतिष्टोमातिरात्राणां शतं शतगुणीकृतम्।
प्राप्नोति पुरुषान् दत्वा होममन्त्रैश्च संस्कृताम्॥
अनडुहां सहस्राणि दशानां धुर्य्यवाहिनाम्।
सुपात्रे दीयते दानं कन्यादानञ्च तत्समम्॥

श्रुत्वा कन्याप्रदानन्तु पितरः सपितामहाः।
मुक्ता वै पूर्व्वपापेभ्यो ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥

---

## अथ कन्यादातृनिर्णयः।

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा।
कन्याप्रदः पूर्व्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः॥

---

## अथ दानविधिः।

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं प्रशस्यते।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया॥

अत्र द्विजाग्र्याणां वरत्वे इति शेषः। एवमितरेषामिति। एतेन ब्राह्मणानामेव दानपात्रत्वात् तत्रैव दानविधिः। इतरेषु विवाहविधिमात्रं न दानविधिः।

प्रत्यङ्मुखा वरयन्ति प्रतिगृह्णन्ति प्राङ्मुखाः।
उभयस्यापि पक्षस्य पैतापुत्रमनुक्रमेत्।
कन्यां ददाति यस्तस्य पैतापुत्रं त्रिपूरुषम्॥

उभयस्य मातृपितृपक्षयोरिति कल्पतरौ।

तत्रादौ षड़र्घ्या भवन्ति,—आचार्य्य-ऋत्विग्-विवाह्यो-राजा-प्रियः-स्नातक इति। "प्रतिसंवत्सरानर्हयेयुर्यक्ष्यमाणान् ऋत्विज" इति विवाह्यस्य अर्च्चनीयत्वोक्तेर्वरमर्च्चयेत्। तद्विधिश्च,—आसन-माहार्य्याह साधु भवानास्तामर्च्चयिष्यामो भवन्तमित्याहरन्ति

विष्टरम् । पाद्यं पादार्थमुदकमर्घ्यमाचमनीयं मधुपर्कं दधिमधुघृतमपिहितं कांस्यं कांस्येन । अन्यस्त्रिस्त्रिः प्राह विष्टरादीनि । विष्टरं प्रतिगृह्णाति,—"वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्य्यः, इमं तमधितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति" इत्येनमभ्युपविशति । पादयोरन्यं विष्टरमासीनाय । सव्यं पादं प्रक्षाल्य दक्षिणं क्षालयति । ब्राह्मणश्चेद् दक्षिणं प्रथमम् । "विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमसीय मयि पाद्यायै विराजो दोहः" इति । अर्घ्यं प्रतिगृह्णाति,—"आपः स्थ युष्माभिः सर्व्वान् कामानवाप्नुवानि" इति । निनयन्नभिमन्त्रयते,—"समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत, अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः" इति । आचामति,—"आमागन् यशसा संसृज वर्च्चसा तं मा कुरु । प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टं तनूना"मिति । "मित्रस्य त्वा" इति मधुपर्कं प्रतीक्षते । "देवस्य त्वा" इति प्रतिगृह्णाति । सव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणस्यानामिकया त्रिः प्रयोजयति,—"नमस्यावाश्यायान्नशने यत् त आविद्धन्तत्ते निष्कृन्तामि" इति । अनामिकाङ्गुष्ठेन च त्रिर्निरूपयति, तस्य त्रिः प्राश्नाति,—"यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यं तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि" इति । मधुमतीभिर्वा प्रत्यृचम् । पुत्रायान्तेवासिने वोत्तरत आसीनायोच्छिष्टं दद्यात् । सर्व्वं वा प्राश्नीयात् । आचम्य प्राणान् संस्पृशति,—"वाङ्म आस्ये नसोर्मे प्राणोऽस्त्वक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु बाह्वोर्मे बलमस्तु ऊर्व्वोर्मे ओजोऽस्तु अरिष्टानि मेऽङ्गानि

तनूस्तन्वा मे सह सन्तु” इति। आचान्तोदकाय गां समादाय गौरिति त्रिः प्राह “माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। [1]प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट मम चामुष्य च पाप्मानं हमि” इति। यदा लभेत, अथ यद्युत्सिसृक्षेत,—“मम चामुष्य च पाप्मा हत ओमुत्सृजत तृणान्यत्तु” इति ब्रूयात्।

---

## अथ विवाहविधिः।

बहिःशालायामग्निमुपसमाधाय निर्मथ्य वैके विवाह उदगयनापूर्य्यमाणपक्षे पुण्याहे कुमार्य्यास्त्रिषु त्रिषूत्तरादिषु स्वातौ मृगशिरसि रोहिण्यामथैनां वासः परिधापयति,—“जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपाव शतञ्च जीव शरदः सुवर्चा रयिञ्च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः” इति। अथोत्तरीयं,—“या अकृन्तन् अवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितोऽततन्थ तास्त्वा देवी र्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः” इति। अथैनां समञ्जयति,—“समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ” इति। पिता प्रत्तामादाय गृहीत्वा निष्क्रामयति,—“यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनु पवमानो वा हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोम्यसौ” इति।

---

(१) ॰ त्रिषु चतुरादिषु स्वातौ ॰।

अथैनौ समीक्षयति,—"अघोरचक्षुरपतिघ्न्येऽधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्च्चाः वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्व्वो विविद उत्तरस्तृतीयोऽग्निस्ते पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः सोमोऽददद् गन्धर्व्वाय गन्धर्व्वोऽददद्ग्नये रयिञ्च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमां। सा नः पूषा शिवतमा मैरयत् सा न ऊरू उशती विंवह यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामर्थकामा बहवो निविष्ट्यै" इति। प्रदक्षिणमग्निं पर्य्याणीयैके पश्चादग्नेस्तेजनीं कटं वा दक्षिणपदेन प्रवृत्योपविशति अन्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्व्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यं स्विष्टकृच्चैतन्नित्यं सर्व्वत्र प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविः सर्व्वप्रायश्चित्तप्राजापत्यानन्तरमेतदावापस्थानं विवाहे राष्ट्रभृदिच्छन् जयाभ्यातानाश्च जानन् येन कर्म्मणेच्छन्निति वचनात्,—चित्तञ्च चित्तिश्च आकूतञ्च आकूतिश्च विज्ञातञ्च विज्ञातिश्च मनश्च शक्करी च दर्शश्च पौर्णमासश्च बृहच्च रथन्तरञ्च। "प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु तस्मै विशः समनमन्त सर्व्वाः स उग्रः स हि हव्यो वभूव स्वाहा" इति। अग्निर्भूतानामधिपतिः समावतु, इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः, यमः पृथिव्या, वायुरन्तरीक्षस्य, सूर्य्यो दिवः, चन्द्रमा नक्षत्राणां, बृहस्पतिर्ब्रह्मणो, मित्रः सत्यानां, वरुणोऽपां, समुद्रः स्रोत्यानां, अन्नं साम्राज्यानामधिपतिस्तन्मामवतु, सोम ओषधीनां, सविता प्रसवानां, रुद्रः पशूनां, त्वष्टा रूपाणां, विष्णुः पर्व्वतानां, मरुतो गणानामधिपतयस्ते मामवन्तु, पितरः पितामहाः परेऽवरे

ततास्तता मद्दा इह मावन्त्वस्मिन्। ब्रह्मण्यस्मिन् क्षेत्रेऽस्या-माशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्म्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा इति सर्व्वत्रानुषजति। अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा। इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्द-मभिबुध्यतामियं स्वाहा। स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां महि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रं स्वाहा। सुगं नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्न आयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद् वैवस्वतो नोऽभयं कृणोतु नः स्वाहा। इति। परं मृत्यो इति चैके। प्राशनान्ते कुमार्य्या भ्राता शमीपलाशमिश्रान् लाजानञ्जला-वावपति आजुहोति संहतेन तिष्ठति,—अर्य्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नोऽर्य्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा। इयं नार्य्युपब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा। इमान् लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणां-स्तव मम तुभ्य च संवदनं तदग्निरनुमन्यतामियं स्वाहा। अथास्यै दक्षिणं हस्तं साङ्गुष्ठं गृह्णाति,—"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्य्यथासः। भगोऽर्य्यमा देवः सविता पुरन्धि-र्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः। अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्य-मोऽहं। सामाहमस्मि ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्द्यावहै

बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः । सम्प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम् ।” इति । अथैनामश्मानमारोहयति उत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेन,— “आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव । अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः” इति । अथ गाथां गायति,—“सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती । यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रगयाम्यस्याग्रतः । यस्यां भूतं समभवद् यस्यां विश्वमिदं जगत् । तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः” इति । अथ परिक्रामतः,— “तुभ्यमग्रे पर्य्यवहन् सूर्य्यां वहतु ना सह । पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह” इति । सूर्पकोणेन सर्व्वान् लाजानावपति,—“भगाय स्वाहा” इति त्रिः । अथैनामुदीचीं सप्तपदानि प्रक्रामयति,—एकमिषे, द्वे ऊर्ज्जे, त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मायो भवाय, पञ्च पशुभ्यः, षड् ऋतुभ्यः, सखे सप्तपदा भव सा मामनुव्रता भव । “विष्णुस्त्वां नयतु” इति सर्व्वत्रानुषजति । निष्क्रमणप्रभृति उदकुम्भं स्कन्धे कृत्वा दक्षिणतोऽग्नेर्वाग्यतः स्थितो भवति । उत्तरत एकेषाम् । तत एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति,—“आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ।” इति । “आपो हिष्ठा” इति तिसृभिः । अथैनां सूर्य्यमुदीक्षयति,—“तच्चक्षुः” इति । अथास्यै दक्षिणांसमधिहृदयमालभते,—“मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम्” इति । अथैनामभिमन्त्रयते,—“सुमङ्गलीरियं

वधूरिमां समेत पश्यत सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं विपरेतन" इति। तां दृढ़पुरुष उन्मथ्य प्राग्वा, उदग् वा, गुप्तागारे आनुडुहे लोहिते चर्म्मण्युपवेशयति,—"इह गावो निषीदन्तु इहाश्वा इह पूरुषाः। इहोत सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदतु" इति। ग्राम्यवचनञ्च कुर्य्युः। आचार्य्याय वरं ददाति। गौर्ब्राह्मणस्य वरो ग्रामो राजन्यस्याश्वो वैश्यस्य। चतुर्थ्यामपररात्रे अदृश्य उत्तरतोऽग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्माणमुपवेश्य उत्तरत उदपात्रं प्रतिष्ठाप्य स्थालीपाकं श्रपयित्वाज्यभागाविष्ट्वाज्याहुतीर्जुहोति,—"अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा"। अत्रैव,—"अग्ने पतिघ्नी" पदयोः स्थाने,—वायो प्रजाघ्नी, सूर्य्य पशुघ्नी, चन्द्र गृहघ्नी, गन्धर्व्व यशोघ्नी' इति पञ्च मन्त्राः स्थालीपाकस्य जुहोति। प्रजापतये स्वाहेति हुत्वा हुत्वैतासामाहुतीनामुदपात्रे संश्रवान् समवनीय एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति,—"या ते पतिघ्नी प्रजाघ्नी पशुघ्नी गृहघ्नी यशोघ्नी निन्दिता तनूर्जारघ्नीं तत एनां करोमि सा जीर्य्य त्वं मया सहाऽसौ" इति। अथैनां स्थालीपाकं प्राशयति,—"प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि अस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसं त्वचा त्वचम्" इति।

---

## अथ स्त्रीधर्म्माः ।

स्त्रीभिर्भर्त्तृवचः कार्य्यमेष धर्म्मः परः स्त्रियाः ।
नास्ति स्त्रीणां पृथग् धर्म्मो न व्रतं नाप्युपोषणम् ॥
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥
विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्य्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः ॥
संयतोपस्करा दक्षा हृष्टा व्ययपराङ्मुखी ।
कुर्य्याच्छ्वशुरयोः पादवन्दनं भर्त्तृतत्परा ॥
क्रीड़ां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्त्तृका ॥
रक्षेत् कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्द्धके ।
अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित् स्त्रियाः ॥
आर्त्तार्त्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥
पितृमातृसुतभ्रातृश्वश्रुश्वशुरमातुलैः ।
हीना न स्याद् विना भर्त्त्रा गर्हणीयान्यथा भवेत् ॥
पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्त्ता प्रभुः स्त्रियाः ॥

नानुज्ञा गृहान्निर्गच्छेत्, नानुत्तरीया, न त्वरितं गच्छेत्, न परपुरुषमभिभाषेत—अन्यत्र,—वणिक्-प्रव्रजित-वृद्धवैद्येभ्यः । न नाभिं दर्शयेत्, आगुल्फं वासः परिदध्यात्, न स्तनौ विवृतौ कुर्य्यात्, न हसेदनावृता, न भर्त्तारं तद्बन्धूंश्च हिंस्यात्, न

गणिका-धूर्त्ता-भिसारिणी प्रव्रजिता-कुहककारिका-दुःशीलाभिः सहैकत्र तिष्ठेत्। इति।

## अथावसथ्याधानम्।

एतदुक्तचतुर्थीकर्म्मानन्तरं दारकाले विहितमावसथ्याधानं कुर्य्यात् सपत्नीकस्यैवाधानादिविधानात्, एतदन्तेनैव च पत्नीत्व-सिद्धेः।

अन्ये तु,—

यस्य दत्ता भवेत् कन्या वाचा सत्येन केनचित्।
सोऽन्त्यां समिधमाधास्यन्नादधीत यथाविधि॥

इति वचनात् तस्य ब्रह्मचर्य्ये च केनापि कन्यां दातुं प्रतिज्ञाते अन्त्यसमावर्त्तनकालीनसमिदाधानात् पूर्व्वमग्नि-माधाय तस्मिन्नेवाग्नौ समावर्त्तनहोमादि कुर्य्यादित्याहुः। तथा गोभिलसूत्रे,—स यदेवान्त्यां समिधमादधीत जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् जुहोति तमभिसंयच्छेत् स एवास्य गृह्योऽग्निर्भवती-त्युक्तम्। तेनास्मत्-सूत्रे अविशेषोक्तेन दारकालपदेन समावर्त्तन-कालश्चतुर्थीहोमान्तकालो वा ग्राह्यः। एवमेतत्कालत्रयान्य-तमकाले आवसथ्याधानमावश्यकम्। यत्तु तत्रैवोक्तम्,—"प्रेते वा गृहपती" इति नानेन पितरि जीवति पुत्रानधिकारोऽभिप्रेतः। जीवत्पितृकस्य होमात्समनारम्भो वा इत्यादिसूत्रविरोधात्, नाप्यकृताधाने च तस्मिन् परिदेवनवदत्र निषेधाभावात्, न

चैतदेव निषेधपरं परिसंख्यायास्त्रिदोषतया गत्यभाव एवाश्रयणीयत्वात्। प्रत्युत,—

पितुर्यस्य न चाधानं कथं पुत्रस्तु कारयेत्।
अग्निहोत्राधिकारोऽस्ति शङ्खस्य वचनं यथा॥

इत्यधिकारस्यैवोक्तत्वात्। तस्मात् पूर्व्वं निमित्तान्तरवशादकृताग्न्याधाने प्रेते पितरि अवश्यमादधीतेत्येतत्परमेव तत्। तदानाधाने पूर्व्वस्थितानाहिताग्नित्वादोषादपरस्य।

यो गृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते।
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः॥

इत्युक्त्वा भोज्यान्नत्वदोषस्यापत्तेः। तत्रोद्देश्यविशेषणत्वाद् विवाहपदमविवक्षितम्।

नचैताभ्यामनुज्ञातो धर्म्ममन्यं समाचरेत्।

इत्युक्ते यस्याधानं पितुर्नाभिमतं तस्मिन् मृत एव कुर्य्यात् इत्येतत्परम्। तेन जीवत्पितृकस्य धर्म्मानुष्ठाने पित्रनुमतेरङ्गत्वमात्रमुच्यते। तेन नित्यकर्म्मणि अशक्याज्ञाभावेऽप्यधिकार एव। अत आवसथ्याधानम्। तत्र,—

दारकाले दायाद्यकाल एकेषामिति सूत्रे अभ्रातृकस्य दारकाले सभ्रातृकस्य पुनर्दायाद्यकाल एवेत्युक्तमिति व्याख्यातम्। न तत्राविभक्तधनस्यानधिकाराभिप्रायो हेतुः। चतुर्णां द्रव्यसम्पन्नः कर्म्मणो द्रव्यसिद्धित्वादिति पक्षयित्वा नित्यत्वात्तु नैवं स्यादिति निर्धनस्याप्यधिकार इति षष्ठे चिन्तितत्वात्। तेन तत्पूर्व्वपक्षन्यायमूलं दायाद्यकाल इति। अतएवैकेषामित्युक्तम्।

अथवा सर्व्वथा विवाहकालासम्भवेऽनुकल्पकालपरम्। तत्र दायाद्यकालश्च यदा पितुर्विभागेच्छा मातुर्वा निर्वृते रजसि पितरि वृद्धे विपरीतचेतसि वा योगिनि च पितृमरणानन्तरञ्चेति।

तत्र,—

विभागश्चेत् पिता कुर्य्यादिच्छया विभजेत् सुतान्।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्व्वे वा स्युः समांशकाः॥
द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता।
यदि कुर्य्यात् समानंशान् पत्न्यः कार्य्याः समांशिकाः॥
न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्त्रा वा श्वशुरेण वा।
न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्मः पितृकृतः स्मृतः॥
अयथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः॥
भू र्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात् सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥
ऊर्द्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।
पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत् स्वयमर्जितम्॥
विभक्तजस्य तत् सर्व्वमनीशाः पूर्व्वजाः स्मृताः।
संसृष्टास्तेन वा ये स्यु र्विभजेत स तैः सह॥
पितुरूर्द्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्।
विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्द्ध्वं रिक्थमृणं समम्॥
असंस्कृतास्तु संस्कार्य्या भ्रातृभिः पूर्व्वसंस्कृतैः।
भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्॥

(१) विभजेत् तत्सुतैः ०।

पितृद्रव्याविरोधेन यदन्यत् स्वयमर्जितम् ।
मैत्रमौद्वाहिकं वापि दायादानां न तद्भवेत् ॥
क्रमादभ्यागतं द्रव्यं हृतमभ्युद्धरेत्तु यः ।
दायादेभ्यो न तद्दद्याद् विद्यया लब्धमेव च ।
मातुर्दुहितरः शेषमृणात् ताभ्य ऋतेऽन्वयः ॥

मातृकृतार्णापाकरणावशेषं, ताभ्यो दुहितृभ्यस्तत्सन्ततिभ्यः, अन्वयः पुत्रादिः। तथा स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानाञ्च इति।

अप्रजस्त्रीधनं भर्त्तुं र्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि ।
दुहितॄणां प्रसूता चेत् शेषेषु पितृगामि तत् ।
मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितॄणां तदन्वयः ॥

मनुना तु,—

जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्व्वे सहोदराः ।
भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥

इति ।

पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा ।
तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारिणः ॥
एषामभावे पूर्व्वेषां धनभागुत्तरोत्तरः ।
स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्व्ववर्णेष्वयं विधिः ॥
संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः ।
[1]दद्यादंशं हरेद् वापि जातस्य च मृतस्य च ॥

---

(१) दद्यादपहरेच्चांशं जातस्य ० ।

क्लीवोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः।
अन्धोऽचिकित्स्यरोगार्त्तो भर्त्तव्याः स्युर्निरंशकाः॥
औरसाः चेत्रजास्तेषां निर्दोषा धनहारिणः।
सुताश्चैषां प्रभर्त्तव्या यावन्न भर्त्तृसात्कृताः॥
अपुत्रा योषितस्तेषां भर्त्तव्याः स्युः सुवृत्तयः॥

एवं स्मार्त्ताधानकाल उक्तः। श्रौताधानञ्च गृह्यशालीना-मजातपुत्रा आधानं कुर्य्युः। "संवत्सराद् वा शुश्रूषां वान्य" इति वचनात् पुत्रजन्मानन्तरं गृह्याधानाद् वर्षान्ते वा कार्य्यम्। नच,—

प्राक् सौमिकीः क्रियाः कुर्य्याद् यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्।

इत्यनेन वार्षिकान्नरहितस्याग्न्याधानेऽनधिकारः। निर्द्धनाधि-कार[1]वचनस्य दर्शितत्वात्। ततोऽग्नीन्नादधतो वार्षिकान्नार्जना-भ्यनुज्ञामात्रपरमेतत्। तेन तस्य

वृत्त्यर्थादधिकं गृह्णन्नरो भवति किल्विषी

इति निषेधानवकाशः। धनार्ज्जनस्य रागादिसिद्धतया [2]तदभिधानायोगात् तदर्जनेऽपि न दोषः। अतएव,—

वर्त्तयंस्तु शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीश्च पार्व्वणीयान्ताः केवला निर्वपेत् सदा॥

इत्युक्तम्। एतेन

त्रैवार्षिकाधिकान्नो यः स च सोमं पिबेद् द्विजः।

(१) ०विचारस्य दर्शि०। (२) तद्विधानायोगात्०।

इत्यपि व्याख्यातम्। तत्र,—

हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत्।

इति न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते अपि तर्हि स्तुत्यं स्तोतुमिति दक्षिणाप्रशंसामात्रपरम्। तेन नित्यकर्म्मण्यसम्भवाद् दक्षिणाल्पत्वे न दोष इति। एवं कालेऽनाधाने पुनरनाहिताग्निताया उपपातकेषु गणनात्,—

उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन तु।
पयसा वापि मासेन——— ॥

इति सामान्यत इत्युक्तम्। क्वचिद् विशेषतश्च।

कृतदारो गृहे ज्येष्ठो यो नादध्यादुपासनम्।
चान्द्रायणं चरेद् वर्षं प्रतिमासमहोऽपि वा॥
यावन्त्यब्दान्यतीतानि निरग्नेर्विप्रजन्मनः।
तावन्ति कृच्छ्राणि चरेद्धोम्यं दद्याद् यथाविधि॥

होम्यं होमद्रव्यं प्रतिदिनं चतुराहुतिसंख्यया यावत् तण्डुलादिकं तद् ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्।

काले त्वाधानकर्म्माणि कुर्य्याद् विप्रो ह्यनापदि।
तदकुर्व्वंस्त्रिरात्रेण मासि मासि विशुद्ध्यति॥

इत्युक्तम्। एतत्त्रयादन्यतमं कृत्वा आदध्यात्। यत्तु,—

दाराधिगमनाधाने यः कुर्य्यादग्रजाग्रिमः।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्व्वजः॥

इति पर्य्याहिता-परोष्टि-परिवित्ति-परिविन्दानेषु चोत्तरोत्तरमशुचिनिवेशो गरीयान्। तत्र,—

देशान्तरस्थक्लीवातिरोगिणो ह्यसहोदरान्।
जड़मूकान्धवधिरकुब्जवामनकुण्ठकान्॥
अतिवृद्धानभार्य्यांश्च कृषिसक्तान् नृपस्य च।
धनवृद्धिप्रसक्तांश्च कामतः कारिणस्तथा॥
कुलटोन्मत्तचौरांश्च[1] परिविन्दन् न दूष्यति।
योगशास्त्राभियुक्ते च न दोषः परिवेदने॥

इत्युक्तत्वादेतद्व्यतिरिक्तो योऽग्रज आधातुमिच्छन्नपि धनसहायहीनतया विलम्बते तमपेक्ष्य वार्यं[2] निषेधः। तत्रापि,—

नाग्नयः परिविन्दन्ति न वेदा न तपांसि च।

इति वचनाददुष्टज्येष्ठस्य सर्व्वथाप्यनुत्साहे तदनुज्ञामादायाधाने दोषाभावः। केवलं तदवज्ञयाधान एव परिवेदनदोषः। विवाहे तु [3]तदाज्ञायामपि दोषः। तदुक्तम्,

दारैस्तु परिविन्दन्ति नाग्निहोत्रेण नेज्यया। इति।

अन्धादेः पुनरग्निहोत्रादिषु शास्त्रप्रवृत्तिकाल एवाग्न्यावेक्षणाद्यसम्भवनिश्चयादन्धादित्यागेनैवान्यत्र तद्विधिप्रवृत्तेस्तत्रानधिकारात् तन्मात्रार्थतयाग्नयोऽपि तस्य नेष्टा इति [4]तदन्वाधानेऽपि मुमुक्षोरनिष्यमाणस्वर्गाद् व्यर्थकर्म्मणि चानधिकारस्तथाप्यन्धादिदशायां कृताधानस्याग्निहोत्राद्यकरणे तन्मात्रार्थत्वादग्नीनामग्नयोऽपि त्यक्ता एव इति।

---

(१) ० स्तु ०।
(२) ० पेक्ष्यैवार्यं ०।
(३) ० तदनुज्ञायामपि ०।
(४) तदर्थाधाने ०।

अग्निहोत्रमपविद्धाग्नीन् ब्राह्मणः काममोहितः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमो हि सः ॥

संवत्सरोच्छन्नेऽग्निहोत्रे चान्द्रायणं कृत्वा पुनरादध्यादित्युक्त-दोषबलकल्पितस्याग्निहोत्राद्यवश्यं कुर्य्यादिति विधेर्बलात् कर्त्तव्य-मेवाग्निहोत्रादि । यथा काम्यविधिना सर्व्वाङ्गोपेतस्यैव काम्य-फलहेतुत्वाभिधानेऽपि [1]आरब्धस्य काम्यकर्म्मणोऽन्तरा किञ्चि-दङ्गासम्भवे तद्बलात् फलासिद्धावपि देवताभ्यो वा एष वृश्च्यते यो यक्ष्य इत्युक्त्वा न यजत इति श्रुतेरारब्धासमापनरूप-व्रतच्युतेरुपपातकत्वस्मरणाच्च तद्‌बलकल्पितप्रारब्धसमापनविधि-बलात् समापनम् । तदुक्तं षष्ठतन्त्ररत्ने,—यो हि स्वर्गं कामय-मानस्तत्साधनं कर्म्म प्रारभ्याङ्गसाकल्यासम्भवाद् वैफल्यं मन्यमानो वीतेच्छ एव वा कर्म्मणो व्यावर्त्तितुमुपक्रान्तस्तं प्रति [2]नैतदुत्-स्रष्टव्यम् । अवश्यमेव समापनीयमिति । विहिते यदेव तस्य मनसि विपरिवर्त्तते फलं तदेव सन्निहितत्वात् फलतया कल्प्यते । वीतेच्छस्य तु फलान्तरमिति । एवमिहापि स्यात् । तदुक्तं शास्त्रदीपिकायाम्,—यस्य तु प्रवृत्तिवेलायामेवाग्निसमाधेयाङ्ग-वैकल्यनिश्चयः स न काम्येष्वधिक्रियते नित्येषु त्वाहिताग्निश्चेद् यथाशक्ति कुर्व्वन्नधिक्रियत इति । एवमस्य पत्नीमरणादिना-ग्निनाशेऽप्यात्मनिष्ठस्याधानकर्म्मजसंस्कारस्यैवाहिताग्निपदवाच्यस्य विद्यमानत्वादग्न्युपशमे तदुत्सर्जने च पुनराधाने नानाग्नीन् सम्पाद्य कार्य्यमेवाग्निहोत्रादि । एवमन्वादिरप्याहिताग्निः

(१) आरब्धकाम्यकर्म्मणामन्तरा ० । (२) नैतत्प्रष्टव्यं ।

पत्नीमरणे पुनर्विवाहासम्भवेऽपि पुनरादध्यात्। तथा च भरद्वाज-सूत्रम्,—"दारकर्म्मणि यद्यशक्त आत्मार्थमग्न्याधानं कुर्य्यात्" इति। ऋग्वेदब्राह्मणञ्च,—"अपत्नीकोऽप्यग्निहोत्रमाहरेद् यदि नाहरेदनद्धा पुरुषः स्यात्" इति। यच्छन्दोगपरिशिष्टम्,—

मृतायामपि भार्य्यायां वैदिकाग्निं न सन्त्यजेत्।
उपाधिनापि तत् कर्म्म यावज्जीवं समाचरेत्॥
रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
इयाज विविधैर्यज्ञैः——

इति तदप्येतत्परमेव। यत्तु—

यो वा पिण्डं पितुः पाणौ विज्ञातेऽपि न दत्तवान्।
[1]शास्त्रार्थातिक्रमाद्भीतो यजेतैकाक्यसौ कथम्॥

इति भट्टपादैरुक्तं तत्पत्न्यभावे प्रथमाधानमशास्त्रीयमित्य-भिप्रायः। कृताधानस्य तु पत्नीनाशे पत्न्यन्तरासम्भवे पुनराधान-मविरुद्धमेव। न चैतस्याविरक्तस्याग्न्याधानं विना सन्न्यासोऽप्युपपद्यते।

विरक्तः प्रव्रजेद् विद्वान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरक्तः प्रव्रजन् मूढ़ो नरकं प्रतिपद्यते॥

इत्युक्तत्वात्। कर्काचार्य्यैः पुनः पुरुषमेधे त्रेधातव्यन्ते समारोप्यात्मन्यग्नीन् सूर्य्यमुपस्थायाद्यः सम्भूत इत्यनुवाकेनानपेक्ष्य-माणोऽरण्यं गत्वा न प्रत्येयात् ग्रामे वा निवसन्नरण्योरितिसूत्रे। यच्च स्मृतावुच्यते,—

---

(१) शास्त्रातिक्रमणाद् भीतो ०।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व्ववेदस्य दक्षिणाम्।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य गृहस्थः प्रव्रजेद् गृहात्॥

इति। सैवेयं सर्व्ववेदस्य दक्षिणा पुरुषमेधाख्या प्राजापत्येष्टिस्तां निरूप्य पारिव्राज्यं ब्राह्मणस्य। एवं यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति श्रुतिरनया श्रुत्या विकल्प्यते।

अथ स्मार्त्तेष्टिः। प्राजापत्या स्यात्। स्मृत्या श्रुतिर्बाधिता स्यान्नचैतदिष्यते इति विरक्तस्यापि पुरुषमेधं विना सन्न्यासाभाव उक्तस्तत्रैव तच्चिन्तनीयम्। भवेदेवं यदा वनी भूत्वा प्रव्रजेत यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुरित्यादीनि श्रुतिवाक्यानि न स्युः। न च पुरुषमेधान्तविहितस्यैवात्र गुणविधानं यदहरितिकालस्यामृतत्वमानशु[1]रिति चानुपादेयतया तत्प्रकरणादन्यत्र विध्ययोगात्। तदुक्तम्,—

उपादेयो गुणो यत्र भवेत् तत्प्रकरणान्तरे।

तत्र कर्म्मान्तरं न्याय्यमुद्देशे त्वन्यकर्म्मता॥

इति। अतएव नापि यदहरिति विहितस्यात्र पुरुषमेधान्तकालविधानम्। [2]तदहरिति कालसद्भावाच्च। तस्माद् वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेतिवत्पुरुषमेधाङ्गमन्यदेव तत्र सन्न्यासकर्म्मोच्यते इति। अथवा नास्त्येव पुरुषमेधसन्न्यासविधिः किन्त्वर्थसिद्ध एव तत्र सन्न्यासः। तदुक्तमुत्थानाख्यपरिशिष्टे,—वाजसनेयिनां पुरुषमेधोत्तरकाले चाग्नित्यागविधानात् त्यक्तेष्वग्निषु आश्रमव्यतिरिक्तानां क्षणमप्यवस्थानायोगादर्थात् पारि-

(१) ० रिति फलस्य चानुपा ०। (२) तदहरिति तत्रापि काल ०।

व्रज्यमिति ततो यदहरेवेति श्रुतः सन्न्यासो विरक्तस्य साग्नेरपि प्राप्नोत्येव तेन विरक्तस्यैवाहिताग्नेः पुरुषमेधं विना नाग्नित्यागः। एवञ्च यत्,—

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य वनं गच्छेत् सहैव वा।

इति तत्पक्षद्वयमुक्तम्। तत्राद्यं कृतपुरुषमेधस्यैवेति ज्ञातव्यम्।

तथार्षिपितृदेवानां गत्वारण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्व्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥

इति गृहस्थस्यैवाहिताग्नेः शेषधनसाध्यकर्म्मनिवृत्तिरुक्ता सापि उक्तन्यायेनाग्निहोत्रेतरकर्म्मपरैवेति सिद्धम्। ननु "अग्नीनादधीत" इत्याधानस्याग्न्यर्थत्वादग्निनिष्ठ [1]एव तज्जन्यः संस्कार इति पत्नीमरणादग्नीनां नाशे आहिताग्नित्वमपि निवृत्तमेवेति। तस्मादग्निहोत्राद्यकरणे कथं दोष इति—नैवं आधानसंस्कारस्य साक्षादग्निनिष्ठत्वे प्रतिक्षणमिन्धननाशेऽग्निनाशात् कदाचिदत्यन्तनाशाच्च पुनराधानापत्तेः। नच,—"अश्वत्थगर्भामरणिं प्रयच्छति" इत्यरणिसंस्कार एव प्रधानमाधानं तद्द्वारैवाग्निसंस्कार इति येन पत्नीमरणे तन्नाशादाहिताग्नित्वं निवर्त्तते तत्कर्त्तृसंस्काराभावे संस्कृतारणिसम्बन्धमात्रेणाहिताग्नित्वेऽन्यसंस्कृतयापि क्रयादिलब्धया तया तत्त्वं स्यात्। अथ "अग्नीनादधीत" इत्यात्मनेपदेन क्रियाफलस्य कर्त्तृगामित्वाभिधानात्कथमेवं स्यात् सत्यं तथापि कृतिसम्बन्धरूपस्य कर्त्तृत्वस्याशु नाशादनुत्पन्न-

(१) ० एतज्जन्यसंस्कार ०।

[१]चिरध्वस्तयोरविशेषात्पश्वात् कर्त्तुं कर्त्तृविवेकोऽपि कथं स्यात् ।
तदुक्तम् ।

आत्मन्यतिशयः कश्चित् कृते कर्म्मणि नैव चेत् ।
प्रागवस्थासमानत्वादात्मनो न भवेत् फलम् ॥
आत्मस्वरूपहेतुत्वे त्वकर्त्तुरपि तद् भवेत् ।

कदाचित् सम्बन्धात् तथात्वे व्रीह्यादौ प्रोक्षणादिभिरदृष्टः संस्कारः किमर्थमिष्यते तेनामृतं प्राण आदधे इत्याधातृपुरुषसंस्कार एव प्रधानमाधानकर्म्म इतरत्तदङ्गं स एव तद्वत्तासम्पादितेऽग्नावतिशयाभिधेयत्वादग्निसंस्कार उच्यते। तदुक्तं कर्काचार्य्यैः,—"उच्छ्वासोऽमृतं प्राण आदधे" इति सूत्रे एषैवाधानक्रिया। तदेवमग्निमन्तरात्मन्याधत्त इति श्रुतेरिति। एवं यत्,—

अरण्योर्दाहनाशादिदोषेष्वग्निं समाहितः ।
पालयेदुपशान्तेऽस्मिन् पुनराधानमिष्यते ॥

तन्नैमित्तिकमग्न्याधानादिकर्म्मस्वरूपं कर्म्मान्तरमेव। अथवा अमृतं प्राण आदध इति उच्छ्वासोऽरणीप्रदानं च द्वयं प्रधानं सर्व्वमन्यत्तन्त्रेणोभयाङ्गम्। तेनारणिसंस्कारार्थमपि पुनराधानं युक्तम्। अथवा पुनराधानपदमपि अरणिप्रदानादितत्संस्कारमात्रपरम्। तदुक्तं यज्ञपार्श्वे,—

अरण्योर्दग्धयोश्चैव दुष्टयोः क्षीणयोस्तथा ।
आहृत्यान्ये समारोप्य पुनस्तत्रैव निर्मथेत् ॥

इति। समारोपमन्त्रश्च तत्रैवोक्तः,—उत्तिष्ठत्वाग्ने प्रविशस्व

(१) ० निरन्वयध्वस्तयो ०।

योनिमिमां देवयज्यायै वोढवे जातवेदः। अरण्या अरणिं सञ्चरस्व जीर्णां त्वचमजीर्णया निर्णुदस्व। इति सर्व्वसम्मतम्।

वह्निग्रहं कुजगुरुज्ञदिनेशवारे
माघादिषट्सु च मृदुध्रुववह्निभेषु।
कुम्भाजभांशकविलग्नमशुद्धिकालं
लग्नस्थशीतगुसितौ च विहाय कुर्य्यात्॥

तथा,—

प्राजापत्ये पूषभे सद्दिदैवे
पुष्ये ज्येष्ठास्वैन्दवे कृत्तिकासु।
अग्न्याधानं ह्युत्तराणां त्रये च
श्रेष्ठं प्रोक्तं प्राग्भवै विंप्रमुख्यैः॥

तद्विधिश्च तत्र,—वैश्यस्य बहुपशो गृहादग्निमाहृत्येत्युक्ता-रणिप्रदानमेकेषामित्युक्तं तेन वैश्यस्य गृहादानयनमेव मुख्यम्। तत्र मुख्य [1]वैश्याभावेऽपि व्यत्यये कर्म्मणां साम्यमिति वैश्यवृत्त्या जीवतां ब्राह्मणानामपि पञ्चमे सप्तमे वा पुरुषे वैश्यत्वप्राप्तेस्तत आहरणीयम्। गोभिलसूत्रे,—वैश्यकुलाद्वा अम्बरीषाद्वा अग्नि-माहृत्यादधाति यद्वा बहुयाजिन एवागारतो ब्राह्मणस्य वा राजन्यस्य वा वैश्यस्य वापि वा अन्यम्मथित्वाऽभ्यादध्यात् पुण्य-स्त्वेवानर्द्धुको भवतीति। अत्र परिशिष्टम्,—

पुण्यमेवादधीताग्निं स हि पुण्यकृदुच्यते।
अनर्द्धुकत्वं यत् तस्य काम्यैस्तन्नीयते शमम्॥

(१) वैश्यालाभे०।

इति तत्सूत्रस्थवैकल्पिकपक्षप्ररोचनार्थं पुण्यपदव्याख्यानपरम् । न तावत् तस्यैव कर्त्तव्यता इतरविध्यानर्थक्यापत्तेः । अनर्धुकत्वं केवलक्रत्वर्थत्वं दध्यादिवत्संयोगपृथक्त्वे पुरुषार्थत्वाभावः । काम्यैरन्यैः काम्यकर्म्मभिः । तेनेतरपक्षाणामुभयार्थत्वं सूचितम् । तत्रारणिपक्षे,—

संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते ।
अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्व्वीसमुद्भवः ।

तदभावे केवलोऽश्वत्थः

तस्य या प्राङ्मुखी शाखा या वोदीच्यूर्द्धगापिवा ॥
अरणिस्तन्मयी प्रोक्ता तन्मध्ये चोत्तरारणिः ॥
चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा विस्तारेण षडङ्गुला ।
चतुरङ्गुलमुत्सेधा प्रमन्थोऽष्टाङ्गुलः स्मृतः ।
प्रथमस्तु प्रमन्थः स्यादैशान्यामुत्तरारणेः ।
ओविली च तथा चात्रं खादिरे द्वादशाङ्गुले ।
गोबालैः शणसंमिश्रैस्त्रिवृद्वृत्तमनंशुकम् ।
चात्रबुध्ने प्रमन्थाग्रं गाढ़ं कृत्वा विचक्षणः ।

अत्र कृत्वोदगग्रामरणिमित्युक्तं तथापि,—

उत्ताना प्राक्शिरा वेदिर्यया वेदिस्तथारणिः ।

इति यज्ञपार्श्वे उक्तम् ।

मूलादष्टाङ्गुलं त्यक्त्वा त्रीणि त्रीणि च पार्श्वयोः ।
अन्तरं देवयोनिः स्यात् तत्र मथ्यो हुताशनः ॥

अग्राच्चतुर्दशाङ्गुलं त्यक्त्वा द्वौ च गुह्यकमित्युक्त्वा,—

गुह्ये यो जायते वह्निः सतु कल्याणकृद् भवेत्।

इत्युक्तम्। अन्यत्र पुनरग्राच्च द्वादशाङ्गुलं त्यक्त्वेतिमध्य-चतुरङ्गुलं मन्थनस्थानमुक्तम्।

प्रथमे मन्थने ह्येष नियमो नेतरत्र तु।
चात्राग्रे कीलकप्रस्थामोविलीमुदगग्रगाम्।
परिधायाहते वस्त्रे स्वाम्याक्रामेत् पुरोमुखः।
त्रिवृद्वेष्ट्याथ नेत्रेण चात्रं पत्न्याहृतांशुका।
मन्थेद् ज्येष्ठाक्रमेणान्याः प्राच्यग्नेः स्याद् यथाच्युति।
हव्यवाड्वरुणं दृष्ट्वा भीतः प्रत्यङ्मुखोऽद्रवत्।
तमिच्छन् पुनरादातुं तस्मात् प्रत्यङ्मुखो मथेत्।

ततो जातस्य लक्षणं कृत्वा तं प्रणीय इति वचनादत्र पश्चाद् भूसंस्कारः। श्रौते तु व्युष्टायामुपशमय्य स्थानान्यनुलिप्य इत्यादिना मन्थनात् पूर्व्वमेव। ततो वक्ष्यमाणलक्षणकुण्डमध्यं परिसमुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमादध्यात्। [1]अत्र ब्राह्मणमुपवेशयेत् इति वचनाद् ब्रह्मवरणं मन्थनात् पूर्व्वम्। ततो दक्षिणतो ब्रह्मासनमास्तीर्य्य प्रणीय परिस्तीर्य्यार्थवदासाद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत् प्रोक्ष्य निरुप्याज्यमधिश्रित्य पर्य्यग्नि कुर्य्यात्। स्रुवं प्रतप्य सम्मृज्याभ्युक्ष्य पुनः प्रतप्य निदध्यात्। आज्यमुद्वास्योत्पूयावेक्ष्य प्रोक्षणीश्च पूर्व्ववदुपयमनान् कुशानादाय [2]समिधोऽभ्याधाय पर्य्युक्ष्य जुहुयात्। एष एव विधि र्यत्रकुत्रचि-

(१) ततः०। (२) तिष्ठन् समिधो०।

होमः । अर्थं वदति, —पवित्रच्छेदनानि पवित्रे, प्रोक्षणीपात्रमाज्यस्थाली, सचरौ चरुस्थाली, सम्मार्जनकुशाः उपयमनकुशाः, [1]समिधस्तिस्रः,—स्रुवः, आज्यं, सचरौ [2]तण्डुलाः, दक्षिणा च । इति । तथा ब्रह्मान्वारब्ध आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्व्वप्रायश्चित्तं प्राजापत्यं स्विष्टकृच्चैतन्नित्यं प्राङ्महाव्याहृतिभ्यः स्विष्टकृदन्यच्चेदाज्याद्धविरिति । तत्राघारौ प्रजापतये इन्द्राय, आज्यभागौ अग्नये सोमाय, सर्व्वप्रायश्चित्तं—त्वन्नः, सत्वन्नः, अयाश्चाग्ने, ये ते शतं, उदुत्तमं, इति पञ्चाहुतयः । अत्र च विशेषः स्थालीपाकं श्रपयित्वा आज्यभागाविष्ट्वा आज्याहुतीर्जुहोति । त्वन्नो अग्ने, सत्वन्नो अग्ने, इमं मे वरुण, तत्त्वायामि, ये ते शतं, अयाश्चाग्ने, उदुत्तमं, भवतन्नः, इत्यष्टौ पुरस्तात् । एवमुपरिष्टात् स्थालीपाकस्याग्न्याधेयदेवताभ्यो हुत्वा जुहोति । स्विष्टकृते च । अयाश्चाग्ने-वषट्कृतं यत्कर्म्मणात्यरीरिचं देवा गातुविद इति । वर्हिर्हुत्वा प्राश्नाति । ततो ब्राह्मणभोजनम् । अग्न्याधेयदेवताः,—अग्निः पवमानोऽग्निः पावकोऽग्निः शुचिरदितिः, इति । पाकयज्ञेषु सर्व्वंहोमान् हुत्वा च शेषप्राशनम् । पूर्णपात्रं दक्षिणा वरो वा इति श्रौतसूत्रम् । तत्र,—

गां दद्याद् यज्ञवास्त्वन्ते ब्रह्मणे वाससी तथा ।

इति परिशिष्ट उक्तः । पूर्णपात्रञ्च

अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चिः कुञ्चयोऽष्टौ तु पुष्कलम् ।
पुष्कलानि च चत्वारि पूर्णपात्रं विदुर्बुधाः ॥

---

(१) तिस्रः समिधः । (२) ० चरुतण्डुलाः ।

याबता बहुभोक्तुस्तु तृप्तिरन्नेन जायते ।
नापरार्द्धमतः कुर्य्यात् पूर्णपात्रमिति स्थितिः ॥

गौर्ब्राह्मणस्य वरः, अश्वो राजन्यस्य इत्यादि । यत्तु,— चतुःकार्षापणो वर इति मूल्यमुक्तं तत् वरशब्दस्य श्रेष्ठार्थत्वं श्रेष्ठगोऽभिप्रायेणैव ।

ब्रह्मणे दक्षिणा देया या यत्र परिकीर्त्तिता ।
विदध्याद्धोममन्यश्चेद् दक्षिणार्द्धहरो भवेत् ॥
स्वयं चेदुभयं कुर्य्यादन्यस्मै प्रतिपादयेत् ॥

---

## अथ श्रौताधानम् ।

अत्र यद्यप्यमावास्यायामग्न्याधेयमित्युक्त्वा कृत्तिकारोहिणी-मृगशिरःफाल्गुन्युक्त-नक्षत्रमात्रानादराभिधानादमावास्यानियमः[1] प्रतिभाति तथापि स्मृतावमावास्याविधौ नक्षत्रानिन्दनाद् विकल्पोऽभिमतः । तेनामावास्यान्यतिथावपि नक्षत्रविशेषे प्राप्ते नक्षत्रानादरेऽप्यन्यतिथिप्राप्तिरेव । अग्न्यागारे कुर्व्वन्ति प्राग्वंशं चापरं दक्षिणपूर्व्वे द्वारे । क्षौमे वस्त्रेऽहते पत्नी च । संस्थितेऽध्वर्य्यवे देये । गार्हपत्यागारे निर्मथ्याभ्यादधाति । दिवाश्नाति । रात्रौ वा । उपास्तमनं,—देवाः पितरः पितरो देवाः योऽहमस्मि स संयजे यस्याहमस्मि न तमन्तरयामि स्वं म इष्टं स्वं श्रान्तं स्वंहुतमस्तु इति ।

---

(१) ० इमावस्याया नियमः ० ।

पूर्व्वेण प्रविशति दक्षिणेन पत्नी पश्चादग्नेरुपविशति दक्षिणतः पत्न्यश्वत्थशमीगर्भारणी प्रयच्छत्यभावे गर्भस्य गार्हपत्यागारे अजं बध्नाति [1]नचाविद्यमानं प्रातरग्नीधे दद्यात् रात्रिमग्निधारणं शकलैर्वा वाचं यच्छा पूर्णाहुतेरित्याह । व्युष्टायामुपशमय्य स्थानान्युपलिप्योल्लिख्याभ्युच्याश्वमानयेति ब्रूयात् । अपरेण गार्हपत्यायतने उत्सृष्टे अग्निमन्थनमनुत्सृष्टे एके स्थिते अश्वे पुरस्तादश्वाभावेऽनुडुहि प्रैषाभावः । अतस्तस्मादध्वर्य्युः प्राङ्मुखो मन्थतीति श्रुतिः । जाते वरदानं तस्याभिश्वासाः प्राणममृते दधे इत्युच्छ्वासोऽमृतं प्राण आदध इति । दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति । भूर्भुव आदित्यानां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधे इति । यदि भृगवो भृगूणां त्वेति यद्यङ्गिरसोऽङ्गिरसां त्वेति उदित इध्मे [2]चोद्धरणं उपयम्यथैनं धूम उपेयात् अश्वमनड्वाहं वा दक्षिणपूर्व्वपादेनाहवनीयस्थानमधिष्ठाप्य प्राचं नीत्वावर्त्त्य स्थापयति अग्निना चान्यं द्विरुपस्पृश्य तृतीयेनादधाति भूर्भुव स्वः आदित्यानां तु इत्यादि पूर्व्ववत् । दक्षिणाग्निमादधाति सभ्यं निर्मथ्य गां दीव्यध्वमित्याह स्वामी । धारणोपस्थानमतः । दक्षिणेनाग्नीन् परीत्योदगुत्सृजत्यश्वम् । पूर्णाहुतिं जुहोति निरुप्याज्यं गार्हपत्येऽधिश्रित्य स्रुक् स्रुवं च सम्मृज्योद्वास्योत्पूयावेक्ष्य गृहीत्वान्वारब्धे एवं सर्व्वत्र स्वाहेति वरं ददानीति वाग्विसर्जनम् । खादिरः स्रुवः स्रुक् होमसम्बन्धाद् वैकङ्कती । [3]न जुहाव च न

(१) नवावि० । (२) नोद्धरणं० ।

(३) न जुह्वा । अवचन इति ।

इति सामान्यविहितत्वात् जुहुः। तस्या दर्शपौर्णमासप्रकरण-एवाम्नातत्वात्। अग्निहोत्रं तूष्णीं जुहोति।

प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति॥

अत्र,—ऋतुनक्षत्रसंभारसामवपनचातुष्प्राश्यजागरणेध्मपूर्व्वाहुर्त्यन्वालभनसार्पराज्ञीर्नैवा कुर्य्यादित्युक्तत्वात् तानि न लिखितानि। तथा द्वादशाहान्ते तनु हवींषि निर्वपति। सद्यो वा नवेत्युक्तत्वात् पवमानेष्टयो न लिखिताः। अत्र अग्निस्थानानि गार्हपत्यादष्टसु प्रक्रमेषु एकादशसु द्वादशसु मर्त्त्यां वा। पुरस्तादाहवनीयस्य। गार्हपत्याहवनीययोरन्तरं षट् सप्तधा वा। आगन्तुना समं त्रेधा विभज्याज्यापरद्वितीयलक्षणं दक्षिणायस्य तस्मिन् स दक्षिणाग्निः।

अरत्निश्चतुरस्रश्च पूर्व्वस्याग्नेः खरो भवेत्।
रथचक्राकृतिः पश्चाच्चन्द्रार्द्ध इव दक्षिणः॥
सभ्यावसथ्ययोः स्थानं नर्त्तेणैव प्रकीर्त्तितम्।
अग्नीनान्तु खरः कार्य्यो मेखलात्रयसंयुतः॥
वितस्तिमात्रमुच्छ्रायो विस्तारेण तु त्र्यङ्गुलः।
चतुर्विंशाङ्गुलीमानरज्जुसंस्थे तथागमः॥
मानान्तशङ्को रज्जुन्तु (१)पार्श्वैः कृत्वागमस्य तु।
त्र्यंशान्तं दक्षिणे धृत्वागमादेशं कुरूत्तरे॥

---

(१) ० यागैः ०।

तद्वत्पश्चादपि तथा कुर्य्याद् रेखाश्च सर्व्वतः ।
सार्द्धत्रयोदशाङ्गुलरज्ज्वा नर्द्धेण मण्डलम् ॥
दक्षिणा द्वितीयान्तमध्यमुत्तरतोऽङ्गुलैः ।
सयवैः षड्भी रज्जुश्च मण्डले त्र्यङ्गुलाधिका ॥
चतुर्भिः सयवैस्त्वंशं हरेन्मण्डलमध्यतः ॥

इति ।

आवसथ्ये त्रयोविंशमग्न्याधेये शतात्परम् ।

इति । ब्राह्मणभोजनम् । ब्रह्मचार्य्यग्निनित्यधारी क्षीरहोम्यग्न्युपशायी द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्ततः यावज्जीवञ्चानृतातिथ्यापनोदपूतिदार्व्वाधान-ऋजीषपक्वनाव्युदकानि वर्जयेत् । तत्राहिताग्निः सन्नव्रत्यमाचरेदग्नये व्रतपतयेऽष्टाकपालमित्यापस्तम्बोक्तं प्रायश्चित्तम् । अस्मत्-सूत्रे तु अग्नये व्रतपतये व्रत्येऽहनि मैथुनमांसभोजनञ्चेदिति आहिताग्नेरान्त्यस्रुक् करणेऽग्नये व्रतभृते मारुतं त्रयोदशकपालं निर्वपेत् । गृहदाहे अग्नये क्षामवते पुरोडाशः । स्वजनमरणे चाग्नये [1]पथिकृते ।

एवं कृताग्न्याधानेनाप्यकृतसन्ध्यस्य इतरानधिकारादादौ सन्ध्या कार्य्या । श्रुतिबलात् केवलं जपस्योदयपर्य्यन्तव्यापितामात्रं बाधनीयम् । तत्र स्नानाङ्गतर्पणकालनियमाभावात् [2]तेन जपाभ्याससङ्कोचो नोचितः । तथापि तस्य होमान्तरानुष्ठाने प्रधानेनात्यन्तविप्रकर्षः स्यात् पृथक्तीर्थगमनप्रयोजनत्वञ्च

(१) ० पान्थकृते । (२) ० दुरितेन जपा ० ।

कल्पेत। जपस्य उदयपर्य्यन्तता तावद्धोमेनैव बाधितेति तर्पणं समाप्यैव होमार्थं गृहं गन्तव्यम्। [1]ततो जपतर्पणानुष्ठानेन होम-कालविरोधसम्भावनायां याज्ञवल्क्योक्तामुदीरतामित्यादिमन्त्राणां स्मृत्यन्तरानुक्ततया वैकल्पिकत्वात् तदनुपादानेऽप्यविरोधः। पैठीनसयुक्तविधिना वा तर्पणं कुर्य्यात्। तद् यथा,—"गुरुभ्यो ब्रह्मणे चैव श्रवणाय" इत्युदकं क्षिपेत्। 'उदीरता' मिति त्रिभि-र्मन्त्रैस्त्रीनुदकाञ्जलीन् निनयेत् पितृभ्यो नाम गृह्णन्। आचा-र्य्याय मात्रे मातामहाय मातुलेभ्यश्चेति। इतोऽपि संक्षिप्तं नार-सिंहोक्तविधिना स्नानाङ्गतर्पणं कुर्य्यात्। तद् यथा,—

देवान् देवगणांश्चैव ऋषीन् ऋषिगणांस्तथा।
पितॄन् पितृगणांश्चैव नित्यं सन्तर्पयेद् बुधः॥

अत्र "देवांस्तर्पयामि" इति, "देवगणांस्तर्पयामि" इति, एवं प्रयोगः। न च स्मृत्यन्तरसिद्धब्रह्मादितर्पणानुवादस्तत्र "देवादींस्तर्पयेत् ततः" इति सामान्योक्तिपूर्व्वकैतद्विशेषवचना-सङ्गतेः। अथवा,—

आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं जगदेतच्चराचरम्।
मया दत्तेन तोयेन तृप्यत्वेतच्चतुर्व्विधम्॥

इति त्रीन् जलाञ्जलीन् दद्यात्। "कुर्व्वन् संक्षेपतर्पणम्" इति वाक्यदर्शनात् कुर्य्यात्। ततः,—

इदं मम इति द्वाभ्यामुदपात्रं प्रपूर्य्य च।
सोपानत्को गृहं गच्छेन्नस्पृशेन्न वहेत् क्वचित्॥

---

(१) ततोऽक्ततर्पणानुष्ठानेन ०।

ततः,—

तिस्रस्तु पादयोर्देयाः शौचकामेन सर्व्वदा ।

इति,—

सकर्द्दमे तु वर्षासु प्रविश्य ग्रामसङ्करे ।

जङ्घाभ्यां मृत्तिकास्तिस्रः पद्भ्याञ्च द्विगुणाः स्मृताः ॥

इति ।

एवं पादौ प्रक्षाल्य द्विराचम्य,—

गृहागतः समाचान्तो होमीयं प्रोक्षयेदथ ।

त्रिसन्ध्यं वाग्यतो वारि गुप्तमाहृत्य शोधयेत् ॥

भाण्डोपचारभूगेहद्रव्यान् सपरिचारकान् ।

शुद्ध्यते तद्बहिस्तोयैः शान्त्यर्थञ्च तदिष्यते ॥

इत्युक्ताचाविरोधात् कुर्य्यात् ।

ततः श्रौताग्निहोमं कृत्वा स्मार्त्ताग्नौ जुहुयात् । यद्यपि,—

आवसथ्यमनादृत्य त्रेतायां यः प्रवर्त्तते ।

सोऽनाहिताग्निर्भवति परिवित्तिश्च जायते ॥

इति वचनबलेन स्मार्त्ताधानस्यैव पूर्व्वकृतत्वात् तदनुरोधेन तद्धोमः प्राक् प्राप्नोति तथापि [1]"प्रातर्भासाञ्च दर्शन"इति प्रकाशमात्रे सायञ्च प्रागस्तमनादग्निहोत्रारम्भविधानात् तन्मध्ये स्मार्त्तहोमस्यास्तमितकालमात्रविहितस्यानुष्ठानानुपपत्तेः । तत्र,—

होमं वैतानिकं कृत्वा स्मार्त्तं कुर्य्याद् विचक्षणः ।

स्मृतीनां श्रुतिमूलत्वात् स्मार्त्तं केचित्पुरा विदुः ॥

---

(१) प्रातर्भासामदर्शन० ।

इति वाक्यञ्च दृश्यते। यत्तु,—मुहूर्त्तं सभ्याग्निसमीपासनं तत् स्मार्त्ताग्निहोमानन्तरमेव अन्यथा तत्कालबाधापत्तेः। एवं कथञ्चित् कालविलम्बेन श्रौतहोममध्ये सूर्य्योदयसम्भावनायां तत्प्रधानश्रौतानन्तरं [1]स्मार्त्तहोमं कृत्वैव तदुत्तराङ्गाणि कार्य्याणि। अग्निहोत्रस्य च,—

नाग्निहोत्रात् परो धर्म्मो नाग्निहोत्रात् परं तपः ।
नाग्निहोत्रात् परं श्रेयो नाग्निहोत्रात् परा गतिः ॥
निर्द्वन्द्वा निर्नमस्कारा यमुपासन्मनोषिणः ।
सोऽयं सूक्ष्मोऽग्निहोत्रेषु गूढ़ोऽग्निरिव दारुषु ॥
यं वाकेष्वनुवाकेषु नित्यासूपनिषत्सु च ।
अधीयते परात्मानं सोऽग्निहोत्रे प्रकाशते ॥

इत्यादि फलम्। तद्विधिश्चायम्,—उद्धरेति यजमानो ब्रूयात् सायं प्रातरग्निहोत्रे [2]गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणमनस्तमितानुदितयोः। नित्यो दक्षिणाग्निः। सदाहरणमेकेषाम्। उद्धृत्य भूमिं परिसमुह्योपलिप्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निस्थापनम्। अत्रोल्लेखनं नोद्धरन्तीति श्रुतेः खादिरेणारत्निमात्रेणास्याकृतिना वस्त्रेण। अयन्तु स्थानसंस्कारोऽग्निस्थापनाङ्गत्वादेतत्पूर्व्वकमेकस्मिन् स्थापिते चापरत्र कार्य्यः। यस्त्वग्न्याधेये प्रागेवोद्धरणादुभयस्थानसंस्कारः स श्रौताधानाङ्गः। तस्य तु स्मार्त्तेऽग्निसंस्थापनमात्राङ्गत्वम्। कथं तथा स्यात्। अयञ्चादृष्टार्थत्वाददृष्टस्य कर्म्मसमाप्ति-

---

(१) स्मार्त्तमकृत्वैव तदुत्तरा० । (२) गार्हपत्यां हवनीय० ।

पर्य्यन्तस्थायित्वादेकत्र संस्कृत्य स्थापितस्याग्नेर्नाशादिना तत्रैव पुनःस्थापनप्रसङ्गे संस्कारादृष्टस्य विद्यमानत्वान्न भवति। [1]तस्मिन्नेव कर्म्मान्तरे पुनस्तस्य नष्टत्वात् पुनः संस्कारः कार्य्यः। अयञ्च मार्गादौ क्वचिद् भूम्यार्द्रत्वादिना सपात्राग्निस्थापनप्रसङ्गेऽग्निस्थापनत्वसद्भावाद् भवत्येव। एतदुद्धरणं यजमानस्य वान्यस्य होतुरसन्निधानेऽङ्गान्तरद्वान्यापि कालस्यादरणीयत्वात् प्रायश्चित्तवदङ्गत्वादन्येन पत्न्या वा कार्य्यम्। तत्र काले विशेषः। तत्र सूर्य्येऽस्तशैलमप्राप्ते षट्त्रिंशद्भिरङ्गुलैः

प्रादुष्करणमग्नीनां प्रातर्भासाञ्च दर्शने।

इति। ततो दक्षिणेन प्रवेशनमग्निहोत्रेष्टिषु। अन्तरेणापराग्नी गत्वा दक्षिणेन वा प्रदक्षिणमाहवनीयं परीत्योपविशति। यजमानोऽप आचामति। वृष्टिरसि [2]वृश्च मे पाप्मानं सत्येन व्रतमुपैम्यापः सत्यं मयि व्रतमिति। पत्नीच प्रत्यग्-दक्षिणतो गार्हपत्यस्योपविशति। अपरेणाहवनीयं कूर्चं निदधाति कुशान् वा। परिस्तरणञ्च सर्व्वेषां प्रागुदक्संस्थैः कुशैः। आहवनीयं पर्य्युक्ष्य उदक्धारां निनयति आगार्हपत्यात्। तञ्च ततो दक्षिणाग्निं अग्निहोत्री दोहयति। स्थाल्यामाज्याक्तत्यामूर्द्ध्वकपालायां दक्षिणतः पूर्व्वेणाहवनीयमाहृत्य गार्हपत्येऽधिश्रयति। उत्तरतो निरूह्याङ्गारान्। एवमन्यत्रापि होमार्थस्याहरणम्। दक्षिणेन चौषधं तृणेनावज्योत्यासिच्यापः पुनरवज्योत्य निधानम्। त्रिरुद्वासयत्युदकतण्डुलादौ पाकाद्यभावाद् गार्हपत्याधिश्रयणाद्यभावः।

---

(१) तस्मिन्नेव स्थापने कर्म्मान्तरे०। (२) ०वृष्टीर्मे०।

अस्तमिते जुहोति। वैकङ्कतं स्रुक् स्रुवं प्रतप्य पाणिना[illegible]ार्ष्टि। अरत्निमात्राङ्गुष्ठपर्व्ववृत्तपुष्करः स्रुवः, बाहुमात्रा पाणिमात्र-पुष्करा हंसमुखप्रसेकात्वग्विला स्रुक् पुनः प्रतप्योन्नेष्यामीत्याह। उन्नयेति यजमानस्तिष्ठन् चतुरः स्रुवानुन्नयति। उपरि समिधं धारयन् गार्हपत्यादाहवनीयं हरति मुखमात्रे धारयन् मध्ये निगृह्योदृह्योपविश्य समिधमादधात्यग्निर्ज्योतिषमिति। प्रदीप्त-मभिजुहोत्यग्निर्ज्योतिरिति। कूर्च्चे निधाय गार्हपत्यमवेक्षते। तूष्णीं(१) मुत्तरां भूयिष्ठं स्रुचि परिशिनष्टि द्विः प्रकम्पन् निदधाति। अपमृज्य स्रुचं कूर्च्चे निर्मार्ष्टि, नमो देवेभ्यः, स्वधा पितृभ्य इति। दक्षिणत उत्तानं अप उपस्पृश्य स्थाल्याः स्रुवेण इह पुष्टिमिति गार्हपत्ये। तूष्णीं द्वितीयाम्। अग्नयेऽन्नादायान्नपतये इति दक्षिणाग्नौ तूष्णीं द्वितीयाम्। दक्षिणं जान्वाच्य सर्व्वत्रोपविष्ट-होमेषु। अनामिकया द्विः प्राश्नाति। उत्सृप्य भक्षणपात्रं कृत्वाचम्य प्राश्य पात्रीं निर्लेढीत्यर्थः। अत्र शेषाशनासम्भवेऽपि भूयिष्ठपरिशेषणं नान्यथा कार्य्यम्। प्रधानद्रव्यपरिमाण-वैगुण्यापत्तेः। शेषप्रतिपत्तिस्तूत्सेचन एव सम्भवति। उत्सृप्य निर्लेह्याचम्य उत्सिञ्चति देवान् जिन्व पितॄन् जिन्व, तृतीयामुद्-क्षति। सप्तर्षीन् जिन्वेति। चतुर्थीं कूर्च्चस्थाने निषिञ्चति। अग्नये पृथिवीक्षिते स्वाहा पृथिव्या अमृतं जुहोमि स्वाहा इति स्रुक् स्रुवमाहवनीये प्रतप्य निदधाति। सर्व्वेषु यथापर्य्युक्षितं समिधमादधाति "समिदसि" इति। सायमाहुत्यां हुतायां

(१) ० मुत्तरां भूयसीं भूयिष्ठं ०।

यजमा[illegible]वनीनुपतिष्ठते वात्सप्रेण न वा तिस्रस्त्रिरुपप्रयन्तोऽस्य प्रत्नां परिते चित्रा वसवितिं च त्रिः सन्त्वमित्युपविश्य गां गच्छ पन्थस्येति संहितेत्यालभते गार्हपत्यं गत्वोपतिष्ठते उपत्वेति गां गच्छतीति एहीति आलभते काम्य एहीति सोमानमित्यनुदकं व्रतोपायनवत् पौर्णमासवत्। पुत्त्रनामग्रहणम्। भूर्भुवः स्वरिति चोभौ अत्र वात्सप्रं उपप्रयन्त इति सूक्तं गार्हपत्यमुपत्वेति वचनादुपप्रयन्त इत्यादिना पारमणीयेत्यन्तेनाहवनीयोपस्थाने उपविश्य च तस्यैवेति सिद्धम्। सायं प्रातराहवनीयस्यासनोपस्थाने शय्यासने वा गार्हपत्यस्य पर्य्युक्षणं च धारावर्जं वाचं विसृज्य पुनराचामति यजमानः। विद्युदसि विमे धारावर्जं विसृज्य पुनराचामति यजमानः। विद्युदसि विमे पाप्मानं जह्यपोऽवभृथमभ्युपैमि मयि सत्यं गोषु मे व्रतम् इति। अत्र वाग्विसर्गविधानात् प्रथमाचमने वाग्यमः। वाग्यतो दोहप्रभृत्या होमात् क्षीरहोता चेति क्षीरहोता अध्वर्य्युश्चेच्छन्दो विकल्पार्थः। प्रातर्जुहोत्यनुदितेऽन्तरेणापराग्नौ गत्वा दक्षिणेन वा अप्रदक्षिणं गार्हपत्यं परीत्योपविशति यजमानः। उन्नयामीत्याह प्रातः प्राक्संस्थं समित्पर्य्युक्षणं धारा च। उभयत्र वाग्निशब्दे सूर्य्यः। अनशित्वा प्रातर्मुहूर्त्तं सभासनं सभ्यस्य इन्द्रो यमोऽनलोऽनश्नंस्ताङ्गमनोऽसंपांशुश्चेति माध्यन्दिनश्रुतेः। इन्द्रायाहवनीयाग्नये नमः यमाय गार्हपत्याग्नये नमः, अनलाय नैषधान्वाहार्य्यपचनाग्नये नमः, अनश्नंस्ताङ्गमनाय सभ्याग्नये नमः, असंपांशवे नम इत्याहवनीयगार्हपत्यान्वाहार्य्यपचनसभ्योद्धृतमुपेया स्वयं वा

जुहुयात् । औपवसथ्ये नियमः । अत्राग्नेयी सायमाहुतिः सौरा प्रातराहुतिरितिवचनात् । तत एव प्रधाने तदुक्तं कर्काचार्य्यैः कुण्डपायिनामयनादिषु प्रधानाहुतिर्भेदेनाङ्गानि तन्त्रेणेति । एष वा अग्निहोत्रस्य स्थानुर्यत् पूर्व्वाहुतिरिति तैत्तिरीयश्रुतेरपि द्वयोरेव प्राधान्यम् । भट्टपादैस्तु, सान्निध्याग्निसंयोगहोमत्वाविशेषात् सर्व्वाहुतीनां समं प्रधानत्वम् । तथाचैकेषां सर्व्वसामानाधिकरण्येनाग्निशब्दप्रयोगो य एवं विद्वान् विचारसम्पन्नमग्निहोत्रं जुहोतीत्युक्तम् । तत्र होमकालाः,—प्रथमास्तमिते पर्य्युदयञ्च स्वर्गकामस्य, तमोऽत्यये सायं जुहुयाद्, [1]वियति प्रातरायुष्कामस्य, शयाने श्रीकामस्य । तथा,—

रात्रेः [2]षोड़शभागे च ग्रहनक्षत्रभूषिते ।
कालं त्वनुदितं जानन् होमं कुर्य्याद् विचक्षणः ॥
तथा प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले ।
रवियावन्न दृश्येत समयाध्युषितञ्च तत् ॥
रेखामात्रञ्च दृश्येत रश्मिभिश्च समन्वितम् ।
उदितं तं विजानीयात् तत्र होमं प्रकल्पयेत् ॥
ह्रस्वादूर्द्ध्वं रवियावद् भुवं हित्वा न गच्छति ।
तावद्धोमविधिः पुण्यो नान्योऽभ्युदितहोमिनाम् ॥
यावत् सम्यक् न भाव्यन्ते नभस्यृक्षाणि सर्व्वतः ।
न च लोहित्यमभ्येति तावत् सायञ्च हूयते ॥

---

(१) ० व्येति प्रात ० । (२) ० षोड़शमे भागे ग्रह ० ।

विहितकालात्प्राक् भ्रान्त्या प्रातर्होमानुष्ठाने सायं प्रातर्होमयोरेककर्म्मत्वेन सायमारम्भस्यैव प्रातर्होमनिमित्तत्वात् प्रातःकालस्य त्वङ्गमात्रत्वादङ्गाभावेऽपि समापने निमित्तस्य निवृत्तत्वान्न काले पुनः क्रिया । अन्यत्र,—

रजोनीहारधूमाभ्रशाखाद्यन्तरिते रवौ ।
सन्ध्यामुद्दिश्य जुहुयाद्धुतमस्य न लुप्यते ॥

इति तस्य हुतं न लुप्यते इत्यनेन होमलोपसम्भावनानिवर्त्तकत्वात् सर्व्वथा कालाज्ञान एव तत्सम्भावनासम्भवात् सर्व्वथा तत्कालपरिज्ञानपरमिति ।

होमीयद्रव्याणि ।

पयसा स्वर्गकामः पशुकामो वा । यवाग्वा ग्रामकामः । तण्डुलै र्बलकामः । दध्नेन्द्रियकामः । घृतेन तेजस्कामः । इति । एतानि संयोगपृथक्त्वेन नित्यानि च । अत्र शाखान्तरोक्तानि,—

पयो दधि यवागुश्च सर्पिरोदनतण्डुलाः ।
सोमो मांसं तथा तैलमापश्चैव दशैव तु ॥

अत्र पयसा होमे,—पयसि हीदं सर्व्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न विद्याद् यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुहुयादपमृत्युं जयति । न तथा विद्याद् यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येव विद्वान् सर्व्वं हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छतीति श्रुतेः

पयस्यन्तर्हितं विश्वं पश्यन्नेवं पयो नरः ।
एकयैव तदाहुत्य जगदात्मानमश्नुते ॥

---

(१) ० हीनं ० ।

इति स्मृतेश्च ।

अत्र श्रौतहोमे उद्धरेदिति यजमानो ब्रूयादित्यादिना अध्वर्य्यु-कर्त्तृकतामुक्त्वा पश्चादेव स्वयं वा जुहुयादित्यनुकल्पोक्तरूपेणै-वोक्तत्वात् । अध्वर्य्युकृते चोद्धरणप्रैषादङ्गाधिक्येन फलाधिक्या-दध्वर्य्युकर्त्तृत्वमेव मुख्यं तदसम्भव एव स्वयं होमः । यत्तु,— स्वयं होमाशक्तावुपासीतेति सूत्रं तदौपवसथ्ये नियम इति याग-पूर्व्वदिने यः स्वयं होमनियम उक्तो यश्च

द्रव्यं सञ्चरमन्त्राश्च कर्त्ता कालः स्रुगासनम् ।
सायं यत् स्वीकृतं सर्व्वं प्रातस्तदनुवर्त्तते ॥

इति नियमानुरोधेन सायं स्वयं हुते प्रातः स्वयं होमः प्राप्त-स्तदभिप्रायेणैव ।

अन्यैः शतहुतात् होमादेकः शिष्यहुतो वरम् ।
शिष्यैः शतहुतात् होमादेकः पुत्रहुतो वरम् ॥
पुत्रैः शतहुतात् होमादेको ह्यात्महुतो वरम् ।

इत्युक्तं तस्य ज्ञानकाण्डोक्तत्वात् । य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति इत्यभिधानाच्चोपासकविशेषणपरम् । तस्माद्विरोधा-च्छन्दोगानामेव तन्मुख्यकल्पपरं वा । यथा "वाग्यतो दोहयति" इति सूत्रविरोधात् स्वयं दोहीति नास्माकमिति । यत् पुनः—

सन्ध्याकर्म्मावसाने तु स्वयं होमो विधीयते ।

इत्यादि स्मृतिवाक्यं तत् स्मार्त्तहोमपरमेव । तेन स स्वयं कर्त्तव्यः । तत्रैवच,—

सूतके च प्रवासे च अशक्तौ श्राद्धभोजने ।
एवमादिनिमित्तेषु ह्रावयेदिति योजयेत् ॥

इत्यनेन सौतश्राद्धभोजनयोः स्वयं होमनिषेधः । तत्रा-शौचे,—नित्यानि निवर्त्तेरन् वैतानिकवर्जं शालाग्नौ चैक इति स्मार्त्तहोमादीनां वैकल्पिकत्वाभिधानात् पाक्षिककर्म्मपरमिदम् । एवम्,—

सूतके तु समुत्पन्ने स्मार्त्तहोमो निवर्त्तते ।
पितृयज्ञश्च होमश्च असगोत्रेण कारयेत् ॥

इत्यपि । न च पश्चादेवैश्वदेवान्नासम्भवान्नित्याकरणमिति वाच्यम् । गुणलोपेतु मुख्यस्य इति न्यायेन तच्छरीरैकदेशेनापि तत्करणस्यापि न्याय्यत्वात् । श्रौते तु अग्निहोत्रिणामग्निहोत्र इति सद्यःशौचविधानात् कर्म्मानर्हत्वरूपाशौचाभावे सिद्धे यत्र श्रौते कर्म्मणि तत्कालस्नातः शुद्धिमवाप्नुयादितिचेत्यत्र शुद्धिबले-नास्थिसञ्चयनात् प्राक् । अन्यत्रापि यत्र यत्राङ्गाशौचं तत्रैव तन्निवृत्त्यर्थं तत्कालस्नानं विहितम् । तेन तत्र सायं होमः स्नात्वा एवाध्वर्य्युसम्भवे कार्य्यः । अङ्गाशौचाभावे तु स्नानाभावः स्मार्त्तहोमस्तु स्वासम्भवे ऋत्विक्पुत्रगुरुभ्रातृजामातॄणामन्यतमेन कार्य्यः । तेषामप्यसम्भवे येन केनाप्युपनीतब्राह्मणेन । तस्या-प्यसम्भवे ब्राह्मणस्त्रियापि । अनुपनीता स्त्रियश्चात्र निषिद्धाः—

न वै कन्या न युवति र्नाल्पविद्यो न वालिशः ।
होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्त्तो नोवाप्यसंस्कृतः ॥ इति—

श्रौतहोम एवैषां निषेधात् । अतएवाह गोभिलः,—कामं

गृह्याग्नौ पत्नी जुहुयात् सायं प्रातर्होम इति । शौनकोऽपि,—पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत् स्वयं पत्न्यपि वा कुमार्य्यन्तेवासी वेति ।

## स्मार्त्तहोमविधिश्च ।

अस्तमितानुदितयोरुपयमनकुशानादाय समिधोऽभ्याधाय पर्य्युक्ष्य दध्ना तण्डुलैरक्षतैर्वा "अग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा" इति सायं, "सूर्य्याय स्वाहा प्रजापतये स्वाहा" इति प्रातः ।

पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ ।
पुमानिन्द्रश्च वायुश्च पुमान् संवर्त्ततां मयि ॥

पुनः स्वाहा इति । पूर्व्वां गर्भकामेति पत्नी जुहुयात् । द्वितीयान्तु यजमान एव । गोभिलसूत्रम्,—पुरास्तमयादग्निं प्रादुष्कृत्यास्तमिते सायमाहुतिं जुहुयात् । पुरोदयात् प्रातः प्रादुष्कृत्योदितेऽनुदिते वा प्रातराहुतिमिति तदविरोधाद् ग्राह्यम् । पुरा प्रादुष्करणवेलायाः सायमनुगुप्ता अप आहरेत् मणिकाद् वा गृह्णीयात्, हविष्याग्नौ जुहुयात्, कृतस्याकृतस्य वा, अकृतश्चेत् प्रक्षाल्य प्रोदकं कृत्वा, जुहुयात् । दधिपयोयवागूंश्च

सप्तपत्राः शुभा दर्भा ब्रह्मग्रन्थिसमन्विताः ।
उपयमनकुशाः प्रोक्ता अग्निकार्य्यादिकर्म्मसु ॥

अयञ्चोपासनहोमः श्रौताग्निमता न कार्य्य इति केचित् । तदुक्तं धूर्त्तस्वामिना,—सर्व्वाधानेऽप्युपासनस्य पार्व्वणस्य च

निवृत्तिः, अग्निहोत्रं दर्शपौर्णमासौ पिण्डपितृयज्ञश्च तदर्था इति ध्रियते केवलमिति ।

पाण्याहुतिर्द्वादशपर्व्वपूरिका
कंसादिना चेत् स्रुवपूरमाहुतिः ।
दैवेन तीर्थेन च हूयते हवि-
र्व्यङ्गारिणि स्वर्च्चिषि पावके च ।

तथा करीषाग्नौ स जुहुयादित्यादि दानधर्म्मे उक्तम् । तेन सर्व्वत्र प्राप्यमीदृगग्नौ काष्ठाधानं पुरुषार्थं प्राप्तम् । तत् समिधोऽभ्याधायेति समिधमादधात्यग्निज्योतिषमित्येवं कर्म्माङ्गतया विहितेन तन्त्रं सिद्धम् । यत्र पुनर्वैश्वदेवहोम-गार्हपत्यादिहोमेषु तदभाव(१)स्तत्रान्यकाष्ठाधानं कर्त्तव्यम् । तत्रैव,—

होमं करोति यो विप्रस्तुलसीकाष्ठवह्निषु ।
शतक्रतुसमं पुण्यं होता तत्फलमाप्नुयात् ॥

इति फलम् ।

मुखेनैव धमेदग्निं मुखादेषोऽभ्यजायत ।
नाग्निं मुखेनेति च यत् लौकिके योजयन्ति तत् ॥

समिधश्च ।

पलाशाश्वत्थन्यग्रोधप्लक्षवैकङ्कतोद्भवाः ।
काश्मर्य्युदुम्बरौ विल्वश्चन्दनः सरलस्तथा ॥

(१) ० स्तत्रानेन काष्ठाधानं कार्य्यम् ।

सारश्च देवदारुश्च खदिरश्चेति याज्ञिकाः ।
नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित् स्थूलतया क्वचित् ॥
प्रादेशान्नाधिका नोना न तथा स्याद् द्विशाखिका ।
न वियुक्ता त्वचा चैव न सकीटी न पाटिता ॥

प्रागग्राः समिधो देयाः । इति ।

एतच्छ्रौतकर्म्मस्वपि । यत्तु पालाशवैकङ्कतकाश्मर्य्य [1]खादिरोदुम्बरांश्चेति तदिध्मपरिधिमात्रविषयम् । नाप्रोषितमम्लानं काष्ठं समिधं वाग्नावादध्यात् । तत्राग्नेरनुगमे आपस्तम्बगृह्यम्,—अनुगतो मथ्यः श्रोत्रियागाराद्वा आहार्य्यः उपवासश्चान्यतरत्र [2]भार्य्यायाः पत्युर्वा । अपिचोत्तरया जुहुयान्नोपवसेदिति । उत्तरा ऋक् । अयाश्चाग्ने[3]ऽस्यनभिशस्तियाश्च सत्वमित्वमया असि, [4]अयसा वयसा कृतो यासन् हव्यमूहिषेऽयानो धेहि भेषजमिति । अत्र श्रोत्रियागारोक्त्या वैश्वदेवहोमार्थविहितो हुतोत्सृष्टोऽग्निः प्राप्तस्तस्यैवाहितस्याग्नेर्गृहादाहरणाद्यसम्भवात् । तेन स्वहुतोत्सृष्टस्यापि प्राप्तिरिति । एतदस्मत्-सूत्रे किञ्चिन्नोक्तमित्यपेक्षितत्वात् कार्य्यम् । सर्व्वत्र च होमेषु देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो मानससङ्कल्पो यजमानेनैव कार्य्यः । तत्र न मम इति शब्दः सकलार्थवाचको न सङ्कल्पस्वरूपान्तर्भूत इति । [5]न तत्र प्रयोगे सङ्कल्पसिद्धिः । देवतोद्देशांशे तु शब्देनैव देवतायाः कर्म्मसम-

---

(१) ० वैल्वान् खादिरौदुम्बरान् वेति ।
(२) ० पत्नग्राः पत्युर्वा ।
(३) ० स्यनभि ० ।
(४) अयासा मनसा कृतो यया हव्य ० ।
(५) न तदप्रयोगे ० ।

वायात् । देवताशब्दस्य देवतात्वप्रतिपादकचतुर्थ्यन्तस्य उच्चारणमावश्यकम् । तत्राकाङ्क्षापूरणार्थमिदमिति द्रव्यनिर्द्देशश्च कार्य्यः । अतएव वाजसनेयिना[1]मेवं समाचारः । यत्त्वापस्तम्बीयानां "न मम" इति प्रयोगः स कृतार्थसाकल्यप्रख्यापनमात्रार्थो न तु विहित इति अतः स्वयंक्रियमाणहोमादिषु होममन्त्रगतदेवताशब्देनैव देवतायास्तदुद्देशे सिद्धे मन्त्रान्ते सङ्कल्पमात्रं कार्य्यम् । परक्रियमाणेष्वेव तदुच्चारणनियमः । एवञ्च स्वयं होमे भ्रान्त्या अन्यदैवत्यमन्त्रोच्चारणे प्रधानान्यथाभावादावर्त्तनीयम् । अन्यकर्त्तृके तु मन्त्रस्य गुणमात्रत्वादन्यथात्वेऽपि यजमानेन यथोक्तदेवतोद्देशे कृते नावृत्तिः । मन्त्रभ्रंशप्रायश्चित्तमात्रं कार्य्यम् । अत्र पत्न्या अपि फलभागित्वात् कर्त्तुरिव फलोदयात् साधारणस्य द्रव्यस्य [2]एकेन त्यक्तुमशक्यत्वाच्च तथापि कर्त्तव्यम् । तदुक्तं भट्टपादैः षष्ठे,—पत्नीयजमानयोस्तु ऋत्विगानमने देवतोद्देशे यो व्यापारः स एक एव उद्वाहकाल एवानयोर्द्रव्यस्य साधारण्यं प्रतिपाद्यते । धर्म्मे चार्थे नातिचरितव्येति नहि साधारणं द्रव्यमेकेन त्यक्तुं शक्यत इति । अथवा यथैकस्मिन् कर्म्मणि प्रयोज्यवत् प्रयोजकस्यापि कर्त्तृत्वं तथा साधारणेऽपि द्रव्ये एकेन त्यज्यमाने अन्यस्यानुमतिमात्रेण तत्कर्त्तृत्वसम्भवात् त्यागस्योपपत्तेः । तन्मात्रं पत्नीकार्य्यम् । तदुक्तं तत्रैव भाष्यकारेण,—प्रतिकारकं क्रियाभेदादध्वर्य्व्यनुप्रवेशवत् पत्न्यनुप्रवेशेऽपि नास्ति यजेतेत्येकवचनविरोध इति । अत्र

(१) ० मेवमेव ० । (२) ० चैकेन ० ।

प्राचीनव्याख्या—पत्नीव्यापारोऽन्य एव तथा हविःसम्प्रदानमपि पुंस एव [1]पत्न्यास्तु तदनुमतिरेवेति। कर्काचार्य्यैस्तु पत्नी ददातीति सूत्रं दीयमानमनुजानातीति व्याख्यातम्। एतद् रजस्वलायां पत्न्यामवश्यमेष्टव्यम्। अन्यथा तत्राकरणापत्तेः केवलं प्रोषिते यजमाने मन्त्रान्ते प्रक्षेपसमकालं तेन त्यक्तुमशक्यत्वात् [2]पत्न्यैव त्यागः कर्त्तव्यः। यजमानेन त्वनुमतिमात्रम्। यत्तु, "प्रवसन् यजमानं कुर्य्या"दिति तदात्मसंस्काराद्धर्म्ममात्राच्चेति वाक्यशेषाद् वपनोपवासादिविष्णुक्रमणादिपरमेव। यत्तु,—

मनसा नैत्यिकं कर्म्म प्रवसन्नप्यतन्द्रितः।

उपविश्य शुचिः सर्व्वं यथाकालमुपाचरेत्॥

इति तेनान्यदेवाशेषकर्म्मणो मनसा चिन्तनं विधीयत इति। एवं यदा यजमानः प्रोषितः पत्नी चोदक्या तदा अग्निहोत्रादि अकृतमेव स्यात्। केवलं यद्वचनबलात् मनसा सर्व्वकर्म्म प्रोषितश्चिन्तयेत् तेनैव "मनसाप्येनमाचारमनुपालयेत्" इति वचनात् प्रत्यवायानुत्पाद इति। [3]एतेन यदाशौचं प्रोषितः शृणोति गृहे चाश्रवणात् पत्न्या नाशौचं तदा रजस्वलायां पत्न्यां यजमानेनैव पत्न्या कार्य्यमेव। देवयज्ञादि मृताहश्राद्धञ्च। [4]यजमानस्य मृताश्रुतौ गृहे पत्न्या अशौचज्ञानेतु तदा तस्या एव

---

(१) अन्यस्य तु तत्रानुमति०।

(२) ० यत्नेनैव पत्न्या त्यागः०।

(३) एतेन प्रोषितो यजमानो यद्यशौचं शृणोति०।

(४) यजमानस्याश्रुतौ०।

प्राधान्यात् तत्सम्बन्धे च पाकस्याशुद्धित्वान्न कार्य्यम् । यजमानस्तु पश्चात्तायत्नोजपरूपं [1]वैश्वदेवलोपप्रायश्चित्तं कुर्य्यादिति सिद्धम् ।

एवञ्च,—

[2]तत्र शक्ततरा पश्चादासामन्यतमैव या ।
उपेतानामन्यतमा [3]गच्छेदग्निं निकामतः ॥

इति । इत्यनेनाधानकालस्थितानामन्यतमाधानादूर्द्ध्वमपि-विहितानां च या शक्ता सैवाग्निं परिचरेदितिवचनाद् बहुपत्नीकस्य पत्न्या अप्यग्नीन् परित्यज्य पितृगृहादिगमनमभ्यनुज्ञातम् । केवलमत्र "प्रवसेत् कार्य्यवान्" इतिवत् साक्षात् प्रवासानुक्तेरविहितप्रवासे प्रवसन् प्रवत्स्यन् वा वैश्वानर्य्या यजेतेति प्राक् प्रवासात् प्रवासादागत्य वा वैश्वानरीष्टिः । पर्व्वातिक्रमे च आहिताग्निरुपस्थानं न कुर्य्यात् । यत्तु पर्व्वणीत्यत्नोपस्थानपदस्याग्नि-[4]समानस्थानमात्रपरत्वादुद्देश्यविशेषणतया लिङ्गस्य चाविवक्षितत्वात् कृच्छ्रार्द्धं कार्य्यम् । एवञ्च यजमानस्यापि वृथैव न चिरमिति वचनाद् वृथाचिरप्रवासयोरिष्टिः पर्व्वातिक्रमेच कृच्छ्रार्द्धम् । [5]यदपि यजमानपत्न्योर्धनसाधारण्याद् धनसाध्यकर्म्मसु नेकैककर्त्तृत्वसम्भवस्तथापि यथैकस्य निमित्तागमस्तेनेतरानुमत्या स्वदोषपरिहारार्थं नैमित्तिकं कार्य्यं तत्नेतरस्य फलभागित्वाभावेऽपि सत्रे मृते एकस्मिन् यजमाने सप्तदशसंख्या

(१) वैश्वदेवादितल्लोप० ।
(२) ततः शक्ता तु या पश्चादासामन्यतमा तथा ।
(३) ०मथेदग्निं० ।
(४) ०समीपस्थान० ।
(५) यद्यपि० ।

'पूरणार्थानि तत्पुरुषस्यैवाङ्गत्वमात्रं साधारणेऽप्यर्थेऽनुमतिमात्रे-णैकस्वत्वमुपपद्यते । एतेन पत्न्या अपि दानव्रताद्यनुष्ठानं समर्थितम् । यत्तु—

"नास्ति स्त्रीणां पृथग् धर्म्मः"

इति तद्भर्त्तृप्रशंसापरमेव¹।

एवमाहिताग्नेः कृतान्वारम्भणीयेष्टेर्भार्य्यान्तरपरिग्रहे तदर्थं पुनरारम्भणीयानुष्ठानं च समर्थितम् । न च "धर्म्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्व्वीत अन्यतराभावे कुर्व्वीत प्रागग्न्याधेयात्" इति वचनादग्न्याधानादूर्द्ध्वं न तत्प्राप्तिः । तत्र प्रागग्न्याधानादूर्द्ध्वं न धेयादित्यस्योर्द्ध्वं तत्परिसंख्यापरत्वे स्वार्थहानिः परार्थकल्पनं प्राप्तं बाधश्चेति दोषत्रयापत्तेरग्न्याधाननिमित्ततैव विवाहस्योच्यते तेनाहिताग्निनिमित्तान्तर इव विवाहेऽपि पुनरग्नीनादध्यादित्येव स्यान्न च विवाहनिषेधः । अतएव छन्दोगपरिशिष्टे,—

सदारोऽपि पुनर्द्दारान् कथञ्चित् कारणान्तरात् ।
य इच्छेदग्निमान् कर्त्तुं क्व होमोऽस्य विधीयते ॥

इत्याशङ्क्य

स्वेऽग्नावेव भवेद्धोमो लौकिके न कथञ्चन ।

इत्युक्तम् ।

अग्निहोत्रप्रायश्चित्तसूत्राणि विक्षिप्तानि सुज्ञानार्थमपेक्षितत्वाल्लिख्यन्ते ।

गार्हपत्येऽनुगते भस्मना अरणी संस्पृश्य मन्थनं एतद्वाक्येन

(१) ० पूरणार्थानां तत् ० ।

प्रकरणबाधात् सर्व्वदा तदनुगते कार्य्यम्। मथ्यमानश्चेन्नजायेत यमदूरात् पश्येत् तमाहृत्याभिजुहुयात्। कुशस्तम्बे वा। अनासनं तस्मिन्। अप्सु वा। नाङ्गो बीभत्सेत। अत्र यमदूरात् इत्यनेन,—

नाहिताग्नेः स्वकं कर्म्म लौकिकेऽग्नौ विधीयते।

इति सामान्यत आहवनीयस्य होमान्ते लौकिकत्वात् तस्य तदेकदेशस्य गार्हपत्यत्वायोगाद्धोमान्ते मन्थनम्। [१]सर्व्वाहरणे गार्हपत्यत्वनिवृत्तेः। स एव गार्हपत्यः प्राप्तो गृह्याग्निरेव ग्राह्यस्तदभाव एवान्यः। सभ्याग्निस्तूपस्थानमात्रार्थत्वान्नात्र ग्राह्यः। आहवनीयजागरणे वा तदेवोद्धरणमाहृत्य चोपहृताद्वा। अनुद्धृताभ्यस्तमये कुशबद्धे हिरण्ये पश्चाद्ध्रियमाणे इध्मेनोद्धरेदन्यः, अभ्युदये रजतधारणं पुरस्तात्। वैश्वदेवी चोभयाहुतिः। इध्मं चाष्टादशेध्मं परिधिवृक्षाणामेकविंशतिं वा। अपरिमितं प्रणयनीयं [२]त्रियूनम्। अपरिमितं [३]प्रमाणाद्भूयः तेन द्वाविंशतिर्भवति। अयुग्धातूनि यूनानि। प्रागग्रे यून उदगग्रं वर्हिराचिनोति उदगग्रे प्रागग्रमिध्मम्। प्रत्यग्ग्रन्थीनवगूहति। इध्मपरिमाणन्तु सूत्रे नोक्तम्। यज्ञपार्श्वे,—

वेदः समित्पवित्रञ्च मूषलोलूखला ग्रहाः।
शासस्वरुविषाणानि चरवो मेक्षणानि च।
प्रादेशमात्राण्येतानि शम्यास्रुक्पुष्कराणि च।

(१) सर्व्वदाहरणे त्वाहवनीयनिवृत्तेः।
(२) इति पुनः।
(३) परिमाणाद्०।

इति समिन्मात्रस्य प्रादेशमात्रत्वमुक्तम्। यत्तु,—

प्रादेशद्वयमिध्मस्य प्रमाणं परिकीर्त्तितम्।

इति छन्दोगपरिशिष्टं तच्छन्दोग(१)गृह्यपरमेव। तस्य साधारणत्वेऽप्यसामान्यवचनत्वेऽपि स्वशाखागतेन विशेषवचनेनापि तेन तुल्यत्वाद् विकल्पो वा स्यात्। अस्तमयाभ्युदययोः प्रागुभयानुगमने पुनराधानम्। अग्निहोत्र आसन्नेषु चेत् पात्रेष्वाहवनीयोऽनुगच्छेद् गार्हपत्ये जुहुयात् प्राण उदानमप्यगादिति, गार्हपत्यश्चेदाहवनीय उदानः प्राणमप्यगादिति दक्षिणाग्निश्चेद् गार्हपत्ये व्यान उदानमप्यगादिति हुत्वा स्वयोनेराहरणम्। तत्र गार्हपत्ये मथ्यमानश्चेन्न जायेत इत्युक्तं स्यात् सर्व्वे चेत् तूष्णीं मथित्वा प्रतिवाचमुद्धृत्य वायव्यमाहुतिं हुत्वा यथानुपूर्व्वं करणं निवातश्चेत् पूर्व्ववन्मथित्वा प्राञ्चमेवमुद्धृत्य गार्हपत्ये संस्कृत्याज्यं पश्चादाहवनीयस्य स्वयं पानम्। एतद् गार्हपत्याहवनीययोरप्यनुगमने स्यात् पूर्व्वोक्तहोमासम्भवात्। आज्यञ्च यद्यपि घृतमाज्ये लिङ्गात् इति सूत्रेण घृतजातिमात्रोपादानात् माहिषाप्रतिषेधाच्च माहिषमपि प्राप्नोति। तथापि "मह्रीनां पयोऽसि" इति मन्त्रलिङ्गादेकत्र निर्णीतोऽर्थोऽन्यत्रापि तथेति न्यायाद् गव्यमेव मुख्यम्। माहिषन्तु भक्ष्यत्वेन शिष्टभक्ष्यप्रतिषिद्धं दुष्टमित्याविकादिवद् दुष्टत्वाभावात् प्रतिनिधित्वेन ग्राह्यम्। यत्तु,—

मेध्यं ममोपयोग्यं हि गव्यं दधि पयो घृतम्।
माहिषं त्वाविकं छागममेध्यं स उदाहृतम्॥

---

(१) ॰ गृह्यकर्म्मपर ॰।

इति वाराहे भगवद्वाक्यम्,—तत्र प्रकरणात् [1]व्यक्तिशब्दो विष्णुपूजापर इति न तेनात्र तन्निषेधः। [2]अत्र च भरद्वाज-सूत्रम्,—सर्व्वत्राज्यहोमेषु गव्यमेव भवति तस्यालाभे माहिषमेव, एतयोरभावे तैलमपि। एतेन घृतमाज्यार्थे प्रतिनिधिरित्यत्र घृतपदं माहिषपरं ज्ञेयम्। यत्तु,—तत्र तदभावे दधि पयो वा तण्डुलपिष्टानि यवपिष्टानि वाद्भिः संसृज्यार्थान् कुर्व्वतीति तत् तैलस्याप्यभाव एव। पूर्व्वाहुतौ हुतायां चेदाहवनीयोऽनुगच्छेत् तदुक्तं काष्ठं हिरण्यं वा जुहुयात्। एतत् सर्व्वमिध्मर्थमुद्धृत्य कृतान्वाधानेष्वग्निषु होमप्राप्तौ न स्यात्। केवलं स्वयोनिरन्वग्नि-रित्याहृत्य समिधमिति द्वाभ्यामुपस्थानम्। जाग्रतमाहवनीयम-भ्युद्धरेच्चेत् तदुक्तं पश्चान्निधाय पुरस्ताच्च उभयत्र होममेकेष्वभि-निधाने अग्नयेऽग्निमते पुरोडाशः समिधमिति चोपस्थानम्। द्वाभ्यामन्यत्र संसर्गेणाद्रियेत। अनुक्रोशेऽग्नये संसर्गायाहुतिः। ग्रामाग्निना चेदग्नये [3]त्विविचये। मिथश्चेदग्नये शुचये। अशुच्या-यतनाच्चेन्मात्रानादरः।

अज्ञानान्मथिते ह्यग्नौ पूर्व्वाग्निर्यदि दृश्यते।
मथितं तु समारोप्य पूर्व्वे होमो विधीयते॥

समारोपे च मन्त्रः,—"उत्तिष्ठस्व अग्ने" इति पूर्व्वोक्तम्। अन्तराचमने[4]नाद्रियेत। स्वै उकवराहेषु उदधारा प्राचीदं विष्णु-रिति भस्मनो वा। चक्रीवत्यग्नये पथिकृते। चक्रीवच्छकटं वा

---

(१) ० यज्ञशब्दो ०।
(२) तथा भरद्वाज ०।
(३) ० विविचये।
(४) ० नाद्रीयात्।

पथिकृदिष्टिश्चाश्वमेध उक्ता। पुरोडाशोऽग्नये पथिकृते सर्व्व-मुपांशु। शतमानं दक्षिणा सौवर्णमवमयेति। तत्रावमात्रो रक्तिकयेति व्याख्यातम्। आश्वलायनसूत्रे तु अनड्वान् दक्षिणेति। स्कन्देच्चेदस्कानधीत प्राजनीत्यभिमृश्य शेषेण जुहुयात्। अग्निहोत्रे चैतत्। अन्यत्र भूयत इति हविर्यज्ञे ज्ञेयम्। देवान् [1]दिवमिवमिति सोमे पृषदाज्यस्कन्दने जुहुयात्। [2]अयाविष्टा जनयन् कर्वराणि सहि घृणिरुर्वरा यगातुः। संप्रत्युर्वेदूर्वरुणो मध्यो अग्रं स्वां यत् तनुं तन्वामैरयत स्वाहा इति। प्रणीताः स्वन्ना अभिमृशेत्। ऐतु राजावरुणो रेवतीभिरस्मिन् स्थाने [3]तिष्ठतु मोदमानः। अरिष्टास्माकं वीरामापरासेचिमत्यय इति मृन्मयं भिन्नमभिमृशेत्। भूमिर्भूमिमगान् माता मातरमप्यगा-भूयाम पुत्रैः पशुभि र्यो नो द्वेष्टि सभिद्यतामिति। उन्नीत सर्व्वस्कन्नमृग्भेदयोस्तत्रैवासनमन्यदुन्नीयान्यस्मै प्रयच्छेत् तेन होमः। [4]एतत् पयसि तस्य भूमौ पतितस्य पुनर्ग्रहणासम्भवात् तण्डुलेत्वभिमृश्य गृहीत्वा प्रक्षाल्य तेनैव होमः। दुष्टस्य हविषो ऽप्सुवहरणमुक्तम्। नहि भूमिपतितं दुष्टं शिष्टभक्ष्यप्रतिषिद्धं दुष्टमिति वचनात् [5]आहुताभ्युदित उन्नीयेत भूमिरित्यभि-मन्त्रणं वरदानञ्च। वरश्च श्रेष्ठं द्रव्यम्। यद् गौ र्ब्राह्मणस्य

(१) ० दिवमगनिति ०।

(२) अयाविष्टा जनयत् कवराणि सहिघृणिरुरुर्वरायगातु।

(३) ० सन्नत ०।

(४) एतत् पयसी। तस्य ०।

(५) अहुताभ्युदित उन्नीयात मनादासीत भूत्वा ०।

वर इति गृह्यवचनं तदपि श्रेष्ठत्वाभिप्रायेणैव। तेनात्र तदसम्भवेऽन्यदपि पक्वनारिकेलफलादि दद्यात्। [1]अग्निहोत्रातिगोतादा आहुतिं जुहुयात्। मनोज्योतिर्जुषतामाज्यस्य विच्छिन्नं यज्ञं समिमं दधातु या इष्टा उषसो या अनिष्टा स्तां सन्तु नो मिह विषाद्धतेन स्वाहा इति। एवं प्राणायामशतमेकरात्रात्। उपवास आभिरात्रात्। अत ऊर्द्धमाषष्ठिरात्रात्। त्रिरात्रोरुपवसेत्। अत ऊर्द्धं मासं वत्सरं प्राजापत्यम्। संवत्सरोत्सन्नाग्निहोत्रे चान्द्रायणं कृत्वा पुनरादध्यादित्यपि कालविशेषविहितत्वात् सामान्यविहित-स्रुताहुतिपूर्व्वकं कार्य्यम्। अत्र संवत्सरोत्सन्नपुनराधानाविधानाद् ध्रियमाणाग्नावग्निहोत्रलोप एतत्। अग्नेरप्युत्सर्गे तु,—

अग्निहोत्रमपविध्याग्निं ब्राह्मणः काममोहितः।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमोहि सः॥

इति। स्मार्त्ताग्न्युत्सर्गे तु,—

योऽग्निं यजाति नास्तिक्यात् प्राजापत्यं चरेत्तु सः।

इति। अत्रापि सायं प्रातर्होमयोः संवत्सरमत्यय इति व्याख्यातव्यम्। दर्शपौर्णमासात्यये च प्रज्ञातेष्व्यतिपत्तौ चेति पथिकृद्विधानात् तदासम्भव एवेदं पुनराधानं द्रष्टव्यम्।

होमद्वयात्यये दर्शपौर्णमासात्यये तथा।
पुनरेवाग्निमादध्यादिति भार्गवशासनम्॥

इति। एवं

---

(१) अग्निहोत्रातिपाते आहुतिं०।

दर्शं वा पौर्णमासं वा विलोप्योभयमेव वा ।
एकस्मिन् कृच्छ्रपादेन द्वयोरर्द्धेन शुद्ध्यति ॥

इत्यपि । पश्चादिकर्म्मलोपे चैतदेव-होमलोपेच ।

आहूयमानेऽनग्नींश्च नयेत्कालं समाहितः ।
आहुतीः परिसंख्याय पात्रे कृत्वाहुतीः सकृत् ॥
तन्त्रेण विधिवद्धुत्वा एवमेवापरा अपि ॥

इत्येतत् कुर्य्यात् । एतस्य कालान्तरे करणप्रकारमात्रपरतया प्रायश्चित्तत्वाभावात् [1]प्रतिपत्तेश्च सायमाहुतेः प्रातराहुतिर्नात्येत्याप्रातराहुतेः । सायमाहुतिरित्यनुकल्पकालविधानात् तदूर्द्ध्वमेव भवति । तन्मध्ये त्वनुद्धृतास्तमनानुद्धृतोदयाहुताभ्युदय प्रायश्चित्तादेव नान्यत् । एवं दर्शपौर्णमासयोरापौर्णमासाद्दर्शो नात्येति । अमावास्यायाः पौर्णमासमिति वचनात् तदूर्द्ध्वमेव । भट्टाचार्य्यैः पुनर्गृह्यकारवचनं चैतदासायमाहुतेरित्यादि—तेन यथैतदग्निहोत्रविषयत्वे च न कल्पते तथैतदापौर्णमास्या इत्यादि न दर्शपौर्णमासविषयं कल्पनीयमित्युक्तम् । तन्मतेऽपि औपासनहोमपश्चादिस्थालीपाकयोरेवासावनुकल्पकालः । एवमासायं कर्म्मणः प्रातराप्रातः सायं कर्म्मणामाहुतीर्नातिपद्येत इति पार्व्वणं पार्व्वणान्तरादित्येतत्परमेव । तेन तावेव मुख्यकालासम्भवे तदनुकल्पकालेऽपि कर्त्तव्यौ । ततश्च होमकाले स्मार्त्ताग्नेरुपशमे तु लौकिकाग्निविध्यभावान्मुख्यकालासम्भवे कालान्तरस्य विहितत्वान्मन्थनेनाग्निं सम्पाद्यैव होमः कर्त्तव्यः । अग्निहोत्रस्य

(१) अतिपत्तेश्च ० ।

पुनः सायंकालातिक्रमे पौर्णमास्यतिक्रमे पौर्णमासस्यातिपत्ति-प्रायश्चित्तमेव न तत् क्रिया। प्रातर्होमदर्शेष्ट्योः पुनस्तत्कालातिक्रमे [1]प्रारब्धस्यावश्यसमापनीयत्वादनादेशप्रायश्चित्तपूर्व्वकं क्रियैव। अनादेशप्रायश्चित्तञ्च होतृके भूरिति गार्हपत्ये, दक्षिणाग्नावाध्वर्य्यवे भुव इति, आग्नीध्रिये सोमे स्व[2]रित्येतद् गातुराहवनीये। चतुर्गृहीतान्येतानि सर्व्वत्र प्रायश्चित्तञ्च पञ्चभिः प्रत्यृचं त्वन्नोऽग्न इति द्वाभ्यां अयाश्चाग्ने, ये ते शतं, उदुत्तमं, इति च इति। तत्र दर्शेष्टेः कालान्तरे करणेऽपि कात्यायनमते पिण्डपितृयज्ञस्य इष्टाङ्गत्वात् कालान्तरेऽपि तत् पूर्व्वं क्रिया। जैमिनिमते तु,—दर्श एव तत्क्रिया। तत्राकरणेऽत्वक्रियैव। तद्विधिश्च,—अपराह्ने पिण्डपितृयज्ञश्चन्द्रादर्शनेऽमावास्यायाम्। दक्षिणाग्नौ श्रपणं होमञ्च परिस्तर्य्यन्तं पूर्व्ववत् पात्रासादनमेकश्शोऽपरेण गार्हपत्यं चरुमपूर्णं स्रुचं वा त्रिस्तूष्णीं गृहीत्वोत्तरेण दक्षिणाग्निमवहन्ति तिष्ठन् सकृत् फलीकरोति सारतण्डूलमपूर्णं श्रपयित्वाभिघार्य्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोति "अग्नये" इति "सोमाय" इति च प्राश्य तद्दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इत्यपरेण चोल्मुकं पुरस्तात् करोति। ये रूपाणीति उदपात्रेणावनेजयत्यपसव्यं सव्येन वोद्धरणासामर्थ्या-दसावनेनिक्ष्व इति यजमानस्य पितृप्रभृतीन् त्रीनुपमूलं सकृदाच्छिन्नानि लेखायां कृत्वा यथावनिक्तं पिण्डान् ददात्यसौ "एतत् ते" इति, "ये च त्वामनु" इति चैके। अत्र पितरित्युक्त्वोदगास्त आगमनादावृत्यामी मदन्त इति जपति। अवनेज्य पूर्व्ववन्नीवीं

---

(१) ० स्यारब्ध ०। (२) ० रित्यौद्गातृके आहवनीये।

विश्रंस्य "नमो वः" इत्यञ्जलिं करोति। अपास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डमूर्णां दशां वा। वयस्युत्तरे यजमानलोमानि वोर्जमित्यपो निषिञ्चति। अवधायावजिघ्रति यजमानः। उल्मुकं सकृदाच्छिन्नान्याग्नावाधत्त इति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामा जीवत्पितृकस्य होमान्तमनारम्भो वा इति। तत्र पौर्णमास्यमावास्ये वा इष्टिकालौ [1]श्रुतौ। तथापि तदहः कालत्वात् तदेकदेश एव तत्काले कार्य्यः। तदुक्तं पञ्चमे तन्त्ररत्ने,—पौर्णमास्यां पौर्णमास्यां यजेत इति सत्यपि वचने पूर्व्वेद्युरग्निं गृह्णाति उत्तरमहर्देवान् यजति इति वचनात् प्रयोगैकदेशः पौर्णमास्यां योजितो न सकल इति। नचैवमङ्गगुणविरोधन्यायेन चतुर्द्दश्यामेवारम्भः स्यादिति वाच्यम्,—

पर्व्वणो यश्चतुर्थांश आद्याः प्रतिपदस्त्रयः।
यागकालः स विज्ञेयः——— ॥

इति स्मृतेर्यथा कथञ्चिदविरोधसम्भवे बाधसम्भवात् प्रतिपद्यनुष्ठीयमानाया अपीष्टेरारम्भः पूर्व्वेद्युर्भवतीत्युभयानुग्रहसम्भवात् तत्र पौर्णमास्यामेव। अन्यदसद्य इति वचनात् दर्शेष्टेः पूर्व्वेद्युरारम्भः अन्यत्रापि यदा पर्व्वचतुर्थांशे यागस्तदैव सद्यः। अन्यथा पूर्व्वेद्युरारम्भः। अतएवोक्तम्,—

अपराह्णेऽथवा सायं यदि पर्व्व समाप्यते।
उपोष्य तस्मिन्नहनि श्वोभूते याग इष्यते।

(१) • श्रौते।

इति। पर्व्वचतुर्थांशे यागकरणे,—

सन्धिश्चेत् सङ्गवादूर्द्धमर्व्वागावर्त्तनाद् भवेत्।

सा पौर्णमासी विज्ञेया सद्यः कालविधौ तिथिः॥

इति वचनात् सङ्गवात्पूर्व्वं पर्व्वसमाप्तावसद्य एव किमुत प्रतिपदि यागकरण इति।

अत्रावर्गावर्त्तनादिति पूर्व्वाह्ने यागपर्य्याप्तपर्व्वचतुर्थांशे सद्भावपर इति श्रुत्यबाधः। अथवा एषा वै संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्योत्तरा पौर्णमासी एषोत्तरा या पूर्व्वेति प्रतिपद्यपि पौर्णमासीपदविधानात् तत्रापीष्टौ न श्रुतिविरोधः। आमावास्यायान्तु प्रतिपदि दर्शपदाश्रुतावपि पूर्व्वेद्युः पितृभ्यो निष्क्रीय परेद्युर्देवेभ्यो ददातीति श्रुतेरेव चन्द्रक्षयोत्तरदिनमेवामावास्याशब्देनोच्यते। अतएव जीवत्पितृकस्य पितृयज्ञाभावादमावास्यायामेवेष्टिरित्यभिप्रेत्य सम्प्रदायग्रन्थे जीवत्पितृकस्य चतुर्द्दश्यामेवोपवास इत्यभिहितं स्मार्त्तहोमपतने च ब्रह्मचारिणं प्रत्युक्तम्। उत्क्रम्याग्निकार्य्यं व्रतवत्याहुत्यातीतं सम्पाद्योपस्थितं कुर्य्यात्। अहन्वती ते कामवती पुनर्मनो व्रतवतीत्युक्तम्। तदुत्तरेषाञ्चैतदविरोधादितिवचनात् कर्त्तव्यम्। तत्र व्रतवती,—"त्वमग्ने व्रतपा" इति अतीतं सम्पाद्य उत्क्रान्तं होमं दत्वा उपस्थितं होमम्। कामवती,—"तुभ्यं तामङ्गिर" इति तत्राख्याङ्गवैगुण्येऽविज्ञाते प्रतिमहाव्याहृति सर्व्वाहुतिश्चतुर्थं सर्व्वप्रायश्चित्तं चेति। अविज्ञातं स्मार्त्तकर्म्म। तथाच,—सर्व्वेष्वग्न्युपघातेषु पुनस्त्वादित्या रुद्रा इति समिधमादध्यादित्यापस्तम्बकल्पः। एतच्छूद्रस्पर्शादुपघातपरम्।

अत्यन्तोपघाते अमेध्याभ्याधाने समारोप्य निर्मथित्वा पवमानेष्टिरिति बौधायनोक्तम्।

यस्याग्नावन्यहोमः स्यात् स वैश्वानरदैवतम्।
चरुं निर्वर्त्य जुहुयात् सर्वे तत्र च निष्कृतिः॥

आश्वलायनसूत्रे आहवनीयमदीप्यमानमर्वाक् शम्यापरास्यादिति एकं परं तत एकं तृतीयेन ज्योतिषा सविश्वसंवेशने तापश्चिकुरेधि प्रियो देवानां परमेजनीति संवपेत्। यदि त्वतिपतेदिष्टिरग्निः पथिकृत्। अपिवा प्रायश्चित्तेष्टानां स्थाने तस्यै तस्यै देवतायै पूर्णाहुतिं जुहुयादिति विज्ञायते। प्राक् प्रयाजेभ्योऽङ्गारं हविष्यविधिनिवृत्तं नाभिमृश्यान्नातपो मायुन्नस्तपनमायन्नं प्रस्तूयत नमो वोस्त्वापते नमो रुद्र परावते नमो यत्र निषीदसि अमुं मा हिंसीरिति। तथैनमनुप्रहरेत्। दाहं यज्ञं निदधे निर्ऋतेरुपस्थात्। तद्देवेषु परिदधाम विद्वान् सुप्रजास्त्वञ्चावहिं मम हिमामादत्त इह देवानामपि यच्छृतान्तमभिजुहुयात् सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदाः स्तोमपृष्टो घृतवान् सुप्रजाकामा नो हिंसी हिणिषित्वा जहामि गोषोऽवनोवीर पोषश्च स्वाहा इति। आहिताग्निर्यदि प्रातरस्नातोऽग्निहोत्रं जुहुयात् का तत्र प्रायश्चित्तिरित्युपक्रम्य वारुणमष्टाकपालं निर्वपेदाहुतिं जुहुयादिति ऋग्वेदब्राह्मणेऽभिहितम्। तत्राहिताग्निपदस्य उद्देश्य विशेषणतया अविवक्षितत्वादन्येनाप्यस्नातेन होमे प्रायश्चित्तमिदं कार्य्यम्।

विहायाग्निं सभार्य्यश्चेत् सीमामुल्लङ्घ्य गच्छति।
होमकालात्यये तस्य पुनराधानमिष्यते॥
अरण्योरल्पमप्यङ्गं यावत् तिष्ठति पूर्व्वयोः।
न तावत् पुनराधानमन्यारण्यो र्विधीयते॥
उत्तरा तु (१)यदि क्षीणा नष्टा वा दैवकारणात्।
अवपाद्य ततो मन्थेत् (२)प्रादेशं परिशेषयेत्॥

अत्र केचित् पठन्ति,—

नोपवासः प्रवासे स्यात् (३)पुत्री धारयते व्रतम्।
अमावास्यात्रयादूर्द्ध्वं पुनराधानमिष्यते॥

उपवासोऽग्निसमीपवासः। व्रतमुपवासरूपम्। एतत्प्रायश्चित्ताभिप्रायेणैव। अन्यत्रोक्तम्,—

क्षुत्खिलीकृतवर्गस्य पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
मासत्रयं प्रवासोऽस्ति परतो नाहिताग्निवत्(४)॥

इति। तथा,—

दृष्टोऽग्निर्यदि नश्येत मथ्यमानः पुनः पुनः।
ग्रामात् सीमान्तरं गच्छेत् प्रत्यक्षो हव्यवाहनः॥
अहुतो वत्सरं तिष्ठेदुदकेन समञ्जतः।
चतुर्भिः कारणैरेभिर्दुष्टेऽग्नौ पुनराहवेत्॥

अत्र,—

(१) ॰ यदा ॰। (२) ॰ पत्नी ॰।
(३) ॰ प्राशेषं ॰। (४) ॰ नाहिताग्निभिः।

पितृयज्ञे च दीक्षायां यायावरभृतीषु च ।
एतेष्वेव वहेदग्निं प्रत्यक्षमनसा विना ॥
अनो विना समारूढमूर्द्धं ग्रम्यापरासनात् ।
हृतोऽग्निर्लौकिको ज्ञेयः श्रुतौ सर्व्वत्र दर्शनात् ॥

इति विशेषः ।

स्पर्शेऽग्नेर्गृहदाहे च उदक्यायास्तथैव च ।
उदक्यायां प्रवासी तु पुनराधानमर्हति ॥
धूपाङ्गारैस्तथा दीपैः पावकः प्रशमेद् यदि ।
उत्सन्नाग्निः स विज्ञेयः पुनराधानमर्हति ॥

तत्रानाहिताग्नेः स्वकमिति सर्व्वस्वकार्य्यं प्रति तद्विधानात् स्वधूपाद्यर्थं तत एव ग्रहणं प्राप्तं तेन परधूपार्थमुद्धृतौ यदि नश्यति तदैवैतत् ज्ञेयम् । तस्याप्यनादेशे पुनर्न प्रतिषेधो न पुनराधानम् । अन्यस्य कार्य्योद्धृतत्वविनाशेऽपि पुनराधानमित्याहुः ।

अचोदितेन पाकेन कृतेनोद्धरणेन च ।
लौकिकोऽग्निः स विज्ञेयः पुनराधानमर्हति ॥

उद्धरणेन—उद्धृतेनोपासनेन,—अचोदितेन पंक्तिस्थान्वाहिकीमिति विहितसर्व्वस्वपाकान्यार्थपाकेन ।

ज्येष्ठा चेद् बहुभार्य्यस्य व्यभिचारेण गच्छति ।
पुनराधानमत्रैक इच्छन्ति नतु गौतमः ॥

आवसथ्याग्निना द्वितीयं विवाहं कुर्य्यात् । लौकिकाग्निना विवाहे पुनरुभयाधानम् । "आहृतोढ़ायां पुनरादधीत" इति शाखान्तिकेषु श्रुतेः । तथा विप्रोषिते स्वामिनि वैदिको-

ऽग्निर्ग्रामस्य सीमामतिलङ्घ्य गच्छेत्। पत्न्याः प्रवासे च तथैव नाशस्तदा पुनराधानम्। पत्नीबहुत्वेऽपि समानमेतदिति। नच "अथ प्रवाव्रजति प्रवाधावति" इतिवत् काण्वश्रुत्या प्रोषितस्याग्नेरन्यत्र नयनमभ्यनुज्ञातमिति वाच्यम्। वाहनाभावे व्रजति वाहने सति तु प्रधावति इति श्रुतिभाष्यवचनात्। यद्यप्येतद्वाक्यानां प्रमाणसन्देहे स्थितमग्निमुत्सृज्य पुनराधानमित्युक्तं तथापि एतन्निमित्तपरिहारयत्नः कार्य्यः। कथञ्चित् पातेऽपि दैवानुगत एवाग्नावविरोधात् पुनराधानं कर्त्तव्यम्। तथा,—

ऋषिभिर्बहुधा दृष्टमापत्कल्पेषु सर्व्वतः।
विधानं पञ्चहोमस्य ब्रूहि सम्यक् सुयाज्ञिक॥
चतुर्द्दशचतुर्ग्राह्यः सकृदुन्नयनं ततः।
एका समित् सकृद्धोमः सकृदेव निमार्जनम्॥
अपराग्नेर्यथा दृष्टश्चतुर्द्दशगुणो भवेत्।

इति भरद्वाजसूत्रम्। यायावरा ह वै ऋषय आसुस्तेऽध्वनि विश्राम्यतेऽर्द्धमासायाग्निहोत्रमजुहुवुस्तस्मात् ह्यो यायावरधर्म्मेणामयाद्यार्त्तोऽध्वन्यस्तुतश्चार्द्धमासायाग्निहोत्रं जुहुयात् प्रतिपदि सायम्। चतुर्द्दशगृहीतान्युन्नयत्येका समित् सकृद्धोमः। एवं प्रातः अग्नीन् समारोपयते धारयते वौपवसथ्यात् औपवसथ्येऽहनि निर्मथ्य कर्म्म प्रतिपद्यते। यदि समारूढो भवतीति।

पञ्चहोमकृते पश्चान्निर्बाधन्तु यदा भवेत्।
तत ऊर्द्ध्वन्तु कर्त्तव्याः शेषाहे तु यथाविधि॥

स्मार्त्ताग्नावप्यापत्तावित्थं पञ्चहोमोऽर्थात् सिद्धः ।

किञ्च—आहुतीः परिसंख्यायेति यथापूर्व्वमसम्भवादकृतानां पश्चात् करणमुत्तरत्रासम्भवनिश्चये पूर्व्वमनुष्ठानं युक्तमिति ।

दर्शपौर्णमासेष्ट्यामृत्विगालभे बौधायनोक्तविधिर्ग्राह्यः । स चैवम्,—अथ दर्शपौर्णमासयोश्चत्वार ऋत्विजस्तेषामेकस्मिन् विद्यमाने सर्व्वप्रायश्चित्तं कृत्वा त्रयः प्रचरेयु र्हौत्रा । तत्रापि सर्व्वप्रायश्चित्तम् । यद्येकोऽध्वर्य्युरेव स्यात् तदा पुरा प्रयाजेभ्य आज्यस्थाल्याः स्रुवेणोपघातमेवाध्वर्य्युः प्रायश्चित्तानि जुहोति । जुष्टे वा चेद् भूयासं तस्मिन् माधाः स्वाहा । सरस्वत्यै इमामेवाग्निना यज्ञस्य यद्वाचो जुष्टो जुष्टरिष्टं तदश्विना भेषजेव संधातां स्वाहा । त्वातारमिन्द्रं धात्विन्द्रः स्वाहा । यन्मे मनसि च्छिद्रं यद्वाचो यच्च मे हृदः देवास्तच्छमयन्तु सर्व्वं सोमो बृहस्पतिश्च स्वाहा । यद् विद्वांसो मुग्धाः कुर्व्वन्ति ऋत्विजः अग्निर्मातस्मादेनसः अज्ञादेवा विमुञ्चतां स्वाहा । यदात्मन्तरीक्षं पृथिवीमुतद्यां यन्मातरं पितरं जोहिंसि अयमग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु दुरितानि चकृमकरोतु मामनेहसं स्वाहा । ब्रह्मत्वे हौत्र आध्वर्य्येव आग्नीध्रिये चैक एव यज्ञपर्व्वाणि तन्मे देवा रक्षन्तां प्राणान् मे मा हिंसीष्ट स्वाहा। अहं ब्रह्मा, अहं होता अहमध्वर्य्युरहमग्नीध्रः अहं यजमान एक एव यज्ञे पर्व्वाणि तन्मे देवा रक्षन्तां प्राणान् मे मा हिंसीष्ट स्वाहा । एतान्येव प्रायश्चित्तानि हुत्वान्तर्वेद्यामासीनः सर्वा देवता यजतीति विज्ञायते । यजमान एव वा कुर्य्यात् तदा नैमित्तिकाध्वर्य्यवप्रायश्चित्तानि सर्व्वप्रायश्चि-

त्तञ्च कृत्वा स्वयमेवार्त्विजं याजमानञ्च कुर्य्यादिति। एतच्च लाट-सूत्रे,—याजमानं ब्रह्मत्वे चेद् उद्गाता कुर्य्यादाग्नीध्रमुपस्थाय पूर्व्वेण परिक्रामेदित्यादिना ऋत्विगसम्भवे स्वयं ब्रह्मत्वमौद्गात्वञ्च कुर्व्वन् नित्यं सोमयागं कुर्य्यादिति दर्शनात् कैमुतिक न्यायसिद्धं। होमकाले च,—

इत्येवं मन्त्रमार्षेयं जपन् यो जुहुयाद्विभुम्।
ऋद्धिमान् सततं स्यात्तु सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥

इति वचनात्।

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्म नमोऽस्तु ते।
मुख्यं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक॥
पवनात् पावकश्चासि हवनाद्धव्यवाहनः।
वेदास्त्वदर्थं जाताश्च जातवेदास्ततोह्यसि॥
चित्रभानुः सुरेशश्च अनन्तस्त्वं विभावसो।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी॥
वैश्वानरस्तु पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः।
कुमारसूस्त्वं भगवान् मरुद्गर्भो हिरण्यकृत्॥
अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे।
पृथिवी तु बलं दद्याच्छिवश्चापो दिशन्तु मे॥
अपां गर्भ महासत्त्व जातवेदाः सुरेश्वर।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम्॥
ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि।
नित्यं सुहुतयज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम्॥

एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया ।
तुष्टिं पुष्टिं स्मृतिञ्चाग्ने प्रीतिञ्चैव प्रयच्छ मे ॥

इति जपेत् ।

ओँ नमः सर्व्वभूतानामाधाराय महात्मने ।
एकत्रिपञ्चधिष्णाय राजसूये महोत्सवे ॥
नमः समस्तदेवानां वृत्तिदाय सुवर्च्चसे ।
शुक्ररूपाय जगतामशेषाणां स्थितिप्रद ॥
त्वं मुखं सर्व्वदेवानां त्वं पातु भगवान् हरिः ।
प्रीणयस्यखिलान् देवान् त्वं प्राणाः सार्व्वदेवताः ॥
हुतं हविस्त्वामनल मेध्यत्वमुपगच्छति ।
ततश्च जलरूपेण वारिणा समुपैति यत् ॥
तेनाखिलौषधेर्जन्म भवत्यनिलसारथे ।
ओषधीभिरशेषाभिः शुक्रं जीवन्ति जन्तवः ॥
वितन्वन्ते नरा यज्ञा स्त्वत्सृष्टास्वोषधीषु च ।
यज्ञैर्देवास्तथा दैत्या स्तद्वद् रक्षांसि पावक ॥
आप्याय्यन्ते च ते यज्ञै स्त्वदाधारा हुताशन ।
अतः सर्व्वस्य योनिस्त्वं वह्ने सर्व्वमयस्तथा ॥
देवता दानवा यक्षा दैत्यगन्धर्व्वराक्षसाः ।
मनुष्याः पशवो वृक्षा मृगपक्षिसरीसृपाः ॥
आप्याय्यन्ते त्वया सर्व्वे संवर्ध्यन्ते च पावक ।
त्वत्त एवोद्भवं यान्ति त्वय्यन्ते च तथा लयम् ॥
अपः सृजसि देव त्वं त्वमत्सि पुनरेव ताः ।

पच्यमानाः सुपीताश्च प्राणिनां पुष्टिकारणम् ।
देवेषु तेजोरूपेण कान्त्या सिद्धेष्ववस्थितः ।
विषरूपेण नागेषु वायुरूपः पतत्रिषु ॥
मनुजेषु भवान् क्रोधो मोहः पशुमृगादिषु ।
अवष्टम्भोऽसि तरुषु काठिन्यं त्वं महीं प्रति ॥
जले द्रवत्वेन भवान् जलरूपी तथानिले ।
व्यापित्वेन तथैवाग्ने नरस्यात्मा व्यवस्थितः ॥
त्वमग्ने सर्व्वभूतानामन्तश्चरसि पालयन् ।
त्वामेकमाहुः कवय स्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः ॥
त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन् ।
त्वया सृष्टमिदं विश्वं वदन्ति परमर्षयः ॥
त्वामृते हि जगत् सर्व्वं सद्यो नश्येद्धुताशन ।
तुभ्यं कृत्वा द्विजाः पूजां स्वकर्म्मविहितां गतिम् ॥
प्रयान्ति हव्यकव्याद्यैः स्वाहास्वधाद्युदीरणात् ।
पराणामात्मवीर्य्यादि प्राणिनाममरार्च्चित ॥
वहन्ति सर्व्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हायनाः ।
जातवेदस्तवैवेयं विश्वसृष्टिर्महाद्युते ।
वैदिकं लौकिकं कर्म्म सर्व्वभूतात्मकं जगत् ॥
नमस्तेऽनलपिङ्गाक्ष नमस्तेऽस्तु हुताशन ।
पावकाय नमस्तेऽस्तु नमस्ते हव्यवाहन ॥
त्वमेव भुक्तपीतानां पावनाद् विश्वपावकः ।
शस्यानां पाचकं कृत्वा पोष्टा त्वं जगतस्तथा ॥

त्वमेव मेघस्त्वं वायुस्त्वं बीजं शस्यहेतुकम् ।
योगीशः सर्व्वभूतानां भूतभव्यभवोऽस्यसि ॥
त्वं ज्योतिः सर्व्वभूतेषु त्वमादित्यो विभावसुः ।
त्वमहस्त्वं तथा रात्रिरुभे सन्ध्ये तथा भवान् ॥
हिरण्यरेतास्त्वं वह्ने हिरण्योद्भवकारणम् ।
हिरण्यगर्भश्च भवान् हिरण्यसदृशः प्रभुः ॥
त्वं मुहूर्त्तं क्षणश्च त्वं त्रुटिस्त्वं हि तथा लवः ।
कलाकाष्ठानिमेषादिरूपेणासि जगत्प्रभो ।
त्वमेतदखिलं कालपरिणामात्मको भवान् ॥
या जिह्वा भवतः काली कालनिष्ठाकरी प्रभो ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥
मनोजवा च या जिह्वा [1]यतः सकलपूजना ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥
करोति रागं भूतेभ्यो या ते जिह्वा सुलोहिता ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥
सुधूमवर्णा या जिह्वा प्राणिनां रोगदायिका ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥
स्फुलिङ्गिनी च या जिह्वा यतः सकल[2]पूजना ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥
या ते विश्वंसहा जिह्वा प्राणिनां शमदायिनी ।
तया नः पाहि पापेभ्य ऐहिकाच्च महाभयात् ॥

---

(१) भवतः कालसञ्ज्ञया । (२) पुजना ।

पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन् हुताशन ।
त्राहि मां सर्व्वदोषेभ्यः संसारादुद्धरेहि माम् ॥
प्रसीद वह्ने सप्तार्चे कृशानो हव्यवाहन ।
अग्निपावकशुक्रादिनामैरष्टाभिरीरितः ॥

त्वमक्षयो बभ्रुरचिन्त्यरूपः
समृद्धिमान् दुःप्रसहातितीव्रः ।
तवाव्ययं भीममशेषलोकं
संवर्त्तकं हन्त्यथवातिवीर्य्यम् ॥
त्वामुत्तमं सत्यमशेषसत्त्व-
हृत्पुण्डरीकस्थमनन्तमीड़े ।
त्वया ततं विश्वमिदं चराचरं
हुताशनैको बहुधा त्वमत्र ॥
त्वमक्षयः सगिरिवरा वसुन्धरा ।
नभः ससोमार्कमसङ्गिचाखिलम् ।
महोदधेर्जठरगतश्च वाड़वो
भवान् विभूत्या परया कवे स्थितः ॥
हुताशनस्त्वमिति सदाभिपूज्यसे
महाक्रतो नियमपरैर्महर्षिभिः ।
अभिष्टुतः पिवसिच सोममध्वरे
वषट्कृतान्यपि च हवींषि भूतये ॥
त्वं विप्रैः सततमिहेज्यसे फलार्थं
वेदाङ्गेष्वनलकलेषु गीयसे च ।

त्वद्धेतोर्यजनपरायणा द्विजेन्द्रा
वेदाङ्गान्यपि शमयन्ति सर्व्वकाले ॥
त्वं ब्रह्मा यजनपरस्तथैव विष्णु-
र्भूतेशः सुरपतिरर्य्यमा जलेशः।
सूर्य्येन्दू सकलसुरासुराश्च हव्यैः
सन्तोष्याभिमतफलान्यवाप्नुवन्ति ॥
अर्च्चिर्भिः परममहोपघातदुष्टं
संस्पृष्टं तव शुचि जायते समस्तम्।
स्नानानां परममतीव भस्मना यत्
सन्ध्यायां मुनिभिरतीव सेव्यते तत् ॥
प्रसीद वह्ने शुचिनामधेय
प्रसीद वायोरनलातिदीप्ते।
प्रसीद मे पावक वैद्युताद्य
प्रसीद हव्याशन पाहि मां त्वम् ॥
यत्ते वह्ने शिवं रूपं ये च ते सर्व्वहेतयः।
तैः पाहि नः स्तुतो देव पिता पुत्रमिवात्मजम् ॥

इति। अस्यच—

यज्ञेषु होमकालेषु तीर्थेज्यासर्व्वकर्म्मसु।
धर्म्माय पठतामेतन्मम तुष्टिकरं परम् ॥
अहोरात्रकृतं पापं श्रुतमेतत् सकृद्द्विज।
नाशयिष्यत्यसन्दिग्धं मम तुष्टिकरं परम्।
तथाभिलषितं सर्व्वं पुण्यञ्चास्य भविष्यति ॥

इत्यादि फलम् ।

होमान्तेच हुत्वाग्नीन् सूर्य्यदैवत्यान् मन्त्रान् इति वचनात् सूर्य्यप्रकाशकमन्त्रत्रयजपः कार्य्यः । स च वाक्येन होमस्यैवाङ्गमिति निरग्निकस्य न प्राप्नोति । न सामान्यं प्रत्युपस्थाय नमस्कृत्य परीत्य वसेत् । तथा प्रातरिति वचनादग्नीनां प्रदक्षिणोपस्थाननमस्कारान् कुर्य्यात् । धूमप्रवेशादिना शिरोरुजायां पाणी प्रक्षाल्य भुवौ निर्मार्ष्टि । चक्षुर्भ्यां श्रोत्राभ्यां गोदानाच्छुचिकादधिपक्ष्म शीर्षण्यं ललाटाविहहामीति । अर्द्धं चेदवभेदकविरूपाक्ष महायशः । अथोचितपक्षशिरो माभितास्पृदिति । क्षेमोह्येवं भवति । होमशेषोदकेनाप्येतत्करणे न दोषः । "अग्न्युदकशेषेण" इत्यत्र वृथाकर्म्मशब्देनात्यन्तशब्दासम्भवेन दृष्टमात्रार्थकर्म्माभिधानात् । यत्तु,—वृथयत इति व्याख्यानं तद् व्यवधानाच्च यतः शब्दाध्याहारदोषात् पृथगाचमननिषेधानुपपत्तेश्चानुपपन्नमिति । ततः होमान्तेच,—

सितेन भस्मना कार्य्यं ललाटे च त्रिपुण्ड्रकम् ।

इति ।

दिनमेकन्तु यो भस्म समन्त्रं धारयेन्नरः ।
सोऽग्निष्टोमफलं देवि लभते नात्र संशयः ॥
आयुष्कामेन यो राजन् भूतिकामश्च वा पुनः ।
नित्यं वै धारयेद्भस्म मोक्षकामीच वै द्विजः ।
त्रिकालमपि यो भक्त्या यावज्जीवं विधारयेत् ।
भस्म मोक्षो भवेत् तस्य सत्यमेतन्मयोदितम् ॥

इति चैवमादिवचनैः सामान्यतो विहितम्। विशेषतश्च,—

कृताग्निकार्य्यं यः कुर्य्याद् भस्मना तिलकं नृप।
सर्व्वपापविनिर्मुक्तः सुरलोके महीयते॥

इत्याग्निकार्य्यमात्रानन्तरं विहितं भस्मग्रहणकार्य्यम्। तत्रापि,—

श्रौतं भस्म द्विजा मुख्यं स्मार्त्तं गौणं प्रकीर्त्तितम्।

तदर्थमेव कात्यायनेन प्रातर्होमान्ते "भस्मोद्धृतमुपेयात्" इत्युक्तम्। न तददृष्टार्थमुपासनमात्रं दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेः। तद्विधिश्च,—आग्नेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्य अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म, सर्व्वं हि वा इदं भस्म, मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि इति जावालोपनिषद्भवैः सप्तमन्त्रैरभिमन्त्र्य "मा न स्तोक" इति समुद्धृत्य शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिर्य्यक् तिस्रो रेखाः कुर्व्वीत। व्रतमेतच्छाम्भवम्। तत् समाचरेन्मुमुक्षुरपुनर्भवाय।

अथ प्रमाणमस्य,—त्रिधा ललाटादाचक्षुष आभ्रुवोर्मध्यत इति कालाग्निरुद्रोपनिषद्युक्तः। तत्र सद्यादिमन्त्राः;—

सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमः।
भवे भवे नाभिभवे भजस्व माम्॥

भवोद्भवाय नमः, वामदेवाय नमः, ज्येष्ठाय नमः, रुद्राय नमः, कालाय नमः, कलिविकरणाय नमः, बलविकरणाय नमः, बलप्रमथनाय नमः, सर्व्वभूतदमनाय नमः, मनोन्मनाय नमः,

अघोरेभ्योऽथघोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्व्वतः सर्व्वसर्व्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः । तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् । ईशानः सर्व्वविद्यानामीश्वरः सर्व्वभूतानां ब्रह्माधिपतिः

ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिवः ।

इति ।

तत्र सद्योमन्त्रस्य हरः ऋषिरनुष्टुप् छन्दः, भगो देवता । वामस्य वामदेवः ऋषिः, पंक्ति च्छन्दः, भगो देवता । अघोरस्य अग्निर्ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, अघोरो देवता । तत्पुरुषस्य तत्पुरुषः ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, आपो देवता । ईशानस्य ईशानः ऋषिः, भूरिकानुष्टुप् छन्दः, ईशो देवता । प्रणवेन करशुद्धिं विधाय ओं ऐं क्लीं श्रीं श्रों ह्रां सर्व्वयज्ञाय हृदयाय नमः । ओं अमृते तेजोमालिनि तृप्तायै ब्रह्मशिरसे स्वाहा । ज्वलितशिखिशिखे अनादिबोधान्वितशिखायै वषट् । वज्रिणि वज्रधराय स्वाहा कवचाय हुं । गों गें ह्रौं नित्यांलुप्तशक्तये नेत्राभ्यां वौषट् । अनन्तशक्तये स्वाहा । अस्त्राय फट् । तथा विशेष उक्तः ।—

कलाः प्रविन्यसेद्देहे वक्ष्यमाणक्रमेण तु ।

ते स्युः पञ्च चतस्रोऽष्टौ त्रयोदश चतुर्द्दयम् ।

दिक्षु प्राक् याम्यवारीड्वसुयजनभुवामिन्द्रवाराकराशां

हृद्ग्रीवांशद्वये नाभ्युदरपृ * * वक्षः सुगुह्याण्डयोश्च ।

सोर्व्वोर्जान्वोः सजङ्घास्फिगुभयकटीपार्श्वपद्दोःस्थलेषु

घ्राणे के वाहुयुग्मेष्विति विषदमति ?िन्द्रःदृ्लीभिः ॥

विन्यासः प्रतिमाकृतौ च नितरां सान्निध्यकृत् स्यादयं
देहे वापि शरीरिणां निगदितः सामर्थ्यकारीति च ।
आस्ते यत्र तथामुनैव दिनशो विन्यस्तदेहः पुमान्
क्षेत्रं देशममुष्य योजनमितं शैवागमज्ञा विदुः ॥

तत्रायं प्रकारः,—ओं ईशानः सर्व्वविद्यानां शशिन्यै नम इति प्राङ्मुखे। ओं ईश्वरः सर्व्वभूतानामङ्गदायै नम इति दक्षिणे। ओं ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मेष्टकायै नम इति पश्चिमे। ओं शिवो मेऽस्तु मरीच्यै नम इति उत्तरे। ओं सदाशिवोंऽशुमालिन्यै नम इति ऊर्द्ध्वमुखे। तत्पुरुषाय विद्महे नेर्ऋत्यै नमः पूर्व्ववक्त्रे। ओं महादेवाय धीमहि विद्यायै नम इति पश्चिमवक्त्रे। ओं तन्नो रुद्रः प्रतिष्ठायै नम इति दक्षिणमुखे। ओं प्रचोदयान्निवृत्यै नम इति उत्तरमुखे। ओं अघोरेभ्यो नमः स्तवायै नम इति हृदि। ओं अथ घोरेभ्यो मोहिन्यै नम इति ग्रीवायां। ओं घोरयशायै नम इति दक्षिणांशे। ओं घोरतरेभ्यो निद्रायै नम इति वामांशे ओं सर्व्वतः सर्व्वव्याध्यै नम इति नाभौ। सर्व्वेभ्यो मृत्यवे नम इति उदरे। नमस्तेऽस्तु क्षुधायै नम इति पृष्ठे। ओं रुद्ररूपेभ्यो नमः; ओं कृष्णायै नम इति वक्षसि। ओं वामदेवाय नमो रक्तवक्त्रायै नम इति गुह्ये। ओं ज्येष्ठाय नमो रक्षायै नम इति मुष्के। ओं रुद्राय नमः, रत्यै नमः, इति दक्षिणोरौ। ओं कालाय नमः कपालिन्यै नम इति वामोरौ। ओं कराय नमः कामाम्नै नमः इति दक्षिणजानुनि। ओं विकरणाय नमः संयमन्यै नमः इति वामजानुनि। ओं

बलाय नमः ओं क्रियायै नम इति दक्षिणजङ्घायां। ओं विकरणाय नमो वृद्धैर नम इति वामजङ्घायां। ओं बलाय नमः स्थितायै नमः इति दक्षिणस्फिचि। ओं प्रमथनाय नम इति वामस्फिचि। ओं सर्व्वभूतदमनाय नमो भ्रामिण्यै नम इति कट्याम्। ओं मनोमोहिन्यै नम इति दक्षिणपार्श्वे। ओं उन्मनायै नमो ज्वरायै नम इति वामपार्श्वे। सद्योजातं प्रपद्यामि सिद्धैर नम इति दक्षिणपादे। ओं सद्योजाताय वै नमो ऋद्धैर नम इति वामपादे। ओं भवे कुक्षै नम इति दक्षिणहस्ते। ओं अभवे लक्ष्मैर नम इति वामहस्ते। ओं अनादिभवे मेधायै नम इति नासिकायाम्। ओं भजस्व मां [1]अज्ञायै नम इति मूर्द्ध्नि। ओं भुवप्रभायै नम इति दक्षिणबाहौ। ओं उद्भवाय नमः सुधायै नम इति वामबाहौ। तथा स्कान्दे,—

त्र्यायुषेति च मन्त्रेण द्विजैस्तिर्य्यक् त्रिपुण्ड्रकम्।
धार्य्यं प्रोक्तं द्विजश्रेष्ठ धार्म्मिकैर्वेदपारगैः॥

अत्र यत् कश्यपस्य जमदग्नेर्देवानां त्र्यायुषं तन्ममाप्यस्त्विति त्र्यायुषमन्त्र एकैकत्र कृत्स्न एव प्रयोक्तव्यो न खण्डशः। जाबालोपनिषदि,—ओं आयुः सर्व्वमिति विष्णुं ध्यात्वा सजलं भस्म संगृह्य विसृज्याग्निरिति मन्त्रेण शुचिरङ्गुलीभिर्लिखेत्। ललाटे हृदये कुक्षौ दोर्द्वये च त्र्यायुषमिति ब्रह्मचारी। त्र्यम्बकेण ओं नमः शिवायेति जपन् स्रष्टत्वाय मूर्द्ध्नि न्यसेत्। एवं वानप्रस्थानां सन्न्यासिनां। तथा,—

---

(1 प्रज्ञायै०।

त्र्यम्बकेण च मन्त्रेण प्रणवेन शिवेन च।
गृहस्थस्य वनस्थस्य धारयेच्च त्रिपुण्ड्रकम्॥

तथा,—

त्रिपुण्ड्रं धारयेन्नित्यं वरं भस्माग्निहोत्रजम्।

तदलाभे तु,—

पद्मपत्रेण चान्येन शुचिपत्रेण वा पुनः।
सद्येन गोमयं गृह्य तद्वामेनाभिमन्त्रयेत्॥
शुचौ भूमावघोरेण दहेत स्वाग्निना तथा।
ताम्रपात्रे क्षिपेच्छुद्धो भस्म तत्पुरुषेण च॥
सिकताङ्गारपाषाणानिशानेन विशोधयेत्।
एवं संस्काररहितं नहि धार्य्यं कदाचन॥
शूद्रहस्तस्थितं भस्म द्विजाति र्नैव धारयेत्।
ईश्वराग्रे स्थितं यत्तु भस्मितं वा तदालये॥
तद्धार्य्यं सुमहोऽहं च यथाजातमपि प्रिय।
एकादश त्रिपुण्ड्रस्य स्थानमाहुः शरीरके।

शिरो ललाटः श्रवणद्वयं ग्रीवा भुजद्वयं वक्षो नाभिः पृष्ठभागः ककुद इत्येकादश।

मध्याङ्गुलित्रयेणैव स्वदक्षिणकरस्य तु।
षडङ्गुलायतं पुण्ड्रं कुर्य्यात् सजलभस्मना॥
मूर्द्ध्नि श्रवणयोः पुण्ड्रं मलस्पर्शनमात्रतः।

तथान्यत्र,—

मध्यमानामिकाङ्गुष्ठैर्ललाटे भस्मना कृतः ।
स त्रिपुण्ड्रो भवेच्छस्तो महापातकनाशकः ॥
यतिः सार्व्वाङ्गिकं स्नानमापादतलमस्तकम् ।
गृहस्थस्तु पुष्पाकारैः स्नानं कुर्य्यात् त्रिपुण्ड्रकैः ॥
धारयेयुर्द्विजा स्तिर्य्यक् त्रिपुण्ड्रं भस्मना सदा ।

अन्यत्र तु,—

त्रिपुण्ड्रं ब्राह्मणस्योक्तं क्षत्रियाणान्तु वर्त्तुलम् ।
अर्द्धचन्द्रं वैश्यस्य । नचैतत् शैवानामेवेति वाच्यम् ।
सितेन भस्मना कुर्य्याल्ललाटे यस्त्रिपुण्ड्रकम् ।
तस्मै नारायणो देवः प्रदद्यात् परमं पदम् ॥
इति नारायणप्रीत्यर्थविधानात् ।
त्रिपुण्ड्रं न मृदा कार्य्यं भस्मना नोर्द्ध्वपुण्ड्रकम् ।
चन्दनेनोभयं कुर्य्यादेवमाह प्रजापतिः ॥
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं वा धारयेद्द्वयमेव वा ।
ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं स्यात् त्रिपुण्ड्रेणोर्द्ध्वपुण्ड्रकम् ॥

इति वचनादूर्द्ध्वपुण्ड्रोपरि कार्य्यम् । [1]एतत्तु पापक्षयाद्यर्थमविशेषेण विधानान्निरग्निकैरपि धार्य्यम् । तथा,—

सव्येन गोशकृद् ग्राह्यं वामे पिण्डाभिमर्शनम् ।
अघोरेण दहेत् पिण्डं ग्राह्यं तत्पुरुषेण तु ॥
[2]ईशानस्त्वितिमन्त्रेण शोधयेद् भस्म मन्त्रवत् ।
मा न स्तोकेति मन्त्रेण मन्त्रितं भस्म धारयेत् ॥

(१) एतत् तत् पापक्षयार्थं ० । (२) ईशानमिति ० मन्त्रकृत् ।

ईशानेन शिरोदेशे मुखे तत्पुरुषेण तु ।
उरोदेशमघोरेण गुह्यं वामेन सेवयेत् ॥
सद्येन पादं सर्व्वाङ्गं प्रणवेनाभिषेचयेत् ।
ललाटे भगवान् ब्रह्मा हृदये हव्यवाहनः ।
नाभौ स्कन्दो गले पूषा बाहुमूलेच दक्षिणे ॥
रुद्रादित्यास्तथा मध्ये मणिबन्धे शशिप्रभा ।
वामे स्कन्धे वामदेवो मध्ये चैव प्रभञ्जनः ॥
वासवो मणिबन्धे च पृष्ठे चैव हरिः स्मृतः ।
शिरस्यात्मा महादेवः परमात्मा सदाशिवः ॥
सर्व्वेष्वङ्गेषु दिक्पालाः शक्तिमातृगणादयः ॥

इति । अत्रानुष्टुभ् नृसिंहकल्पे,—

दिने दिने दिनकरमुपस्थाय दिनादितः ।
देवं नृसिंहमभ्यर्च्च्य रक्षां कुर्व्वीत भस्मना ॥
अष्टाभिमन्त्रितं भस्म गृहीत्वा तदनुज्ञया ।
किञ्चित् किञ्चिदुपादाय प्रत्यङ्गं मन्त्रपूर्व्वकम् ॥
[1]अथ संविन्यसेन्मूर्द्ध्नि ललाटे च ततः परम् ।
बाह्वोः पद्भ्याञ्च कुक्षौ च हृदये कण्ठ एव च ॥
कक्षयोश्च तथा पृष्ठे ककुद्यपि च विन्यसेत् ।
शेषेण गात्रं सकलमभिमृश्याशिषं वदेत् ॥
आयुरारोग्यमैश्वर्य्यमघनाशं जयं बलम् ।
सौभाग्यं पुनरायुश्च श्रीनृसिंहः प्रयच्छतु ॥

---

(१) प्रथमं विन्यसे० ।

इत्थं कृताभिरक्षस्य कृताशीर्मङ्गल स्तथा।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति शतमायुश्च विन्दति॥

एतत् परस्य स्वस्य च कुर्य्यात्। तथा,—

दिनमनु दिननाथं पूजयित्वा दिनादौ
नरहरिमपि सम्यक् प्रोक्तमन्त्रेण मन्त्री।
तदनु तदनुमत्या भस्मना मन्त्रितेन
प्रतिरचयतु राज्ञे चाप्यभीष्टाय रक्षाम्॥

न्यासोक्तेषु स्थानेष्वपि न्यसेत् भस्मना समन्त्रान्तम्।
अखिलोपद्रवशान्त्यै सम्पत्त्यै वाञ्छितार्थसिद्धैर च॥

तथा वटुकमन्त्रप्रयोगे,—

उशीरं चन्दनं कुष्ठं घनसारञ्च कुङ्कुमम्।
श्वेतार्कमूलं वाराहीं लक्ष्मीं क्षीरमहीरुहाम्॥
त्वचो विल्वतरो मूलं शोषयित्वा तु चूर्णयेत्।
चूर्णं व्योम्नि गृहीतेन गोमयेन विमिश्रितम्॥
कृत्वा पिण्डानि संशोध्य संस्कृते हव्यवाहने।
मूलेन दग्ध्वा तद्भस्म शुद्धे पात्रे विनिक्षिपेत्॥
केतकीमालतीपुष्पैर्वासयेद्भस्म शोधितम्।
अयुतं प्रजपेन्मन्त्रं स्पृष्ट्वा भस्म सुपूजितम्॥
एतदादाय दिनशः प्रातः पुण्ड्रं करोति यः।
तस्य रोगाः प्रणश्यन्ति कृत्वा द्रोहमहाग्रहम्॥
रिपुचौरमृगादिभ्यो भयमस्य न जायते।
वर्द्धन्ते सम्पदस्तस्य पूज्यते स नृपैर्जनैः॥

इति। एतच्च त्रिपुण्ड्रम्,—

ऊर्द्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं स्यात् त्रिपुण्ड्रे णोर्द्ध्वपुण्ड्रकम्।

इतिवचनादूर्द्ध्वपुण्ड्रोपर्य्यपि कार्य्यम्। निरग्नेरप्येतत् कार्य्यम्। तत्पापक्षयाद्यर्थमविशेषतो विधानात्। (क)

---

इदानीमप्यनुदिते सूर्य्ये तदुदयपर्य्यन्तं गायत्रीजप एव कार्य्यः। तत्र तस्य बाधकाभावात्। अतएव कल्पतरौ,—

सन्ध्याकर्म्मावसानेतु स्वयं होमो विधीयते।

इत्युक्त्वा पुनः "पूर्व्वां सन्ध्यां सनक्षत्रामुपक्रम्य" इति वाक्यं लिखितम्। न चैवमनग्निमतां होमार्थं नद्यादेराचमनकालेऽपि चंक्रमणाभावस्य जपाङ्गत्वेऽपि नित्यकर्म्मसु यथाशक्तीत्युपपदाद् गायत्रीजपः कार्य्यः। येषां ह्यङ्गवैकल्यं शास्त्रार्थचिन्तनकाले न चिन्तितं तथा निर्द्धनानां हि तेषां भिक्षादिना याच्ञार्थसम्भवः शक्यचिन्तनीय इति तदपेक्षस्यैव यथाशक्तीत्युपपदम्। येषां तदा तन्निर्णीतं यथान्धाखञ्जादीनां तान् परित्यज्यैव शास्त्रं विधत्ते अतोऽत्र स्नानदेशादागच्छतां चंक्रमणाभावाभावस्य चिन्तितत्वात् शास्त्राविषयत्वादनधिकार एवेति। अथवा उत तिष्ठन्नुत व्रजन्निति जपयज्ञे विधानाद् विशेषाभ्यनुज्ञायाश्च दोषाभावार्थत्वात् तदकृतके जपेऽप्यसम्भवे चंक्रमणे न वैगुण्यमिति तदपि कार्य्यम्।

अत्राष्टौ समिधमादध्यात्। देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि

---

(क) अत्र पुस्तकान्तरे,—"इति श्रीमदग्निचिद्-विद्याकरवाजपेयिकृतौ नित्याचारपद्धतिग्रन्थे श्रौतस्मार्त्तहोमप्रकरणं समाप्तम्।" दृश्यते।

स्वाहा। मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। यद् दिवा नक्तं चैनः कृतं तस्यावयजनमसि स्वाहा। यत् स्वपतश्च जाग्रतश्च एनः कृतं तस्यावयजनमसि स्वाहा। यद् विद्वांश्चाविद्वांश्चैनः कृतं तस्यावयजनमसि स्वाहा। एनस एनसोऽवयजनमसि स्वाहा। इत्येतैरष्टाभिर्हुत्वा सर्व्वस्मात् पापाद् विमुच्यते इति वचनात् स्मार्त्ताग्नौ तदभावे परं समुह्योपलिप्योल्लिख्योद्धृत्याग्निमुपसमाधाय लौकिकेऽग्नौ एतत् कुर्य्यात्। तथा त्वमग्ने प्रथम इत्यग्निं स्तुवन् सर्व्वसमृद्धो भवति। अस्यादित्यः ऋषिः, जगती च्छन्दः, अग्निर्देवता, एवमस्या जरास इत्यनुवाकेनाग्निमुपतिष्ठेदग्निर्वरदो भवति तेजसा चाग्निसमो भवति। अत्र ब्रह्मा ऋषिः, अग्निर्देवता, द्वितीयतृतीयचतुर्थनवमदशमा गायत्र्यः, चतुर्द्दशतमा अनुष्टुप् पञ्चदशतमा बृहती, शेषास्त्रिष्टुभः। एताः सप्तदश ऋचः। मणिकाख्येऽग्निगृहकार्य्यार्थोदकपात्रे,—

एकरात्रोषितास्तास्तु यजेदापः समुद्धृताः।

इत्येतद्बाधकाभावात् पूर्व्वजलं निरस्य प्रक्षालिते अप आसिञ्चति,—

आपोरेवतीः क्षयथा हि वस्वः
क्रतुञ्च भद्रं विभृथामृतञ्च।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः
सरस्वती तद्गृणते वयोऽधात्॥

इति। आपो हि ष्ठेति तिसृभिः। तत्पात्रनाशदोषभङ्गेषु अग्नेरुत्तरपूर्व्वस्यां दिशि युगवदवटं खात्वा कुशानास्तीर्य्य अक्षतानरिष्टकांश्च यानि चातिमङ्गलानि तस्मिन् मिनोति। मणिकं समुद्रोऽसीत्येक अप आसिच्य ब्राह्मणभोजनं कुर्य्यात्। एतन्मणिकाधानकर्म्म निरग्निकेनापि कर्त्तव्यम्। उपयोग्युदक-संस्कारमात्रार्थत्वात्। अत एव गृह्ये शालाकर्म्मानन्तरमेतदुक्तं "तेन शालाकर्म्म" तत्सर्व्वसाधारणमेवैतदिति। अतः,—

गृहे वसन् ऋचा सृष्टे कृत्वा स्वर्णकुशोदकम्।
उद्धृत्य मणिकात् तोयं तेनाभ्युक्षणमाचरेत्॥
रक्षोघ्नांश्च जपेन्मन्त्रान् गायत्रीं वेदमातरम्।
अभ्युक्षयेत् स्मरन् विष्णुं पुण्डरीकाक्षमच्युतम्॥

इति कुर्य्यात्।

सन्ध्ययोश्च वहिर्ग्रामादासनं वाग्यतस्य हि।

इत्यनग्नेर्नियमः।

उभे सन्ध्ये तु यो विप्रो मौनमास्ते समाहितः।
दिव्यं वर्षसहस्रन्तु ब्रह्मलोके महीयते॥

इति सर्व्वसाधारणम्। अत्र सन्ध्याकालश्च,—

उदयात् प्राक्तनी सन्ध्या घटिकाद्वयमुच्यते।
सायं सन्ध्या त्रिघटिका अस्तादुपरि भास्वतः॥

इति ग्राह्यः। "सन्ध्या मुहूर्त्तमात्रं स्यात्" इति तु सन्ध्या-कर्म्ममात्रपरमिति।

अजितं केशवं विष्णुं हरिं सत्यं जनार्द्दनम्।
हंसं नारायणञ्चैव एतन्नामाष्टकं शुभम्॥
त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नित्यं दारिद्र्यं तस्य नश्यति।
गङ्गायां मरणञ्चैव दृढ़ा भक्तिश्च केशवे॥
ब्रह्मविद्याप्रबोधश्च तस्मान्नित्यं पठेन्नरः॥

इति। तत्र नामाष्टकान्ते "इषेत्वा" इत्यादिवत् साकाङ्क्षत्वान्नमामीत्यध्याहार्य्यम्।

प्रथमञ्च हरिं विद्यात् द्वितीयं केशवं तथा।
तृतीयं पद्मनाभञ्च चतुर्थं वामनं स्मृतम्॥
पञ्चमं वेदगर्भञ्च षष्ठञ्च मधुसूदनम्।
सप्तमं वासुदेवञ्च वराहञ्च तथाष्टमम्॥
नवमं पुण्डरीकाक्षं दशमञ्च जनार्द्दनम्।
कृष्णमेकादशं नाम द्वादशं श्रीधरं तथा॥
एतानि द्वादशनामानि विष्णोः प्रोक्तानि धीमता।
सन्ध्याकाले पठेन्नित्यं सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥

तथा,—

प्रथमञ्च महादेवं द्वितीयञ्च महेश्वरम्।
तृतीयं शङ्करं नाम चतुर्थं वृषभध्वजम्॥
पञ्चमं कृत्तिवासञ्च षष्ठं कामादिनाशनम्।
सप्तमं देवदेवेशं नीलकण्ठमथाष्टमम्॥
नवमञ्चेश्वरं नाम दशमं पार्व्वतीप्रियम्।
रुद्रमेकादशं नाम द्वादशं शिवमुच्यते॥

एतानि द्वादशनामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः।
गोघ्नश्च कृतघ्नश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः॥
स्त्रीबालघातकश्चैव सुरापो वृषलीपतिः।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यः शिवलोकं स गच्छति॥

तथा,-

नारायणं सहस्राक्षं पद्मनाभं पुरातनम्।
प्रणतोऽस्मि हृषीकेशं किं मे मृत्युः करिष्यति॥
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षमनन्तमजमव्ययम्।
केशवञ्च प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥
वासुदेवं जगद्योनिं भानुवर्णमतीन्द्रियम्।
दामोदरं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥
शङ्खचक्रधरं देवं छन्नरूपिणमव्ययम्।
अधोक्षजं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥
वाराहं वामनं विष्णुं नारसिंहं जनार्द्दनम्।
माधवञ्च प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥
पुरुषं पुष्करं पुण्यं क्षेमबीजं जगत्पतिम्।
लोकनाथं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥
भूतात्मानं महात्मानं यज्ञयोनिमयोनिजम्।
विश्वरूपं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥
सहस्रशिरसं देवं व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्।
महायोगं प्रपन्नोऽस्मि किं मे मृत्युः करिष्यति॥

य इदं पठते भक्त्या त्रिकालं प्रयतः शुचिः ।
नाकाले तस्य मृत्युः स्यान्नरस्याच्युतचेतसः ॥

तथा,—

रुद्रं पशुपतिं स्थाणुं नीलकण्ठमुमापतिम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
नीलकण्ठं विरूपाक्षं निर्म्मलं निरुपद्रवम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
स्वर्गापवर्गदातारं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
अनन्तमव्ययं शान्तमक्षमालाधरं हरम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
आनन्दं परमं नित्यं कैवल्यपदकारणम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
वामदेवं शिवं शान्तं लोकनाथं जगद्गुरुम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
देवदेवं महादेवं देवेशं वृषभध्वजम् ।
नमामि शिरसा देवं किं मे मृत्युः करिष्यति ॥
मृत्यूरिष्टकमिदं पुण्यं मृत्युप्रशमनं शुभम् ।
सन्ध्ययोश्च पठन् स्तोत्रं दीर्घायुर्मानवो भवेत् ॥

तथा,

नारायणो नरः शौरिश्चक्रपाणिर्जनार्द्दनः
वासुदेवो जगद्जानि र्वामनो ज्ञानपञ्जरः ॥

श्रीवल्लभो जगन्नाथश्चतुर्मूर्त्तिश्चतुर्भुजः ।
देवदेवो हृषीकेशः शङ्करो गरुड़ध्वजः ॥
नरसिंहो महाविष्णुः स्वयम्भूर्भुवनेश्वरः ।
श्रीधरो देवकीपुत्रः पार्थसारथिरच्युतः
शङ्खपाणिः परं ज्योतिरात्मज्योतिरसञ्चलः ।
श्रीवत्साङ्कोऽखिलालोकः सर्व्वलोकमहेश्वरः ॥
त्रिविक्रमस्त्रिकालज्ञस्त्रिधामा करुणाकरः ।
सर्व्वज्ञः सर्व्वगः सर्व्वः सर्व्वेशः सर्व्वसाक्षिकः ॥
हयग्रीवो हरिः शार्ङ्गी हरिः शेषो हलायुधः ।
सहस्रबाहुरव्याजः सहस्राक्षः क्षरोऽक्षरः ॥
गजेन्द्रघ्नो गजारिघ्नः केशवः केशिमर्द्दनः ।
कैटभारिरविद्यारिः कामदः कमलेक्षणः ।
कंसशत्रुरघशत्रुः काकुत्स्थः खगवाहनः ।
नीलाम्बुजद्युतिर्नित्यो नित्यतृप्तो निराश्रयः ॥
नित्यानन्दः सुराध्यक्षो निर्व्विकल्पो निरञ्जनः ।
ब्रह्मणः पृथिवीनाथः पीतवासा गुहाश्रयः ।
वेदगर्भो विभुर्विष्णुः श्रीमांस्त्रैलोक्यभूषणः ॥
यज्ञमूर्त्तिरमेयात्मा वरदो वासवानुजः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः समदृष्टिः सनातनः ॥
भक्तिप्रियो जगत्पूज्यः परमात्मा सुरान्तकः ।
अन्तकः सर्व्वलोकानामनन्तोऽनन्तविक्रमः ॥

मायाधरो निराधारः सर्व्वाधारो धराधरः ।
निष्कलङ्को निराभासो निष्प्रपञ्चो निरामयः ॥
भुक्तिविघ्नो महोदारः पुण्यकीर्त्तिः पुरातनः ।
इति त्रैलोक्यनाथस्य विष्णोर्नाम वरानने ॥
नाम्नामष्टशतं दिव्यमशेषेण प्रकीर्त्तितम् ।
यः पठेत् शृणुयाद्वापि भक्त्या एतत्समाहितः ॥
सर्व्वकामानवाप्नोति सर्व्वयज्ञफलं तथा ।

इत्यादिवराहपुराणोक्तमष्टोत्तरशतनामिकादीनां फलम्

तथा,—

देवासुरगुरुर्द्देवः सर्व्वदेवनमस्कृतः ।
अचिन्त्योऽयमनिर्द्देश्यः सर्व्वगोऽयमयोनिजः ॥
पितामहो जगन्नाथः सावित्रीब्रह्मणोः पतिः ।
देवभूरथकर्म्मी च विष्णुर्नारायणः प्रभुः ।
उमापतिर्विरूपाक्षः स्कन्दः सेनापतिस्तथा ॥
विशाखो हुतभुग्वायुश्चन्द्रादित्यौ प्रभाकरौ ।
शक्रः शचीपतिर्द्देवो यमो धूमोर्णया सह ॥
वरुणः सह गौर्य्या च सह ऋद्ध्या धनेश्वरः ।
सौम्या गौः सुरभी देवी विश्रवाश्च महानृषिः ॥
सङ्कल्पः सागरो गङ्गा प्रबन्धोऽथ मरुद्गणः ।
बालखिल्यास्तपःसिद्धाः कृष्णद्वैपायनस्तथा ॥
नारदः पर्व्वतश्चैव विश्वावसुर्हहाहुहू ।
तुम्बुरुश्चित्रसेनश्च देवदूतश्च विश्रुतः ॥

देवकन्या महाभागा दिव्याश्चाप्सरसांगणाः।
उर्व्वशी मेनका रम्भा मिश्रकेशीह्यलम्बुषा॥
विश्वाचीच घृताचीच पञ्चचूला तिलोत्तमा।
आदित्या वसवो रुद्राः साश्विनाः पितरोऽपिवा॥
धर्म्मः श्रुतं तपो दीक्षाध्यवसायः पितामहः।
शर्व्वर्य्यो दिवसाश्चैव मारीचः कश्यपस्तथा॥
शुक्रो बृहस्पतिर्भौमो बुधो राहुः शनैश्चरः।
नक्षत्राण्यृतवश्चैव मासाः पक्षाश्च वत्सराः॥
वैनतेयाः सुपुत्राश्च कद्रुजाः पन्नगास्तथा।
शतद्रुश्च विपाशाच चन्द्रभागा सरस्वती॥
सिन्धुश्च देविका चैव प्रभासः पुष्कराणि च।
गङ्गा महानदी वेणी कावेरी नर्म्मदा तथा।
कूलंपुना विशल्याच करतोयाम्बुवाहिनी।
सरयूर्गण्डकीचैव लोहित्यश्च महानदः॥
ताम्रारुणा वेत्रवती पुंनाशा गोमती तथा।
गोदावरीच वेणीच कृष्णवेणी ——— ॥
दृषद्वतीच कावेरी वङ्क्षुर्मन्दाकिनी तथा।
प्रयागश्च प्रभासश्च पुण्यं नैमिषमेवच॥
तद्धि विश्वेश्वरस्थानं यत्र तद्विमलं सरः।
पुण्यतीर्थेषु सलिलं कुरुक्षेत्रं प्रकीर्त्तितम्॥
सिन्धुकूलं तपोदानं जम्बुमार्गमथापिवा।
हिरण्वतो वितस्ताच तथा प्लक्षजनो नदो॥

वेदस्मृतिर्वेदवती मलवा भस्मनद्यपि ।
भूमिभागास्तथा पुण्या गङ्गाद्वारमथापिवा ॥
ऋषिकुल्या तथा मेधा नदी चिन्तावहा तथा ।
चर्म्मण्वती नदी पुण्या कौशिकी यमुना तथा ॥
नदी भीमरथी चैव बाहुदाच महानदी ।
महेन्द्रवेणी त्रिदिवा किलिकाच सरस्वती ॥
नन्दा शवरनन्दाच तथा तीर्थमहाह्रदः ।
गयाच फल्गुतीर्थञ्च धर्म्मारण्यं सुरैः कृतम् ॥
तथा देवनदी पुण्या सरश्च ब्रह्मसम्मितम् ।
पुण्यं हि लोकविख्यातं सर्व्वपापहरं शिवम् ॥
हिमवान् पर्व्वतश्चैव दिव्यौषधिसमन्वितः
विन्ध्यो धातुविचित्राङ्गस्तीर्थवानौषधान्वितः ॥
मेरुर्महेन्द्रो मलयः श्वेतश्च रजतावृतः ।
शृङ्गवान् मन्दरो नीलो निषधो दुर्द्दुरस्तथा ॥
चित्रकूटोऽञ्जनाभश्च पर्व्वतो गन्धमादनः ।
पुण्यः सोमगिरिश्चैव तथैवान्ये महीधराः
दिशश्च विदिशश्चैव क्षितिः सर्व्वे महीरुहाः ।
विश्वेदेवा नभश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥
पातु नः सततं देवाः कीर्त्तिताकीर्त्तितास्तथा ।
यवक्रीतोऽथ रैभ्यश्च काक्षिवानौशिजस्तथा ॥
भृग्वङ्गिरास्तथा कण्वो मेधातिथिरथ प्रभुः ।
महान्तो गुणसम्पन्नाः प्राचीं दिशं समाश्रिताः ॥

रुद्रा दश महाभागा उन्मुचुः प्रमुचुस्तथा।
मुमुचुश्च महाभागाः दत्तात्रेयश्च वीर्य्यवान्॥
मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान्।
दृढ़ायुश्चोर्द्ध्वबाहुश्च विश्रुतावृषिपुङ्गवौ॥
पश्चिमां दिशमाश्रित्य य एतेऽत्र निबोध तान्।
स षड्गुः सहसोदर्य्यैः परिव्याधश्च वीर्य्यवान्॥
ऋषिर्दीर्घतपाश्चैव गौतमः काश्यपस्तथा।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महानृषिः।
अत्रिपुत्रश्च धर्म्मात्मा तथा सारस्वतः प्रभुः।
उत्तरां दिशमाश्रित्य य एतेऽत्र निबोध तान्॥
अत्रिर्वशिष्ठः शक्तिश्च पाराशर्य्यश्च वीर्य्यवान्।
विश्वामित्रो भरद्वाजो जमदग्निस्तथैव च॥
ऋचीकपुत्रो रामश्च ऋषिरुद्दालकस्तथा।
श्वेतकेतुः कहोलश्च विपुलो देवकस्तथा॥
देवशर्म्माच धौम्यश्च हस्तिः काश्यप एव च।
लोमशो नाचिकेतश्च लोमहर्षण एव च॥
ऋषिरुग्रतपाश्चैव भार्गवश्चावन स्तथा।
धुन्धुमारो दिलीपश्च सगरश्च प्रतापवान्॥
नृपो ययाति र्नहुषो यदुः पुरुश्च वीर्य्यवान्॥
नृगाश्वो यौवनाश्वश्च त्रिशङ्कुः सत्यवाक् तथा॥
दुष्मन्तो भरतश्चैव चक्रवर्त्ती महायशाः।
यवनो जनकश्चैव तथा दृढ़रथोत्तमः॥

रघुर्नरवरश्चैव तथा दशरथो नृपः ।
रामो राज्यमहावीरः शशविन्दुर्भगीरथः ॥
हरिश्चन्द्रो मरुत्तश्च तथा दृढ़रथो नृपः ।
महोदयो मदनश्चैव इलश्चैव नराधिपः ॥
करन्धमो नरश्रेष्ठः कन्धारश्च नराधिपः ।
दत्तोऽम्बरीषः कुकुरो रैवतश्च महायशाः ॥
कुरुः संवत्सरश्चैव मान्धाता सत्यविक्रमः ।
मुचुकुन्दश्च राजर्षि र्जह्नुर्जाह्नविसेवितः ॥
आदिराजः पृथुर्वैण्यश्चित्रभानुः प्रियङ्करः ।
त्रसदस्युस्तथा राजा श्वेतो राजर्षिसत्तमः ॥
महाभीमश्च विख्यातो निमी राजा तथाष्टमः ।
आयुः क्षुपश्च राजर्षिः कण्ठेयुश्च नराधिपः ॥
प्रतर्द्दनो दिवोदासः सुदासः कोशलेश्वरः ।
ऐलोलवश्च राजर्षिर्मनुश्चैव प्रजापतिः ॥
हरिध्रश्च वृषध्रश्च प्रतीपः शान्तनुस्तथा ।
अजः प्राचीनवर्हिश्च तथेक्ष्वाकुर्महायशाः ॥
अनरण्यो नरपति र्जानुघण्टस्तथैव च ।
ऋष्यसेनश्च राजर्षि र्ये चान्ये नानुकीर्त्तिताः ॥
अयं दैवतवंशो वै ऋषिवंशसमन्वितः ।

इति ।

एतत् त्रिसन्ध्यं पठितं कल्मषापहरं स्मृतम् ॥

यदृच्छा कुरुते पापमिन्द्रियैः पुरुषश्चरन्।
तिर्य्यग्योनिं न गच्छेच्च नरकं सङ्कराणि च॥

इत्याद्युक्तफलम्। तथा,—

आर्य्या दुर्गा वेदगर्भा अम्बिका भद्रकाल्यपि।
भद्रा क्षेमा क्षेमकरी नैकबाहुर्नमामि ताम्॥

इति,—

त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नित्यं सर्व्वान् कामानवाप्नुयात्।

अन्यदपि यत् सन्ध्याकालविहितं तत् सूर्य्योदयादेकमुहूर्त्तं कर्त्तव्यम्। प्रातःकालविहितन्तु मुहूर्त्तत्रयमध्ये कर्त्तव्यम्। तत्र सायं प्रातः परिचरेदग्निं सूर्य्याचन्द्रमसौ सोमं मित्रं वायुमापो ब्राह्मणांश्च। परिचरणं नमस्कारादि।

तथा,—"युञ्जत" इत्यनुवाकं सायं प्रातः प्रयुञ्जानो दीर्घायुर्भवत्यरोगी च भयमन्यस्मान्न भवति। तत्र,—युञ्जते जगतीश्रावास्य इदं विष्णुर्गायत्री मेधातिथिः। इतरमन्त्राणां प्रजापतिः ऋषिः, विष्णोर्नुकं तिस्रस्त्रिष्टुभः, इतरद् यजुः। यद्यपि चात्र श्रौतविनियोगानुसारेण सावित्र्यादयो देवतास्तथापि वैष्णवानुवाकमिति वचनाद् विष्णुरेव सर्व्वत्राभिधानकल्पनया देवतात्वेन बोद्धव्यः। अन्यथा वैष्णवपदानर्थक्यात्। तथा,—

ये च त्वां मानवाः प्रातः सायञ्च सुसमाहिताः।
कीर्त्तयिष्यन्ति तेषान्तु महत् पुण्यं भविष्यति॥

इति वचनात् ध्रुवनाम कीर्त्तयेत्। तथा,—

प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्त्तिशान्त्यै
नारायणं गरुड़वाहनमब्जनाभम् ।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं
चक्रायुधं तरुणवारिजपत्रनेत्रम् ॥
प्रातर्नमामि मनसा वचसा च मूर्द्ध्ना
पादारविन्दयुगलं परमस्य पुंसः ।
नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य
पारायणप्रवणविप्रपरायणस्य ॥
प्रातर्भजामि भजतामभयङ्करं तं
प्राक् सर्व्वजन्मकृतपापभयापहत्यै ।
यो ग्राहवक्त्रपतिताङ्घ्रिगजेन्द्रघोर—
शोकप्रणाशमकरोद् धृतशङ्खचक्रः ॥
श्लोकत्रयमिदं पुण्यं प्रातः प्रातः पठेन्नरः ।
लोकत्रयगुरुस्तस्मै दद्यादात्मपदं हरिः ॥

तथा,—

प्रणिपत्य जगन्नाथं चराचरगुरुं हरिम् ।
मार्कण्डेयोऽथ तुष्टाव भोगपर्य्यङ्कशायिनम् ॥

मार्कण्डेय उवाच,—

प्रसीद भगवन् विष्णो प्रसीद पुरुषोत्तम ।
प्रसीद देवदेवेश प्रसीद गरुड़ध्वज ॥
प्रसीद विष्णो लक्ष्मीश प्रसीद धरणीधर ।
प्रसीद लोकनाथाद्य प्रसीद परमेश्वर ॥

प्रसीद सर्व्वभूतेश प्रसीद कमलेक्षण।
प्रसीद मन्दरधर प्रसीद मधुसूदन॥
प्रसीद सुभगाकान्त प्रसीद भुवनाधिप।
प्रसीदाद्य महादेव प्रसीद मम केशव॥
जय कृष्ण जयाचिन्त्य जय विष्णो जयाच्युत।
जय विश्व जयाव्यक्त जय विष्णो नमोऽस्तु ते॥
जय देव जयाजेय जय सत्य जयाक्षर।
जय काल जयेशान जय सर्व्व नमोऽस्तु ते॥
जय यज्ञपते नाथ जय विश्वपते प्रभो।
जय भूतपते भूप जय दक्ष नमोऽस्तु ते॥
जय पापहरानन्त जय जन्महरापह।
जय भद्र जय भद्रेश जय वीर नमोऽस्तु ते॥
जय कामद काकुत्स्थ जय मानद माधव।
जय शङ्कर सर्व्वेश जय श्रीश नमोऽस्तु ते॥
जय कुङ्कुमरक्ताङ्ग जय पङ्कजलोचन।
जय चन्दनलिप्ताङ्ग जय राम नमोऽस्तु ते॥
जय देव जगन्नाथ जय देवकिनन्दन।
जय सर्व्वगुरो गोप्तर्जय शम्भो नमोऽस्तु ते॥
जय सुन्दर पद्माक्ष जय सुन्दरिवल्लभ।
जय सुन्दरसर्व्वाङ्ग जय वन्द्य नमोऽस्तु ते॥
जय सर्व्वद सर्व्वेश जय शर्म्मद शाश्वत।
जय कामद भक्तानां जय विष्णो नमोऽस्तु ते॥

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ।
नमः शिवाय देवाय नमस्ते भुवनेश्वर ॥
नमो वेदान्तवेद्याय नमोऽनन्ताय विष्णवे ।
नमस्ते सकलाध्यक्ष नमः कैटभसूदन ॥
लोकनाथ नमस्तेऽस्तु वीरभद्र नमोऽस्तु ते ।
नमस्त्रैलोक्यनाथाय चतुर्म्मूर्त्ते जगत्पते ।
नमो देवादिदेवाय नमो नारायणाय ते ॥
नमस्ते वासुदेवाय नमस्ते पीतवाससे ।
नमस्ते नरसिंहाय नमस्ते शार्ङ्गधारिणे ॥
नमः कृष्णाय रामाय नमश्चक्रायुधाय च ।
नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ॥
नमः शिवाय देवाय नमस्ते भुवनेश्वर ।
नमो वेदान्तवेद्याय नमोऽनन्ताय विष्णवे ॥
नमोऽस्तु सकलाध्यक्ष नमस्ते श्रीधराच्युत ।
लोकाध्यक्ष जगत्पूज्य परमात्मन् नमोऽस्तु ते ।
त्वं माता सर्व्वलोकानां त्वमेव जगतः पिता ।
त्वं भ्राता त्वं सुहृन्मित्रं त्वं प्रियस्त्वं पितामहः ॥
त्वं गुरुस्त्वं पतिः साक्षात् त्वं गतिस्त्वं परायणः ।
त्वं प्रभुस्त्वं विभुः कर्त्ता त्वं हि विष्णु हुताशनः ॥
त्वं शिवस्त्वं वसुर्धाता त्वं ब्रह्मा त्वं सुरेश्वरः ।
त्वं नगस्त्वमहोरात्रं त्वं नभस्त्वं निशाकरः ॥

त्वं धृतिस्त्वं द्युतिः कान्तिस्त्वं क्षमा त्वं धराधरः ।
त्वं कर्त्ता जगतामीश त्वं हर्त्ता मधुसूदन ॥
त्वमेव गोप्ता सर्व्वस्य जगतस्त्वं चराचरम् ।
करणं कारणं कर्त्ता त्वमेव परमेश्वर ॥
शङ्खचक्रगदापाणे शार्ङ्गासिधर माधव ।
शेषपर्य्यङ्कशयन प्रियपद्मालयाश्रय ॥
त्वामेव सततं भक्त्या नमामि पुरुषोत्तम ।
श्रीवत्साङ्कं जगद्बीजं श्यामलं कमलेक्षणम् ॥
नमामि ते वपुर्देव कलिकल्मषनाशनम् ।
लक्ष्मीधरमुदाराङ्गं सदा पश्यामि ते वपुः ॥
नीलोत्पलदलप्रख्यं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
पीताम्बरधरं सौम्यं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥
दिव्यचन्दनलिप्ताङ्गं दिव्यगन्धमनोरमम् ।
दिव्यरत्नविचित्राङ्गं दिव्यमालाविभूषितम् ॥
पद्मनाभं विशालाक्षं पद्मपत्रदलेक्षणम् ।
दीर्घतुङ्गं महाघोणं नीलजीमूतसन्निभम् ॥
दीर्घबाहुं सुपुष्टाङ्गं रत्नहारोज्ज्वलोरसम् ।
सुभ्रुं ललाटमुकुटं स्निग्धदन्तं सुलोचनम् ॥
चारुहासं सुताम्रोष्ठं रत्नोज्ज्वलितकुण्डलम् ।
वृत्तकण्ठं सुपीनांशमुरसा श्रीधरं हरिम् ॥
सुकुमारमजं नित्यं नीलकुञ्चितमूर्द्धजम् ।
उन्नतांशं महोरस्कं कर्णान्तायतलोचनम् ॥

हेमारविन्दवदनमिन्दिरापतिमीश्वरम् ।
सर्व्वलोकविधातारं सर्व्वपापहरं हरिम् ॥
सर्व्वलक्षणसम्पन्नं सर्व्वसत्वमनोरमम् ।
विष्णुमच्युतमीशानमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
नतोऽस्मि मनसाचिन्त्यं नारायणमनामयम् ॥
वरदं कामदं कान्तमनन्तमस्मृतं शिवम् ।
नमामि मनसा विष्णो सदा त्वां भक्तवत्सलम् ॥
प्रसीदेश महामाय विष्णो राजीवलोचन ।
विश्वयोने विशालाक्ष विश्वात्मन् विश्वसम्भव ॥
आनन्दशरणं प्राममभित्रकुलनन्दन ।
पाहि मां कृपया कृष्ण शरणागतमातुरम् ॥
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुराण पुरुषोत्तम ।
पद्मनाभ हृषीकेश महामाय नमोऽस्तु ते ॥
मामुद्धर महाबाहो मग्नं संसारसागरे ।
अपारे दुस्तरे दुर्गे क्लिष्टं क्लेशमहाग्रहैः ॥
अनाथं कृपणं दीनं पतितं भवसागरे ।
मां समुद्धर गोविन्द वरदेश नमोऽस्तु ते ॥
नमस्ते लोकनाथाय हरये भूधराय च ।
देवदेव नमस्तेऽस्तु वासुदेव नमोऽस्तु ते ॥
नमस्तेऽस्तु जगन्नाथ नमस्तेऽस्तु पितामह ।
नारायण नमस्तेऽस्तु बलभद्र नमोऽस्तु ते ॥

कृष्ण कृष्ण कृपालुस्त्वमगतीनां गतिर्भवान्।
संसारार्णवमग्नं मां प्रसीद मधुसूदन॥

त्वामेकनाथं पुरुषं पुरातनं
जगत्पतिं कारणमच्युतं प्रभुम्।
जनार्द्दनं जन्मजरार्त्तिनाशनं
व्रजामि विष्णुं शरणं सदा हरिम्॥
सुरेश्वरं सुन्दरमिन्दिरावरं
बृहद्भुजं श्यामलकोमलं शिवम्।
वराननं वारिजपत्रलोचनं
सुकान्तमीशं प्रणतोऽस्मि शाश्वतम्॥

श्रीभगवानुवाच,—

यस्त्विदं पठते स्तोत्रं सायं प्रातस्त्वयेरितम्।
मयि भक्तिं दृढ़ां कृत्वा मम लोके स मोदते॥

तथा,—

ये त्वामार्य्येति दुर्गेति वेदगर्भेम्बिकेति च।
भद्रेति भद्रकालीति क्षेमा क्षेमङ्करीति च॥
प्रातश्चैवापराह्णे च स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्त्तयः।
तेषां हि प्रार्थितं सर्व्वं मत्प्रसादाद्भविष्यति।

यत्तु,—

गङ्गागङ्गेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि।
स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम्॥

इति।

धर्म्मो विवर्द्धति भृगोः परिकीर्त्तनेन
स्यादश्विनो च परिकीर्त्तयतो न रोगः ।

यत्तु,—

अनामयश्चेतनवान् कीर्त्तयेद् भुवनाम यः ।
सोऽश्वमेधफलञ्चैव लभ्यते नात्र संशयः ॥

इत्यादीनां प्रातःकालादन्यदापि कर्त्तव्यम् । तथा,—

प्रातःस्नात्वा शुचिर्भूत्वा कृत्वा सन्ध्यां जपं ततः ।
यथोक्तन्यस्तमन्त्रः सत्वष्टोत्तरसहस्रकम् ॥
सप्राणायामकं कुर्य्यात् तदर्थैकाग्रमानसः ।
एवमेव तथा सायं नित्य एष विधिः स्मृतः ॥
नित्येन जपयज्ञेन युक्तः पापैः प्रमुच्यते ।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति यद्यापि मनसेच्छति ॥

इतिवचनात् प्रणवजपः कार्य्यः ।

तद्विधिश्च,—

प्राणायामत्रयं कुर्य्यात् प्रणवेन समाहितः ।
षट्त्रिंशदभ्यसेन्नित्यं वामेन पूरितोदरः ॥
प्राणायामः स विज्ञेयो यावत्प्राणस्य वा धृतिः ।
रेचनं दक्षिणेनोक्तं पूरणं वामतश्चरेत् ॥
जपारम्भे विधिर्ज्ञेयो विपरीतश्च संस्थितौ ।
प्रणवेन स्वकं देहमेकीकृत्य ततो न्यसेत् ।
प्रणवाभिमृष्टपाणिस्त्वङ्गुलीषु च सर्व्वशः ।
अङ्गुष्ठादिषु सर्व्वासु कनिष्ठान्तं करद्वये ।

अकारं प्रथमे पर्व्वे उकारं मध्यमे तथा ।
मकारञ्च तथैवान्ते सर्व्वं सर्व्वासु विन्यसेत् ॥
अकारं नाभिदेशे तु उकारं हृदि मध्यतः ।
मकारं मूर्द्ध्नि विन्यस्य सर्व्वं सर्व्वासु विन्यसेत् ॥
शरीरं प्रणवं ध्यात्वा विद्युत्सौदामिनीप्रभम् ।
तन्मध्येच स्वमात्मानं चैतन्याख्यं विचिन्तयेत् ॥
ब्रह्मणः कवचेनेवं स्वदेहं परिबन्धयेत् ।
भूरग्न्यात्मने चेति हृदयाय नमस्य च ।
भुवः प्राजापत्यात्मने शिरसे जुहुयात्पुनः ॥
स्वः सूर्य्यात्मन इत्युक्का शिखायै वषड़ित्यपि ।
सोमात्मने तथायं वै निशायान्तु विधीयते ।
भूर्भुवः स्व ब्रह्मात्मने कवचाय हुमित्यपि ।
सत्यात्मने तथास्त्राय फड़न्तेन च योजयेत् ।

हृदयादिमन्त्रैर्हृदयादिषु ।

यथा लिङ्गं भवेद्देहे शरीरे बाहुपार्श्वयोः ।
अस्त्रेण स्फोटनं कुर्य्यात् पार्श्वयोरुभयोरपि ॥
एवं न्यस्य स्वकं देहं दिग्बन्धं परिकल्पयेत्,
व्याहृतित्रितयेनैव सर्व्वदिक्षु विशेषतः ॥
संस्फोटं परितः कृत्वा जपं कुर्य्यात् ततः शनैः ।
ब्रह्मणः कवचेनैवं बद्धं दृष्ट्वायतस्ततः ।
चौरव्याघ्रास्तथा सर्पा ये चान्ये भूतहिंसकाः ।
ते सर्व्वे वशमायान्ति दृष्ट्वा विभ्यति तं सदा ॥

किं पुनर्बहुनोक्तेन ब्रह्मणः कवचं परम् ।
अन्तकालेऽपि चानेन बद्धो मुक्तो भविष्यति ॥

ध्यानम्,—

आदित्यवर्णं पुरुषं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
शङ्खचक्रगदापाणिं पीतनिर्म्मलवाससम् ॥
श्यामलं वा हृषीकेशं पुण्डरीकाक्षमच्युतम् ।
हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थितमासीनमेव च ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं सर्व्वाभरणभूषणम् ।
सिंहासने समासीनं ज्ञानमुद्रादिसंयुतम् ।

जपकाले च सकारहकारलोपे च सोऽहमित्यर्थं चिन्तयेत् । अथवा विराडाख्यस्थूलमहाभूतरूपं हकारार्थं सकारार्थे हिरण्यगर्भाख्ये सूक्ष्ममहाभूते लीनं तच्च मकारार्थे शरीरत्रयानुस्युते ब्रह्मणि तच्च शुद्धचिन्मात्रं ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयेत् । तत्रासामर्थ्ये,—

विष्णुं भास्वत्किरीटाङ्गदवलयगलाकल्पहारोदरांघ्रि-
श्रोणीभूषं सवक्षोमणिमकरमहाकुण्डलामण्डिताङ्गम् ।
हस्तोद्यच्चक्रशङ्खाम्बुजगदममलं पीतकौषेयवासं
विद्योतद्भासमुद्यद्दिनकरसदृशं पद्मसंस्थं नमामि ॥

इति ध्यायेत् । मन्त्रस्यास्य मुनिः प्रजापतिः । तथा गायत्री जातवेदस्त्र्यम्बकमन्त्रानुक्त्वा उक्तमन्त्रवरैश्च शताक्षराख्यो मन्त्रोऽभिकाङ्क्षितफलाभिकामधेनुः ।

प्रणवव्याहृत्याद्या व्याहृतितारान्तिका च मन्त्रवरैः।
जप्याः शताक्षरैः स्यादिह परलोकसिद्धये दिनशः॥

शतं शतं प्रातरमन्त्रितो जपेत्
द्विजोत्तमो मन्त्रमिमं शताक्षरम्।
अरोगजुष्टं बहुलेन्द्रियायुतं
शतं प्रजीवेच्छरदां सुखेन सः॥

ऋष्याद्याः पूर्व्वोक्तास्त्रिविधाः। हृदयो दशभिर्मन्त्रैः शिर एकादशभिश्च द्वाविंशतिभिश्च शिखाकवचं नयनं पञ्चदशार्णैः सप्तभिर्दशभिरस्त्रम्,—इत्यङ्गविधिः।

स्मर्त्तव्याखिललोकवर्त्ति सततं यज्जङ्गमस्थावरं
प्राप्तं येन च तत् सपञ्चविहितं मुक्तिश्च यत्सिद्धितः।
यद्वा स्यात् प्रणवत्रिभेदगहनं स्तुत्वा च यद् गीयते
तद्वः काङ्क्षितसिद्धयेऽस्तु भगवान् योगाभिधानो हरिः॥

तथा—

प्रातः प्रातः समुत्थाय कृतसन्ध्याजपः शुचिः।
जपेदष्टसहस्रन्तु नित्य एष विधिः स्मृतः॥

इति।

जपेत् सहस्रं नियतः शुचिर्भूत्वा समाहितः।

इति वचनादष्टाक्षरमन्त्रमष्टोत्तरसहस्रं जपेत्।

यो मासं द्वापरे भक्त्या पूजयन् लभते फलम्।
नमो नारायणायोक्त्वा तत् कलौ लभते फलम्॥

ऋचो यजूंषि सामानि योऽधीतेऽसकृदञ्जसा।
सकृदष्टाक्षरं जप्त्वा फलं तस्य समश्नुते॥
अष्टाक्षरो महामन्त्रः सर्व्वपापहरः परः।
सर्व्वेषां विष्णुमन्त्राणां राजत्वे परिकीर्त्तितः॥
सर्व्ववेदरहस्येभ्यः सार एष समुद्धृतः।
विष्णुना वैष्णवानान्तु हिताय मनुना पुरा॥
भूत्वोर्द्ध्वबाहुरद्य सत्यपूर्व्वं ब्रवीमि वः।
हे पुत्र शिष्याः शृणुत मन्त्रो नाष्टाक्षरात् परः॥
ज्ञेयश्चाष्टाक्षरो मन्त्रः सर्व्वपापहरः परः।
सर्व्वदुःखहरः श्रीमान् सर्व्वशान्तिकरः परः॥
यस्मिन् मन्त्रे स्थितो मन्त्री ब्रह्महत्याविदूषणम्।
नाशयेत् पातकं चापि यद् यद् वाप्युपपातकम्॥
इह जन्मनि यत् किञ्चिज्जन्मान्तरकृतं तथा।
शारीरं मानसं वाग्जं तद् दहेत् सर्व्वमात्मनः॥
पृथिव्यामन्तरीक्षे च स्वर्गे पाताल एव वा।
अष्टाक्षरमिदं किञ्चिन्न दुष्प्रापं न दुष्करम्॥
सर्व्ववेदार्थसारार्थः संसारार्णवतारणः।
गतिरष्टाक्षरो नृणामपुनर्भवकाङ्क्षिणाम्॥
किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्व्रतैः।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्व्वार्थसाधकः॥
जपेन्नारायणं मन्त्रमेतन्मृत्युभयापहम्।

आयुष्यं धनपुत्रांश्च पशून् विद्यां महद् यशः।
धर्म्मार्थकाममोक्षांश्च लभते जपकृन्नरः॥
ऋषयः पितरो देवाः सिद्धाश्चासुरराक्षसाः।
एतदेव परं जप्त्वा परां सिद्धिमितो गताः॥
अष्टाक्षरं जपन्मन्त्री निष्कामोऽप्यन्वहं शुचिः।
साक्षाद्देव इव ह्येष जनैः सर्व्वैरुपास्यते॥
तस्य पूजनमात्रेण महाभागस्य धीमतः।
नश्यन्ति सर्व्वदुःखानि किं पुनस्तदनुग्रहात्॥
अष्टाक्षरञ्च मन्त्रेशं ये जपन्ति द्विजोत्तमाः।
तान् दृष्ट्वा ब्रह्महा शुद्धेद् यतस्ते वैष्णवाः स्वयम्॥
अमरत्वमृषित्वञ्च कामरूपत्वमेव च।
अष्टाक्षरस्य तत् सर्व्वं जपन्नाप्नोति भूयसा॥
पादचारी सहस्रायुरयुतायुर्नरेश्वरः।
लक्षायुरपि जीवेच्च जपस्यातिशये सति॥
कोटिमष्टाक्षरं जप्तुर्न किञ्चिद्दुस्तरं भवेत्।
स्तम्भयेदपि खे सूर्य्यमुदधिं वापि शोषयेत्॥
सहस्रलक्षसंख्यातो जपसिद्धो महातपाः।
अणिमादिगुणान् प्राप्य स्वाराज्ये सुखमश्नुते॥
तस्माद् विहाय सर्व्वाणि मन्त्रजालानि बुद्धिमान्।
जपेदष्टाक्षरं विश्वसृजं नारायणं स्मरन्॥

इत्यादिवचनात् सामर्थ्ये सत्यन्यद् विहाय नित्यनैमित्तिकानुष्ठानव्यतिरिक्तकालेषु एतज्जपः कार्य्यः।

एवञ्च,—

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

इत्यर्थोऽप्यनुष्ठितो भवति ।

अत एकचित्ततयात्यन्तासक्तस्य पञ्चयज्ञाननुष्ठानेऽपि न विरोधः । तदुक्तम्,—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्य्यादन्यं न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

विशेषतश्च,—

सर्व्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । इति ।

तथा,

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणा-
मकिङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्व्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ॥

इति । तथा,—

सर्व्वधर्म्मोज्झिता विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः ।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्व्वेऽपि धार्म्मिकाः ॥

नचैषां जपभक्तिस्तुतिपरत्वान्नित्याकरणे प्रत्यवायः स्यादिति वाच्यम् । नित्यः स्वाध्यायः पितृभ्यश्चोदकदानं यथोत्साहमन्य-दिति वचनात् । अथैतदापद्विषयम् । तेनापन्नस्य तदकरणे प्रत्य-वायः स्यात् । अस्तु तथापि—

एतानेव महायज्ञान् यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।
तानीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥
ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्महामखैः ।

इत्यनेनेन्द्रियप्रत्याहारात्मज्ञानाभ्यासादिव तत्परिहारसम्भवात् । किञ्च—

अथवाप्यभ्यसन् वेदं न्यस्तकर्म्मा वने वसन् ।
अयाचिताशी मितभुक् परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

इति मुमुक्षुं प्रति कर्म्मत्याग एव विहितः । अत्र वेदशब्दो वैदिकमन्त्रपर इतरस्य चित्तविक्षेपकरत्वेन नाध्येतव्यः । न वक्तव्यमिति मुमुक्षुं प्रति निषेधात् । तथा,—

पुत्रे सर्व्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थ्यमाश्रितः ।
एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते स्थितमात्मनः ॥

इति गृहस्थस्यैव मुमुक्षोर्दिनसाध्यसर्व्वकर्म्मत्याग उक्तः । किञ्च गृहस्थधर्म्मान् त्यक्त्वा नात्ताश्रमान्तरतया अन्तरास्थस्यापि रैक्कादेर्मोक्षदर्शनात् । तस्य च प्रणवादिजपदेवताराधनादिना कर्म्मविशेषेण चित्तशुद्धिरूपानुग्रहसम्भवान्मोक्षः स्यादेव । अतान्तरापि तु तद्दृष्टेर्विशेषानुग्रहश्चेति सूत्रयामास भगवान् व्यासोऽपि । ननु,—

"अनाश्रमित्वं गृहभङ्गकारण-
मतो गृहाणाश्रममुत्तमं मुने ।
अनाश्रमिभिर्हि द्विजैर्वेदपारगैरपि त्वहं नानुगृह्णामि चार्चनाः"

मिति नारसिंहेऽभिहितं तदाश्रमिकृतामर्चनां यथा गृह्णामि न तथा अनाश्रमिकृतामित्येवम् ।

आश्रमेण विना तिष्ठन् प्रायश्चित्तीयते द्विजः ।

इति लिङ्गादिति सूचितं तत्परमेव । इतरथा भगवतस्तादृगुपदेशस्यानुपपत्तेः । तच्च—

स्मरन्नारायणं मन्त्रं गच्छन्नारायणं तथा ।
भुञ्जन्नारायणं विप्र तिष्ठन् जाग्रन् स्वपन्नपि ॥
उन्मिषन् निमिषन् वापि नमो नारायणेति वै ।
जपेन्नारायणं नित्यं प्रणम्य पुरुषोत्तमम् ॥

इति ।

आसीनो वा शयानो वा तिष्ठन् वा यत्र तत्र वा ।
नमो नारायणायेति मन्त्रैकशरणा वयम् ॥

इत्येभिर्मन्त्रवचनैर्गमनादिकालेऽपि—

मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदा जपेत् ।

इत्यन्यत्राभिधानान्मनसैवैतज्जपः कार्य्यः । तत्फलम्,—

सततैर्मानसाभ्यासैर्बन्धाद् बद्धो विमुच्यते ।
तथाम्भोऽशनिदुर्गादेर्भयादपि विमुच्यते ॥

इति । एतेन प्रह्लादस्येव सर्व्वापन्निवारणशक्तिरुक्ता ।

तस्मात् सर्व्वेषु कालेषु नमो नारायणेति यः ।
जपेत् स याति विप्रेन्द्र विष्णुलोकमसंशयम् ॥

इति। अस्य च भगवन्नामकीर्त्तनरूपत्वान्नाशौचं कीर्त्तने तस्य

इति ।

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते———

इति ।

अप्यन्यचित्तः क्रुद्धो वा यः सदा कीर्त्तयेद्धरिम् ।
सोऽपि दोषक्षयान्मुक्तिं लेभे चेदिपतिर्यथा ॥

इत्यादिवचनाद्वैगुण्येऽपि न निष्फलत्वम् ।

"अजप्त्वाष्टाक्षरं मन्त्रं नाहमश्नामि किञ्चन ।"

इत्यकृतजपस्य भोजननिषेधात् भोजनभाव्यनिष्टपरिहारार्थं-तया च नैमित्तिकत्वान्नैमित्तिकस्याशौचेऽप्यनिवृत्तेः

यावज्जीवं जपामीति नित्यमष्टसहस्रकम् ।
अष्टाक्षरं जपेदेतद् रहस्यं मुक्तिदं भवेत् ॥

इति च सङ्कल्पपूर्व्वकत्वाभिधानात्

पूर्व्वसङ्कल्पिते चार्थे नाशौचं विद्यते क्वचित् ।

इतिवचनादशौचमध्येऽप्येतज्जपः कार्य्यः ।

तत्राष्टाक्षरमन्त्रस्य ऋषिर्नारायणः स्वयम् ।
छन्दश्च दैवी गायत्री परमात्मा च देवता ॥
सुशुक्लवर्णमोङ्कारं नकारं रक्तमुच्यते ।
मोकारं वर्णतः कृष्णं नाकारं रक्तमुच्यते ॥
राकारं कुङ्कुमाभञ्च यकारं पीतमुच्यते ।
णाकारमञ्जनाभञ्च यकारं वभ्रुवर्णकम् ।

इति स्मृत्वा,—

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
एकाग्रमनसा ध्यात्वा विष्णुं कुर्य्याज्जपं ततः ॥

तत्र विशेषेण,—

आसनं स्वस्तिकं बद्धा कृत्वादौ प्राणसंयमम् ।
ओंकारोच्चारणाद्धीमान् हृदिपद्मं विकाशयन् ॥
तन्मध्ये रविसोमाग्निमण्डलानि यथाक्रमम् ।
कल्पयित्वा हरेः पीठं तस्मिन्नेवं सनातनम् ॥
पीताम्बरधरं विष्णुं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
भावपुष्पैः समभ्यर्च्य मनस्तस्मिन्निवेश्य च ॥
ब्रह्मरूपं हरिं ध्यायंस्ततो मन्त्रमुदीरयेत् ।

जपसामान्यधर्म्माश्च पूर्व्वमेवोक्ताः । अत्र च पञ्चरात्रजपधर्म्माणां,—

"स्मृतिशास्त्रविकल्पस्तु आकाङ्क्षापूरणे सति ।"

इति वचनाद्विकल्प एव । एवं कल्पोक्तजपधर्म्माणामपि । तेन पुराण-पञ्चरात्रोक्त-कल्पोक्तानामेकेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा संयुक्तं जपं कुर्य्यात् । तत्र गुणविशेषात् फलविशेषः । अत्र पाञ्चरात्रिकाः सामान्यधर्म्माः ।

सर्व्वेषामेव मन्त्राणां दुर्गाधिष्ठानदेवता ।
सम्पूज्य तां प्रजप्तव्यं रक्षोभि र्ह्रीयतेऽन्यथा ॥
नमो भगवतेत्युक्त्वा महासुदर्शनाय च ।
महाचक्राय तथा महाज्वालाय चेत्यपि ॥
दीप्तरूपाय चेत्युक्त्वा सर्व्वतो रक्ष रक्ष माम् ।
महाबलाय स्वाहेति प्रोक्त स्तारादिको मनुः ॥
रक्षाकरः प्रसिद्धोऽयं क्रियमाणेषु कर्म्मसु ।

तथास्त्रमन्त्रेण विशोध्य पाणी
त्रितालदिग्बन्धहुताशशालाः।
विधाय भूतात्मकमेतदङ्गं
विशोधयेत् शुद्धमतिः क्रमेण॥

ऐन्द्रीं दिशं समारभ्य तत्र मन्त्रः,—

रक्ष रक्षेति हुं फट् तथा स्वाहेति चोदितः।
तारादिको मनुरयमग्निप्राकारकल्पने॥

भूतशुद्धिश्च,—

यद्यप्यन्यत्र,—

यावन्मन्त्राग्निना दाहं न करोति महामतिः।
देहे मलवहं घोरं नासौ पूजार्हको भवेत्॥

इति पूजायामेवोक्ता तथाप्यत्र,—

इति कृतेऽधिकृतो भवति ध्रुवं
सकलवैष्णवमन्त्रजपादिषु।

इत्युक्तत्वात्

स्वयं देवमयो भूत्वा जपेन्मन्त्रं यथाविधि।

इति चान्यत्रोक्ते र्जपादावपि कार्य्या। सा चैवम्;—

इड़ावक्त्रेषु धूम्रं सततगतिबीजं सलवकं
स्मरेत् पूर्ब्बं मन्त्री सकलभुवनोच्छोषणकरम्।
स्वकं देहं तेन प्रततवपुषापूर्य्य सकलं
विशोध्य व्यामुञ्चेत् पवनमथ मार्गेण खमणेः॥

तेनैव मार्गेण विलीनमारुतं
बीजं विचिन्त्यारुणमाशुशुच्चणिः ।
आपूर्य्य देहं परिहृत्य वामतो
मुञ्चेत् समीरं सह भस्मना वहिः ॥
टपरमतीवशुद्धममृतांशुपथेन विधुं
नयतु ललाटचन्द्रमस्तः सकलार्णमयीम् ।
रपरजपान्निपात्य रचयेच्च तया सकलं
वपुरमृतौघवृष्टिमथ वक्त्रकराद्यमिदम् ॥

इति ।

अन्यत्र च,—

सुषुम्नावर्त्मनात्मानं परमात्मनि योजयेत् ।
योगयुक्तेन विधिना तन्मन्त्रेण समाहितः ॥
कारके सर्व्वभूतानां तत्वान्यपि विचिन्तयेत् ।
बीजभावेन लीनानि व्युत्क्रमात् परमात्मनि ॥
ततः संशोधयेद्देहं वायुबीजेन वायुना ।
वह्निबीजेन तेनैव संदहेत् सकलां तनुम् ॥
विश्लेषयेत्तदा दोषानमृतेनामृताम्भसा ।
आपाद्य प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥
आत्मलीनानि तत्वानि स्वस्थानं प्रापयेत्तथा ।
आत्मानं हृदयाम्भोजमानयेत् परमात्मनः ॥
मनुना हंसदेवस्य कुर्य्यान्न्यासादिकं ततः ।

इति ।

जपादौ सर्व्वमन्त्राणां विन्यासेन लिपेर्विना।
कृतं तं निष्फलं विद्यात् तस्मात् पूर्व्वं लिपिं न्यसेत्॥

तत्र,—

शुद्धश्चाथ सविन्दुकस्त्वथ कलायुक् केशवादिस्तथा
श्रीकण्ठादियुतश्च शक्तिकमलामारै स्तथैकैकशः।
न्यासास्ते दशधा पृथङ्निगदिताः स्युर्ब्रह्मजाः शान्तिकाः
सर्व्वं साधकसिद्धिसाधनविधौ सङ्कल्पकल्पद्रुमाः॥

इति दशधोक्ता लिपिन्यासाः।

तत्रैकैकस्यान्यानपेक्षस्य कार्य्यस्य सामर्थ्याभिधानादिक एव नित्यः। अन्ये काम्याः।

तत्र कलाः,—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च।
इन्धिका दीपिका चैव रेचिका मोचिका परा॥
सूक्ष्मासूक्ष्मामृतीज्ञाना अमृताप्यायिनी तथा।
व्यापिनी व्योमरूपा च अनन्ता नादसम्भवा।
सृष्टा ऋद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मी धृतिः स्थिरा।
स्थितिः सिद्धिरकारोत्था ब्रह्मजाः सृष्टये कलाः॥
जरा च पालिनी शान्तिरीश्वरी रतिकामिका।
वरदाह्लादिनी प्रीति दीर्घजा स्थितये कलाः॥
तीक्ष्णा रौद्रा भया निद्रा तन्द्रा क्षुत् क्रोधनी क्रिया।
उकारी चैव मृत्युश्च रुद्रजाः संहृतेः कलाः॥
विन्दोरपि चतस्रः स्युः पीताः श्वेतारुणासिताः॥

केशवादयश्च,—केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णवः । मधुसूदनत्रिविक्रमवामनश्रीधरहृषीकेशपद्मनाभदामोदरवासुदेवाः ।

सङ्कर्षणश्च प्रद्युम्नोऽनिरुद्धश्च स्वरोद्भवः ।
ततश्चक्री गदी शार्ङ्गी खड्गी शङ्खी हली तथा ॥
मुषली शूलिसंज्ञश्च भूयः पाशी तथाङ्कुशी ।
मुकुन्दो नन्दजो नन्दी नरो नरकजिद्धरिः ॥
कृष्णः सदा सात्वतश्च शौरिः शूरो जनार्द्दनः ।
भूधरो विश्वमूर्त्तिश्च वैकुण्ठः पुरुषोत्तमः ॥
बली बलानुजो बालो वृषघ्नश्च वृषस्तथा ।
हंसो वराहो विमलो नृसिंहो मूर्त्तयो हलाम् ॥

इति ।

तत्र विशेषः,—

इमाः पञ्चाशदुद्दिष्टा नमोऽन्ता वर्णपूर्व्वकाः ।
सधातुप्राणशक्त्याद्या युता या विष्णुमूर्त्तयः ॥
त्वचासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।

एवं सति "ॐ केशवाय नमः" इति प्रयोगः सिद्धः ।

अन्यत्र तु,—

वर्णानुक्त्वा सार्द्धचन्द्रान् पुरस्तात्
मूर्त्तिः शक्तीर्ङेऽवसाना रतिश्च ।
उक्त्वा न्यस्ये श्रादिभिः सप्तधातून्
प्राणं शक्तिं क्रोधमप्यात्मनेस्थान् ॥

इति शक्तियोगोऽप्युक्तः। सोऽत्रानुक्तत्वाद् वैकल्पिक एव। किञ्च तत्र,—

उद्यत्प्रद्योतनशतरुचिं तप्तहेमावदातं
पार्श्वद्वन्द्वे जलधिसुतया विश्वधात्र्या च जुष्टम्।
नानारत्नोल्लसितविविधाकल्पमापीतवस्त्रं
विष्णुं वन्दे दरनलिनगदाचक्रपाणिं प्रसन्नम्॥
ध्यात्वैवं परमपुमांसमक्षयैर्यो
विन्यस्येद्दिनमनु केशवादियुक्तैः।
मेधायुःस्मृतिधृतिकीर्त्तिकान्तिलक्ष्मी-
सौभाग्यैश्चिरमुपबृंहितो भवेत् सः॥

इति पूजातः पृथगेव तदनुष्ठानं फलार्थमुक्तं तेन पूजायां तद्विनियमः।

श्रीकण्ठोऽनन्तसूक्ष्मौ च त्रिमूर्त्तिरमरेश्वरः।
अर्घ्यीशो भारभूतिश्च तिथीशः स्थाणुको हरः॥
झिण्टीशो भौतिकः सद्योजातश्चानुग्रहेश्वरः।
अक्रूरश्च महासेनः स्वराणां देवता अमी॥
ततः क्रोधीशचण्डेशपञ्चान्तकशिवोत्तमाः।
अथैकरुद्रकूर्म्मैकनेत्राख्याश्चतुराननाः॥
अजेशशर्व्वसोमेशास्तथा लाङ्गलिदारुकौ।
अर्द्धनारीश्वरश्चोमाकान्तश्चाषाढ़िदण्डिनौ॥
अत्रिर्मेषश्च मीनश्च लोहितश्च शिखी तथा।
छगलण्डद्विरण्डौ च समहाकालवालिनौ॥

भुजङ्गेशः पिनाकी च खड्गी चाम्बकस्तथा ।
श्वेतो भृगुश्च नकुली शिवः संवर्त्तकः स्मृतः ॥

अत्र केशवादीनां शक्तयः,—कीर्त्तिकान्तितुष्टिपुष्टिधृतिक्षान्तिक्रियादयामेधाश्रद्धालज्जालक्ष्मीसरस्वतीप्रीतिरतयः । स्वरशक्तयः,—

जया दुर्गा प्रभा सत्या नन्दा वाणी विलासिनी ।
विजया विरजा विश्वा विनदा सुनदा स्मृतिः ॥
ऋद्धिः समृद्धिः शुद्धिश्च बुद्धिर्मुक्तिर्मतिः क्षमा ।
रमोमा क्लेदिनी क्लिन्ना वसुधा वसुधाऽपरा ॥
परा परायणा सूक्ष्मा सन्ध्या प्रज्ञा प्रभा निशा ।
अमोघा विद्युता चेति मूर्त्त्याद्याः सर्व्वकामदाः ॥

अं केशवाय कीर्त्त्यै नम इति प्रयोगः । श्रीकण्ठादीनां शक्तयः,—पूर्णोदरीच विरजा शाल्मली लोलाक्षी वर्त्तुलाक्षी दीर्घघोणा सुदीर्घमुखी गोमुखी दीर्घजङ्घिका कुण्डोदरी ऊर्द्धकेशी ।

तथा—

सूज्ज्वलोल्काश्रिया विद्या मुख्याः स्युः स्वरशक्तयः ।
महाकाली सरस्वती सर्व्वसिद्धिसमन्विता ॥

गौरी त्रैलोक्यविद्या मन्त्रात्मशक्तिका लम्बोदरी खेचरी मञ्जरी रूपिणी काकोदरी पूतना भद्रकाली योगिनी शङ्खिनी गर्हिणी कालरात्रिः कुर्द्दनी कपर्द्दिनी लज्जा जया सुमुखेश्वरी रेवती माधवी वारुणी वायवी रक्षोपधारिणी लक्ष्मी व्यापिनी

माया इत्याख्याता वर्णशक्तयः। ओं अं श्रीकण्ठाय पूर्णोदर्य्यै नम इति सिद्धम्। अत्र वैष्णवमन्त्रेषु केशवादियुतो मुख्यस्तद-सामर्थ्ये सविन्दुः शुद्धो वा कार्य्यः। मुमुक्षुणा तु यत्नेन ब्रह्मयाग-विधिः कार्य्यः। सचैवम्,—

तारश्च शक्तिरजपा परमात्ममन्त्र-
वह्नेः प्रिया च गदिता इति पञ्च मन्त्राः।
एभिस्तृतीयलिपिभिः कथितः प्रपञ्च-
यागाह्वयो हुतविधिः सकलार्थदायी॥

मातृकान्यासवत् सार्धं लिपिनाष्टाक्षरेण तु।
नित्यं न्यसेत् संयतात्मा पञ्चाशद्वारमुत्तमम्॥
एवं वर्णविभेदभिन्नमदृढं मांसास्थिमज्जावृतं
देहं तत्परमक्षरे सुविशदे सर्व्वत्र वर्त्तिन्यपि।
हुत्वा ब्रह्महुताशने विमलधीस्तेजःस्वरूपः स्वयं
हुत्वा सर्व्वमनून् जपेदपि यजेद्ध्यायेत्तथाराधयेत्॥

प्रपञ्चयागस्य विशेषतो विपत्-
प्रपञ्चसंसारविशेषपावनः।
कृते तु तस्मिन्निह साधकोत्तमः
प्रयाति निर्वाणपदं तदव्ययम्॥

इति वचनात् पृथगप्येतत् कार्य्यम्। तस्मिंश्च कर्त्तव्ये,—

आसीनस्त्वेकरदो बृहदुदरोऽरुणो गजवदनः।

इति महागणपतिं ध्यात्वा वीजं चतुश्चत्वारिंशदक्षरं "गणा-

नान्तु” इत्येकवारं महागणपतिमन्त्रं चतुर्व्वारं जप्त्वा समुनिच्छन्दोदैवतमपि साङ्गमातृकञ्च विन्यसेत्। प्रागभिहितेन विधिना वारत्रितयं ग्रहांश्च समस्तस्तथा चन्दनेन च बाहुपादत्रितये जठरे वक्षसि यथावत्। तत्र महागणपतिमन्त्रस्य महागणकः ऋषिः निवृद्गायत्रीच्छन्दः महागणपतिर्देवता प्रणवादिबीजपीठस्थितेन दीर्घस्वरान्वितेन सर्व्वाङ्गाणि षड् विदध्यात् मन्त्री विघ्नेश्वरस्य सबीजेन। ततः प्रपञ्चयागमन्त्रस्य ब्रह्म ऋषिः दैवी गायत्रीच्छन्दः परं ज्योतिर्देवता स्वाहा हृदयं सोऽहं शिरः हंसः शिखा क्लीं कवचं क्लीं नेत्रं हरिहरात्मने अस्त्रम्। एवं लिपिन्यासं कृत्वा,—

इत्यच्युतीकृततनुर्विदधीत तत्व-
न्यासं न पूर्व्वमपराक्षरनत्युपेतम्।
भूयः पराय च तदाह्वयमात्मने तु
नत्यन्तमुद्धरतु तत्वमनून् क्रमेण॥
सकलवपुषि बीजं प्राणमायोज्य मध्ये
न्यसतु मतिमहङ्कारं मनश्चेति मन्त्री।
कमुखहृदयगुह्यांघ्रिष्वथो शब्दपूर्व्वं
गुणगणमथ कर्त्ताऽदिस्थितं श्रोत्रपूर्व्वम्॥
वागादीन्द्रियवर्गमात्मनिलयेष्वाकाशपूर्व्वं गणं
मूर्द्धास्ये हृदये शिरे चरणयोर्हृत्पुण्डरीकं हृदि।
बिम्बानि द्विषड़ष्टयुग्दशकलायुक्तानि सूर्य्योडुराड़-
वह्नीनाञ्च यतस्त् भूतवसुमुष्यत्याक्षरैर्मन्त्रवित्॥

अथ परमेष्ठिपुमांसौ विश्वनिवृत्तीनां च शक्ती इत्युपनिषदः।
न्यसेदाकाशादिस्थाने तान् यरलवार्णैः सलवकैः।

वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नश्चानिरुद्धकः।
नारायणश्च क्रमशः परमेष्ठ्यादिभिर्युतः॥
ततः कोपतत्त्वं चरौ विन्दुयुक्तं
नृसिंहं न्यसेत् सर्व्वगात्रेषु तज्ज्ञः।
क्रमेणेति तत्त्वात्मको न्यास उक्तः
स्वासान्निकृद्विश्वमूर्त्त्यादिषु स्यात्॥

इति।

इति कृतेऽधिकृतो भवति ध्रुवं
सकलवैष्णवमन्त्रजपादिषु।
पवनसंयमनं त्वमुना चरेत्
यमिह जप्तुमसौ मनुमिच्छति॥

अथवाखिलेषु हरिमन्त्रजपविधिषु मूलमन्त्रतः।
संयमनममलधीर्मरुतो विधिनाभ्यासश्चरतु तत्त्वसंख्यया॥
पुरतो जपस्य परतोऽपि विहितमथ तत् त्रितयं बुधैः।
रेचयेन्मारुतं दक्षया दक्षिणं पूरयेद्वामया मध्यनाड्या पुनः॥
धारयेदीरितं रेचकादित्रयं स्यात्कलादन्तविद्याख्यमात्रात्मकं च।
प्राणायामं सलिपिन्यासं कृत्वा न्यसेत्तु ऋष्यादीन्॥

सलिपिन्यासमिति लिपिन्यासपूर्व्वकम्।

लिपिच्छन्दोदेवतानां न्यासेन विधिना सदा।
जप्यते साधितोऽप्येष तत्र तत्फलं लभेत्॥

ऋषिर्गुरुत्वाच्छिरसैव धार्य-
श्छन्दोऽक्षरत्वाद् रसनागतं स्यात् ।
धियावगन्तव्यतया सदैव
हृदि प्रदिष्टा मनुदेवता च ॥

मन्त्राणामविदित्वा यो बीजं शक्तिञ्च मन्त्रवित् ।
जपेदपेशलो मन्त्रस्तस्य स्यादफलप्रदः ॥
चतुर्विधेन मन्त्रेण कृत्वा मन्त्रात्मिकां तनुम् ।
जपहोमादिकं कुर्य्यादभीष्टफलसिद्धये ॥

चतुर्विधो भावनाचतुष्टयरूपः ।

प्राणायामं विधायेत्यथ निजवपुषा कल्पयेद् योगपीठं
न्यस्येदाधारशक्तिं प्रकृतिकमठक्ष्मा क्षीरसिन्धून् ।
श्वेतद्वीपञ्च रत्नोज्ज्वलमहितमहामण्डपं कल्पवृक्षं
हृद्देशेऽंशद्वयोरुद्वयवदनकटीपार्श्वयुग्मेषु भूयः ॥

धर्म्माद्यधर्म्मादि च पादगात्र-
चतुष्टयं हृद्यथ शेषमन्त्रम् ।
सूर्य्येन्दुवह्नीन् प्रणवांशयुक्ता-
नाद्यक्षरैः सत्वरजस्तमांसि ॥

आत्मादित्रयमादिबीजसहितं व्योमाग्निमायालवै-
र्ज्ञानात्मानमथाष्ट दिक्षु परितो मध्ये च शक्तीर्नव ।
न्यस्त्वा पीठमनुं च तत्र विधिवत् तत्कर्णिकामध्यगं
नित्यानन्दचितिप्रकाशममृतं सञ्चिन्तयेद्धाम तत् ॥

विमलोत्कर्षणी ज्ञाना क्रिया योगेति शक्तयः ।
प्रह्वा सत्या तथेशानानुग्रहा नवमी मता ॥
एवं हृदयं भगवान् विष्णुः सर्व्वान्वितश्च भूतात्मा ।
ङेऽन्ताः सवासुदेवाः सर्व्वात्मयुतञ्च संयोगम् ॥
योगावधश्च पद्मं पीठा ङेयुतो नतिश्चान्ते ।
पीठमहामनुव्यक्तः पर्य्याप्तोऽयं सपर्य्यासु ॥
आधारभावनेयं स्यात् ततो हृदयभावना ।
अव्यक्तं परमाकाशं चिन्तयेद् हृदयाम्बुजे ॥
तन्मध्ये प्रणवञ्चैव सर्व्वबीजं विचिन्तयेत् ।
स्फुरत्तारासमप्रख्यं तेजोरूपञ्च निर्म्मलम् ॥
तस्मादभ्युत्थितं ध्यायेद् विद्युत्पुञ्जसमप्रभम् ।
मूलमन्त्रात्मकं तेजः सैषा हृदयभावना ॥

तस्मात् समुल्लसितप्रणवात्मकतेजसः

मूलमन्त्रात्मकं तेजो दीपाद् दीपान्तरं यथा ।
स्वस्वमार्गेण निष्कृष्य विन्यसेद्धस्तयोः सुधाम् ॥
करन्यासं ततः कुर्य्यादित्येषा हस्तभावना ॥
तत्तेजोयुतहस्ताभ्यां व्यापकन्यासमुद्रया ।
न्यसेत्तेजो हृदः सम्यक् व्यश्नुवानं कलेवरम् ॥
अङ्गन्यासं ततः कुर्य्यादित्येषा देहभावना ॥

इति ।

पूजाजपार्चनाहोमाः सिद्धमन्त्रकृता अपि ।
अङ्गन्यासेन विधुरा न दास्यन्ति फलान्यमी ॥

अनुक्ताङ्गेषु मन्त्रेषु पदशो वर्णशोऽपि वा ।
तेनाङ्गानि च कल्प्यानि मन्त्रेण सकलेन वा ॥
आदिवर्णो भवेदेषां बीजं विन्दुकलायुतः ।
तदेव षट्स्वरोपेतमङ्गत्वेनैव जायते ॥
हृदयशिरसोः शिखायां कवचाद्यस्त्रेषु सचतुर्थेषु ।
नत्याहुत्या वषट् हुं फट्पदैः षड़ङ्गविधिः ॥
पञ्चैव यस्य मन्त्रस्य भवन्त्यङ्गानि मन्त्रिणः ।
सर्व्वेषु तेषु मन्त्रेषु नेत्रलोपो विधीयते ॥
अङ्गुष्ठादिक्रमादङ्गान्यङ्गुष्ठादिषु विन्यसेत् ।
कनिष्ठान्तासु तद् वाह्यतलयोः करयोः सुधीः ॥
अस्त्रेण तालत्रितयं कृत्वा तेनैव बन्धयेत् ।
दिशो दश क्रमादंशषट्कं वा पञ्चकं न्यसेत् ॥
जपारम्भे मनूनाञ्च सामान्येयं प्रवर्त्तना ।
जपस्याद्यन्तयोः कार्य्यः षड़ङ्गन्यास एव च ॥

अत्राङ्गुलिन्यासेऽङ्गमन्त्राणां हृदयादिपदस्थानेऽङ्गुष्ठादिपद-प्रयोगसमाचारो निर्मूल एव। नह्यत्र हृदयादिपदानि न्यासस्थान-वाचकानि येनैवं स्यात् । किन्तु,—

हृदयं बुद्धिगम्यत्वात् प्रणामः स्यान्नमः पदम् ।
क्रियते हृदयेनातो बुद्धिगम्या नमस्क्रिया ॥

एवं तुङ्गार्थत्वात् शिरः "शिखा तेजःसमुद्दिष्टा कवचग्रहण" इत्यस्मात् कवचं तेजसाग्रहः । "नेत्रं दृष्टिः समाख्याता" । अत्र सात्विकी धातू प्रक्षेपचलनार्थकौ इत्याद्युक्तार्थान्येव । अतएव,—

अङ्गुष्ठादिष्वङ्गुलीषु न्यसेदङ्गैस्तु जातिभिः।

इत्युक्तम्। ततः सजातिभिर्हृदयादिपदैश्चतुर्थ्यन्तैरिति व्याख्यातम्। तेन हृदयादिपदान्येव प्रयोक्तव्यानि। तथा,—

मन्त्राक्षराणि विन्यस्येद्देवताभावसिद्धये।
कर्म्मणो न्यासहीनस्य गृह्णन्त्येव हि राक्षसाः॥
स्वपाणिमन्त्रसंयुक्तं हृदि रूपं विचिन्त्य च।
स्थाने स्थाने संस्पृशेत्तु संन्यासः परिकीर्त्तितः॥

तथा,—

यत्र स्यात् केवलजपस्तत्र कृत्वाष्टधा जपम्।
धिया संयोज्य देवेशं हव्यैस्तेजःसमुद्भवैः॥
देवं स्वहृदयाम्भोजे ध्यायन् जप्यादतन्द्रितः॥
जाप्यप्रारम्भकाले तु दद्यादर्घ्यमनुत्तमम्।
ततो नियममादद्यान्नित्यजाप्ये स्वशक्तितः॥
जाप्यलक्षसमं भूत्वा यथाकामानुरूपतः।
न न्यूनं नातिरिक्तं वा जाप्यं कार्य्यं दिने दिने॥
जपस्य तु दशांशेन होमयेत्तु दिने दिने।
स्वाहान्तेनैव मन्त्रेण कुर्य्याद्धोमं यथाविधि॥
न जाप्येन विना होमो न होमेन विना जपः।
फलं ददाति मन्त्राणामिति शास्त्रविनिश्चयः॥
होमकर्म्मण्यशक्तानां विप्राणां द्विगुणो जपः।
अन्येषाञ्चैव वर्णानां त्रिगुणं तद् विधीयते॥

अन्यत्र तु,—

होमकर्म्मण्यशक्तानां जपस्तावान् प्रकीर्त्तितः ।
तावत् पुष्पप्रदानं वा तावती वा नमस्क्रिया ॥
जप्यदशांशं सर्व्वत्र तर्पणञ्चाभिषेचनम् ॥
एवंप्रसक्तिर्मुक्तः स्यात् कामदा मन्त्रदेवता ।
न सम्पूर्णा दिने यस्मिन् संख्या जप्ता तु मन्त्रिणः ॥
त्रिगुणन्तु तदा जाप्यं संख्यातेन परेऽहनि ।
पूजा तद्द्विगुणा कार्य्या होमश्च त्रिगुणो भवेत् ॥
नक्तञ्चैव भवेत् तस्मिन् संख्या चैव न पूरिता ।
परेऽहनि च कर्त्तव्या उपवासस्तदार्थतः ॥

एवं निद्रालुतया रात्रिजपासमर्थं प्रति तत्सामर्थ्ये तु रात्रावपि कर्त्तव्यम् । ब्रह्मयज्ञो हि तैत्तिरीयश्रुतौ महारात्रेऽपि कर्त्तव्य उक्तः । तत्प्रकृतिकानि सर्व्ववैदिकमन्त्रोच्चारणानि । तदुक्तं भट्ट-पादैः,—"दक्षिणत उपवीय हस्ताववनाद्य त्रिराचम्य" इत्यादि ।

यद्यपि ब्रह्मयज्ञप्रकरणे श्रुतं तथापि वेदोच्चारणसम्बन्धात् तदङ्गत्वेऽपि विज्ञायमानं सर्व्वयज्ञानां मन्त्रवत्प्रयोगित्वात् तदङ्गं भवतीति । तथा कालोत्तरेऽप्युक्तम्,—

सङ्ख्यान्यूनातिरेकादिदोषप्रशमनाय वै ।
सप्तविंशतिरष्टौ वा सर्पिषा हुतयः शुभाः ॥
व्याकुलत्वात्तु चित्तस्य संख्याभ्रंशो यदा भवेत् ।
पुनरादौ समारभ्य सम्यक् कृत्वा समापयेत् ॥
निद्रया चाभिभूतास्तु पतन्ति साधका यदि ।
तदार्द्धलक्षं जप्तव्यमपाते त्वयुतं जपेत् ॥

निद्रालुं प्रति च औषधम्,—

य: सततमेव निद्रापरिघूर्णितलोचनो दिवारात्नौ।
वायसजङ्घामूलं मूर्द्धि तदीये निबध्नीयात्॥
सिन्धुस्थमुस्तबृहतीफलयष्टिचूर्ण-
नस्येन नश्यति नृणां विषमापि निद्रा॥
दशमूलीरसः पेयः कणायुक्तः कफानिले।
अविपाकेऽतिनिद्रायां पार्श्वरुक्श्वासकासयोः॥

इति। दशमूलीच,—

विल्वशोनाकगम्भारी पाटली अग्निकारिका।
शालपर्णी कृष्णपर्णी बृहतीद्वयगोक्षुरैः।

प्रमादाज्जपभ्रंशे च तत्पूर्व्वं तत्समं जपेत्।

कामतोऽपि जपभ्रंशे तत्र सर्व्वं जपेत्पुनः।
जपकाले यदा पश्येदशुचिं मन्त्रवित्तमः।
प्राणायामं ततः कृत्वा जपशेषं समापयेत्॥
यदा चैव भवेन्मन्त्री स्वयमप्यशुचिः पुनः।
त्रिराचम्य यथापूर्व्वं न्यासं कृत्वा पुनर्जपेत्॥
जीर्णे स्नात्वा शतं साष्टं गायत्र्या परिकीर्त्तयेत्।
आसनस्थो जपेन्मन्त्री मन्त्रार्थगतमानसः॥
शान्तिके पौष्टिके शुक्लं रक्तं वश्यादिमोहने।
पीतं स्तम्भनमोहेषु कृष्णञ्च मारणे रिपोः॥
ज्योतीरूपं परं तत्त्वं मोक्षकामो विचिन्तयेत्।

कौशेयं वाथवा चार्म्मं शैलं तौलमथापि वा ।
दारवं तालपत्रं वा आसनं परिकल्पयेत् ॥

अन्यत्र विशेष उक्तः,—

धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारवासने ।
पाषाणे व्याधिसम्भूतिर्दारिद्र्यं वंशजासने ॥
तृणासने यशोहानिः पत्रे वै चित्तविभ्रमः ।
कृष्णाजिने ज्ञानवृद्धिर्मोक्षं श्रीर्व्याघ्रचर्म्मणि ॥
कौशेये पौष्टिकादिः स्यात् शान्तिकं चित्रकर्म्मणि ।
वस्त्रासने व्याधिनाशः कम्बले दुःखमोचनम् ॥
आभिचारादिके नीलं पीतं स्तम्भनकर्म्मणि ।
रक्तं वश्ये सितं शान्तौ चित्रं स्यान्मन्त्रसिद्धये ॥
प्रसार्य्य न जपेत् पादौ कुक्कुटासनमेव च ।
अनासीनः शयानो वा रथ्यायां गुरुसन्निधौ ॥
मोक्षार्थी प्राङ्मुखो भूत्वा श्रीकामश्चाप्युदङ्मुखः ।
प्रत्यङ्मुखस्तु वश्यार्थी दक्षिणास्योऽभिचारकृत् ॥

---

## अथाक्षमालालक्षणम् ।

धर्म्मार्थकाममोक्षार्थं जपेत् पद्माक्षमालया ।
सर्व्वकामप्रसिद्धार्थं जपेत् रुद्राक्षमालया ॥
राज्यप्रत्यक्षतासिद्ध्यै स्फाटिकं वाथ मौक्तिकम् ।

अन्यत्र च,—

रुद्राक्षैर्मनोरथावाप्तिः पद्माक्षैः शत्रुनाशनम् ।
पुत्रञ्जीवैः पुत्रसंपत् कुशग्रन्थ्याऽघक्षयः ॥
रौप्यैः स्वर्णैश्च कामाप्तिर्धनलाभः प्रबालकैः ।
मुक्ताभिः श्रीः स्फाटिकैस्तु सौभाग्यं शङ्खकैर्यशः ॥
मेधां वीर्य्यं तथा तेजो लिप्सुभिस्ताम्रकेण तु ।

तथा,—

पुत्रञ्जं पुत्रजीवार्थे पद्मकं चाणिमादिकृत् ।
इन्द्राक्षं राज्यदं प्रोक्तमरिष्टं रिपुशान्तिकृत् ॥

मौक्तिकं सुतवर्द्धनम् ।

तथा,—

राजतं शान्तिके प्रोक्तं मोक्षे रुद्राक्षपुष्करैः ।
विभूतये जपेद्रत्नैः कुशबन्धैर्विमुक्तये ॥
विप्रादिसर्व्ववर्णानां रुद्राक्षः सर्व्वकामदः ।

तथा,—

अङ्गुलीभिरेकगुणं जप्यं रेखाभिरष्टगुणम् ।
पुत्रञ्जीवैर्दशगुणं शङ्खमणिभिः शतगुणं प्रबालैः ॥

सहस्रगुणं स्फाटिकैरयुतगुणं पद्माक्षैर्लक्षगुणं सौवर्णैः कोटिगुणं कुशग्रन्थ्या दशकोटिगुणं रुद्राक्षैरनन्तकञ्च ।

नृसिंहकल्पे,—

कोटिर्भवेत्तु रुद्राक्षैः पद्माक्षैस्तु विशेषतः ।
सितपद्माक्षमालाभिर्जपे स्यादद्भुतं फलम् ॥

तथा,-

रुद्राक्षजं महाभूत्यै मुक्तिदं परमं स्मृतम् ।
एकवक्त्रैस्त्रिवक्त्रैश्च चतुर्वक्त्रैश्च पञ्चभिः ॥
षड्वक्त्रैर्वाथ कर्त्तव्यं तस्मान्मिश्रैस्तु वर्जयेत् ॥
मुखे मुखञ्च कर्त्तव्यं मूले मुलं च वर्जयेत् ।
एवं हि सर्व्वरत्नानां वृक्षजेषु फलेषु च ॥
रुद्राक्षं कपिलं वृत्तं दृढ़ं कठकसंयुतम् ।
शतेनाष्टोत्तरेणैव उत्तमं परिकीर्त्तितम् ॥
तदर्द्धान्मध्यमं शस्तं तदर्द्धात्तु कनीयसम् ॥
उत्तमा च शतं पुण्यं पञ्चाशद्भिश्च मध्यमा ।
कणीयः पञ्चविंशत्या परिमाणं विधीयते ॥
पुष्ट्यर्थी सप्तविंशत्या धर्म्मार्थी त्रिंशता जपेत् ।
मोक्षार्थी पञ्चविंशत्या अभिचारेषु षोड़श ॥
ग्रन्थयर्द्धमेकमेवार्थं कर्त्तव्यं तन्न लङ्घयेत् ।
मेरुं न लङ्घयेन्मन्त्री लङ्घनाद् दोषभाग् भवेत् ॥
मेरुहीनाक्षमाला तु कर्त्तव्या वा प्रयत्नतः ।
तस्मात् शतगुणं पुण्यं न दोषो मेरुलङ्घने ॥

इति । कालोत्तरे,—

समेरुं मेरुहीनं वा जप्यसूत्रन्तु कारयेत् ।

इति । आग्नेये,—

सर्व्वासामक्षमालानां सूत्रं कार्पासिकं शुभम् ।

पञ्चाक्षसूत्रादिशान्त्यर्थम्,—

पाद्मैः कार्पासकैः चौमैः सूत्रैर्मालान्तु कारयेत्।
कन्याकर्त्तितसूत्रेण त्रिवृता त्रिवृतेन वा॥
ग्रथिता चाक्षमाला स्यात्———— ॥

तथा,-

माला गोपुच्छिकाकारा ब्रह्मसूत्रसमन्विता।
निश्चला ग्रथिता व्यग्रान्योन्यदृष्टिविवर्जिता॥
सशब्दा सचला यातु त्रुटिता मर्म्मिता तथा।
छिद्रसूत्रेण ग्रथिता पाषण्डस्था पुरातनी॥
माला दुःखप्रदा नित्यं ग्रथिता रक्ततन्तुना।
त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा पञ्चगव्योषितां तथा॥
पञ्चगव्येन संक्षाल्य गन्धतोयेन चैवहि।
पात्रेष्ववस्थितां मालां कवचेनावगुण्ठयेत्॥
धेनुमुद्रामृतीकृत्य रक्षयेदस्त्रमन्त्रतः।
यस्य देवस्य यन्मन्त्रं तन्मन्त्रं तत्र विन्यसेत्॥
तेनैव पूजयेद् विद्वान् होमयेत् तिलसर्पिषा।

अन्यत्र तु,-

द्विषट्काक्षरमन्त्रेण प्रणवेनाष्टाक्षरेण वा।
देववत्पूजयेत्सम्यक् स्पृष्ट्वा च जपमाचरेत्॥
अष्टोत्तरसहस्रं वा अष्टोत्तरशतं तु वा।
ततो जपं प्रकुर्व्वीत मालया बुद्धिरूपया॥

शैवमन्त्रार्थमालायान्तु,—

क्षालयेत् सद्योजातेन वामदेवेन पूजयेत्।
धूपयेत् बभ्रुरूपेण लेपयेत् तत्पुरुषेण तु॥
मन्त्रयेदीशमन्त्रेण प्रत्येकञ्च शतं शतम्॥
मेरुञ्च पञ्चमेनैव तथाघोरेण मन्त्रयेत्।
मुद्राष्टकं दर्शयित्वा प्रत्येकं पूजयेत् क्रमात्॥
मेरुञ्च पञ्चभिः पूज्य पूजयेच्च यथा शिवम्।
प्रतिष्ठिता भवेन्माला सर्व्वकामप्रसाधिका॥

इति।

अङ्गुष्ठेन जपेज्जाप्यमन्यैरङ्गुलिभिः सह।

तथा,—

अनामिकाङ्गुष्ठमाक्रम्य जपं कुर्य्याच्च मानसम्।
मध्यमाङ्गुष्ठमाक्रम्य जाप्यं कुर्य्यादुपांशुकम्॥
तर्ज्जन्यङ्गुष्ठमाक्रम्य जाप्यं भाष्यञ्च कारयेत्॥

इति।

यत्तु प्रपञ्चसारे अष्टाक्षरपटले,—"तर्ज्जनीवर्ज्जिताभिः" इत्युक्तं तदष्टाक्षरमन्त्रस्यैवासाधारणमिति बोद्धव्यम्।

अधश्वरेण भुक्त्यर्थं कर्षयेदष्टसूत्रकम्।
ऊर्द्ध्वमार्गेण ह्वत्वा तां प्रक्षिपेच्च शनैः शनैः॥
वाचिकस्त्वाभिचाराय उपांशुः शान्तिपौष्टिके।
मानसं मोक्षसम्पादि त्रयमेतत्प्रकीर्त्तितम्॥

परकर्णस्रुतं यावद् वाचिकः प्रोच्यते बुधैः।
दन्तोष्ठरसनायुक्त उपांशुः परिकीर्त्तितः॥
आब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्तं मूलाधारं यदुच्यते।
मानसं तद् विजानीयान्निश्चितं मुक्तिदायिकम्॥
स्वमन्त्रं चाक्षसूत्रं वा गुरोरपि न दर्शयेत्।
जपकाले च गोप्तव्यं प्रयत्नेन च षड़्मुख॥
परदृष्टिगता माला यदि स्यान्निष्फलो जपः।
अक्षसूत्रे नवे च्छिन्ने सहस्रन्तु जपेद् बुधः।
शतं सुजीर्णके च्छिन्ने हस्तभ्रंशात् तथा शतम्॥
अक्षमालां करभ्रष्टां क्षालयेद् गन्धवारिणा।
गायत्र्या शतजप्तेन नमस्कुर्य्याद् गुरु' ततः॥
अशुचिस्पर्शने मालां क्षालयेद् गन्धवारिणा।
शूद्रादिस्पर्शने माला पुनः संस्कारमर्हति॥
नोच्छिष्टेन तु स्प्रष्टव्या स्त्रीणां हस्ते न कारयेत्।
आकाशे स्थापनं कुर्य्याद् यदीच्छेत् परमां गतिम्॥

अक्षमालाऽसम्भवे अङ्गुलीभिस्तत्पर्व्वभिर्वा गणयेत्। यद्यपि,—

"अभावेत्वक्षमालायाः कुशग्रन्थ्याथ पाणिना।"

इति पाणिमात्रमशक्तौ विहितं तथाप्यत्राङ्गुलिभिर्जपादष्टगुणो रेखाभिर्ज्ञेय इति द्वैविध्यं दृश्यते। तत्र रेखाशब्देन रेखावच्छिन्नानि पर्व्वाणि ग्राह्याणि

रेखासु नैव सर्व्वासु न मध्यमादिपर्व्वणोः।

इति निषेधात्। तथा,—

अनामिकाया मध्ये तु मध्यादधः क्रमेण तु ।
तर्ज्जन्यादिपर्व्वान्तमक्षमाला प्रकीर्त्तिता ॥

मध्यमादिकं पर्व्व जपकाले वर्जयेदिति पूर्व्वसेवायां यो मन्त्र आराध्यते स कराङ्गुलिपर्व्वसंख्यया जपितव्य इत्युक्तम् ।

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्व्वतमस्तकम् ।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धोर्वा सङ्गमः पावनं वनम् ॥
उद्यानानि विविक्तानि विल्वमूलं तटं गिरेः ।
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम् ॥
साधनेषु प्रशस्यन्ते स्थानान्येतानि मन्त्रिणाम् ॥
चतुरस्रं भुवं भित्वा कोष्ठानां नवकं लिखेत् ।
पूर्व्वकोष्ठादि विलिखेत् सप्त वर्गाननुक्रमात् ॥
लक्षमाग्नेयकोष्ठेषु स्वरान् युग्मक्रमाल्लिखेत् ।
दिक्षु पूर्व्वादितोऽप्यत्र क्षेत्राख्याद्यक्षरं स्थितम् ॥
मुखन्तु तस्य जानीयाद्धस्तावुभयतःस्थितौ ।
कोष्ठे कुक्षिरुभे पादौ देशिष्ठं पुच्छमीरितम् ॥
मुखस्थो लभते सिद्धिं करस्थः स्वल्पजीवनः ।
उदासीनः कुक्षिसंस्थः पादस्थो दुःखमाप्नुयात् ॥
पुच्छस्थः पीड्यते मन्त्री बन्धने घंटनादिभिः ।
कूर्म्मचक्रमिदं प्रोक्तं मन्त्रिणां सिद्धिसाधनम् ॥
यज्जपे देवता नित्यं प्रीयमाणा प्रसीदति ।
प्रसन्ना विपुलान् भोगान् दद्याद्दृष्टिञ्च शाश्वतीम् ॥

जपेन चाघः प्रशमेदशेषं
यद्यत्कृतं जन्मपरम्परासु।
जपेन रोगान् प्रशमेच्च मृत्युं
जपेन सिद्धिं लभते च मुक्तिम्॥

यावन्तः कर्म्मयज्ञाश्च सूत्रितानि तपांसि च।
सर्व्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम्॥

अष्टाक्षरे चैव विशेषः पञ्चरात्रोक्तः,—

ऋषिरस्य मनोः साध्यो नारायण इतीरितः।
छन्दश्च दैवी गायत्री परमात्मा च देवता॥
अथ क्रुद्ध महावीर द्युसहस्रपदादिकैः।
उल्कैर्जातियुतैः कुर्य्यात् पञ्चाङ्गानि मनोः क्रमात्॥

अत्रोल्कापदं चतुर्थ्यन्तं कृत्वा स्वाहापदं योज्यम्।

मन्त्रैः क्रुद्ध महावीर द्युसहस्रेति पञ्चभिः।
प्रत्येकन्तु प्रयोक्तव्यमुल्कामित्युत्तरं पदम्॥
एषां विभक्तियुक्तानां स्वाहाशब्दो भवेत्ततः।

इति नारदीयकल्पवचनात्।

भूयो वर्णैर्मनोःषड्भिः षडङ्गानि समाचरेत्।
अवशिष्टौ पुनर्वर्णौ विन्यसेत् कुक्षिपृष्ठयोः॥
सन्दीक्षितो मनुमिमं प्रतिजप्तुमिच्छन्
कुर्य्यान्निजेन वपुषेव च योगपीठम्।

तत्प्रकारश्चान्यत्रोक्तः,—

अंशोरुयुग्मयोर्विद्वान् प्रादक्षिण्येन देशिकः ।
धर्म्मं ज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्य्यं न्यस्य च क्रमात् ॥
मुखपार्श्वे नाभिपार्श्वेष्वधर्म्मादीन् प्रकल्पयेत् ।
अनन्तं हृदये पद्ममस्मिन् सूर्य्येन्दुपावकान् ।
सत्वादीन् त्रिगुणान् न्यस्य तथैवात्र समाहितः ।
आत्मानमन्तरात्मानं परमात्मानमेव च ।
ज्ञानात्मानञ्च विन्यस्य न्यसेत् पीठमनुं ततः ।

पीठमनुश्च,—

प्रणवं हृदयञ्चैव प्रोक्ता भगवते पदम् ।
विष्णवे च समाभाष्य सर्व्वभूतात्मने पदम् ॥
वासुदेवाय सर्व्वात्मसंयोगपदमुच्चरेत् ।
योगपद्मपदे प्रोक्ता ततः पीठात्मने नमः ॥

अत्र मूलाधारादौ मण्डुकादिन्यासः प्रपञ्चसारानुक्तत्वादुपेक्षितः । न्यासश्च यद्यपि प्रथमान्तनामप्रयोगमात्रं स्यात् तथापि न्यासोत्तरकालविहितपूजापि तन्त्रेण सिद्ध्यति । अतः प्रणवादिनमोन्तचतुर्थ्यन्तनामप्रयोगसमाचारः ।

एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम् ।
अस्त्रमन्त्रप्रदिग्धाङ्गो मन्त्रवर्णांस्तनौ न्यसेत् ॥
विन्यस्तै र्यैर्भवेन्मन्त्री मन्त्रवर्णात्मको हरिः ।
आधारहृद्वदनदोःपदमूलनाभौ
कण्ठे समाभिहृदयस्तनपार्श्वपृष्ठे ।

आत्मेक्षणश्रवणगन्धवहे च दोःपत्-
सिद्धाङ्गुलीषु हृदि धातुषु सानिलेषु ॥
मूर्द्धेक्षणास्यहृदयोदरसोरुजङ्घा-
पादद्वयेषु लिपिशो न्यसतु क्रमेण ।
गण्डांशकोरुचरणेषु रथाङ्गशङ्ख-
श्रीमद्गदाम्बुजपदेषु समाहितात्मा ॥
एवं सदा कृतन्यासं नरं नारायणाश्रयम् ।
भुजगा इव पक्षीन्द्रं नानुयान्त्यपमृत्यव: ॥

"अस्त्रमन्त्रप्रबद्धाङ्ग" इत्यनेनाङ्गुलिन्यासमुक्तमस्त्रमन्त्रेण ताल-त्रयं कृत्वा तेनैव बन्धयेत् । "दिशो दश" इति यत् पूर्व्वं जप-सामान्यविधावुक्तं तदनूद्य तदनन्तरं वर्णन्यासो विहितः । अष्टा-क्षरप्रपूर्त्त्यर्थं यत् पूर्व्वं "स्मर्त्तव्यो द्वादशाक्षर:" तत् स्मरणप्रकार-मेवाह । तत्र द्वादशमूर्त्तिस्तत्प्रतिभिन्नांस्तनौ न्यसेत् । तत्प्रतिभिन्ना द्वादशाक्षरैकाक्षरयुता । मूर्त्तीनां शब्दार्थं तन्न्यासे विशेषणम् । केशवादिप्रदिष्टानां मूर्त्तीनामादितः,—

आदिस्वरयुतां न्यस्येत् ता स्युर्द्वादशमूर्त्तय: ।

विशेषणान्तरमाह,—

आदित्या द्वादश प्रोक्ता युक्ता द्वादशमूर्त्तिभिः ।

केशवादयश्च—केशवनारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधुसूदनत्रि-विक्रमवामनश्रीधरहृषीकेशपद्मनाभदामोदराः ।

धातर्य्यममित्राख्या वरुणांशुभगा विवस्वदिन्द्रयुताः ।
पूषाह्वयपर्ज्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानव: प्रोक्ताः ॥

नचानेनादित्यानामेव प्राधान्यम् । मूर्त्तीर्न्यसेदिति पूर्व्वोक्त-प्रधानीभूतमूर्त्त्यनुवादेनादित्यविशेषणमात्रविधिपरत्वादस्य । तेन अं ॐ धातृसहिताय केशवाय नम इत्येवमेव प्रयोगः ।

यत्तु,—

केशवादियुगषट्कमूर्त्तिभि-
र्धातृपूर्व्वमिहिरान् नमोऽन्तकान् ।
द्वादशाक्षरभवान् स्वरैस्तथा
क्लीववर्णरहितैः क्रमान्न्यसेत् ॥

इति गोपालमन्त्रक्रमदीपिकावाक्यदर्शनादत्रापि सप्तमादिषु ऋकारादीन् विहाय इकारादीन् योजयन्ति तन्न साम्प्रदायिकम् । "आदिस्वरयुतां न्यसेत्" इत्येतावन्मात्रविधानात् । तट्टीकाकारै-र्मन्त्रमुक्तावल्यां च क्लीववर्णयोगेनैव लेखनात् । ऋकारादित्यागे तन्मूर्त्तीनां त्रिविक्रमादीनामपि त्यागापत्तेः । एकारादिस्वरयोगे च तन्मूर्त्तीनां वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां योगापत्तेः । शारदातिलके च विवस्वद्युक्तं त्रिविक्रममनन्तरमित्यादिना तद-नङ्गीकारादिति । यत्तु,—कीर्त्त्यादीनां शक्तीनां वासुदेवसङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धानामपि केचिद् योगमिच्छन्ति तत् प्रपञ्चसारे नोक्तम् । शक्त्याद्याः सर्व्वकामदा इति शक्तीनां मूर्त्त्यादित्वमुक्तम् । तन्न तावन्मूर्त्तीनां शक्तियोगनियमः किन्तु यत्र शक्तयो विहितास्तत्र मूर्त्तियोगः सोऽपि काम्यो न नित्यः । अन्यत्रापि ततस्तन्मन्त्र-वर्णयोर्द्वादशाक्षरसंयुता द्वादशादित्यसहिता मूर्त्तीर्द्वादश विन्यसे-दित्युक्तम् । तस्माच्छक्तियोगोक्तादपि वैकल्पिक एवायं स्यात् ।

## न्यासस्थानानि।

ललाटोदरहृत्कण्ठदक्षपार्श्वांशतद्‌गिले।
तथा वामत्रये पृष्ठककुदोश्च यथाक्रमम्॥

द्वादशाक्षरमन्त्रञ्च मूर्द्ध्नि विन्यसेत्।
मूर्द्धस्थो वासुदेवस्तु व्याप्नोति सकलां तनुम्।

इति। तस्य च ऋषिः प्रजापतिश्छन्दो गायत्री देवता विष्णुः।

पदैः समस्तैश्चाङ्गानि पञ्च स्युर्द्वादशाक्षरे।
पुनस्तत्प्रतिपत्त्यर्थं किरीटाख्यमनुं जपेत्॥

अन्यत्र "पुनः किरीटमन्त्रेण व्यापकं विन्यसेत् तत" इति किरीटकेयूरहारगदादीन्याभाष्य मन्त्रवित्,—

मकरान्ते कुण्डलन्तु चक्रशङ्खगदादिकम्।
अब्जहस्तपदं प्रोक्ता पीताम्बरधरेऽपि च॥
श्रीवत्साङ्कं समाभाष्य वक्षःस्थलमथो वदेत्।
श्रीभूमिसहिते स्वात्मज्योतिर्द्वयपदं वदेत्॥
दीप्तमुक्ताकरायेति सहस्रादित्यतेजसे।
हृदन्तः प्रणवादिःस्यात् किरीटाख्यमनुस्त्वयम्॥

कृत्वा स्थण्डिलमस्मिन् निक्षिप्य निकाशिकां समुपविश्य पीठादिकं निजाङ्गेषु प्रयुज्य गन्धादिभिः शुद्धमनाः सद्वादशाक्षरान्तं प्रयुज्य विधिवत् किरीटमन्त्रेण कुर्य्यात् पुष्पाञ्जलिमपि पञ्चशोऽथवा त्रिशः। अत्र पीठादिकमित्यनेन पूर्व्वन्यस्तानाञ्च धर्म्मादीनां

पीठमन्त्रादीनां पूजोक्ता । द्वादशाक्षरान्तमिति द्वादशाक्षरादि-
युक्तानां ललाटादिषु द्वादशाक्षरेण मूर्द्ध्नि पूजोच्यते ।

तथा,—

पद्मासनः प्राग्वदनोऽप्रलापी
तन्मानसस्तर्ज्जनिवर्ज्जिताभिः ।
अक्षस्रजा चाङ्गुलिभि र्ज्जपेत्तु
नातिद्रुतं नातिविलम्बितञ्च ॥

तथा कल्पोक्तो विशेषः,—

पादाङ्गुष्ठौ निग्टह्णौ जान्वभ्यन्तरयोर्द्वयोः ।
दक्षिणोत्तरमासीत स्वस्तिकं हि तदासनम् ॥
पद्मं वा स्वस्तिकं वापि बद्ध्वा चान्यतरासनम् ।
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि जपन्नासीत शान्तये ॥
जपः स्यादक्षरावृत्तिः स उच्चोपांशुमानसः ।
उच्चादुपांशुरुत्कृष्टः उपांशोरपि मानसः ॥
सप्रणवो जपो जाप्यो जपादप्रणवादपि ।
पादावष्टाक्षरस्यात्र प्रणवः सार्व्वकामिकः ॥
आद्यन्तयोस्तु यद्येषु भवति ज्ञानवृद्धये ।
उदात्तः स्वर ओंकार उभयत्रापि सर्व्वदा ॥
आहितः संहितां कुर्य्यादुत्तरत्र न संहिता ।
मध्यमस्वरमध्यर्द्धं त्रिमात्रं प्रणवं परम् ॥
जपन्नाद्यन्तयोः कृत्वा शीघ्रं विज्ञानवान् भवेत् ।
षष्ठाद्ययोरुदात्तःस्यात् स्वरितेति द्वितीययोः ॥

प्रचितस्त्रिचतुर्थाभ्यां निहितं पञ्चमाचरम् ॥
आदौ स्मृत्वा ऋषिच्छन्दोदेवताबीजशक्तयः।
कृत्वा न्यासं सदिग्बन्धं जपं कुर्य्यात् स्वरैः सह ॥
अन्तर्य्यागस्य विद्वद्भि ऋषिरित्यभिधीयते।
येन तद्दृक्षिणादृष्टं सिद्धिः प्राप्ताथवा भवेत् ॥
मन्त्रेण तस्य तत् प्रोक्तमृषेर्भावस्तदार्षकम्।
एतत् प्रथमदृष्टत्वमात्रेणार्षत्वमभिप्रेत्योक्तम्।

पञ्चरात्रेषु प्रथमवक्तृर्षित्वमभिप्रेत्य,—

सर्व्ववेदरहस्येभ्यः सार एष समुद्धृतः।
विष्णुना वैष्णवानाञ्च——— ॥

इतिवचनात् साध्यनारायण इत्युक्तम्। "नारायण एव सर्व्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इति ब्रह्मण्यपि नारायणशब्दप्रवृत्ते-र्गृहीते देहस्यैव वक्तृत्वसम्भवात् साध्येति विशेषणम्।

गौतमोऽथ भरद्वाजो विश्वामित्रो ऋषिस्तथा।
जमदग्निर्वशिष्ठश्च कश्यपश्चात्रिरेव च ॥
अगस्त्य इति निर्द्दिष्टा ऋषयोऽष्टौ यथाक्रमम् ॥
छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्त तत्राष्टमी विराट्।
ध्रुवोऽध्वरस्तथा सोम आपोऽग्निर्वायुरेव च।
प्रत्यूषश्च प्रभावश्च विज्ञेया देवता इमाः ॥
क्षेत्राणि प्रवदन्त्येषां भूर्भुवःस्वर्महर्जनः।
तपः सत्यमितीमानि परमात्मा तथाष्टमः ॥

अग्निर्भूर्वायुराकाशः सूर्य्यो द्यौश्चन्द्रमास्तथा ।
नक्षत्राणीति तत्वानि देवताश्चेति केचन ॥
यश्चोत्तरीयकण्ठ्यादिविन्दुमान् विष्णुरन्ततः ।
बीजमष्टाक्षरस्यान्ते न चाष्टाक्षरता भवेत् ॥
षष्ठपञ्चदशाद् वर्णात् केवलव्यञ्जनीकृतात् ।
उत्तरो मन्त्रशेषस्तु शक्तिरित्यस्य कथ्यते ।

तथा,—

पञ्चविंशतिकृत्वोऽन्तः प्राणानायम्य मानसः ।
अभ्यासोऽष्टाक्षरस्यैव प्राणायामोऽयमुच्यते ॥
अष्टाक्षरेण कर्त्तव्याः प्राणायामास्त्रयस्त्रयः ।
जपस्याद्यन्तयोर्नित्यं सम्यगव्यग्रया धिया ॥

तथा,—

प्रथमः स्यात् करन्यासो देहन्यासस्तु मध्यमः ।
अङ्गन्यासस्ततस्त्वन्त इत्येवं भवति त्रिधा ॥
मन्त्राभिमृष्टयोः पाण्योरक्षराणि यथाक्रमम् ।
अष्टौ अष्टौ पृथक् न्यस्येदङ्गुलीष्वपि चाष्टसु ॥
तत्रोभयत्र ओंकारं वर्णं विन्दुमदक्षरम् ।
अङ्गुलावङ्गुलौ न्यस्येदेवं त्रीणि च पर्व्वसु ॥

त्रीणि,—प्रणवद्वययुक्तैकैकमन्त्राक्षराण्यक्षराणि ।

तर्ज्जन्यादिकनिष्ठान्त उभयोरपि हस्तयोः ।
स्थितिर्नाम भवेन्न्यासो नानाभोगसुखावहः ॥

उक्तोऽक्षरन्यासः कर एव ।

न्यासान्तरमाह,—

अकनिष्ठाङ्गुलेः पाण्योरङ्गुष्ठादिरनुष्ठितः।
भवत्येषोऽङ्गमन्त्राणां स्थितिर्नाम महोदयः॥
अङ्गुष्ठेनाचरेन्न्यासमन्याङ्गुलिसमाश्रयः।
अङ्गुष्ठविषयं न्यासं तर्ज्जनीभिरसैव हि॥

अयं करन्यासः।

मूर्द्ध्नि प्रारभ्य हस्ताभ्यामावामचरणाग्रतः।
न्यसेत् सर्व्वेषु गात्रेषु मूलमन्त्रमनन्यधीः॥

अयं देहन्यासः।

तदङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां न्यसेदुदरमध्यतः।
अनङ्गुष्ठाभिरन्याभिरुपस्थे जानुनोरपि॥
पञ्चभिः पादयोः पृष्ठे मूर्द्ध्नि मध्यमयैकया।
तर्जनीमध्यमाभ्यान्तु चक्षुषोर्युगपद्द्वयोः॥
साङ्गुष्ठयानामिकया घ्राणस्य पुरतो मुखे।
अङ्गुष्ठतर्ज्जनीभ्यान्तु हृदये विन्यसेत्क्रमात्॥

मूलमन्त्राक्षराणीति शेषः। अयमङ्गन्यासोऽभिहितः। वामतर्ज्जन्यादिदक्षिणतर्ज्जन्यन्त ओंकाराद्यक्षराणां दक्षिणाङ्गुष्ठादिवामाङ्गुष्ठपर्य्यन्तमङ्गमन्त्राणां शिरः प्रभृति पादपर्य्यन्तमक्षराणां न्यास उत्पत्तिसंज्ञकः। दक्षिणतर्ज्जन्यादिवामतर्ज्जन्यन्तं वामाङ्गुष्ठादिदक्षिणाङ्गुष्ठपर्य्यन्तं पादादिशिरःपर्य्यन्तं संहाराख्यः।

अत्र यद्यपि,—

उत्पत्त्यादि गृहिणां ब्रह्मचारिणां स्थित्यादिः संहारादिर्यतीनामित्येवं त्रयमपि त्रयाणामिति बृहत्कल्पेऽभिहितं तथापि,—

संहारः स्यान्मुमुक्षूणामुत्पत्तिर्ब्रह्मचारिणाम् ।
गृहस्थानान्तु सर्व्वेषां स्थितिरेवं विधीयते ॥

इत्यन्यत्राभिधानादियं नित्या गृहस्थानाम् । अन्यद् द्वयं वैकल्पिकमेव । ततश्च,—

हृदि मूर्द्ध्नि शिखास्थाने हृदये बाहुपार्श्वयोः ।
पञ्चानामङ्गमन्त्राणां न्यासं पञ्चसु कल्पयेत् ॥
त्रयाणां हृदयादीनां न्यासो दक्षिणपाणिना ।
द्वयोरन्तरयोर्द्वाभ्यां हस्ताभ्यामिति कथ्यते ॥
अङ्गुष्ठवर्जमङ्गुल्यश्चतस्रो हृदि मूर्द्धनि ।
शिखायां मुष्टिरेव स्यादङ्गुष्ठे कृतनामकः ॥
सर्व्वाङ्गुलिभिरानाभे पाण्योः कवचबन्धने ।
अङ्गुष्ठतर्ज्जन्यग्राभ्यां हस्तयोरपि शब्दयेत् ॥
ततश्चतुर्भिर्दिग्बन्धै र्दुर्गाद्याः कोणदेवताः ।
तत्र तत्र नमेद् मुद्रा दक्षिणाङ्गुष्ठशब्दनात् ॥
आग्नेयादिषु कोणेषु दुर्गा विघ्नेश एव च ।
गुरवो गरुड़श्चैव अन्ततो नम उच्यते ॥
नमः संसरणं शौचं मन्त्रार्थपरिचिन्तनम् ।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसंसिद्धिहेतवः ।

मन्त्रार्थश्च,—

अस्मत्प्रत्युत्थितया निर्द्दिष्टः सोऽहमर्थवाचकः पूर्व्वम्।
नानन्तः प्रतिषेधार्थो मोकारश्चायमर्थको भवति॥
सलिलानलपवनधराः क्रमेण नारायणाक्षराः प्रोक्ताः।
चरमे यस्तत्र विभक्तं व्यक्त्यर्थं दर्शितस्तदर्थार्थे॥

अत्र अपरः प्रणवः शक्तिर्विन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिर्मतः।

पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।
पुरुषस्य विदित्वा स्वं सोऽहं भावमुपागमत्॥

इत्युक्तो मन्त्रस्तदुत्थितया सकारं हकारञ्च लोपयित्वा प्रयोजयेदित्येवं प्रकारेण। एतेनैतदुक्तं भवति,—जड़रूपं सलिलादिमयोऽयं देहादिसंघातो नाहं किन्तु तदशेषजन्मस्मरणादिहेतुतया तदर्थं तदेवं परिपूर्णचैतन्यरूपं ब्रह्मैवास्मीति।

तथा,—

नम इति पदमेतच्छक्तिजीवात्मतत्वं
वदति लिखिलमूलं ब्रह्मनारायणेति।
परिवदति तदैक्यं व्यक्तमायेति तस्मात्
च्यवितनिखिलभेदः पूर्णमोदोऽहमस्मि॥

इति केचित्। अथवा

यः परः प्रकृतेः प्रोक्तः पुरुषः पञ्चविंशकः।
स एव सर्व्वभूतात्मा नर इत्यभिधीयते॥
नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति ततो विदुः
तान्येव चायनं तस्य तेन नारायणः स्मृतः॥

यच्च किञ्चिज्जपेत् सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्वहिश्च तत्सर्व्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

इत्येवं यः कपिलगोतमकणादिभिः सर्व्वज्ञः सर्व्वकर्त्ता सर्व्वाराध्यो भक्तानुग्रहाद्यर्थं स्वेच्छागृहीततादृशदेहात्मभेद इति। भागवतैस्तु,—तादृशे च नित्यता "दृग्देह" इति। मायावादिभिश्च,—"जन्माद्यस्य यतः फलमत उपपत्तेः" इति। एवमनिर्व्वचनीयमायोपहितं ब्रह्म इति। भेदाभेदवादिभिश्च,—केवलमेव ब्रह्म सर्व्वशक्तितया तादृग् इत्युच्यते। यश्च तस्य वाचकः प्रणव इत्यभिधानात्यैव ओंकारवाच्यस्तस्मै भक्तानुग्रहार्थं गृहीतार्चाध्येयमूर्त्तये नारायणाय नमस्कार एव मन्त्रार्थः। तदुक्तं सुरेश्वराचार्य्यैः—

प्रत्यक् ध्यातं चिदाभासं स्वकार्य्यनियमात्मकम्।
तदुपाधिनियन्तैष परः प्रोक्तो नतु स्वतः॥
सर्व्वज्ञः सर्व्वशक्तिश्च सर्व्वात्मा सर्व्वगो ध्रुवः।
जगज्जनिस्थितिध्वंसहेतुरेष महेश्वरः॥
एवमेव समुद्दिश्य मन्त्रो नारायणः सदा।
वेदविद्भिर्महाप्राज्ञैः पुरुषे विनियुज्यते॥

इति। अयञ्चार्थो व्याकरणानुगतपापक्षयादिफलानुगुणः। पूर्व्वोक्तार्था यद्यपि व्याकरणानुगता स्तथापि अस्य मोक्षसाधनत्वोक्त्यन्यथानुपपत्त्या कल्पनीयाः। तथाहि न तावदस्य मोक्षसाधनत्वं दुरितक्षयद्वारैव तथा सति यत्किञ्चिद्भगवन्नामसङ्कीर्त्तनस्य तथात्वात्। अस्य "नारायणाय नम" इत्ययमेव सत्यं

संसारघोरविषसंहरणाय मन्त्रः

इत्यादिविशेषोक्तिः । सर्व्वपापहर इत्युक्त्वा पुनः सर्व्वदुःखहर इति संसारार्णवतारण इत्यभिधानात् कथं संगच्छते तस्मादात्म-ब्रह्मताज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वात् तत्प्रतिपादकत्वेनैवास्य तत्त्वमिति ।

"ऋषिभूर्वाचकः शब्दो यश्च निर्वृतिवाचकः ।"

इत्यादिनिरुक्तिरूपेणैवास्य तत्त्वं कल्पनीयम् । व्याकरणा-सिद्धस्यापि विवक्षितस्य शब्दार्थस्य यथाकथञ्चिद् वर्णसाम्यादिना कल्पनमेव निरुक्तस्य व्यापारः । नचैकस्य वाक्यस्यार्थद्वयानुपपत्तेः "सर्व्वदोमाधवः पाहि" इत्यादि श्लेषकाव्यवदुपपत्तेः । नन्वेव-मसच्छ्रवणमात्रोपयोग एवेति जपस्य मोक्षहेतुपरत्वं न स्यात् । तत्र,—"किं जपन् मुच्यते चान्ते" इति शुकप्रश्ने

"अष्टाक्षरं प्रवक्ष्यामि मन्त्राणां मन्त्रमुत्तमम् ।
यं जपन् मुच्यते मर्त्त्यो जन्मसंसारबन्धनात् ॥"

इति व्यासोपदेशोऽसङ्गतः स्यात् । मैवं श्रवणावगतस्य ब्रह्मात्मत्वस्य मनननिरस्ताशेषासम्भावनस्य विपरीतवासना-निरासार्थं यद् विजातीयप्रत्ययान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाह-रूपं निदिध्यासनं तत्रान्तर्भावसम्भवाज्जपस्य शाब्दस्य हि प्रत्यया-वृत्तिः शब्दावृत्त्यैव भवेत् प्रमाणावृत्तिमन्तरेण प्रमावृत्तेरयोगात् । न च स्मृतिप्रवाह एवायं स्मृतेरदृष्टाधानसंस्कारोद्बोधजन्यतया तन्निरन्तरप्रवाहस्य पुरुषप्रयत्नासाध्यत्वात् । न च स्मृतिरपि परोक्षार्थगोचरत्वात् प्रमाणमगोचरयन्ती दृश्यते । नह्यग्निहोत्र-स्वर्गसाधनत्वं तद्विधिवाक्यमस्मरणता स्मर्य्यत इति सर्व्वमुपपन्नम् ।

तथा,—

कुशबन्धैर्जपेद् विप्रः सुवर्णमणिभिर्नृपः।
पुत्रञ्जीवफलै र्वैश्यः पद्माक्षैः सर्व्व एव च॥

तत्र कुशबन्धादिना

स्फटिकेन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रञ्जीवसमुद्भवैः।
अक्षमालात्र कर्त्तव्या प्रशस्ताह्युत्तरोत्तरा॥

इत्यादिविहितस्फटिकादिनिवृत्तिः। नह्यत्र वाक्येन प्रकृत-जपसम्बन्धः, विशिष्टानुवाददोषात्। विप्रादिविशेषाणामविवक्षाप्रसङ्गात्। ततो विप्रादिभिरेव कुशबन्धादिसम्बन्धो वाक्यकृतः, अष्टाक्षरजपसम्बन्धस्तु प्रकरणेनैव तच्च वाक्याद् दुर्ब्बलम्। तत्रापि नैषां साक्षात्सम्बन्धसम्भव इत्यङ्गावतरण-न्यायेनाक्षमालासम्बन्धः कल्पनीयः। स्फटिकादेः पुनर्वाक्येनैव साक्षादव्यभिचारितजपसम्बन्धाक्षमालासम्बन्धविधानमिति नैषां तद्बाधनासामर्थ्यम्। न च सामिधेनीनां प्रकरणाधीतेन पाञ्चदश्येन नारभ्याधीतस्य साप्तदश्यस्य बाधनवदत्र सम्भवति तत्र सामिधेनीशब्देनाग्निसमिन्धनार्थमन्त्रमात्राभिधानात् तन्मात्रे च विध्यानर्थक्यात् प्रकरणेनैव पाञ्चदश्यस्य कृतः सम्बन्धो न साप्तदश्यस्य। इह त्वक्षमालाशब्देन वृक्षविशेषादिवाचकत्वाश्व-कर्णादिशब्दवत् जपसाधनतयैषां तद्बाधनसामर्थ्यम्। न च सामिधेनीनां प्रकरणद्रव्यस्यैवाभिधानात् जुहूपर्णमयीत्ववत् वाक्येनैव स्फटिकादीनां फलवज्जपसम्बन्धः। ततो यथाप्रकरणा-धीतेनोत्तरवेद्यामग्निं प्रणयति इत्यनेनोत्तरवेदेः प्रणयनमात्र-

सम्बन्धपरेण क्रतुसम्बन्धाकरणात् प्रकरणेनैव तत्सिद्धेरनारभ्याधीतस्यापि वाक्यस्य "अग्निमग्निष्टोमेनानुयजति" इत्यस्य वाक्यस्य साक्षात् क्रतुसम्बन्धपरस्य न यथा बाधस्तथेहापि न बाधः। तस्माद् ब्राह्मणादीनां प्राशस्त्यमात्रपरमेवैतत्।

तथा,—

सहस्रगुणितो ज्ञेय ऊर्द्धपुण्ड्रवतो जपः।
ब्राह्मणस्योर्द्धपुण्ड्रं स्यात् क्षत्रियस्यार्द्धचन्द्रिका॥
वैश्यः पुण्ड्रं तथा कुर्य्यात् शूद्रस्यापि त्रिपुण्ड्रकम्॥

इत्येतेन ब्राह्मणस्योर्द्धपुण्ड्रं कर्म्माङ्गतया विधीयते। तेन पुरुषार्थतया विहितस्य भस्मत्रिपुण्ड्रस्य नैतद्बाधकम्। केवलं पुरुषार्थतया गृहीतत्रिपुण्ड्रेणापि जपाङ्गतयोर्द्धपुण्ड्रञ्च कार्य्यमिति।

सूर्य्यस्य प्रतिमायां वा जातवेदस एव वा।
जपकर्म्मणि चैतेषामाभिमुख्यं प्रशस्यते॥
अष्टाक्षरजपं कुर्व्वन्नशुचिं यदि पश्यति।
प्राणायामं सकृत्कृत्वा जपशेषं समापयेत्॥
यथोक्तन्यस्तमन्त्राङ्गो जपन् यद्यशुचिर्भवेत्।
आचम्य पुनरप्येवं न्यसेदष्टाक्षरं शुचिः॥
नाभ्यङ्घ्रिसभ्रूरुचक्षुःशिरोमुखगलेषु च।
एवमष्टाक्षरन्यासं करवर्ज्जं विदुर्बुधाः॥
विशेषस्त्वत्र हस्ताभ्यां न्यसेत्सर्व्वासु सन्धिषु।
अथाङ्गुलीभ्यां ग्रीवायां सर्व्वमन्यत्समं भवेत्॥

उदात्तं बीजमभ्यस्येत्संस्थिते संस्थिते जपे।
अष्टोत्तरशतं नित्यमष्टाविंशतिमेव वा॥
अष्टाक्षरजपः स्त्रीणां प्रकृत्यैव विधीयते।
न स्वरप्रणवाङ्गानि नाप्यन्ये विधयस्तथा॥

तदेतद्वाक्यजातलब्धपर्य्यवसितैतज्जपाङ्गपदार्थक्रमो लिख्यते,-

आसनं गाणपत्यादेर्दुर्गायाश्च नमस्कृतिः।
भूतशुद्धिश्च कल्पोक्तविधिना प्राणसंयमः॥
लिपिन्यासो मूलमन्त्रे ऋंष्यादिन्यसनं तथा।
न्यासश्च वर्ण-ऋष्यादेर्बीजादिस्मरणं ततः॥
तत्रैवाक्षरवर्णानां चिन्ता वैकल्पिकी मता।
स्वदेहे पीठक्लृप्तिः स्यादक्षराणाञ्च पर्व्वसु॥
न्यासस्तथाङ्गमन्त्राणां तालो दिग्बन्धनं ततः।
मूलाक्षरदशन्यासो मूलेन व्यापकं ततः॥
नाड्यादिष्वक्षरन्यासोऽङ्गानाञ्च हृदयादिषु।
दुर्गादिमन्त्रैर्दिग्बन्धोऽष्टाङ्गन्यसनं ततः॥
द्वादशाक्षरवर्णादिन्यासः स्वव्याप्तिचिन्तनम्।
किरीटमन्त्रस्य जपो न्यसनं सर्व्वतस्तथा॥
न्यासस्थानेषु धर्म्मादेर्वासुदेवात्समर्च्चनम्।
नारायणस्य तन्मध्ये किरीटेनार्च्चनं ततः॥
जपेद् ध्यायंश्च मन्त्रार्थं पश्चाङ्गन्यसनं ततः।
प्राणायामो बीजजपो जपाङ्गक्रम ईदृशः॥

प्राणसंयम-ऋष्यादिरङ्गुलिन्यसनं द्वयम्।
व्यापकञ्चाथ नाभ्यादावङ्गानाञ्च हृदादिषु॥
दुर्गाद्यैश्च दिशां बन्धो देवं ध्यायन् जपेत्ततः।
बीजाभ्यासप्राणयमौ कुर्य्यादेतावदेव ताः॥
स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे तथैव च।
नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादप्रणवस्य च॥
वैदिकेषु च सर्व्वेषु सिद्धारं नैव शोधयेत्।

इतिवचनाद् वैदिके तु नार्य्यादिदोषः। वैदिकत्वञ्चास्य ओमित्यग्रे व्याहरेन्नम इत्यन्त इति द्वितीयम्। ओमित्येकाक्षरं नम इति द्वेऽक्षरे नारायणायेति पञ्चाक्षराणि एतद् वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदम्। "यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति अनुपप्लुतः सर्व्वमायुरेति रायस्पोषं गौपत्यं विन्दते प्राजापत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते" इति नारायणोपनिषद् इति। ओं नमो नारायणायेति मन्त्रोपासनेन वैकुण्ठं गमयतीत्यात्मबोधोपनिषदि च श्रुतेरिति। इतरमन्त्रेष्वेव तत्परीक्षा कार्य्या। सा चैवम्,

स्वतारराशिकोष्ठानामनुकूलान् जपेन्मनून्।

तत्र राशिशुद्धिः—

प्रापालाभात् पटुप्राह्यं रुद्रस्याद्रिरुरुः करम्।
लोकलोपपटुप्रायः खलो घो भेषु भेदिताः॥
वर्णाः क्रमात् स्वराश्चन्त्यौ रेवत्यंशगतौ तदा।

अत्र प्रादिसंयुक्ताक्षरे द्वितीयाक्षराणि ग्राह्याणि। तत्र कचटतपादिवर्गव्यवस्थया रादिवर्णैः द्व्यादिसंख्या सूच्यते।

द्व्यादिसंख्या अकारादयोऽश्विन्यादिनक्षत्राणि। अनुस्वारविसर्गौ रेवती। तद् यथा,—

अ आ अश्विनी।१। इ।२। ई उ ऊ।३। ऋ ॠ।४। ए।५। ऐ।६। ओ औ।७। क।८। ख ग।९। घ ङ।१०। च।११। छ ज।१२। झ ञ।१३। ट ठ।१४। ड।१५। ढ ण।१६। त थ द।१७। ध।१८। न प फ।१९। ब।२०। भ।२१। म।२२। य र।२३। ल।२४। व श।२५। ष स ह।२६। ल क्ष अं अः।२७। स्वनामाद्यक्षर-ऋक्षात् मन्त्राद्यक्षर-ऋक्षम्।

जन्मसम्पद् विपत्क्षेमप्रत्यरिः साधको बधः।
मित्रं परममित्रञ्च जन्मादीनि पुनः पुनः॥

इति नामानुरूपफलदो मन्त्रो भवति।

राशिशुद्धिश्च,—

बालं गौरं खुरं शोणं शमोशोभेति राशिषु।
क्रमेण भेदिता वर्णाः कन्यायां शादयः स्थिताः॥

अत्रापि च वकारादिभिश्चतुरादिसंख्याः सूचिताः। तेन अ आ इ ई मेषः।१। उ ऊ ऋ।२। ॠ ऌ ॡ।३। ए ऐ।४। ओ औ।५। अं अः श ष स ह ल क्षः।६। कवर्ग।७। चवर्ग।८। टवर्ग।९। तवर्ग।१०। पवर्ग।११। य र ल व।१२।

मन्त्राद्यस्वनामाद्यक्षरराशितो मन्त्राद्यक्षरराशिं गणयेत्,—

जन्मधनभ्रातृबन्धुपुत्रशत्रुकलत्रकाः।
मरणं धर्म्मकर्म्मायव्यया द्वादश राशयः॥

तथा —

एकपञ्चनवबान्धवाः स्मृता
द्वौ च षष्ठदशमाश्च सेवकाः।
त्रीणि रुद्रमुनयस्तु पोषका
द्वादशाष्टचतुरस्तु घातकाः॥

कोष्ठशुद्धिश्च,—

चतुरस्रे लिखेद् वर्णांश्चतुःकोष्ठसमन्विते।
अकारादिक्षकारान्ताः स्वनामाद्यक्षरादितः॥
सिद्धादीन् कल्पयेन्मन्त्री कुर्य्यात् सिद्धादिभिः पुनः।
सिद्धादीन् सिद्धिदः सिद्धो जपात् साध्यो हुतादिभिः॥
सुसिद्धः प्राप्तिमात्रेण साधकं घातयेदरिः।

ततः,—

चन्द्राग्निरुद्रनवनेत्रयुगेन दिक्षु
ऋत्वष्टषोड़शचतुर्द्दशभूतकेषु।
पातालपञ्चदशवह्निहिमांशुकोष्ठे
वर्णाल्लिखेल्लिपिभवान् क्रमशस्तु विद्वान्॥
नवैकपञ्चमे सिद्धः साध्यः षड़्दशयुग्मके।
सुसिद्धस्त्रिसप्तके रुद्रे वेदाष्टद्वादशे रिपुः॥
स्वनामाद्यक्षरः कोष्ठः सिद्धः साध्यो द्वितीयकः।
सुसिद्धस्तु तृतीयः स्यात् चतुरस्तु रिपुर्मतः॥
सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यः सिध्यति वा नवा।
सुसिद्धस्तत्क्षणादेव साधकान् घातयेदरिः॥

सिद्धः सिद्धो यथोक्तेन द्विगुणात् सिद्धसाध्यकः ।
तत्सुसिद्धोऽर्द्धजप्येन तच्छत्रुर्हन्ति बान्धवान् ॥
द्विगुणात् साध्यसिद्धस्तु साध्यः साध्यो निरर्थकः ।
तत्सुसिद्धो यथोक्तेन तच्छत्रुर्हन्ति गोत्रजान् ॥
सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात्तत्साध्यस्तु यथोक्ततः ।
साधारणात्सुसिद्धस्तु तच्छत्रुर्हन्ति कन्यकाः ॥
अरिसिद्धः सुतं हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाः ।
पत्नीमरिसुसिद्धस्तु तच्छत्रुः शत्रुरात्मनः ॥

इति ।

तथा स्वनामाद्यक्षरमारभ्य यावन्मन्त्रादिदर्शनम्,—

त्रिघ्नमभिहितं कृत्वा शिष्टं विज्ञाय देशिकः ।
मन्त्रादि यावन्नामान्तं सप्तघ्नञ्च त्रिभिर्हृतम् ॥
शिष्टं यत्र भवेन्न्यूनं ऋणं तदधिकं धनम् ।
मन्त्री ऋणी चेत्तन्मन्त्रं दूरतः परिवर्जयेत् ॥

अन्यत्र तु,—

इन्द्रर्त्तुनेत्रविपञ्चदशर्त्तुवेद-
वङ्गायुधाष्टनवभिर्गुणितान् स्वसाध्यान् ।
दिग्भूगिरिश्रुतिगजाग्निमुनीषुवेद-
षड्वह्निभिस्तु गुणितानथ साधकार्णान् ॥
नामाक्षलादकठवादगजभुक्तशेषं
ज्ञात्वोभयोरधिकशेषमृणं धनं स्यात् ।

अयमर्थः,—साध्याक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक् कृत्वा प्रत्यक्षरमिन्द्रादिभिरङ्कैर्यथासंख्यं गुणयेत्। १४। २७। ३। १२। १५। ६। ४। ३। ८। ८। ९। एतैरिति यावत्। तथा साधकनामाक्षराणि तथैव पृथक् कृत्वा दशादिभिर्गुणयेत्। १०। १। ७। २। ८। ३। ७। ५। ४। ६। ३। एतैरित्यर्थः। नामाङ्कफलादकठवादिनामस्वरव्यञ्जनसमुदयात्। अकठवादिचतुर्वर्णप्रभिन्नात्। अ १। इ २। उ ३। ऋ ४। ऌ ५। ए ६। ऐ ७। ओ ८। औ ९। अं १०। अः ११।

तथा,—

ह्रस्वाः पञ्च परे च सन्धिविकृताः पञ्चाथ विन्द्वन्तका:
काद्याः प्राणहुताशभू कखगमया याद्याश्च शान्तार्णकाः।
हान्ताः सक्षलसाः क्रमेण कथिता भूतात्मकास्ते पृथक्
तैस्तैः पञ्चभिरेव वर्णदशकैः स्युः स्तम्भनाद्याः क्रियाः॥

साधकस्याक्षरं पूर्व्वं मन्त्रस्यापि तदक्षरम्।
यदेकं भूतदैवत्यं जानीयात् स्वकुलं हि तत्॥
पार्थिवे वारुणं मित्रमाग्नेयस्यापि मारुतम्।
पार्थिवाद्याक्षराणाञ्च शत्रुत्वे मारुतं स्मृतम्॥
आग्नेयस्याम्भसः शत्रुराम्भसस्तैजसस्तथा।
एतेषामेव सर्व्वेषामविरोधी तु नाभसः
परस्परविरुद्धानां न कुर्य्यान्मेलनं बुधः।

तथा,—

तीर्थान्मन्त्रोपदेशश्च श्रद्धा च जपकर्म्मणि ।
फलन्तीति च विश्वासस्त्रीणि सिद्धेस्तु कारणम् ॥

उपदेशविधिश्च,—

अषट्कर्णे शुचौ देशे वारे सम्यक्करे शुभे ।
शुचिरष्टाक्षरादिस्थस्तत्प्रभावविदं गुरुम् ॥
तन्त्री प्रदक्षिणीकृत्य प्रणिपात्याभिवाद्य च ।
वाग्यतोऽग्रे समासीत ध्यात्वा देवं जनार्द्दनम् ॥
समानस्त्वावयोरेष इत्युक्तोदकपूर्व्वकम् ।
दद्यादष्टाक्षरं तस्मै पश्चाद्दृष्यादिकं गुणम् ॥
सर्व्वस्वं वा तदर्द्धं वा यथाशक्त्यापि वा पुनः ।
दक्षिणां गुरवे दद्यादर्द्धराज्यन्तु भूपतिः ॥
आचार्य्यादनभिप्राप्तः प्राप्तश्चादत्तदक्षिणः ।
स्वभ्यस्तोऽपि तदा मन्त्रः श्रेयसे नावकल्पते ॥
नास्ति नक्षत्रसंयोगो न निमित्तपरीक्षणम् ।
श्रद्धैव कारणं नृणामष्टाक्षरपरिग्रहे ॥

इत्येतावता च मन्त्रग्रहणसिद्धिः । नात्र पञ्चरात्रोक्तदीक्षाविध्यपेक्षा इति ।

"स्मृतिशास्त्रविकल्पस्तु आकाङ्क्षापूरणे सति ।"

इति न्यायाद् वैकल्पिक एव स्यात् । सोऽपि प्रपञ्चसारे अष्टाक्षरपटले यावानुक्तस्तावानेव गृहमेधीयन्यायेन नान्याङ्गं किञ्चन । अतएव तदभिधाय संक्षेपतो दीक्षां प्रतिचक्षत इत्य-

ब्रवीत्। अन्यथा दीक्षायां विशेषो वक्ष्यत इत्याचक्षीत। एतावत् तन्त्रोक्तम्।

कृत्वा त्रिगुणितादीनामेकं मण्डलमुज्ज्वलम्।
आत्मार्च्चनोक्तविधिना शक्तिभिः पीठमर्च्चयेत्॥
विधाय कलशं तत्र पञ्चगव्येन पूरयेत्।
पयोभिर्वा गवां प्रोक्तैः क्वाथैर्वा साष्टगन्धकैः॥

तत "अष्टाक्षराङ्गै" रित्यादिनावरणदेवता उक्ताः।

तत्र,—

एवमभ्यर्च्चितो विष्णुरुपचारैश्च पूर्व्ववत्।
अग्निमाधाय कुर्व्वीत ब्रह्मयागसमीरितैः॥
जुहुयादष्टभिर्द्रव्यैर्मनुनाष्टाक्षरेण तु।
पृथगष्टशतावृत्त्या कृत्वा दत्वा बलिं ततः॥
अभिषिच्य गुरुः शिष्यं प्रवदेत् पूर्व्ववन्मनुम्॥

इति।

अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधसम्भवा समिधः तिलसर्षपदौग्धान्न-घृतानीत्यष्टद्रव्याणि। इति।

कुण्डलक्षणञ्च।

विंशतिभिश्चतुरधिकाभिरङ्गुलिभिः सूत्रेणाथ परिसूत्र्य भूमि-भागं प्रखनतु तान् त्रिरेतामित्युक्ताङ्गुलिमपि मेखलाश्च कार्य्याः।

सत्वपूर्व्वकगुणान्विताः क्रमाद्
द्वादशाष्टचतुरङ्गुलोच्छ्रिताः।

सर्व्वतोऽङ्गुलिचतुष्टयविस्तृता
मेखला: सकलसिद्धिदा मता: ॥

योनिस्तत्पश्चिमायामथ दिशि चतुरस्रस्थलारब्धगाला
तन्मध्योल्लासिरन्ध्रोपरिपरिगताश्वत्थपत्रानुकारा।
उत्सेधायामकाभ्यां प्रकृतिविकृतिसर्व्वाङ्गुलास्त्वङ्गुला स्यात्
विस्तृत्य द्वादशार्द्धाङ्गुलमिति नमिताग्रा निविष्टे च कुण्डे ॥

कुण्डलक्षणे च विशेष:,—

होमे मुद्रात्रयं प्रोक्तं मृगी हंसी च शूकरी।
शूकरी करसङ्कोचे हंसी मुक्तकनिष्ठिका ॥
मुक्ता कनिष्ठतर्ज्जन्यौ मृगीमुद्रा प्रकीर्त्तिता।
शान्तिपौष्टिककर्म्मार्थं मृगी हंसी प्रकीर्त्तिता ॥
अभिचारादिकर्म्मार्थं शूकरी कथिता बुधै:।

कुण्डासम्भवे च,—

नित्यनैमित्तिकान् होमान् स्थण्डिले वा समारभेत्।
हस्तमात्रन्तु तत् कुर्य्याद् वालुकाभि: सुशोभितम् ॥
अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरस्रं समं तत:।
वलिदानञ्च मन्त्राणां सराशीनां सवारिणाम् ॥

यथाक्रमं तत्र,—

मेषादि मुक्ता नक्षत्रसंज्ञापूर्व्वमनन्तरम्।
देवताभ्य: पदं प्रोक्ता दिवा नक्तं पदं वदेत् ॥
गिरिभ्यश्चाथ सर्व्वेभ्यो भूतेभ्यश्च नमो वदेत्।

एवं ग्रहाणां करणमाह । एतद् बलिदानं राशिमण्डलमितपक्ष-एव मान्यपचे । अतएव शारदातिलकेनोक्तं पूर्ब्बवदिति

निकटे समुपासतो वदे-

दथ शिष्यस्य मनुं त्रिशो गुरुः । इति ।

यत्तु,—

क्रियावती वर्णमयी कालात्मा वेधमय्यपि ।

चतुर्विधा भवेद् दीक्षा ज्ञानदा पापनाशिनी ॥

इत्याद्युपक्रम्योक्ता दीक्षा सकाम्यैव । फलकामनया च तत्-करणे एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्येत्याद्युक्तकाम्यसामिधेन्यनुवचनेन नित्यसामिधेन्यनुवचनकार्य्यसिद्धेः पृथक् तदकरणवत् तेनैव नित्यदीक्षा कार्य्यसिद्धेर्न तत् प्राप्तिः । तत् क्रियावत्यामादौ विष्णुपूजा । तत्र चतुःषष्ठिपदमण्डले त्रिपञ्चाशद् देवाः पूज्याः । मध्ये चतुःपदे ब्रह्मा । तद्दिक्षु आर्य्यविवस्वतमित्रमहीधराः । कोणार्द्धेषु सावित्रसवितृशक्र-इन्द्रजयरुद्ररुद्रजय-आप-आपवत्साः । तत्पार्श्वेषु शर्व्व-गुह-अर्य्यमजम्भकपिलिपिच्छकचरकीविदारि-पूतनाः । दिक्षु सार्द्धार्द्धपदेषु ईशानादिषु ईशानपर्जन्यजयन्त-शक्रभास्करसत्यभृश्यन्तरीक्षाः । आग्नेयकोणादिषु पूषावितथ-यमगृहरक्षकगन्धर्व्वभृङ्गराजमृगाः । नैर्ऋत्यां दिक्षु,—निर्ऋति दौवारिकसुग्रीववरुणपुष्पदन्त-आसुरशोषरोगाः । वायव्यां दिक्षु,—नागमुख्यासोमभल्लाटतार्गलदिति—अदितय इति ।

उत्सवेषु च सम्पत्त्यै विदध्यादङ्कुरार्पणम् ।

तत्र मण्डपस्योत्तरे आहते पूर्व्वापरायतपञ्चहस्तमानपञ्चरेखा-द्वादशाङ्गुलोत्तरादक्षिणोत्तरा एकादश रेखाः ।

वीथ्यश्चतस्रो मध्येऽन्त्यश्चतुष्कोभयपार्श्वयोः ।

ऊर्द्ध्व एवं चतुष्कोष्ठत्रयमवशिष्यते ।

यदा निरञ्जयेत् तानि श्वेतपीतारुणानि तैः ।

श्यामेन वीथिः ।

पालिकाः पञ्चमुख्यश्च शरावाश्च चतुःक्रमात् ।

षोड़शद्वादशाङ्गुलोत्सेधाः । सूत्रवेष्टिताः ।

प्रक्षाल्य स्थापनीयाः स्युः पदेष्वाहितशालिषु ।

सुगन्धदर्भकुर्चेषु पश्चिमादि निवेशयेत् ॥

करीषवालुकामृद्भिस्तानि पात्राणि पूरयेत् ।

शालिश्यामाढकामुद्गतिलनिष्पावसर्षपान् ॥

कुलत्थकङ्गुमाषान् वा सुधाबीजेन दुग्धक्षालितान् मूलाभि-जप्तान् मङ्गलपूर्व्वकं निर्वाप्य हरिद्राद्भिरभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्य पुनरासिच्य भूतानि पितरो राक्षसा नागा ब्रह्मा शिवो हरि-रित्येतेभ्यो लोकपालेभ्यश्च पात्राणां परितश्च पायसान्नानि दद्यात् । पञ्चसप्तनवहस्तान्यत्र समितं वाभितो द्वादशस्तम्भान् पञ्चहस्तान् मध्ये चत्वारोऽष्टहस्ताः सर्व्वे हस्तैकखाताः । द्वारे क्षीरवृक्षाय सप्तहस्ततोरणस्तम्भा उपरिस्तम्भार्द्धमानफलकास्तन्मध्ये हस्तमान-मूलान् लोकपालसमवर्णान् ध्वजान् निबध्नीयात् । मण्डप-त्रिभागमितात्युच्छ्रया मध्ये वेदी वेदीवाह्यभागं त्रिधा कृत्वा मध्ये दिक्षु चतुरस्रयोनि अर्द्धचन्द्रत्रास्रवर्त्तुलसहस्राब्जाकाराष्टास्र-

कुण्डानि मेखलोच्छ्रयेण सह हस्तमात्राणि तावत् स्थातानि दिक्षु चत्वार्य्येव वा । अथवा दिशि उत्तरस्यां प्रविदध्याच्चतुरस्र-मेकमेव ।

एकहस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते ।
लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्द्धयेत् ॥
दशहस्तमितं कुण्डं कोटिहोमे प्रशस्यते ।
कुण्डानां मेखलास्तिस्रो मुष्टिमात्रे तु ताः क्रमात् ॥

षोड़शद्वादशाङ्गुलोत्सेधाः ।

तत्र आचार्य्यः सामान्यार्घ्यं कृत्वा तेन द्वारमस्त्रेण प्रोक्ष्य ऊर्द्ध्वोदुम्बरे विघ्नेशं लक्ष्मीं सरस्वतीं शाखयोर्विघ्नक्षेत्रेशौ तत्पार्श्वयो-र्गङ्गायमुने देहल्यामस्त्रमिति द्वारं सम्पूज्य दिव्यदृष्ट्या दिव्यान-स्त्रेणान्तरीक्षान् पार्ष्णिघातैर्भौमान् विघ्नान् निवार्य्य किञ्चिद्वाम-शाखां स्पृशन् देहलीं विलङ्घयाङ्गं सङ्कोच्य दक्षिणाङ्घ्रिणा शालां प्रविश्य नैरृत्यां वास्त्वोशान् ब्रह्माणञ्च सम्पूज्य पञ्चाङ्ग व्याप्त-तोयाभ्यां शालां प्रोक्ष्य

वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ।
तेनैव ताड़नं कुर्य्याद्वर्म्मणा रक्षणं मतम् ।

इति कृत्वा चन्दनागुरुकर्पूरैः संधूप्य लाजचन्दनसिद्धार्थभस्म-दुर्व्वाकुशाक्षतान् सप्तवारांस्तु जप्त्वा तान् वीक्ष्याष्टजप्तदर्भमुष्टिना सम्मार्ज्य तान् ऐशन्यां वर्द्धन्यासादनार्थं स्थापयेत् । वेद्यां सर्व्वतो-भद्रादिकं मण्डलस्य पश्चादुपविश्य गुरुगणेशनमस्काराद्यन्तर्यांग-पर्य्यन्तं कृत्वा मण्डलकर्णिकायां शालितण्डुलान् तदुपरि कुशान्

सकूर्च्चाचतान् विन्यस्याधारशक्त्यादिपीठशक्त्यन्तं प्रयुज्य हेमादि कृतं मन्त्राद्भिः चालितं धूपितं त्रिगुणितं गु वेष्टितं दुर्व्वाचतनव-रत्नयुतं कुम्भं तारेण विन्यस्य कर्पूरादिवासितं पालाशत्वक्कषाय-तीर्थोदकं वा प्रतिलोममातृकां मूलमन्त्रञ्च जपन् देवबुद्ध्या पूरयेत्। शङ्खेच गङ्गाष्टकमिश्रक्काथाम्बुपूर्णं धूम्रार्च्चिः सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यवाहा कव्यवाहा ज्वलिनी विस्फुलिङ्गिनी उषा इति वह्निकलाः।

तपनी तापनी धूम्रा सरावी ज्वालनिर्ऋतिः।
सुषुम्ना भोगदा विश्वा बोधनी धारणी चमा॥

इति द्वादशसौरकलाः।

अमृता मानदा पूषा तुष्टिः पुष्टीरतिर्धृतिः।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरङ्गदा॥
पूर्णा पुर्णामृता—————————॥

इति सौम्याः षोड़शकलाः।

पुष्टि ऋद्धिः स्मृतिर्मेधा कान्तिर्लक्ष्मीर्धृतिः स्थिरा।
स्थितिः सिद्धिः———————॥

इत्यकारजाः।

जरा च पालिनी शान्तिरैश्वरीरिति कामिका।
वरदाह्लादिनी प्रीतिर्दीर्घा—————॥

इत्युकारजाः।

तीक्ष्णा रौद्राभयानिद्रा तन्द्राक्षुत् क्रोधिनी क्रिया।
उत्कारी मृत्युः———————॥

इत्यूकारजाः।

पीता श्वेतारुणा शीता-

विन्दुजाः। निवृत्तिश्च प्रतिष्ठाच विद्या शान्तिः दीपिका रेचिका मोचिका सूक्ष्मासूक्ष्मा मृता अमृता ज्ञाना आप्यायिनी व्यापिनी प्रीतिः व्योमरूपा अनन्ता इति नादजाः। एता अष्टाशीतिकलाः शङ्खे प्रत्येकमावाह्य अकारजकलासु हं सः शुचिषत्, उकारजासु प्रतद्विष्णुः, मकारजासु त्र्यम्बकम्, विन्दुजासु तत्सवितुः, नादजासु विष्णुर्योनिमिति। गन्धादिभिः प्राणप्रतिष्ठामन्त्रेण वह्निकलानां प्राणा इत्याद्यूह्यम्। कलागणा-ष्टकस्याष्टवारं शङ्खस्थक्वाथे प्राणप्रतिष्ठां कृत्वा प्रत्येकं गन्धादिभिः कला अभ्यर्चिता अष्टाशीतिकलास्वरूपां मूलदेवतां ध्यायन् मूलमन्त्रं प्रतिलोमं जपेत्। ततः शङ्खस्थं क्वाथं मूलमन्त्रं जपन् कुम्भे निक्षिपेत्। अश्वत्थपनसचूतस्तवकानि वल्लिबन्धान् कल्पद्रुम-धियोपरि दत्वा तत् फलधिया फलाक्षतयुतं पात्रं दत्वा क्षौमयुग्मेन वेष्टयित्वा तत्र मन्त्रदेवतामावाह्य स्वागतादिभिरावरणान्तं सम्पूज्य तद्दक्षिणे स्थण्डिलेऽग्निं संस्कृत्य तत्रेष्टदेवतां गन्धादिभिः सम्पूज्य व्याहृतिभिराज्यं हुत्वा पायसेन मूलमन्त्रेण पञ्चविंशतिं हुत्वा पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा तत्र गन्धाद्यैर्देवतामभ्यर्च्य पीठस्थमूर्त्तौ योजयित्वा वह्निं विसृज्य सर्व्वशिष्टहविषा देवपार्षतेभ्यः परितो बलिं दत्वा देवाग्रं संमार्ज्य पञ्चोपचारैः सम्पूज्य छत्रचामर-ताम्बूलादिनैवेद्यमूलमन्त्रं संजप्य जपं समर्प्य ऐशान्यां पूर्व्वस्थापिते शिविरे कर्करीं स्थापयित्वा तस्यां सिंहस्थां शङ्खखेटकहस्तां

घोररूपां पश्चिमास्यां अस्त्रदेवतां सम्पूज्य तामादाय रक्षेति लोकपालानां स्नानमुक्तेन वारिणा,—

देवाग्नं भ्रावयन्नन्तः परिवृत्य प्रदक्षिणम् ।
अस्त्रमन्त्रं समुच्चार्य्य यथापूर्व्वं निवेशयेत् ॥

पुनस्तां स्थिरासनेऽभ्यर्च्य शालितण्डुलान् पञ्चदशप्रसृतिमात्रान् मूलमन्त्रितानस्त्रप्रक्षालिते पात्रे अस्त्रेण क्षिप्त्वा कवचेनावगुण्ठ्य पिधाय संस्कृतेऽग्नौ मूलमन्त्रेण चरुं कृत्वा मूलेनाभिघार्य्य कवचेनावतार्य्य अस्त्रजप्तकुशास्तीर्णे मण्डले चरुं त्रिधा विभाज्य एकं देवाय दद्यात् । अपरं जुहुयात् । अपरं सशिष्यो भुञ्जीत आचान्ताय शिष्याय तालप्रमाणं क्षीरवृक्षजं हृन्मन्त्रं जप्तं दन्तकाष्ठं दद्यात् । वेद्यां दर्भास्तरे सशिष्यो गुरुः शयीत रात्रौ । प्रपञ्चसारोक्तपूजाङ्गावरणपूजान्तेच

कृते निवेद्ये च ततो मण्डलं परितः क्रमात् ।
मण्डलाङ्कुरपात्राणि स्थापनीयानि मन्त्रिणा ॥
उपलिप्य कुण्डमध्येतु स्वचरणयोग्यं विलिख्य लेखाद्य ।
अभ्युक्ष्य प्रणवेन प्रकल्पयेद्दोषगविष्टरं मन्त्री ॥
अष्टादश स्युः संस्कारा: कुण्डानां तत्र चोदिताः ।
अथवा तानि संस्कुर्य्याच्चतुर्भिर्वीक्षणादिभिः ॥
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम् ।
तेनैव ताड़नं दर्भैर्वर्म्मणाभ्युक्षणं मतम् ॥

इति ।

तिस्रस्तिस्रो लिखेद् रेखा हृदादिप्रागुदङ्मुखाः।
सर्व्वानभ्युक्ष्य तारेण योगपीठमथार्च्चयेत्॥

तत्र वागीश्वरीं सम्पूज्य सूर्य्यकान्तादिभवं श्रोत्रियागारजं वा वह्निं पात्रेणानीय वीक्षणादिभिः संस्कृत्य योजयेत्। वह्निबीजेन चैतन्यं पावके ततः।

तारेण मन्त्रितं मन्त्री धेनुमुद्रामृतीकृतम्॥
अस्त्रेण रक्षितं पश्चात्तनुत्रेणावगुण्ठितम्।
अर्च्चितं त्रिः परिभ्राम्य कुण्डे तारं समुच्चरन्॥
आत्मनोऽभिमुखं वह्निं जानुस्पृष्टमहीतलः।
देवबीजधिया देव्या योनावेनं विनिक्षिपेत्॥
पश्चाद्देवस्य देव्याश्च दद्यादाचमनीयकम्।
ज्वालयेन्मनुना तेन तमग्निमन्यदेशिकः॥
चित्पिङ्गल हन दह पच युग्मान्युदीर्य्य च।
सर्व्वज्ञाज्ञापय स्वाहेति मन्त्रोऽयं प्रागुदीरितः॥
अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्॥
सुवर्णवर्णमनलं समिद्धं विश्वतोमुखम्॥

इत्युपतिष्ठेत्।

वह्नेरार्य्याच संयुक्ता सादित्यान्ता सविन्दवः।

वह्नेर्जिह्वामन्त्राः,—स्फुं प्रुं ग्रुं क्रुं भ्युर्य्यां य्युं एतानि स्वलिङ्ग-पायुशिरोवक्त्रघ्राणनेत्रसर्व्वाङ्गेषु न्यसेत्। ततः सहस्रार्च्चिं-हृदयाय नमः स्वस्ति पूर्णशिरसे स्वाहा उत्तिष्ठ पुरुष शिखायै वषट् धूमव्यापी कवचाय हुं सप्तजिह्वाय नेत्राभ्यां वौषट् धनुर्द्धर

अस्त्राय फट् इति हृदादिषु विन्यस्य ॐ अग्नये जातवेदसे स्थाने सप्तजिह्वाय हव्यवाहनाय अश्वोदरजाय वैश्वानराय कौमारतेजसे विश्वमुखाय देवमुखायेति दत्वा चाष्टौ मन्त्रान् मूर्द्धांसपार्श्व-कट्यन्धुकटिपार्श्वांसकेषु प्रदक्षिणं न्यस्यासनं कल्पयित्वा,

इष्टां शक्तिं स्वस्तिकारीं तमुच्चै-
र्दीर्घैर्दोर्भिर्द्धारयन्तं जवाभम् ।
हेमाकल्पं पद्मसंस्थं त्रिनेत्रं
ध्यायेद्वह्निं बद्धमौलिं जटाभिः ॥

ततः कुण्डे पर्य्युक्ष्य मध्यमेखलायां परिस्तीर्य्य परिधित्रयं दत्वा तेषु ब्रह्महरीशान् सम्पूज्य मध्ये तं वह्निं वैश्वानरं जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्व्वाणि कर्म्माणि साधय स्वाहेति मन्त्रेण गन्धाद्यैः प्रपूज्य मध्ये षट्कोणेषु च हिरण्या गगना रक्ता कृष्णा सुप्रभा बहुरूपा अतिरक्ता इति सात्विकाः। सर्व्वजिह्वा सहस्रार्चिः सप्तकेशरेष्वङ्गानि दलेषु जातवेद आदिमूर्त्तीः दिक्षु लोकपालान् प्रपूज्य पाणिभ्यामधोमुखौ स्रुक्स्रुवावादाय त्रिः प्रताप्य दर्भै-स्तदग्रमूलमध्यानि सम्मार्ज्य वामेन गृहीत्वा दक्षिणेन प्रोक्ष्य पुनः प्रताप्य दर्भाग्नौ क्षिप्त्वा स्वदक्षिणेषु कुशेषु तौ निधायाज्यस्थालीं अस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य तत्राज्यं कृत्वा वीक्षणादिभिः संस्कृत्य वायव्ये अङ्गारेषु हृदादि निधाय सन्दीप्य दर्भयुगलमाज्ये क्षिप्त्वा अनले क्षिपेत् । हृदयेन पुनर्दीप्तदर्भयुगेनाज्यं वर्म्मणा निरीक्ष्य अग्नौ क्षिपेत् । पुनर्ज्वलितदर्भानस्त्रेणाज्ये प्रदर्श्याग्नौ क्षिपेत् ।

गृहीत्वा घृतमङ्गारान् प्रत्युक्ष्याग्नौ जलं स्पृशेत् ।

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां पवित्रे धृत्वास्त्रेणोत्पूय ताभ्यामेवात्म-सम्मुखं संप्लावयेत्। सग्रन्थिपवित्रे घृते निक्षिप्य द्विधाभूते शुक्लकृष्णपक्षौ ध्यात्वा वामे इडां दक्षिणे पिङ्गलां मध्ये सुषुम्नां च ध्यात्वा स्रुवेण दक्षिणभागात् घृदाज्यमादायाग्नये स्वाहे-त्यग्निनेत्रे तद्वामतो वामनेत्रे सोमाय मध्यतो भानुनेत्रे अग्नीषोमाभ्यां पुनर्घृदा दक्षिणभागादादायाग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति। सोङ्कारव्याहृतिभिर्व्यस्तसमस्ताभिरग्निमन्त्रेण च त्रिर्हुत्वा प्रणवेनाष्टावष्टौ गर्भाधानादिविवाहान्तैकैकसंस्कारार्थं हुत्वा पितरौ सम्पूज्यात्मनि संयोज्य समिधः पञ्चघृताक्ता हुत्वा जिह्वाङ्गमूर्त्तीनां तन्मन्त्रैः प्रत्येकमेकैकमाहुतिं हुत्वा स्रुचि चतुःस्रुवानादाय तिष्ठन्नग्निमन्त्रेण वौषडन्तेन हुत्वा विघ्नेशमन्त्रेण द्वादशाहुतीर्जुहुयात्। प्रपञ्चसारे,—

तारायैर्दशभिर्भेदैः पूर्व्वैः पूर्व्वसमन्वितैः।
मनुना गाणपत्येन हुनेत् पूर्व्वं दशाहुतिम्॥
जुहुयाच्च चतुर्वारं समस्तेनैव तेन तु॥

इदमग्निमुखम्। अग्नौ पीठार्चनापूर्व्वकमिष्टदेवमभ्यर्च्य तन्मुखे मूलेन पञ्चविंशतिं जुहुयात्। वह्नीकीकरणं पुनरग्नि-देवात्मनामैक्यं भावयन् एकादश जुहुयात्। नाड़ीसन्धानम्। आवरणदेवेभ्य एकैकामाहुतिं हुत्वा कुण्डेषु संस्कृत्याग्निं विर-चयेत्। ततो ऋत्विजस्तु स्वकुण्डे साधारणं देवं गन्धाद्यैः सम्पूज्य पञ्चविंशतिमाज्यं चरुं तिलांश्च साष्टसहस्रं मूलेन जुहुयुः। ततः शिष्यं स्नातं पीतपञ्चगव्यं कुण्डान्तिकमानीय दिव्यदृष्ट्या

विलोक्य तच्चैतन्यं स्वात्मनि संयोज्य षडङ्गशोधनम्। अत्र निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्याशान्तिश्च्छमा इति पञ्चकलाः। शिष्यस्य पादयोर्जीवप्राणं धियश्चित्तं ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाख्यपञ्चभूतानि हृत्पद्मे तैजसां त्रयं वासुदेवादयश्चेति तत्त्वान्येतानि शार्ङ्गिणः शिवशक्ति-सदाशिव-विश्व-विद्यामाया-कालनियतिकला-विद्या-स्मृतिरागगुरु-प्रकृति--बुद्ध्यहङ्कार-मनोज्ञानेन्द्रिय-कर्म्मेन्द्रिय-तन्मात्र-महाभूतानि निवृत्त्याद्याविन्दुकलानादसदाशिवशक्तितत्त्वानि स्वीयतत्त्वानि गुह्ये सञ्चिन्त्य कूर्च्चेन स्पृष्ट्वा पूर्व्ववत् तत्त्वाग्नि जुहुयात्। तत्त्वं लयं चिन्तयेत्। एवं भूरादिभुवनानि नाभौ। आदिक्षान्तवर्णान् हृदये। बलसत्त्वं भाले। सर्व्वमन्त्रवर्णान् स्वमूर्द्धनि इति प्रत्येकं चिन्ता कुर्य्यात्। ततो दिव्यदृष्ट्या विलोक्यात्मस्थं चैतन्यं तत्रैव संयोज्य मूलेन पूर्णाहुतिं हुत्वा सावरणं देवमग्नेरुद्वास्य कुण्डे योजयेत्। पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा अग्नेर्जिह्वाख्य एकैका-माहुतिं हुत्वात्मानमद्भिः परिषिच्याग्निदेवं स्वात्मन्यध्यास्य परिधी-नग्नौ क्षिप्त्वा नेत्रमन्त्रवस्त्रबद्धनेत्रं शिष्यं करे धृत्वा कुण्डतो मण्डलं नयेत्। तस्याञ्जलिं पुष्पैः पूरयित्वा कुम्भे मूलमुच्चार्य्य क्षेपयेत्। तन्नेत्रबन्धमये कुशास्तरणासीने तस्मिन्नात्मयोगक्रमाद् भूयः संस्कृत्योत्पाद्य मूलमन्त्रन्यासान् कृत्वा कुम्भस्थं देवं गन्धादिभि-रभ्यर्च्य सकलीकृत्यास्मिन् मण्डले शिष्यं निवेश्याशीर्वादशङ्खादि-ध्वनिभिः कुम्भमुखस्थकल्पद्रुमकल्पितं तन्मूर्द्ध्नि दत्त्वा मूलमातृकां मूलं जपन् कुम्भेनाभिषिच्य वर्द्धिनीजलेन किञ्चिदवशिष्य शेषेणा-चामयेत्। ततस्तस्य वाससी परिधाय वाचं नियम्य गुरुसमीपे

उपविष्टस्य देवदेहं संक्रान्तं सञ्चिन्त्य सकलीकृत्य गन्धाद्यैरभ्यर्च्याम्ब-पूर्व्वकं विद्यां दद्यात्।

"निकटे समुपासतो वदे-
दथ शिष्यस्य मनुं विशो गुरुः।

"गुरुणा समनुगृहीतं सद्यो मन्त्रं जपेत् शतावृत्त्या।
गुरुदेवतामनूनामैक्यं सम्भावयन् धिया शिष्यः॥"

स च लब्धं मन्त्रमष्टकृत्वो जप्त्वा गुरुमन्त्रदेवानामैक्यं भावयेत्। दण्डवत् प्रणम्य तत्पादद्वयं मूर्द्ध्नि कृत्वा,—

शरीरमर्थं प्राणांश्च सर्व्वं तस्मै निवेदयेत्।
ततः प्रभृति कुर्व्वीत गुरोः प्रियमनन्यधीः॥

हृदयं शिरः शिखां कवचं चेत्यनलादिकास्त्रिषु।

पुरतो नयनं दिशास्वथो
पुनरस्त्रं वसुमर्चयेत्क्रमात्।

पीतः पिङ्गलः कृष्णो धूम्रोऽसितः सितः शुक्लः।
काषायारुणाम्बुजाभा लोकेशवासवादयः प्रोक्ताः॥
वज्रश्च शक्तिदण्डौ खड्गपाशाङ्कुशागदाः।
शूलं चक्रन्तृजिनसंज्ञौ प्रोक्तान्यस्त्राणि लोकपालानाम्॥

' ततः प्रपञ्चेऽधिकं पञ्चविंशत्याहुत्यनन्तरं,—

पुनः साध्येन मनुनाहुनेदष्टसहस्रकम्।
अथवाष्टशतं सर्पिःसंयुक्तेन पयोऽन्धसा॥

तत,—भूरग्नये पृथिव्यै महते स्वाहा, भुवो वातायान्तरी-

स्याय महते स्वाहा, स्वरादित्याय दिवो महते स्वाहा, भूर्भुवः स्व
श्चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो दिग्भ्यो महते स्वाहा। इति हुत्वा

इतः पूर्व्वं प्राणबुद्धी देहधर्म्माधिकारतः।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तावस्थासु मनसा वाचा कर्म्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना च यत् स्मृतं यदुक्तं यत्कृतं तत्सर्व्वं ब्रह्मार्पण-मन्त्रेण भवन्तु स्वाहा इत्यष्टावाज्याहुतीर्हुत्वा तन्त्रं समापयेत्।

ततो राशिमण्डले पूर्व्वादिमेषाश्विनीभरणीकृत्तिकामघा-देवताभ्यो नक्तं दिवाचारिभ्यः सर्व्वेभ्यो भूतेभ्यो नम एष बलिरित्येवं वृषकृत्तिकोत्तरत्रिपादे रोहिणीमृगशीर्षादिपादद्वय-देवताव्यूहेन गन्धपुष्पधूपदीपपूर्व्वकं जलान्नेन द्वादशबलिं दत्वा तथा राश्यधिपानां नवग्रहाणां तत्र तत्र च

सप्तानां करणानाञ्च दद्यान्मीनाख्यमेषयोः।
अन्तराले वह्निस्त्वेव सम्प्रोक्तः कलशात्मकः॥
पुनर्नैवेद्यमुद्धृत्य पुरोवत्प्रतिपूज्य च।
स्तुत्वा यथावत् प्रणमेत्——— ॥

एवं क्रियावत्यसम्भवे वर्णमयीः।

पुंप्रकृत्यात्मकावर्णां शरीरमपि तादृशम्।
यतस्तस्मात्तनौ न्यसेन्मन्त्रान् शिष्यस्य देशिकः॥
तत्रस्थानयुतान् वर्णान् प्रतिलोमेन संहरेत्।
तदा विलीनतत्त्वे हि शिष्यो दिव्यतनुर्भवेत्॥
परमात्मनि संयोज्य तच्चैतन्यं गुरूत्तमः।
तस्मादुत्पादितान् वर्णान् न्यसेत् शिष्यतनौ पुनः॥

सृष्टिक्रमेण विधिवच्चैतन्यं विनियोजयेत् ।
जायते देवताभावः परानन्दमयः शिशुः ॥
एषा वर्णमयी दीक्षा प्रोक्ता ज्ञानप्रदायिनी ।

ततः कलावती ।

निवृत्तिर्जानुपर्य्यन्तं स्तनादारभ्य संस्थिता ।
जानुनोर्नाभिपर्य्यन्तं प्रतिष्ठां व्याप्य तिष्ठति ॥
नाभेः कण्ठावधि प्राप्ता विद्या शान्तिस्ततःपरम् ।
कण्ठाल्ललाटपर्य्यन्तं व्याप्ता तस्मात् शिरोऽवधि ॥
शान्त्यतीता कला ज्ञेया कला व्याप्तिरितीरिताः ।
संहारक्रमयोगेन स्थानात् स्थानान्तरे गुरुः ॥
संयोज्य बोधयेदित्थं प्रोक्ता दीक्षा कलावती ।

चतुर्थी पुनः सुषुम्नातः षट्चक्रभेदसिद्धावेव सिद्ध्यतीत्यन्येषामशक्यत्वान्न लिख्यते ।

तथा नृसिंहकल्पोक्तिः,—

कृत्वा मण्डलमुल्लासि सर्व्वनेत्रमनोरमम् ।
तत्र संस्थाप्य विधिना यथोक्तं कलशं पुनः ॥
कलाष्टकलसद्वर्णचतुष्के बीजकण्डिके ।
भुवनेशादिमारभ्य स्वबीजपरिशोभितम् ॥
सम्पूज्यावाह्य नृहरिं यथावद्देशिकोत्तमः ।
अष्टोत्तरसहस्रन्तु जपित्वा सुसमाहितः ।
आसन्ने क्षमपीठे तु शिष्यं संस्थाप्य पूजयेत् ।
नरसिंहधिया पश्चात्कलशेनाभिषेचयेत् ॥

अभिषेकावसानेच सकलीकृत्य पूजयेत् ।
दीक्षयित्वा विधानेन तस्मिन्मन्त्रमुदीरयेत् ॥
पश्चान्न्यासत्रयं कृत्वा षड़ङ्गञ्च यथाविधि ।
ऋष्यादिकञ्च विन्यस्य पश्चादपिच विन्यसेत् ॥
एवं कृताभिषेकस्तु गुरुणावाप्तमन्त्रकः ।
शिष्यः सम्पूजयेत्पश्चाद् गुरुं सर्व्वप्रयत्नतः ॥
मन्त्रात्मदेवता सर्व्वभूतैक्यं सकला मता ॥

इति ।

एका क्रियावती दीक्षा कुण्डमण्डलपूर्व्विका ।
मनोव्यापारमात्रेण न्यासा ज्ञानवती मता ॥
दरिद्राणामनाथानां दीक्षेयं मानसी मता ।
आचार्य्यनिरपेक्षेण क्रियते शम्भुनैव या ॥
तीव्रशक्तिनिपातेन निराधारेति सोच्यते ॥

पाद्मे,—

गुरोरभावे विप्रेन्द्र मन्त्रग्रहणमुच्यते ।
पूर्व्वपक्षत्रयोदश्यां दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ ॥
लिखित्वा राजते पत्रे तालपत्रेष्वथापि वा
मन्त्रं तं स्थण्डिले स्थाप्य पूजयित्वा महेश्वरम् ॥
पायसञ्च निवेद्यैवं पदयोः प्रणिपत्य च ।
शतकृत्वः पठेन्मन्त्रं दक्षिणामूर्त्तिसन्निधौ ॥
सर्व्वेषामेव मन्त्राणामेवं वा ग्रहणं स्मृतम् ।

एवं पञ्चरात्रानुसारेणोक्तम् ।

पौराणिकी पुनर्वैष्णवत्वसाधिका दीक्षा कार्त्तिकशुक्लद्वादश्या-मन्यत्र वा द्वादशीषु संक्रान्तिचन्द्रसूर्य्यग्रहे वा कार्य्या। अत्र गुरुणा संवत्सरं परीक्षितः शिष्यो भगवन् त्वत्प्रसादेव संसारार्णवतारणी

इच्छामः स्वैरिकां लक्ष्मीं विशेषेण तपोधन।

एवमभ्यर्च्य मेधावी गुरुं विष्णुमिवाग्रतः॥

अभ्यर्चयेदनुज्ञातो दशम्यां कार्त्तिकस्य तु।

ततो गुरुणाभिमन्त्र्य यत्नेन क्षीरवृक्षमयकाष्ठेन दन्तान् विशोध्य देवतागारे भूम्यां शयीत। तत्र दृष्टस्वप्नं गुरवे निवेद्यापरदिने उपोष्य दीक्षादिने प्रातः स्नात्वा देवागारं व्रजेत्। तत्र गुरुर्नव-नाभिमण्डले नवकलशान् स्थापयित्वा वस्त्रबद्धनेत्रं पुष्पहस्तं शिष्यं प्रवेश्याष्टदिक्पालान् मध्ये भगवन्तमष्टमूर्त्तिं तत्पूर्व्वादिषु बलिप्रद्युम्नानिरुद्धवासुदेवान्। ऐशान्यादिषु शङ्खचक्रमुषलपद्मानि याम्याञ्च गदां गरुड़ञ्च वामे लक्ष्मीं पुरतो धनुःखड्गश्रीवत्स-कौस्तुभञ्चाभ्यर्च्य नवभिः कलशैः शिष्यं स्नापयित्वा तद्देहस्थ-तत्वान्यग्निदग्धानि वायुविधूतानि सोमाप्यायितानि विचिन्त्य गुरुदेववैष्णवानां निन्दा न कदाचित् त्वया कार्य्येति शिष्यमनुशास्य स्थण्डिले अग्निं संस्कृत्य आज्यभागान्तं कृत्वा ओं नमो भगवते विष्णवे सर्व्वरूपिणे स्वाहेति मन्त्रेण शिष्यस्य गर्भाधानादेकैक-संस्कारार्थास्तिस्रस्तिस्र आहुतीर्जुहुयात्। एवं दीक्षितो गुरवे सहिरण्यं गोयुग्मं येन वा तुष्यति गुरुस्तद्दक्षिणां दद्यात्।

यस्त्वनेन विधानेन दीक्षादौ दीक्षितश्च यः।

उभौ तौ प्राप्नुतः सिद्धिमाचार्य्यः शिष्य एव च॥

स्नापयेन्मुक्तिदे मन्त्रे वैष्णवेन घटेन तु।
एकेनैव नरः स्नातः सर्व्वपापविवर्ज्जितः॥
भवेदव्याहतज्ञानः किं पुनर्बहुभिर्घटैः।”

इत्याद्युक्तफलार्थमेतत्पृथक्तन्त्रेण वा अवश्यं कुर्य्यात्।

मन्त्रे तद्देवतायाञ्च तथा मन्त्रप्रदे गुरौ।
त्रिषु भक्तिः समा कार्य्या साहि प्रथमसाधनम्॥

तथा आदिपर्व्वणि वकाख्यराक्षसोद्विग्नब्राह्मणं प्रति कुन्त्या “अयं मे पुत्रो मन्त्रविद्याबलात् वकं हनिष्यति एतत्त्वया न ख्यापनीयं ख्यापने सर्व्वे मन्त्रं मे प्रार्थयेयु” रित्युक्त्वा

गुरुणा वाननुज्ञातो यदि मे ग्राहयेत्सुतः।
न साधयेत्तथा किञ्चित् विद्ययेति सतां मतम्॥

इत्युक्तम्। तेन गुरुणाननुज्ञातो न मन्त्रं कस्मैचिद्दद्यात्।

---

## अथैतत्पुरश्चरणविधिः।

चरुर्मूलं फलं क्षीरं दधि भिक्षान्नशक्तवः।
एतत्सप्तविधं प्रोक्तं पवित्रं व्रतभोजनम्॥

चरुरनवस्रावित ओदनः। व्रीहियवान्यतरप्रकृतिकः। स च साज्यो ग्राह्यः। चरुणा सह सर्पिषेत्यन्यत्रोक्तेः। फलं पक्वमपक्वं लवणादिरहितं स्विन्नमस्विन्नं वा नारिकेलादि। एवं मूलमपि। भिक्षान्नञ्च पक्वं ब्रह्मचारियतीनाम्।

व्याधितस्य दरिद्रस्य कुटुम्बप्रच्युतस्य च।

अध्वानं वा प्रपन्नस्य भिक्षाचर्य्या विधीयते॥

इति। एवं कुटुम्बहीनानां प्रोषितानां दरिद्राणाञ्च। वृत्तिभिः श्रान्तो वृद्धत्वाद् गोत्रक्षयाद्वा सज्जनेभ्यः सिद्धमुञ्छतीति शीलोञ्छवृत्तिमाश्रितानां दरिद्राणाञ्च। यत्तु,—

सिद्धमन्नं गृहस्थाय वानप्रस्थाय गोरसम्।

यतये काञ्चनं दत्वा नरकं प्रतिपाद्यते॥

इति। तत्र गृहस्थपदस्य

स्वपाके विद्यमाने यः परपाकं निषेवते।

सोऽश्वत्वं शूकरत्वं च गर्द्दभत्वं च यच्छति॥

इति वचनानुरोधाद्विद्यमानस्वगृहस्थितपरत्वादेतदन्यपरमेव। अन्यथा

इतरानपि सख्यादीन् सम्प्रीत्या गृहमाश्रितान्।

सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्——॥

इति विरोधः स्यात्। तैश्च भिक्षान्नेन वैश्वदेवादिकं कर्त्तव्यम्।

यदन्नाः पुरुषा राजन् तदन्नाः पितृदेवताः॥

इति, यन्न दद्यात् तन्नाश्नीयादिति चोक्तेः। तथाहि द्रौपदीस्वयंवरानन्तरं पाण्डवैराहृते भिक्षान्ने "अग्रभागं बल्यर्थं कुरु" इति द्रौपदीं प्रति कुन्त्या उक्तम्। केवलमेकत्र विनियुक्तस्य हरिवृकाख्यस्यान्यत्र विनियोगानर्हत्वाप्रयत्नेन नैवेद्याद्यविनियुक्तमेव भैक्ष्यं ग्राह्यम्।

तच्च रथ्यानीतमपि

शुचि भैक्ष्यं कारुहस्तपण्यरथ्यागतञ्च यत् ।

इति वचनान्नाशुद्धम् । भैक्ष्यादन्यत्र रथ्यानीतपक्वान्नं अप्रयतोपहृतं न भोज्यमिति वचनादग्न्याधिश्रयणप्रोक्षणादिना शुचि सम्पाद्य देवतायै देयं भोज्यञ्चेति ।

इतरगृहस्थानाञ्च,—

अनापदि चरेद् यस्तु सिद्धां भिक्षां गृहे वसन् ।

दशरात्रं पिबेद्व्रत्नमापत्काले त्र्यहं द्विजः ॥

इति सिद्धान्नभैक्ष्यनिषेधेऽपि

मृतन्तु याचितं भैक्ष्यं षट्कर्म्मको भवत्येषाम् ।

इति सामान्यतो भैक्ष्यविधिरेतद्बलादेव । स्नातस्य भैक्ष्याचरणमित्यशुचिकरत्वाभिधानस्य सिद्धान्नपरत्वादामान्नभैक्ष्यं प्राप्तम् । नच, न कल्पमानेष्वर्थेषु ईहेतार्थानिति निषेधात् द्रव्याभाव एव तत्प्राप्तिः ।

आत्मन्येव शुभायातं नियुञ्ज्यात् भृतके परम् ।

इत्यशुभायातद्रव्ये सत्यप्यात्मार्थं शुभार्जनस्य विहितत्वात् उपवासात्परं भैक्ष्यमिति ।

भिक्षाहारी निराहारी भिक्षा नैव प्रतिग्रहः ।

असतो वा सतो वापि भिक्षान्नं नैव दुष्यति ॥

इत्यादिना प्रशस्तं भैक्ष्यं सत्यप्यन्यद्रव्ये प्राप्तम् । यद्यपि भैक्ष्यात् परमयाचितं तथापि जपाङ्गतया भैक्ष्यनियमादत्र न ग्राह्यम् । भैक्ष्यं हि भिक्ष उपयाञ्चायां धातोर्याचितमेव । तथापि

भैक्ष्यं वा सर्व्ववर्णेभ्य एकान्नं वा द्विजातिषु ।

इत्यादिषु भैक्ष्यप्रतियोगितया एकान्नाभिधानात् पङ्कजादिपदवदनेकगृहयाचितमेव भैक्ष्यम्। तेनैकत्र पर्य्याप्तान्नप्राप्तावपि भैक्ष्यत्वसिद्ध्यर्थमन्यतोऽपि किञ्चिद् ग्राह्यम्। यत्तु,—तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः षट् द्वादशपरिमिता वेति तस्य गुणमात्रत्वात् तदभावेऽपि न भैक्ष्यत्वहानिः। अत्र विधिलाघवार्थं प्राप्तव्रतभोजने पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इतिवदेतत्सप्तविधद्रव्यव्यतिरिक्तपरिसंख्यामात्रं क्रियते। तेनैतद्व्यतिरिक्तवर्जनमात्रं जपाङ्गम्। नैतद् भक्षणम्। तद्विधाने एकादश्युपवासेऽपि जपवैगुण्यापत्तेः। नित्यभोजनात् पृथगेव तद्द्रव्यभोजनापत्तेश्च। एकवाक्ये च सम्भवति वाक्यभेदकल्पनानुपपत्तेः। नापेयकैकद्रव्येतरपरिसंख्या तेनैतेषां समन्वितभक्षणेऽप्यविरोधः। यत्तु जपसामान्यविधौ

शाकयावकभैक्ष्याणि पयोमूलफलानि च।
दधिसर्पिस्तथाह्यापः प्रशस्तान्युत्तरोत्तरम्॥

इति। तत्र चोत्तरोत्तरप्राशस्त्याभिधानान्यथानुपपत्त्या एकैकतरपरिसंख्याफलातिशयार्था इति।

उक्ताहारः शुचिः स्नात्वा वाग्यतः संयतेन्द्रियः।
मार्गशीर्षस्य मासस्य त्रीण्यहान्येकमेव वा॥
उपोष्य शुक्लद्वादश्यामारभ्याष्टाक्षरं जपेत्।
अष्टलक्षपरिच्छिन्नं पुरश्चरणकृद् द्विजः॥
एवमेवात्मशुद्धिः स्यादेतावान् प्रथमे युगे।
त्रेतायां द्विगुणः प्रोक्तो द्वापरे त्रिगुणस्तथा॥

चतुर्गुणः कलावुक्तो द्वात्रिंशल्लक्षलक्षणः ।
नारायणं जगद्योनिं सर्व्वलोकेश्वरं हरिम् ।
अर्च्चयेदन्वहं भक्त्या विप्रानन्ते च भोजयेत् ॥

सामान्यपुरश्चरणविधिश्च,—

पुरश्चरणसम्पन्नो मन्त्रो हि फलदायकः ।
किं होमैः किं जपैश्चैव किं मन्त्रन्यासविस्तरैः ॥
रहस्यानाञ्च मन्त्राणां यदि न स्यात् पुरस्क्रिया ।
पुरस्क्रिया हि मन्त्राणां प्रधानं बीजमुच्यते ॥
जीवहीनो यथा देही सर्व्वकर्म्मसु न क्षमः ।
पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रोऽपि कीर्त्तितः ॥
यस्मिंश्च निगदेनैव मन्त्रसंख्या विधीयते ।
तत्र सर्व्वत्र मन्त्राणां संख्यावृद्धिर्युगक्रमात् ॥
कल्पोक्तैव कृते संख्या त्रेतायां द्विगुणा स्मृता ।
द्वापरे त्रिगुणा प्रोक्ता कलौ संख्या चतुर्गुणा ॥
अनुक्ते तु हविर्द्रव्ये तिलाज्यं हविरुच्यते ।
अश्रुते भोजनद्रव्ये हविरेवाशनं विदुः ॥
शाकमूलं फलं वापि भैक्ष्यान्नं शक्तवोऽथवा ।
अथवा क्षीरमात्रं स्यात्पुरश्चरणवृत्तयः ॥
न सेवेत स्त्रियं मांसं मधु वा मन्त्रसाधनः ।
एतानि सेवमानस्य न सिद्ध्यति पुरस्क्रिया ॥
नासत्यमभिभाषेत नेन्द्रियाणि प्रलोभयेत् ।
नैरन्तर्य्यविधिः प्रोक्तो न दिनं व्यतिलङ्घयेत् ॥

दिवसातिक्रमे तेषां मन्त्रशक्तिं विवर्जयेत् ।
शक्तिहीनस्तु यो मन्त्रः स न सिद्ध्यति कर्हिचित् ॥
शयनं दर्भशय्यायां विन्यसेत् सिद्धिमात्मनि ।
तद्द वासः चालयेन्नित्यमन्यथा विघ्नमाचरेत् ॥
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तमशक्याद् द्विः सकृत् तथा ।
अस्नातस्य फलं नास्ति न चातर्पयतः पितॄन् ॥
नैकवासा जपेन्मन्त्रं बहुवासाकुलोऽपि च ।
कृत्वा मन्त्रं जपन् मन्त्री पुरस्काराय संयुतः ॥
दशांशं जुहुयादग्नौ यथोक्तविधिना बुधः ।
यद् वा मन्त्रचतुर्थांशं स्वाहान्तं मन्त्रमुच्चरन् ॥

तथा,-

भैक्ष्यादिनियमाहारः सकृद् रात्रौ विधीयते ।
दिवा चैव जपं कुर्य्यात् पौरश्चरणिको द्विजः
पूर्व्वाह्णे देवतायाश्च पूजां कुर्य्याद्विशेषतः ।
सत्यव्रतं ब्रह्मचर्य्यं भूशय्या नक्तभोजनम् ॥
तैलाभ्यङ्गपरित्यागः सत्यवाक् स्नानतत्परः ।

अत्र विशेषः,—

द्वात्रिंशल्लक्षमानेन स तु मन्त्रं जपेत्पुनः ।
तदर्द्धसंख्यकं वापि शुद्धाचारो जितेन्द्रियः ।
प्रच्यावितैरपि जुहोति दशांशकं वा
द्रव्यैः शुभैः सरसिजैर्मधुनाप्लुतैर्वा ॥

* * * ।

* * * ॥

प्रागुक्तान्यश्वत्थादीनि। अत्र होमः कल्पानुक्तत्वाद्वैकल्पिक एव। तर्पणं त्वत्र नास्त्येव सामान्यविधावप्यनुक्तत्वादिति।

लक्षमेकं जपेन्मन्त्रं घृतसिक्तैस्तिलैः शुभैः।
तद्दशांशञ्च जुहुयान्मन्त्री मन्त्रस्य सिद्धये॥
सर्व्वेषामेव मन्त्राणां पूर्व्वमेवाप्युदाहृता।

तथा,—

एकलक्षजपादेव वर्ण्णो मन्त्रः प्रसिद्ध्यति।
वर्णवृद्ध्या जपे ह्रासस्तेनान्येषां समूहयेत्॥

तथा,—

जपेत्सप्तसहस्राणि पूर्व्वमन्त्रन्तु भक्तितः।
उक्तं तथाङ्गमन्त्राणां जपे होमे शतं शतम्॥
सर्व्ववर्णैकपुष्पाणां सहस्रं होमयेत्ततः।
घृतहोमं ततः कुर्य्यात्तिलहोमं ततः परम्॥
एवं यः कुरुते पूर्व्वं मुच्यते सर्व्वपातकैः।
देवताश्च प्रसीदन्ति पुत्रवत्पालयन्ति च॥
सम्यक्सिद्धैकमन्त्रस्य नासाध्यमिह किञ्चन।
बहुमन्त्रवतः पुंसः का कथा शिव एव सः॥
अथवानुष्ठितो मन्त्रो न सिद्ध्येद् यदि वासव।
उपायास्तत्र विख्याता मन्त्रसंसिद्धिकारकाः॥

द्रावणं वारुणेनैव ग्रन्थनं क्रमयोगतः ।
पुष्पं दत्वा च हुत्वा च तावता सिद्धिमाप्नुयात् ।
तन्मन्त्रो वर्णमालिख्याशोष्याम्भसि विनिक्षिपेत् ।
गोरोचनञ्च कर्पूरं तगरं कुङ्कुमागुरुम् ॥
सर्व्वमन्त्रेषु मिश्रयेत् चीरं सर्पिर्मधूदकम् ।

द्रावितोऽपि नचेत्सिद्ध्येत्,—

सारस्वतेन मन्त्रेण वामेन पुटितेन तु ।
सम्पुटीकृतजप्तेन ततः सम्बोधितो भवेत् ॥
ज्योतिष्मतीजतैलेन रक्षामेतां विधाय तु ।
भारतीपादमानम्य सिद्धिचेते तु विन्यसेत् ॥

बोधितोऽपि न चेत् सिद्ध्येत्,—

आत्मनामोपरिस्थेन मन्त्रेणार्चादिकां क्रियाम् ।
कुर्व्वन् मूर्द्धोपरि ध्यायन् द्वादशान्ते च नान्तकम् ॥
रक्षा पञ्च विधातव्या मस्तके च करद्वये ।

ग्रीवाकण्ठ्योश्च सन्तार्य्यम्,—

आरक्तं चन्दनं कुष्ठं हरितालं मनःशिला ।

पञ्चैतानि तु वशीकरणानि । वशीकृतोऽपि न सिद्ध्येच्चेत्,—

अधरोत्तरयोगेन पदादीन् परिजप्य च ।
ध्यायीत देवतां तद्वदधरोत्तररूपिणीम् ॥
विद्यामादित्यदृश्येन लिखित्वाक्रम्य चाङ्घ्रिणा ।
तथाभूतेन मन्त्रेण होमः कार्य्यो दिने दिने ॥

सतु समाविष्टपीड़ितो ध्रुवं सिद्ध्यति। पीड़ितोऽपि न सिद्धेच्चेत्,—

नित्याख्यं त्रिपुराबीजं मन्त्राद्यन्ते निधाय तु ।
कुर्य्याज्जपादिकं कर्म्म——————— ॥
गव्यक्षीरमधुभ्यान्तु धारयेद् दक्षबाहुके ।

शोषितोऽपि न सिद्धेच्चेत्,—

द्वाभ्यां द्वाभ्यान्तु मन्त्राभ्यां वायव्येन विदर्भणम् ।
जप्यमन्त्रस्य देवेश शोषणं परिकीर्त्तितम् ॥
विद्यैकान्तफले धार्य्या लिखित्वा वटभस्मना ।
वायुनाक्रम्य बीजेन जातपद्मानिलात्मना ॥
संशुष्यमाणमालोक्य धरेन्मन्त्रं तृणीकृतम् ।
शोषितोऽपि न सिद्धेच्चेत् दहनीयः स मन्त्रिणा ॥
आग्नेयेन तु मन्त्रेण मन्त्रस्यैकैकमक्षरम् ।
आद्यमन्त्यञ्च मध्यञ्च पीड़येल्लघुरेखया ॥
प्रत्यक्षरमथवापि वायुबीजञ्च चिन्तयेत् ।
पञ्चधावस्थितैर्बीजैर्ज्वालाकोटिसमुज्वलैः ॥
दह्यमानं स्मरेन्मन्त्रं वह्निनेव महाद्रुमम् ॥
तथा विद्या च धर्त्तव्या हृद्देशसविलम्बिनी ।
ब्रह्मवक्षःश्रुतैर्विद्यां कृत्वा हृदि गले धरेत् ॥
ततस्तु सिद्ध्यते मन्त्रः साधकस्य न संशयः ।
सिद्ध्युपायैर्मया प्रोक्तैरेकेनैव तु वासव ॥

कूटमन्त्रोऽपि संसिद्ध्येत् किं पुनः पारमार्थिकः।
एकाक्षरात् समारभ्य षडङ्गं मन्त्रमुच्यते।
सप्ताक्षरा भवेद् बाला यावद्विंशाक्षरा भवेत्।
अत ऊर्द्ध्वं युवा विद्याद् द्व्यन्तद्वाविंशवर्णिका॥
तदूर्द्ध्वं स्थविरा ज्ञेया विद्या यावच्च तद्द्वयम्।
शतत्रयात्कुमारी स्याद् युवती तच्चतुष्टयम्॥
ततः सहस्रवर्णान्तं वृद्धा विद्या प्रकीर्त्तिता।
सहस्रात्परतो विद्या दण्डकेति प्रकीर्त्तिता॥
द्विसहस्रमयीं विद्धि सकृज्जप्तेन सिद्ध्यति।
पूर्व्वा सन्ध्या तु बालानां जपहोमार्चने हिता॥
सूर्य्योदयः कुमारीणां प्रहरौ यौवनस्थिताम्।
मध्याह्ने स्थविरा विद्या वृद्धानामापराह्णिकम्॥
दण्डकानान्तु सन्ध्यायां नक्तं स्तोत्रेषु पूजितम्।
मन्त्राणाञ्चैव पूर्व्वाह्णे जपहोमादिकं हितम्॥
अन्यथा कुरुते यस्तु फलं तस्य न सिद्ध्यति॥

अत्र प्रयोगाः,—

अपुरश्चरणस्यापि नित्यजप्तुर्महात्मनः।
समस्तकामसंसिद्धिर्भक्तस्य भवति ध्रुवम्॥
अष्टमेन तु लक्षेण परं निर्वाणमाप्नुयात्।
आमृत्योः शुक्लपक्षस्य द्वादश्योष्व्ययुतं जपन्॥
भित्त्वैनांसि हरिं याति द्वादशद्वादशीषु वा।
विष्णालये फलाहारः संवत्सरजपात्मरः॥

भक्तिमान् लभते साक्षाद् देवदेवस्य दर्शनम् ।
आरुह्य पर्व्वतं पुण्यं जपेल्लक्ष्यमतन्द्रितः ॥
प्रकाश्यते हि तद्ब्रह्म यद्विन्दन्ति हि योगिनः ।
जानुमात्रेऽम्भसि स्थित्वा लक्षमेकं समाहितः ॥
भवत्यकल्मषो जप्त्वा नाभिमात्रे तु पुष्टिमान् ।
पञ्चाहं पञ्च चाब्दानि निषण्णो दर्भसंस्तरे ॥
सर्व्वार्थसाधनं जप्त्वा विशुद्धात्युपपातकात् ।
अहोरात्रमुपोष्याष्टसहस्रेणाभिमन्त्र्य च ॥
युक्तानि पञ्च चाब्दानि पीत्वा पापैः प्रमुच्यते ।
शनैश्चरदिनेऽश्वत्थं नित्यमालभ्य पाणिना ॥
जपेदष्टशतं शुद्धो म्रियते नापमृत्युभिः ।
अश्नीयादन्वहं विद्यानन्नं सप्ताभिमन्त्रितम् ॥
आरोग्यं महदाप्नोति वर्णं तेजश्च विन्दति ॥
उदकुम्भं नवं पूर्णमुपस्पृश्यायुतं जपेत् ।
तेनाभिषिक्तस्तोयेन व्याधिभिः परिमुच्यते ॥
तिलानां दशसाहस्रो होमस्त्वायुर्विवर्द्धनः ।
प्रतीकारश्च सर्व्वेषां वृजिनव्याधिरक्षसाम् ॥
दधिमध्वाज्यमिश्राश्च चतुरङ्गुलसम्मिताम् ।
गुलूचीमयुतं हुत्वा मृत्युमेवातिवर्त्तते ॥
आयुःकामो हिलक्षन्तु जप्त्वा दुर्व्वाङ्कुराणि च ।
हुत्वा दशसहस्राणि दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥

ब्राह्मे मूहूर्त्ते अमावास्यापर्व्वण्यपतितं भुवि,—

ब्रह्मपत्रेण गृह्णीयात् कपिलागोमयं शुचि।
अष्टोत्तरसहस्रेण तस्य भस्माभिमन्त्रयेत्॥
तेनापस्मारिकं मृत्युमामयन्तु व्यपोहति।
सर्व्वान् कामानवाप्नोति घृतहोमेन भूयसा।
रोगाः सर्व्वे प्रणश्यन्ति दीर्घमायुरवाप्नुयात्॥
अष्टाक्षरं सकृद्वोक्त्वा वामहस्ताभिमन्त्रिताः।
पुनः पुनरपः सिञ्चेत् सर्पदष्टस्तु जीवति॥
लूतिकावृश्चिकशुनां मूषिकस्य विषं तथा।
वामहस्तेन संस्पृश्य ध्यानेनैव व्यपोहति॥
आयुधाष्टभुजं सौम्यं सर्व्वाङ्गधवलद्युतिम्।

निर्व्विशेषेण चिन्तयेत् देवम्।

एकविंशतिमभ्यस्य प्रथमां वाचमुत्सृजेत्।

कार्य्यसिद्धिस्तु स्यात्।

नाभिमात्रोदकस्यान्ते नदीं प्राप्य समुद्रगाम्।
जप्त्वा सूर्य्यदृगुद्बाहुरयुतं धनमाप्नुयात्॥
बाहुद्वयं समुद्धृत्य लक्षमेकमिमं जपेत्।
सोऽचिरेणैव लोकेऽस्मिन् धनवान् स्यात् कुवेरवत्॥
अभिमन्त्र्याष्टसाहस्रं सर्व्वबीजानि दापयेत्।
महती चास्य वृद्धिः स्यादार्त्तादिष्वप्ययं विधिः॥
अयुतं मासं तु जपेत् भुक्त्वा गोमूत्रयावकम्।
मासेनोपहते गर्भो होमे शौण्डलिके कृते॥

अनुक्तायान्तु संख्यायां विधाने जपहोमयोः।
सर्व्वत्राष्टसहस्रं स्यादेष साधारणो विधिः॥
अनृती ब्रह्मचारित्वं सकृत् आद्यान्नभोजनम्।
आसमाप्तेः क्रियाणां स्यादर्च्चनं च हरेस्तथा॥
आहिताग्निस्तु यो विप्र उपवासव्रतं चरेत्।
प्राणाग्निहोत्रलोपेन अवकीर्णी भवेत्तु सः॥

इति दोषोक्तिरपि पूर्व्वपक्षन्यायमूला प्राणाग्निहोत्रप्ररोचनामात्रार्था इति सिद्धम्। किञ्च ऋते प्रायश्चित्तादिति तच्छेषोऽस्ति। एकादश्युपवासस्य प्रायश्चित्तत्वमप्यस्ति।

एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि।
नरसिंहं समभ्यर्च्य सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥
एकादशेन्द्रियैः पापं यत्कृतं वैश्यमानवैः।
एकादश्युपवासेन तत्सर्व्वं विलयं व्रजेत्॥
नेदृशं पावकं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
यादृशं पद्मनाभस्यार्च्चनं पापनाशनम्॥
इति सर्व्वपुराणेषु मुनीनां निश्चितं मतम्।
उपोष्यैकादशीं पापान्मुच्यते नात्र संशयः॥
कृत्वा चैवोपवासन्तु योऽश्नीत द्वादशीदिने।
नैवेद्यं तुलसीमिश्रं पापकोटिं विनाशयेत्॥

इत्यादिभिः पापक्षयार्थत्वोक्तेस्तस्यैव प्रायश्चित्तशब्दार्थत्वात्। क्वचिच्च,—

सर्व्वप्रायश्चित्तमिदं संसारोत्तारकारकम्।
एकादशीव्रतं विप्राः कुर्व्वन् मुक्तिमवाप्नुयात्॥

इत्येतदुक्तम्। अथवा "नित्यस्य कर्म्मणः कर्त्तृसम्बन्धः शास्त्रेणैव क्रियते" इति तत्रैव कर्त्तृत्वविशेषनिषेधानुपपत्तेः। काम्यस्य पुनः कामतः फलसम्बन्धमात्रे शास्त्रेण कृते कामनाधीन एव कर्त्तृसम्बन्धः। अतएव प्राभाकरैः कामाधिकारेषु विधिरपि नेष्यत इति कथञ्चिदत्र काम्योपवासस्यैव ब्रह्मचार्य्याहिताग्निसम्बन्धः शास्त्रीयत्वात् प्रतिषिध्यते। न नित्यस्य तत्कर्त्तृसम्बन्धस्य शास्त्रायत्तत्वात्। काम्यमपि चैतत् स्मर्य्यते। तथाहि,—

ऐश्वर्य्यं सन्ततिं स्वर्गं मुक्तिं वा यद् यदिच्छति।
एकादश्यां न भुञ्जीत तत् तत्सर्व्वमवाप्नुयात्॥
न दानं न तपः स्नानं नवा यत् सुकृतं क्वचित्।
भुक्तये सम्भवेच्छुक्तिं मुक्त्वैकं हरिवासरम्॥

इत्यादिवाक्यैः। एतेनैवं फलं कामनया ब्रह्मचार्य्याहिताग्निभिर्न कर्त्तव्यम्। यत्तु,—

परमापदमापन्नो भये वा समुपस्थिते।
सूतके मृतके वापि न त्याज्यं द्वादशीव्रतम्॥
सूतकेऽपि नरः स्नात्वा प्रणम्य मनसा हरिम्।
एकादश्यां न भुञ्जीत व्रतमेतन्न लुप्यते॥
एकादशी सदोपोष्या पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
न करोति हि यो मूढ़ो नरकान् याति दारुणान्॥

इत्यकरणे दोषोक्तिः। तथा,—

अष्टम्याञ्च चतुर्द्दश्यां दिवा भुक्तैन्त्ववं चरेत्।
एकादश्यां दिवारात्रौ नक्तञ्चैवान्यपर्व्वसु ॥

इति प्रायश्चित्तोक्तेः।

असामर्थ्ये शरीरस्य व्रते च समुपस्थिते।
कारयेद्धर्म्मपत्नीं वा पुत्रं वा विनयान्वितम् ॥

यत्तु,—

पत्यौ जीवति या नारी उपवासव्रतं चरेत्।
आयुर्हरति सा पत्युः स्वयञ्च नरकं व्रजेत् ॥

तत् स्वार्थकाम्यव्रतमेवेति सिद्धम्।

एकभुक्तेन नक्तेन क्षीणवृद्धातुरः क्षिपेत्।
उपवासो यदा नित्यः श्राद्धं नैमित्तिकं भवेत् ॥
उपवासं प्रकुर्व्वीत आघ्राय पितृसेवितम्।

इत्यादिवाक्यबलान्नित्यत्वमप्यस्तीति तदनुरोधेन तैरपि कर्त्तव्यमेवेति। चिन्तामणिकारेण पुनरत्र नाग्निहोत्रलोपे न चेति व्याचक्षाणेन सर्व्वोत्कृष्टप्राणरक्षाविधिर्यावज्जीवाग्निहोत्र-लोपेन विधिकृतस्तद्विरोधिमासोपवासादिव्रतवाद एवानुदितो-ऽभिप्रेतः। यच्च,—

दिनक्षये चेन्दुक्षये ग्रहणे चन्द्रसूर्य्ययोः।
संक्रान्त्यां कृष्णपक्षे च रविशुक्रदिने तथा ॥
व्यतीपाते श्राद्धदिने पुत्री नोपवसेद् गृही।

इति,—

तन्निमित्तोपवासस्य निषेधोऽयमुदाहृतः।

इत्युक्तम्। तेन यद्‌विषयः संक्रान्तिरविशुक्रदिनव्यतीपात-विहितोपवासस्तस्य पर्य्युदासो नैकादश्यां विहितस्य।

अन्यथा,—

एकादश्यां यदा राम वारस्तु सवितुर्भवेत्।
उपोष्या सा महापुण्या पुत्रपौत्रविवर्द्धिनी॥

इत्यादिविरोधः स्यात्। श्राद्धदिने च पितृसेविताघ्राण-विधितत्पर उपवासनिषेधः। कृष्णपक्षे तु,—

नित्या शुक्ला समाख्याता कृष्णा नैमित्तिकी स्मृता।
शयनीबोधनीमध्ये या कृष्णैकादशी भवेत्।
सैवोपोष्या गृहस्थेन नान्या कृष्णा कदाचन॥

इति। तत्र नैमित्तिकी भोजनदोषदर्शनमात्रनिमित्ता।

यानि यानीह पापानि ब्रह्महत्यासमानि च।
अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति सम्प्राप्ते हरिवासरे॥
ब्रह्मघ्नस्य सुरापस्य स्तेयिनो गुरुतल्पिनः।
निष्कृतिर्धर्म्मशास्त्रोक्ता नैकादश्यन्नभोजिनः॥
मातृहा पितृहा चैव भ्रातृहा गुरुहा तथा।
एकादश्यान्तु यो भुंक्ते विष्णुलोकात् च्युतो भवेत्॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा यतिः।
एकादश्यान्तु भुञ्जानो भुंक्ते गोमांसमेव हि॥

तदुक्तं कालादर्शे,—

एकादश्योरुपवसेदेवं गृहीति केचन।
ऊचुस्तान् गृहिणस्त्वेके शुक्लामेवेत्यनुक्रमात्॥

विधवाया वनस्थस्य यतेश्चैकादशीद्वये ।
उपवासो गृहस्थस्य शुक्लायामेव पुत्रिणः ॥
भवेन्निषेधः कृष्णायां सिद्धिस्तस्यार्थतो व्रते ।

अनन्तभट्टीये च,—सर्व्वेषां पक्षद्वये भोजनवर्ज्जनम् । गृहस्थेतरेषाञ्च पक्षद्वयेऽपि व्रतम् । गृहस्थानाञ्च शुक्लास्वेव । शयनीबोधनीमध्यकृष्णासु च अपुत्रगृहस्थस्य व्रतं पुत्रवतस्तु तास्वपि किञ्चिद्भक्षणपूर्व्वकं व्रतमिति । अथवा कृष्णा नैमित्तिकी कामनारूपे निमित्ते कार्य्या काम्यैव न नित्येत्यर्थः । अन्यथा,—

पितॄणां गतिमन्विच्छन् कृष्णायां समुपोषयेत् ।
भानुवारेण संयुक्ता कृष्णा संक्रान्तिसंयुता ॥
एकादशी सदोपोष्या सर्व्वसम्पत्करी तिथिः ॥
एकादश्यान्तु कृष्णायामुपोष्य विधिवन्नरः ।
पुत्त्रानायुः समृद्धिञ्च सायुज्यञ्च स गच्छति ॥

इत्येषाञ्चागतिः । तत्र निषेधमात्रो व्रतधर्म्माभावः । नित्यव्रते यथाशक्तिव्रतधर्म्माः । काम्ये तु सर्व्वसम्पत्तावेवाधिकारः ।

व्रतधर्म्माश्च,—

दशम्यामर्च्चनं कृत्वा सविशेषं श्रियः पतेः ।
भुक्ता हविष्यमन्नाद्यं सायंकाले समाहितः ॥
आचम्योदङ्मुखो भूमौ स्मरन्नारायणं प्रभुम् ।
कृताञ्जलिपुटः सम्यक् मन्त्रमेतदुदीरयेत् ॥
एकादश्यां निराहारो भुक्त्वाचैवापरेऽहनि ।
भोक्ष्येऽहं पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत ॥

इत्थं सम्प्रार्थ्य च हरिं तत्रादौ नियतो भवेत् ।
अधःशायी ब्रह्मचारी क्रोधलोभविवर्जितः ॥
दिनत्रयं भवेदेवं यावत्स्यात्पारणं नृप ।
तावन्मात्रैकनिष्ठः स्यादन्यव्यापारवर्जितः ॥
मध्याह्ने च ततः स्नानं पूजां पञ्चोपचारतः ।
कुर्व्वीत पायसं विद्वान् भोज्यभोज्यादिकं हरेः ॥
रात्रावपि तथाभ्यर्च्च जागरं कारयेन्नृप ।
ततः प्रभाते द्वादश्यां कृतपूर्व्वाह्निकक्रियः ॥
अर्घ्याद्यैरुपहारैश्च ताम्बूलान्तैः प्रपूजयेत् ।
तर्पयित्वा यथाशक्ति वैष्णवान् द्विजपुङ्गवान् ॥
पारणञ्च ततः कुर्य्याद् भगवद्भक्तिभावितः ।
मन्त्रेणानेन राजेन्द्र ध्यात्वा नारायणं प्रभुम् ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव ।
प्रसादसुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव ॥
एतद् व्रतं महाराज यावज्जीवाधिकारिकम् ।
अकृत्वा पतितो भूयात् कृत्वा कामानवाप्नुयात् ॥
न कारयति यो नृत्यं गीतं जागरणं हरेः ।
षष्टिवर्षसहस्राणि पच्यते रौरवादिषु ॥
प्रभाते कौशिकीं यस्तु प्रगायेज्जागरे हरेः ।
स समुद्धरते सर्व्वान् स्वपरान् ब्राह्मणो यथा ॥
असत्यभाषणं केलिं दिवासुप्तञ्च मैथुनम् ।
एकादश्यां न कुर्व्वीत उपवासपरो नरः ॥

तथा,—

रात्रौ जागरणं कृत्वा समुपोष्य हरेर्दिनम्।
दशैव पैतृके पक्षे मातृके दशपूर्व्वकम्॥
स साक्षाद्दशपक्षे तु पुरुषानुद्धरेन्नरः।
ते ह्यन्यसङ्गनिर्मुक्ता नागारिकृतकेतवः।
स्रग्विणः पीतवस्त्राश्च प्रयान्ति हरिमन्दिरम्॥

इति जागरणं संयोगपृथक्त्वेन तूभयार्थम्। उपवासस्तु कर्त्तृसंस्कारमात्रं न प्रधानम्। प्राधान्ये नक्तादिप्रतिनिध्यसङ्गतेर्नहि प्रधानस्य प्रतिनिधिरस्ति। तेन,—

एकादश्यां न भुञ्जीत तत्तत् सर्व्वमवाप्नुयात्।

इत्यादावभोजनादिपदैस्तदुपलक्षितं व्रतमेवानूद्यते। तत्र पूजैव प्रधानमिति तस्या एव फलान्वयः। एवम्,—

लिङ्गार्चनं रुद्रजपो व्रतं शिवदिनत्रये।
वाराणस्याञ्च मरणं मुक्तिरेषा चतुर्विधा॥

एकादश्यष्टमी चतुर्द्दशी च शिवप्रिया।

तेषामाद्यामुपवसेद् दिवा नाद्यात् तथान्ययोः।

इत्यतः शिवप्रीत्यर्थं व्रते क्रियमाणे शिवपूजाप्यङ्गत्वेन कर्त्तव्या। तथा,—

दशमीदिनमारभ्य करिष्येऽहं व्रतं तव।
त्रिदिनं देवदेवेश निर्विघ्नं कुरु केशव॥

इक्ष्वाकुदपटहघोषः।

प्रातर्हरिदिनं विप्रास्तिष्ठध्वञ्चैकभोजनाः।
अक्षारलवणाः सर्व्वे हविष्यान्ननिषेविणः॥
अवनीतल्पशयनाः प्रियासङ्गविवर्जिताः।
स्मरध्वं देवदेवेशं पुराणं पुरुषोत्तमम्॥
सकृद्भोजनसन्तुष्टा द्वादश्याञ्च भविष्यथ।

इति।

तिलमुद्गादृते शस्यं चास्यगोधूमकोद्रवाः।
चणकं देवधान्यञ्च एष क्षारगणः स्मृतः॥
कांस्यं मांसं मसूरञ्च क्षौद्रं चानृतभाषणम्।
पुनर्भोजनमध्वानं द्वादश्यां परिवर्जयेत्॥

तथा,—

शाकं स्त्रियं परान्नञ्च लवणं कोरदूषकान्।
कांस्यं मांसं सुरा मासं क्षौद्रं वितथभाषणम्॥
व्यायामञ्च व्यवायञ्च दिवास्वप्नं द्विभोजनम्।
तिलपिष्टं मसूरञ्च द्वादश्येतानि वर्जयेत्॥
पाषण्डिभिरसंस्पर्शमसम्भाषणमेव च।
विष्णोराराधनपरैरेतत् कार्य्यमुपोषितैः॥
असकृज्जलपानाच्च ताम्बूलस्य च भक्षणात्।
उपवासं प्रदूष्येत दिवास्वप्नाच्च मैथुनात्॥
कांस्यं मांसं मसूरञ्च चणकं कोरदूषकान्।
रत्योषधिपरान्नञ्च द्वादश्यामष्ट वर्जयेत्॥
दिवानिद्राञ्च तैलञ्च पुनर्भुक्तिञ्च वर्जयेत्।

अतएव,—

एकादश्योरुदवसेत् पक्षयोरुभयोरपि ।
नरसिंहं समभ्यर्च्च्य सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

इत्यत्रैकादश्युपक्रमात् कालान्तरस्य चानुक्तेरेकादश्यामेव नृसिंहमूर्त्तेः पूजा। तथा,—

पतङ्गोपासनायेह षष्ठ्यामाहुरुपोषणम् ।
एकादश्यां प्रकुर्व्वन्ति उपवासं मनीषिणः ।
उपासनाय द्वादश्यां विष्णोर्यद्वदियं तथा ॥

इति द्वादश्यामपि पूजेति पूजाद्वयं प्रधानम् । तथा,—

सङ्कल्प्योदुम्बरे पात्रे जलमष्टाक्षरेण तु ।
अभिमन्त्र्य पिबेद् वर्ज्यान् कांस्यादीन् परिवर्ज्जयेत् ॥

तथा,—

अष्टाक्षरेण मन्त्रेण त्रिजप्तेनाभिमन्त्रितम् ।
उपवासफलं प्रेप्सुः पिबेत् पात्रगतं जलम् ॥
मन्त्रौ जपित्वा हरये प्रणम्योपोषणं व्रती ।
द्वादश्यां पारणं कुर्य्याद् वर्जयित्वा ह्युपोदकम् ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव ।
प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव ॥
कृष्ण कृष्ण कृपालुस्त्वमगतीनां गतिर्भव ।
संसारार्णवमग्नानां प्रसीद मधुसूदन ॥
यदा भवेदतीवाल्पा द्वादशी पारणादिने ।
उषःकाले द्वयं कुर्य्यात् प्रातर्माध्याह्निकं तथा ॥

सन्ध्यादिकं भवेन्नित्यं पारणन्तु निमित्ततः।
अम्भसा पारयित्वाथ नित्यकाले भुजिर्भवेत्॥
सङ्कटे विषमे प्राप्ते द्वादश्यां पारयेत् कथम्।
अद्भिस्तु पारणं कुर्य्यात् पुनर्भुक्तिर्न दूष्यति॥

यस्त्वत्र द्वादशीकाले पारणनियमस्तत्र पारणपदं कर्म्म-समाप्तिपरम्। तेन लिप्तामात्रायामपि द्वादश्यां तन्मध्ये भगवदर्चनपूर्व्वकं व्रतं समापयेत् यदि तु पारणपदं भोजनपरं स्यात् तथाप्यष्टग्रं प्रतिवीक्षेतेति विहिते चक्षुर्निमीलनावधिमात्रपरम्। तेन तदाऽनीक्षणेऽप्यदोषः। एवमन्यत्राप्यभोजननियमावधिमात्रपरं स्यात्। तत्पराणि च,—

स्वल्पायामपि विप्रेन्द्रा द्वादश्यामरुणोदये।
प्रातर्माध्याह्निकं कुर्य्यादल्पदोषो न सम्पदा॥
कलार्द्धा द्वादशी दृष्टा निशीथादूर्द्ध्वमेवहि।
आमध्याह्नाः क्रियाः सर्व्वाः कर्त्तव्याः शम्भुशासनात्॥

यत्तु "द्वादश द्वादशी हन्ति" इत्यादि वाक्यं न तेन द्वादशीकालस्य पारणाङ्गतोच्यते। अन्यकर्म्माङ्गहानादन्यकर्म्मफलायोगात्। न च पृथक् पुरुषार्थनिषेधः। प्रकृतान्यत्वहानिदोषात्। तत्रापि द्वादश्यन्तरफलाभावायोगात्। नहि निषिद्धान्तराचरणात् सद्गुणमेव कृतं कर्म्म न फलदमिति सम्भवति। तस्मात् द्वादशद्वादशीव्रतफलकामो द्वादश्यां पारणं कुर्य्यादिति प्रणयनाश्रितगोदोहनवत् व्रताङ्गं पारणाश्रितद्वादशीकालतत्फलार्थं विधीयते। नह्यनेन तत्फलार्थं विधीयते नह्यनेन तत्-

फलार्थप्राप्तिरेव तत्फलमहाहानिश्च । अतएवास्नातेन सरस्वतीति सरस्वत्यस्नानेन सरस्वतीस्नानफलाप्राप्तिरेव दृष्टान्तत्वेनोक्ता ।

एवम्,—

पारणाहनि सम्प्राप्ते द्वादशीं यो व्यतिक्रमेत् ।
त्रयोदश्यान्तु भुञ्जानः शतजन्मानि नारकी ॥

इत्यपि । अनेकशतभोग्यपापचयरूपद्वादशीव्रतफलाप्राप्तिरेवोच्यते । अत्र मार्गशीर्षशुक्लैकादश्यामयं विशेषः । तत्र शुक्लदशम्यां द्वादश्यां हविष्यं कृत्वा पञ्चपदं गत्वा सम्यगाचम्य क्षीरवृक्षजाष्टाङ्गुलकाष्ठेन दन्तान् संशोध्याचम्य,—

शङ्खचक्रगदापाणिं पीतवासं किरीटिनम् ।
ध्यात्वार्घ्यं दापयेद् दृष्ट्वा भानुरूपं जनार्द्दनम् ॥
एकादश्यां निराहारो भूत्वाहनि परेऽह्यहम् ।
भोक्ष्येऽहं पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत ॥
एवमुक्त्वा ततो रात्रौ देवदेवस्य सन्निधौ ।
जपन्नारायणायेति स्वपेत्———— ॥

ततः प्रभाते शुद्धां मृदमानीय

धारणं पोषणं त्वत्तो भूतानां देवि सर्व्वदा ।
तेन सत्येन मां देवि पापान्मोचय मृत्तिके ॥
ब्रह्माण्डोदरतीर्थानि करैः स्पृष्टा निषेवते ।
भवन्ति भूतानि यतो मृत्तिकामालभे ततः ॥
त्वयि सर्व्वे रसा नित्यं स्थिता वरुण सर्व्वदा ।
तेन मां मृदयाप्लाव्य मां पूतं कुरु मा चिरम् ॥

एवं मृदं रविं तोयं प्रसाद्यात्मानमालभेत् ॥
त्रिःकृत्वः शेषमृदया कुण्डमालिख्य वै जले ।
ततः स्नात्वा देवगृहं गत्वा तत्रार्चयेत् प्रभुम् ॥
केशवाय नमः पादौ कटिं दामोदराय च ।
जानुयुग्मं नृसिंहाय ऊरू श्रीवत्सधारिणे ॥
कण्ठं कौस्तुभनाथाय वक्षः श्रीपतये तथा ।
त्रैलोक्यविजयायेति बाहू सर्व्वात्मने शिरः ॥
रथाङ्गधारिणे चक्रं शङ्करायेति वारिजम् ।
गम्भीरायेति च गदां पङ्कजं शान्तिमूर्त्तये ॥
एवमभ्यर्च्य चतुरोऽम्बुकुम्भान् स्थापयेत् पुरः ।
आम्रपत्रैः सह तिलैः स्थापितान् रत्नगर्भिणः ॥
समुद्ररूपां तन्मध्ये पीतवस्त्रावृते शुभे ।
सुवर्णरूपास्ताम्राणामभावे दारुपात्रके ॥
तोयपूर्णां स्थापितां वा सौवर्णीं मत्स्यरूपिणीम् ।
सम्यगभ्यर्च्य गन्धाद्यैरेवमुच्चारयेत् तदा ॥
रसातलगता वेदा यथा देव त्वयोद्धृताः ।
मत्स्यरूपेण तद्वन्मां भवादुद्धर केशव ॥
तदग्रे जागरं कृत्वा प्रभाते कृतनित्यकः ।
ऋक्सामाथर्व्ववेदेभ्यः कुम्भान् दद्यादतन्द्रितः ॥
ऋग्वेदः प्रीयतां पूर्व्वे सामवेदस्तु दक्षिणे ।
पश्चिमे तु यजुर्व्वेदोऽथर्व्ववेदस्तथोत्तरे ॥

देवञ्च जलपात्रस्थं दद्याद् भक्त्या कुटुम्बिने ।
भोजयेत् पायसैर्विप्रान्——— ॥
एवं कृत्वा ब्रह्मलोके ब्रह्मकालं स तिष्ठति ।
संहारे तल्लयं प्राप्य विरजा जायते पुनः ॥
ब्रह्महत्यादिपापानि नश्यन्तीह कृतान्यपि ।
किञ्चात्र बहुनोक्तेन न तदस्ति महामुने ॥
प्राप्यं यन्नाप्यतेऽनेन पापं वा यन्न नश्यति ॥

इतरमासैकादशीष्वप्येवम् । व्रतानि सन्ति फलाल्पत्वान्न लिखितानि । दशमीविद्धवर्जनवाक्येन तावदेकादशीव्रत एव विद्धतिथिपर्य्युदासः क्रियते । उपवासव्रतविध्यसान्निध्यात् । पुरुषार्थनिषेधप्राये च पाठात् । ततः शास्त्रैकप्राप्तैकादश्युपवासस्य दशमीविद्धतिथौ निषेधान्न तौ पशौ करोतीति वद् विकल्प एव स्यात् । अत्र केचित्,—

तिथिवृद्धौ त्वयं वेधः परिहर्त्तुं न शक्यते ।
तिथिक्षये न दोषोऽयं द्वादशीसूक्तयोगतः ॥

इत्येवमुत्तरदिने एकादशीयोगे दशमीविद्धपूर्व्वदिनविषयाणि विद्धनिषेधवाक्यानीत्याहुः । तत्र,—

यां तिथिं समनुप्राप्य उदयं याति भास्करः ।
सा तिथिः सकला ज्ञेया स्नानदानादिकर्म्मसु ॥

इति वचनेनैव पूर्व्वदिने प्राप्त्यभावनिषेधानर्थक्यम् । अत एवं नः प्रतिभाति यस्तावत्--

द्वादश्यामुपवासन्तु ये वै कुर्व्वन्ति ते नराः।

वत्स मामेव पश्यन्ति मम व्रतपरायणाः॥

इति द्वादश्युपवासो विहितः स

एकादशी विलुप्ता चेत्परतो द्वादशी स्थिता।

उपोष्या द्वादशी तत्र यदीच्छेत् परमं पदम्।

इत्यनेन एकादश्यां दशमीविद्धायामेव नियमितः। अत्र च,—

कलार्द्धेनापि विद्धा स्यात् दशम्येकादशी तु या।

तदा ह्येकादशीं त्यक्त्वा द्वादशीं समुपोषयेत्॥

इत्यनेनैकादश्युपवासनिषेध उक्तः। तेन विष्णुदर्शनकाम्यया यो द्वादश्युपवासं करिष्यति तेन विद्धैकादशी नोपोष्या तत्परमेव।

दशम्येकादशीयुक्ता प्रमादाद्‌ यद्युपोषिता।

संवत्सरकृतं पुण्यं तस्य नश्यति तत्क्षणात्॥

दशमीशेषसंयुक्ता गान्धार्य्या समुपोषिता।

तस्याः पुत्रशतं नष्टं तस्मात् तां परिवर्जयेत्॥

इत्यादि वाक्यजातम्। तत्रापि,—

उपवासनिषेधात्तु भक्ष्यं किञ्चित् प्रकल्पयेत्।

इति वचनान्न यथेष्टभोजनम्। यस्तु काम्यं द्वादश्युपवासं करिष्यति स विद्धैकादश्यामुपवासं कुर्य्यादेव। तत्परमेव।

एकादशी दशाविद्धा परतोऽपि न वर्द्धते।

गृहिभिर्यतिभिश्चैव सैवोपोष्या सदा तिथिः॥

इत्यादि वाक्यजातम्। पूर्व्वाचार्य्यैः पुनरित्थं व्यवस्था कृता,—

शुद्धा त्रेधा तथा विद्धा भिन्नन्यूनसमाधिकैः।
त्रिधैकैका पुनर्भिन्ना द्वादश्यूनसमाधिकैः॥
आद्यासु षट्सु पूर्व्वैव व्यवस्थानन्तरद्वये।
गृहमेधियतीनाञ्च सर्व्वेषां नवमी परा॥
विद्धत्रयेऽपि पूर्व्वैव व्यवस्थानन्तरद्वये।
सप्तमेऽपि व्यवस्थैव शेषाः परयुताः स्मृताः॥

इति तद् विचारणीयम्। तथा त्वया यदवसृष्टमित्यनेन स्वभोज्य एवान्ने भगवदुपभुक्तत्वचिन्तनारूपः संस्कारो विधीयते न तु दानमेव दत्तस्य पुनः संस्कारानुपपत्तेः।

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

इत्यन्यस्रग्गन्धकान्तादि यत्सुखं तत्समर्पयेदिति वचनात् भक्षणीयमित्यस्योपलक्षणार्थतया भोग्यं सर्व्वं भगवदुपभुक्तं चिन्तयित्वा ग्राह्यम्। एतद्विपर्य्यय एवानिवेदितभक्षणमित्यपराधत्वेन गणितः। अतएव पृथक् नैवेद्यभक्षणमभिहितम्। तेन······ भगवति दत्वा प्रतिपत्तिरूपेण वैष्णवाय दत्तं तस्य भक्षणमुच्यते। तथा,—

श्रीमदष्टाक्षरं मन्त्रं मन्त्ररत्नं द्वयाद्वयम्।
गीतासु चरमश्लोकं यो जानाति स वैष्णवः॥
श्रीमन्नारायणेत्युक्त्वा चरणौ शरणं ततः।
प्रपद्ये श्रीमते नारायणाय हृदयाद्वयम्॥

तथा, —

जपः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो योगश्च पञ्चमम् ।
एते वै पञ्च संस्कारा यस्यासौ वैष्णवो भवेत् ॥
नामाद्यक्षरसम्बन्धि भगवन्नामपूर्व्वकम् ।
दासान्तं नाम कुर्व्वीत भक्तत्वव्यञ्जकं गुरुः ॥

अतस्तप्तमुद्रा । सा चैवम् ।

तप्तमुद्राविधिं वक्ष्ये महापातकनाशनम् ।
शङ्खं चक्रं समाराध्य गन्धाद्यैरग्निमर्चयेत् ॥

इदं विष्णुः विष्णोर्विराट् अतो देवा अवन्तु नः नारायणाय विद्महे इति मन्त्रै र्घृतं हुत्वा शङ्खचक्रौ क्षिपेत् । ततः पुनः प्रपूज्य तद्भक्ताननुज्ञाप्य शङ्खचक्रकम्,—

दक्षिणे बाहुमूले तु वहेच्चक्रञ्च वैष्णवः ।

सुदर्शन महाज्वालेति ।

सव्यबाहौ च शङ्खेन पाञ्चजन्येति मन्त्रतः ॥
य एतेन विधानेन शङ्खचक्रौ च धारयेत् ।
कुलकोटिं समुद्धृत्य विष्णुलोके महीयते ॥

इत्यस्याप्रामाण्यकारणलोभादिहेतुदर्शनासम्भवात् । क्वचिन्निषेधसद्भावेऽपि विहितप्रतिषिद्धत्वाद् विकल्पः स्यात् । तत्र च व्यवस्था प्रागुक्ता । यत्तु,—

शङ्खं चक्रञ्च यः कुर्य्यान्मृदा कार्ष्णायसेन वा ।

इति निषेधं पठन्ति तत्राजीर्णमलवद्वासोनिषेधवद्विशेषणमात्रनिषेधपरः । तेनायसाद्यन्येन न विरोधः । तथा,—

अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत् परिकीर्त्तिताः।
यानैर्वा पादुकैर्वापि गमनं भगवद्गृहम्॥
देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रणामस्तदग्रतः।
एकहस्तप्रमाणञ्च तत्पुरस्तात् प्रदक्षिणम्॥
उच्छिष्टे चैव वाशौचे भगवद्वन्दनादिकम्।
पादप्रसारणञ्चाग्रे तथा पर्य्यङ्कबन्धनम्॥
भोजनं शयनञ्चैव मिथ्याभाषणमेव च।
उच्चैर्भाषा वृथाजल्पो रोदनाद्यञ्च विग्रहः॥
निग्रहानुग्रहौ चैव स्त्रीणां साकूतभाषणम्।
अश्लीलकथनञ्चैव अधोवायुविमोक्षणम्॥
कम्बलावरणं चैव परनिन्दा परस्तुतिः।
शक्त्या गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम्॥
तत्तत्कालोद्भवानाञ्च फलादीनामनर्पणम्।
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादितः॥
पृष्ठीकृत्यासनञ्चैव परेषामभिवादनम्।
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा॥

इति। अशौचमत्रामेध्यलेपलक्षणम्। अदृष्टरूपस्याशौचस्य पुनर्नाशौचम्। कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यत इत्यनेन तत्कीर्त्तनाद्यपनेयत्वाभिधानात्। "पादप्रसारणञ्चाग्रे" इत्यग्रपदं परस्तुतिपर्य्यन्तं सम्बध्यते। शक्त्येत्युक्तमविधिना पूजादिसामर्थ्ये हीनकल्पाश्रयणम्। अनिवेदितेति स्वभोज्यं भगवदुपभुक्तमित्यचिन्तयित्वा भोजनमित्यर्थः। अनर्पणमदानम्। दत्तस्य पुनः

स्वयमुपयोगः। विनियुक्तावशिष्टस्य यदाग्नेयोऽष्टाकपाले ऐन्द्रं दधि ऐन्द्रं पयः सौम्यं चरुमित्यादिषु सर्व्वप्रदानाधिकरणन्यायेन सर्व्वस्याग्नावुद्देशेनोत्सर्गरूपे विनियोगे कृते दवदानप्रक्षेपरूपं प्रतिपत्त्यवशिष्टमेव। ननु सर्व्वार्थसम्पादितस्य पाकस्यैकत्र एकदेशविनियोगेनापरमवशिष्टं भवति। यथा सर्व्वार्थस्यैवाज्यस्य एकदेशविनियोगेन अवशिष्टत्वं न च पुनः सर्व्वस्य हविषः शेषाद् विहिते स्विष्टकृते अवदानमाज्यान्न भवति। तदुक्तं नाज्यादशेषा-दिति। श्राद्धकालेऽपि

ततोऽन्नं बहुसंस्कारं नैकव्यञ्जनभक्ष्यवत्।

चोष्यपेयसमृद्धञ्च यथाशक्त्युपकल्पयेत्॥

इत्यादिवाक्ये आग्नेयांश्चतुरो मुष्टीनित्यादिवत् पितृसम्बन्धा-श्रवणात् व्रीहिभिर्यजेतेतिवत्। अनेकव्यञ्जनादेः श्राद्धसाधनत्व-मात्रमुच्यते। न सर्व्वस्य पितृदैवत्वमिति तत्र देवयज्ञादेरपि बाधकाभावेन कर्त्तव्यत्वात् तदर्थं पृथक् पाकासम्भवेऽविरोधात् स एव पाकस्तन्त्रेण तदर्थोऽपीति साधारण एव। तेन

विष्णूपयुजशेषेण यष्टव्यं देवतान्तरम्।

इत्या...चान्नेन प्रागपि भगवदर्च्चने न विरोधः। यत्तु,—

पितृपाको न दातव्यो यावत् पिण्डान् न निर्व्वपेत्।

इति पठन्ति तत् कल्पतरावलिखितत्वात् सन्दिग्धप्रामाण्यं केवलमग्रावलेहितमित्यग्रभुक्तमेव तत्र निषिद्धम्। तत्प्रामाण्येऽपि तत्र पाके पितृसम्बन्धोक्तेः सर्व्वप्रदानाधिकरणन्यायेन सर्व्वं पितृदेयं स्यादिति पञ्चयज्ञार्थमन्य एव पाकः स्यात्। तत्र

पाकेऽपि पाकानन्तरं द्विधाकृते श्राद्धार्थभागादेवायमन्नदान-निषेधः स्यात्। भागान्तरं पुनः श्राद्धस्यादावन्तेऽपि वा विष्णर्चने न विरोधः। केवलमेतद्‌वाक्यानादरेणाविभागे पिण्डदानान्ते

यत् किञ्चित् पच्यते गेहे भक्ष्यं भोज्यमथापि वा।
अनिवेद्य न भोक्तव्यं पिण्डमूले कथञ्चन॥

इतिवचनात् सर्व्वं भाण्डस्थमन्नाद्यं पितॄनुद्दिश्योत्सृष्टव्यम्। अतएव भुञ्जीत पितृसेवितमिति स्वभोज्यभागस्यापि पितृ-सेवितत्वमुक्तम्। तच्च पुरोडाशयजमानभागवदविरुद्धम्। तेन तत्र श्राद्धान्ते तदन्नादिदानमपराधः।

पितृशेषन्तु यो दद्याद्धरये परमात्मने।
रेतोदाः पितरस्तस्य भवन्ति——॥

इत्येतत्परमेव। पिण्डदानात् पूर्व्वं तद्दाने न कश्चिद् विरोधः। अतएव श्राद्धपरिवेशनकाल एव परमेश्वरार्थमपि सर्व्वं परिवक्ष्यते। नन्वेवं तत्र पितृशेषभोजननियमादनिवेदितभक्षण-दोषः। निवेदनस्यात्र विष्णुभोजनचिन्तामात्रपरत्वात् पितृशेष-दानस्यैव निषेधात्। यदा तु,—

हरेर्निवेदितं सम्यक् देवेभ्यो जुहुयाद् हविः।
पितृभ्यश्चापि तद्दद्यात् फलस्यानन्त्यमाप्नुयात्॥

इत्यादि वाक्यानुसारेण सर्व्वमादौ विष्णवे निवेद्यते तदेतत् शङ्काया अनवकाश इति। पृष्ठीकृत्य भगवन्तमिति शेषः। परेषा-मभिवादनमित्यत्र पृष्ठीकृत्येत्यनुषङ्गः। तेन भगवदभिमुखमन्या-भिवादने न दोषः। केवलमाचार्य्यसन्निधाने वा पर्य्यायोपरुं[?]ष्ट्य

उपसंजिघृक्षेदाचार्य्यं प्रतिषेधेदितर इति वचनादभिवाद्य स्वं निवारयेत्। अनिवारणे तस्यैव दोषः। तत्र,

अहन्यहनि यो मर्त्त्यो गीताध्यायं पठेत् पुनः।
द्वात्रिंशदपराधैस्तु अहन्यहनि मुच्यते॥
दशापराधांस्तोयेन क्षीरेण स्नापनं शतम्।
सहस्रं नाशयेद् दध्ना घृतेनायुतमुच्यते॥

वृहत्सहस्रनामस्तोत्रञ्च सर्व्वापराधनाशनमिति। तथा राजान्नं वराहमांसं जालपादमांसं पिण्याकं मधु वा भक्षयित्वा अपराधान्तरं कृत्वा अकृतप्रायश्चित्तस्य रजस्वलां स्पृष्ट्वा श्मशानं गत्वा मैथुनं गत्वा वा अकृतस्नानस्य शवं स्पृष्ट्वा वा अकृताचमनस्य दीपं स्पृष्ट्वा वा अप्रक्षालितहस्तस्याकृतदन्तधावनस्याजीर्णिनः अकृतभगवदुपसर्पणाङ्गाचमनस्य क्रोधनस्य नीलेन रक्तेन वाससा युक्तस्य वायुं पुरीषं वा मुञ्चतः अन्धकारे च भगवदुपसर्पणं, कृष्णेन काकस्पृष्टेन परोपभुक्तवाससा भगवत्कर्म्म, निषिद्धपुष्पस्य वराहमांसस्य च दानं, भगवतेऽदत्वा अदनं, उपानत्पादस्य तदायतने प्रवेशः, शवं स्पृष्ट्वा अकृतप्रायश्चित्तस्य क्षेत्रे स्थितिः, भगवच्छास्त्रविरुद्धार्थभाषणञ्चेति वराहपुराणोक्ता अपराधाः। अत्र प्रायश्चित्तान्यशक्यानुष्ठानत्वान्न लिखितानि। ततो देवकार्य्याणि कुर्य्यात्। तत्रादौ "कार्य्यार्थसिद्धये पूर्व्वं" स्तुत इति "अनर्च्चितो विघ्नकरः" इति लिङ्गात् खगपते स्तुतिनमस्कारादि कुर्य्यात्। तत्र इन्द्राकृता स्तुतिः,—

नमस्कृत्य महादेवं स्तोष्येऽहं तं विनायकम् ।
अभिषेके यदा तेन स्तुतः स्कन्देन यः पुरा ॥
यशस्करेण पुण्येन यशसा ब्रह्मचारिणा ।
कार्य्यार्थसिद्धये पूर्व्वं तं नमामि विनायकम् ॥
महागणपतिं शूरमजितं जयवर्द्धनम् ।
एकदन्तं द्विदन्तञ्च चतुर्द्दन्तं चतुर्भुजम् ॥
त्र्यक्षं त्रिशूलहस्तञ्च रक्तनेत्रं वरप्रदम् ।
आम्बिकेयं शङ्कुकर्णं प्रचण्डं दण्डनायकम् ॥
आरक्तं दण्डिनञ्चैव वह्निवक्त्रं गणप्रियम् ।
अनर्च्चितो विघ्नकरः सर्व्वकार्य्येषु यो नृणाम् ॥
तं नमामि सुराध्यक्षं भीममुग्रमुमासुतम् ।
गजवक्त्रं विरूपाक्षं भववक्त्रसमुद्भवम् ॥
सूर्य्यकोटिप्रतीकाशं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।
शुद्धं सुनिश्चलं शार्व्वं नमिष्यामि विनायकम् ॥
नमोऽस्तु गजरूपाय गणानां पतये नमः ।
मेरुमन्दररूपाय नमः कैलासवासिने ॥
विरूपाय सुरूपाय नमस्ते ब्रह्मचारिणे ।
भक्तप्रियाय देवाय नमस्तुभ्यं विनायक ॥
त्वया पुरा तु सर्व्वेषां देवानां कार्य्यसिद्धये ।
गजरूपं समास्थाय त्रासिताः सर्व्वदानवाः ॥
ऋषीणां देवतानाञ्च नायकत्वं प्रदर्शितम् ।
यतस्ततः सुरैरग्रे पूज्यसे त्वं भवात्मज ॥

इति ।

इदं यः पठते स्तोत्रं षड्भिर्मासैर्वरं लभेत् ।
संवत्सरेण संसिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥

इति ।

तथा,—

नमस्ते गजवक्त्राय नमस्ते गणनायक ।
विनायक नमस्तेऽस्तु नमस्ते चण्डविक्रम ॥
नमोऽस्तु ते विघ्नकर्त्रे नमस्ते सर्पमेखल ।
नमस्ते रुद्रवक्त्रोत्थ प्रलम्बजठराश्रित ॥
सर्व्वदेवाग्रसम्पूज्य नमस्तेऽस्तु वराच्युत ।
सर्व्वदेवनमस्कारादविघ्नं कुरु सर्व्वदा ॥
यश्चैतत् पठते स्तोत्रं यश्चैतत् शृणुयात् सदा ।
न तस्य विघ्ना जायन्ते न पापं सर्व्वदा नृप ॥

तथा,—

रक्तचन्दनगन्धैश्च शुचिः स्नातो महीतले ।
कृत्वा मण्डलकं तत्र एकचित्तो व्यवस्थितः ॥
गृहीत्वा करवीराणि स्थापयेत् ताम्रभाजने ।
तिलतण्डुलसंयुक्तं कुशगन्धोदकेन वा ॥
रक्तचन्दनधूपेन युक्तमर्घ्याय साधनम् ।
दत्वा शिरसि तत्पात्रं जानुभ्यामवनिं गतः ॥
मूलमन्त्रेण संयुक्तमर्घ्यं दद्यात्तु भानवे ।
मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो यो देवं विनियोजयेत् ॥

गवां शतसहस्रे न यत् फलं ज्येष्ठपुष्करे ।
दत्ते कुरुकुलश्रेष्ठ तदर्घ्येण फलं लभेत् ॥

मूलमन्त्रश्च,—

हुं रेफविन्दुकर्णश्च तथान्यो दीर्घया सह ।
मात्रया रेफसंयुक्तो हकारो विन्दुना सह ॥
सकारश्च विसर्गश्च मन्त्रराजोऽयमुच्यते ।

पञ्चरात्रे तु,—

अरुणा शिखादीर्घयुता हृल्लेखा श्वेतया युतानन्ता ।

इत्युक्तम् । अरुणा हरः शिखी रेफः श्वेता विसर्गः अनन्तः सकारः । शक्तिर्गायत्री सूर्य्यदीर्घबीजेन षड़ङ्गानि । हृल्लेखा मन्त्रऋष्यादि । एतच्च,—

यावन्न दीयते चार्घ्यं भास्कराय विधानतः ।
तावन्न पूजयेद् विष्णुं शङ्करं वा सुरेश्वरम् ॥

इति वचनात् पूजाङ्गतयापि कर्त्तव्यम् । तत्रैव पञ्चरात्रेऽभिहितम्,—

नित्यशो रविवारे वा दिनादौ सूर्य्यपूजनम् ।
अर्घ्यदानञ्च कृत्वाथ पूजयेदिष्टदेवताम् ॥
देवतार्चनयोर्मध्ये रविं सर्व्वत्र पूजयेत् ।
स्वाचान्तः स्थण्डिले कृत्वा पद्मं सिन्दूररेणुना ॥
तत्रादित्यं समभ्यर्च्य रक्तपुष्पादिभिर्बुधः ।
अथवा ताम्रपात्रे तु मध्ये पङ्कजभूषिते ॥

कल्पोक्तविधिना पूज्य सूर्य्यं ताम्रे तु भाजने ।
प्रस्थोदकैः समापूर्णे योजयेद् रोचनादिकम् ॥

गोरोचनासुतिलवैणवराजिरक्त
शालिं ह्यारिकरवीरजवाकुशाग्रान् ।
श्यामाकतण्डुलयुतांश्च यथाप्रलाभं
संयोज्य रक्तिभिरतोऽर्घ्यविधिर्विधेयः ॥
दृष्ट्वा दिनेशमृदुपीठशतं तथैव
व्योमस्थितां परिवृतां चरणं विलोक्य । (?)
अष्टोत्तरं शतमथ प्रजपेन्मनुं तं
पूर्णोदकं निजकरेण पिधाय पात्रम् ॥

भूयोऽभ्युच्य सुधामयं जलमथो तद्गन्धपुष्पादिभि-
र्जानुभ्यामवनीं गतस्त्रषकमप्यामस्तकं प्रोद्वहन् ।
दद्यान्मण्डलबद्धदृष्टिहृदयो भक्त्यार्घ्यमोजोबल-
ज्योतिर्दीर्घयशोधृतिस्मृतिकरं लक्ष्मीप्रदं भास्वते ॥

इत्थं दत्वार्घ्यसलिलं तस्य सौषुम्नवर्त्मना ।
प्रविश्य सर्व्वतो व्याप्तं तद्रश्मिषु विचिन्तयेत् ॥
पुनः पुष्पाञ्जलिं दत्वा दृष्टिं सम्पाद्य मण्डले ।
तद्विलीनमना भूत्वा मन्त्रं साष्टशतं जपेत् ॥

तत्र सूर्य्यपूजाविधिः ।

गुह्यादाचरणतलं क्रमादागुह्यमागलकात् ।
विन्यस्य मन्त्रबीजान् क्रमेण मन्त्री करोतु साङ्गविधिम् ॥

मन्त्रस्य मध्यमनुना दीर्घपूजाङ्गानि ।—

अरुणसरोरुहसंस्थः त्रिदशारुणारुणसरोजयुगलधरः।
करकलिताभयवरदो द्युतिविम्बोऽमितभूषणस्त्विनोऽवतु वः॥
अङ्गैः प्रथमावरणं ग्रहैर्द्वितीयं तृतीयमाग्नेयैः।
प्रागादिसंस्थाः शशिबुधगुरुभार्गवाः क्रमेण स्युः॥
आग्नेयादिष्वपि धरणीजमहाहिकेतवः पूज्याः।
शुभसितपीतशुक्लरक्तानि असितं धूम्रकृष्णाता क्रमशः॥
वामोरुन्यस्तवामकरापरकराभयः सूर्य्यः।
विततमुखो हि नराहि अञ्जलियुता दंष्ट्रोग्रास्यो मदः॥ (?)

विष्णुगृहमार्जनादि तत्फलार्थं कर्त्तव्यम्।

तथा,—

नरसिंहगृहे नित्यं यः सम्मार्जनमाचरेत्।
सर्व्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोके महीयते॥
यावत्कानि प्रहाराणि भूमिसम्मार्ज्जने ददौ।
तावद्वर्षसहस्राणि शाकद्वीपे महीयते॥
जायते मम भक्तश्च सर्व्वधर्म्मसमन्वितः।
शुचिर्भागवतः शुद्धो ह्यपराधविवर्जितः॥
गोमयं गृह्य वै भूमिं मम वेश्मोपलेपयेत्।
यावन्तस्तु यवास्तत्र समन्तादुपलेपयेत्।
तावद्वर्षसहस्राणि मद्भक्तो जायते तथा॥
गोमयेन मृदा तोयै र्यः कुर्य्यादुपलेपनम्।
चान्द्रायणफलं प्राप्य विष्णुलोके महीयते॥

अभ्युक्षणञ्च यः कुर्य्यात् पानीयेन सुरालये ।
सुशान्ततापो भवति नात्र कार्य्या विचारणा ॥
तोयेनाभ्युक्षणं कृत्वा देवदेवाजिरे नरः ।
सर्व्वपापविनिर्मुक्तो वारुणं लोकमश्नुते ॥
हरेर्गृहं सदा यस्तु तुलसीदलविप्रुषैः ।
त्रिसन्ध्यं प्रोक्षयेद् भक्त्या महापापैः प्रमुच्यते ॥
अगम्यागमने पापमभक्ष्यस्य च भक्षणे ।
सर्व्वं तन्नाशमाप्नोति मण्डयित्वा हरेर्गृहम् ॥
अणुमात्रन्तु यः कुर्य्यान्मण्डलं केशवाग्रतः ।
मृदा धातुविकारैश्च कल्पकोटिं दिवं व्रजेत् ॥

तत्र,—

यावत् शतद्वयं मन्त्री षट्पञ्चाशत्पदान्यपि ।
तावद् यथोक्तविधिना तत्र सूत्राणि पातयेत् ॥
षट्त्रिंशद्भिः पदै र्मध्ये लिखेत् पद्मं सलक्षणम् ।
वह्निः पंक्त्या भवेत् पीठं पंक्तियुग्मेन वीथिका ॥
द्वारशोभोपशोभाश्च शिष्टाभ्यां परिकल्पयेत् ।
पदानि त्रीणि पादार्थं पीठकोणेषु मार्जयेत् ॥
अवशिष्टैः पदैर्विद्वान् पीठगात्राणि कल्पयेत् ।
पदानि वीथीस्थानानि मार्जयेत् पंक्तिभेदतः ॥
दिक्षु द्वाराणि रचयेत् द्विचतुःकोष्ठकैस्ततः ।
पदैस्त्रिभिरथैकेन शोभाः स्युर्द्वारपार्श्वतः ॥

उपशोभाः स्युरेकेन त्रिभिः कोष्ठैरनन्तरम् ।
अवशिष्टैः पदैः षड्भिः कोणानां स्याच्चतुष्टयम् ॥
अङ्गुलोत्सेधविस्ताराः समा रेखाः सिताः शुभाः ।
कर्णिकाः पीतवर्णेन केशराश्चारुणेन च ॥
शुक्लवर्णेन पत्राणि तत्सन्धीन् श्यामलेन च ।
रक्तानि वा दलानि स्युः कृष्णास्तु पत्रसन्धयः ॥
पीतेन पीठगर्भाणि पादाः स्युररुणप्रभाः ।
गात्राणि तस्य शुक्लानि वीथीषु च चतुर्ष्वपि ॥
आलिखेत् कल्पलतिकां दलपुष्पफलान्विताम् ।

विचित्रवर्णानि द्वाराणि श्वेतवर्णानि । श्वेता रक्ताः पीता उपशोभाः कोणानि कृष्णानि ।

तिस्रो रेखा वहिः कुर्य्यात् सितरक्तासिताः क्रमात् ।
कोणेषु शङ्खत्रितयं मध्ये चक्रं समालिखेत् ॥
पार्श्वतोऽग्निपुरद्वन्द्वं कलशं चोपरि न्यसेत् ।
सचक्रं सपताकञ्च ततो भूपूरकं न्यसेत् ॥
मूलं पीतेन सम्पूर्य्य पार्श्वशङ्खे तथैव च ।
मध्यशङ्खं सितेनैव सरक्ताग्रञ्च कारयेत् ॥
वह्निपूरस्य मध्ये तु रक्तेन परिपूरयेत् ।
कोणेषु नीलपीतैस्तु घटं पीतेन पूरयेत् ॥
घटकण्ठञ्च रक्तेन शिखां तेनैव कल्पयेत् ।
पीतरक्तैः पताकाश्च विविधाः पूरयेत् ततः ॥

पत्राकाग्रञ्च नीलेन ग्रन्थिं श्यामेन कल्पयेत्।
मण्डलं सर्व्वतोभद्रमेतत् साधारणं स्मृतम्॥
पद्मपत्रस्य सन्त्यज्य द्वादशांशं बहिः सुधीः।
तन्मध्ये विभजेत् वृत्तैस्त्रिभिः समविभागतः॥
आद्यं स्यात् कर्णिकास्थानं केशराणि द्वितीयकम्।
तृतीयं तत्र पत्राणां मुक्तांशेन दलाग्रकम्॥
वाह्यवृत्तान्तरालस्य मानं यद्‌विधिना सुधीः।
विधाय केशराग्रेषु परितोऽर्कनिशाकरान्॥
लिखित्वा सन्धिसंस्थानं तत्र सूत्राणि पातयेत्।
दलाग्राणाञ्च यन्मानं तन्माने वृत्तमालिखेत्॥
तदन्तरालतन्मध्यसूत्रस्योभयतः सुधीः।
आलिखेत् वाह्यहस्तेन दलाग्राणि समन्ततः॥
दलमध्ये तु युगशः केशराणि प्रकल्पयेत्।
एतत्साधारणं प्रोक्तं पद्मजं तत्ववेदिभिः॥

चतुश्चत्वारिंशताधिकशतकोष्ठमध्ये षट्‌त्रिंशाम्बुजं पंक्त्या पीठं वीथ्योपशोभानामभावः।

विदध्यात् पूर्व्ववच्छेषमेवं वा मण्डलं स्मृतम्।

नवनाभिमण्डलञ्च प्राक् लिखितम्। तत्र,—

पञ्चाब्जं मण्डलं प्रोक्तमेतत् स्वस्तिकवर्जितम्।
शालग्रामशिलाग्रे तु यः कुर्य्यात् स्वस्तिकं शुभम्॥
कार्त्तिके तु विशेषेण पुनात्यासप्तमं कुलम्।

स्वस्तिकं माधवस्याग्रे कर्त्तव्यं बहुरूपकम् ।
सप्तजन्मानि वैधव्यं न प्राप्नोति कदाचन ॥
मण्डलं स्वस्तिकं वक्ष्ये सर्व्वदेवप्रियङ्करम् ।
पदमष्टादशैः कृत्वा मध्ये षट्त्रिंशताम्बुजम् ॥
स्वस्तिकाष्टकमाशासु लिखेद् विधिवदीदृशम् ।
षट्त्रिंशत्कोष्ठकैरेवं स्वस्तिकं दिशि कारयेत् ॥
पद्मावसानसूत्राणि स्थापितानि न लोपयेत् ।
एकं त्रीणि वहिः पञ्च लिखेत्तु मध्यसङ्क्रमात् ॥
अथ द्वादशकोष्ठैस्तु स्वस्तिकं कार्य्यमीदृशम् ।
षोड़शषोड़शकोष्ठे तु स्वस्तिकाष्टकमालिखेत् ॥
अन्तरेकं वहिस्त्रीणि तत्र लोपक्रमः स्मृतः ।
मार्जयेत् स्वस्तिकाकारं श्वेतपीतारुणासितैः ॥
रजोभिः पूरयेत् तानि स्वस्तिकानि गवादितः ।
महापातकयुक्तोऽपि पातकी चोपपातकी ।
विमुक्तपापो भवति विष्ण्वायतनचित्रकृत् ॥
यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणि सुलेखयेत् ।
तावद्युगसहस्रन्तु विष्णुलोके महीयते ॥
निर्म्माल्यमपनीयाथ तोयेन स्नाप्य केशवम् ।
नरसिंहाकृतिं राजन् सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

तत्र,—

त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे ।
निर्म्मितः सर्व्वदेवैस्तु पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते ॥

इति शङ्खं गृहीत्वाथ शङ्खे कृत्वा तु पानीयम्।

भ्रामयेत् केशवोपरि।

वारिधेनुसहस्राणां फलमाप्नोति तावता।

आश्विनो भैंजज्येनेति देवताभिषेकं कुर्य्यादिति वचनात् श्रिये यशसेऽभिषिञ्चामीत्यन्तेन स्नापयेत्।

शङ्खस्थितेन तोयेन यः स्नापयति केशवम्।
कपिलाशतसहस्रस्य दानस्य फलमश्नुते॥
शङ्खे कृत्वा तु पानीयं साक्षतं कुसुमान्वितम्।
स्नापयेद्देवदेवेशं हन्यात् पापं पुराकृतम्॥
सतिलं कुसुमोपेतं शङ्खे तोयं सचन्दनम्।
कृत्वा यः स्नापयेद्देवं मम लोके वसेच्चिरम्॥
क्षिप्त्वा शङ्खोदकं शङ्खे यः स्नापयति केशवम्।
नमो नारायणेत्युक्त्वा मुच्यते योनिसङ्कटात्॥
वर्ज्यं पर्य्युषितं पत्रं वर्ज्यं पर्य्युषितं जलम्।
न वर्ज्यं जाह्नवीतोयं न वर्ज्यं तुलसीदलम्॥
तीर्थोदकानि पुण्यानि स्वयमानीय मानवः।
देवस्य स्नापनं कृत्वा सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥
शङ्खे तीर्थोदकं कृत्वा यः स्नापयति माधवम्।
विन्दुमात्रेण द्वादश्यां कुलानां तारयेत् शतम्॥
कपिलाक्षीरमानीय शङ्खे कृत्वा जनार्द्दनम्।
यज्ञायुतसहस्रस्य स्नापयित्वा लभेत् फलम्॥

अन्यगोसम्भवं क्षीरं शङ्खे कृत्वा च नारद ।
यः स्नापयति देवेशं लभेत् पारायणं फलम् ॥
स्नानकाले च देवस्य पठेन्नामसहस्रकम् ।
प्रत्यक्षरं भवेत् पुण्यं कपिलागोशतोद्भवम् ॥

स्नानान्ते,—

देवस्य मस्तकं कुर्य्यात् कुसुमोपहितं सदा ।

इति वचनात् पुष्पं दद्यात् ।

भ्रामयित्वा हरेर्मूर्द्ध्नि मन्दिरं शङ्खवारिणा ।
प्रोक्षयेद् वैष्णवो यस्तु नाशुभं तद्गृहे भवेत् ॥
कृत्वा पादोदकं शङ्खे वैष्णवानां महात्मनाम् ।
यो ददाति तिलैर्मिश्रं स च चान्द्रायणं लभेत् ।

देवगृहसम्मार्जनकाले च स्तोत्राणि पठेत् । तत्र,—

गीता नामसहस्रन्तु स्तवराजो ह्यनुस्मृतः ।
गजेन्द्रमोक्षणञ्चैव कृष्णस्यातीववल्लभम् ॥

गीताष्टादशाध्यायी सुप्रसिद्धा ।

हत्वा भित्त्वा जगत् सर्व्वं मुषित्वा सचराचरम् ।
पापौघैर्लिप्यते नैव गीताध्यायी कथञ्चन ॥
शालग्रामशिलाग्रे तु गीताभ्यासं करोति यः ।
मन्वन्तरसहस्रे तु सेवते ब्रह्मणः पदम् ॥
गीताध्ययनशीलस्य भिक्षो भक्तिरतस्य च ।
द्वादश्यां सेवमानस्य शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

धर्म्ममर्थञ्च कामञ्च मोक्षं वाञ्छन्ति ये तु वै ।
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ॥
गीताध्यायं पठेद् यस्तु श्लोकं श्लोकार्द्धमेव वा ।
भवपाशविनिर्म्मुक्तो याति विष्णोः परं पदम् ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं जगत्तृप्तिं करोति सः ।
विश्वरूपं सदाध्यायं विभूतिं यः पठेद् द्विजः ॥
लिखित्वा धारयेद् यस्तु नित्यमर्च्चति भक्तितः ।
यो ददाति यतोनाञ्च ब्रह्महत्यायुतं दहेत् ॥

इत्यादि ।

नामसहस्रञ्च—"विश्वं विष्णु"रित्यादि "सर्व्वप्रहरणाय नमो नम" इत्यन्तम् । तत्रादौ,—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय सर्व्वलोकगुरवे सर्व्वलोकपितामहाय सर्व्वलोकप्रधानाय सर्व्वलोकविशिष्टाय सर्व्वलोकेश्वराय सर्व्वलोकसुखप्रदाय सर्व्वलोककर्त्त्रे सर्व्वलोकनिधये सर्व्वलोकहिताय सर्व्वलोकोद्भवाय सर्व्वलोकोद्भवकराय विष्णवे प्रभविष्णवे इत्येतत्पठनीयम् । अस्याम्नातस्यान्यत्र विनियोगाभावात् प्रकरणेनैतदङ्गत्वसिद्धेः । यत्त्वत्र प्राक् श्रुत्वा धर्म्मानशेषानित्यादि पश्चाच्च इतीदं कीर्त्तनीयस्येत्यादि पठ्यते तद्वन्मन्त्रजपाङ्गविनियोगज्ञानं तदर्थमेव । यद्यपि भीष्म ऋषिरिष्टसिद्धौ विनियोग इत्येतावता तत्सिद्धिस्तथाच ब्राह्मणज्ञानस्यापि तदङ्गत्वाभिधानात् सार्थवादविधिवाक्यरूपब्राह्मणद्वारैव तज्ज्ञानं तदङ्गं केवलं तज्ज्ञानमात्रस्याङ्गत्वात् प्रतिप्रयोगाद् तावत् पाठाभावेऽपि न विरोधः । तदज्ञाने च फलाल्पत्वमात्रं नाफलता ।

एवमन्यस्तोत्रेषु ।

स्तोत्राणां परमं स्तोत्रं विष्णोर्नामसहस्रकम् ।
एकैकेन मुनिश्रेष्ठ पठितेन सदा हरिः ॥
प्रीतिमायाति देवेशो युगकोटिशतानि च ।
विष्णोर्नामसहस्राख्यं पुराणेषु प्रतिष्ठितम् ॥
यो नरः पठते नित्यं त्रिकालं केशवालये ।
शिवालये पठन् वापि तुलसीवनसन्निधौ ॥
नरो मुक्तिमवाप्नोति प्रसादाच्चक्रपाणिनः ।
ब्रह्महत्यादिपापानि कामकारकृतानि च ॥
विलयं यान्ति कौन्तेय पापैरन्यैश्च का कथा ।
सहस्रनामतुल्यं हि पावनं नैव दृश्यते ॥
कलौ प्राप्ते विशेषेण नान्योपायोऽस्ति कश्चन ॥
यस्मिन् गृहे नरो नित्यं पठेन्नामसहस्रकम् ।
तद् गृहं दूरतस्त्याज्यं निश्चयेन ममाज्ञया ॥
नाम्नां सहस्रं योऽधीते द्वादश्यां जागरेन्नरः ।
स निर्दहति पापानि जन्मकोट्यर्जितानि च ॥
यः पठेत् श्राद्धकाले तु विप्राणां भुञ्जतां पुरः ।
आकल्पकालिकी तृप्तिः पितृणां तत्र जायते ॥
माङ्गल्येषु च यात्रायां यज्ञोत्सवक्रियादिषु ।
ग्रहनक्षत्रपीड़ासु राजदैवभयेषु च ॥
दुःस्वप्नदर्शने चैव पठेन्नामसहस्रकम् ।
विष्णुं सहस्रमूर्द्धानं चराचरगुरुं हरिम् ॥

स्तवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्व्वान् व्यपोहति।
न शक्नोति यदा नित्यं पठितुं स्तवपञ्चकम्।
तदा नामसहस्रन्तु पठनीयं कलौ सदा॥
अष्टादशपुराणानां सारमेतद्धनञ्जय।
मयोद्धृत्य तवाख्यातमेतन्नामसहस्रकम्॥

स्तवराजश्च राजधर्म्मे भीष्मोक्तः

आरिराधयिषुर्विष्णुं वाचं जिगदिषाम्यहम्।
तथा व्यासस्य माहात्म्यात् प्रीयतां मधुसूदन॥

इत्यादि। ॐ अव्यक्तं शाश्वतं देवमित्याद्यनुस्मृतिः। ॐ नमो मूलप्रकृतये इदं गजेन्द्रमोक्षणं च विष्णुधर्म्मे,—

यान् जप्यान् भगवद्भक्तो प्रह्लादो वैष्णवो जपन्।
गजेन्द्रमोक्षणादींस्तु चतुरस्तान् वदस्व मे॥

इत्युपक्रम्य वामनीये च गजेन्द्रमोक्षणमुक्त्वा हरिं कृष्णं हृषीकेशमित्यादि सारस्वतं, नमस्ते जयजगन्नाथेत्यादि नमस्ये देवदेवेशमित्यादि स्तोत्रत्रयमुक्तं पठनीयम्। तथा विष्णवे जिष्णवे नित्यमित्याग्नेयोक्तञ्च पापप्रनाशनं पठेत्। एवमसारापारसंसारमित्यादि स्कान्दोक्तम्। परब्रह्मस्तोत्रं नारसिंहे,—

नमामि देवं परमादिमच्युतम्।

इत्यादि। तार्क्ष्यीयं विष्णुहृदयम्। पाद्मीयञ्च बृहन्नामसहस्रकम्। श्रीरामो रामभद्रश्चेत्यादिनामशतकम्। श्रीकृष्णः कमलानाथ इत्यादि नामशतकम्। ॐ नमो भगवते

श्रीरामायेत्यादि शतकम् । पद्मगर्भं पद्मनाभमित्यादि पञ्चाश-न्नामकम् । केशवः पुण्डरीकाक्ष इत्यादि षट्‌त्रिंशन्नामकं नामद्वादशकं नामाष्टकञ्च पठेत् । तथा,—

सर्व्वं त्वमिति तुष्टेन विष्णुना सम्प्रकीर्त्तितः ।
अनुग्रहाय लोकानां स्तोत्रं परमपावनम् ॥
वासुदेवाच्युतानन्त-स्तुत्याज-पुरुषोत्तम-
परमेश्वराद्यैश्च स्तुतो नामभिरच्युतः ।
विमुक्तभावं भगवन् विमुक्त्यै यात्यधोक्षजः ॥
धर्म्मराड् धर्म्मकृद्धर्म्मी धर्म्मात्मा धर्म्मकृच्छुचिः ।
शुचिषद् विष्णुयज्ञाङ्गः पुष्कराक्षो ह्यधोक्षजः ॥
शुचिश्रवाः शिपिविष्टो यज्ञेशो यज्ञभावनः ।
नाम्नामित्येवमादीनां समुच्चारणतो नरः ।
धर्म्मं महान्तमाप्नोति पापबन्धक्षयं तथा ॥
श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीधरः श्रीनिकेतनः ।
श्रियःपतिः श्रीपरमः श्रीमान् श्रीवत्सलाञ्छनः ॥
नृसिंहो दुष्टशमनो जयो विष्णुस्त्रिविक्रमः ।
स्तुतः प्रयच्छते चार्थमेवमादिभिरच्युतः ॥
कामः कामप्रदः कान्तः कामपालस्तथा हरिः ।
आनन्दो माधवश्चैव कामसंसिद्धये जपेत् ॥
रामः परशुरामश्च नृसिंहो विष्णुरेव च ।
त्रिविक्रमश्चैवमादि जप्यानि विजिगीषुभिः ।
विद्यामभ्यस्यता नित्यं जप्तव्यः पुरुषोत्तमः ॥

दामोदरं बन्धगतो नित्यमेव जपेन्नरः ।
केशवं पुण्डरीकाक्षं नेत्रबाधासु संस्मरेत् ॥
भयेष्वन्येषु सर्व्वेषु हृषीकेशं सदा स्मरेत् ।
अच्युतञ्चामृतञ्चैव स्मरेदौषधिकर्म्मणि ॥
भ्राजिष्णुमग्निदाहे च जपेदानन्दनामतः ॥
संग्रामाभिमुखो गच्छन् संस्मरेदपराजितम् ।
पाताले नरसिंहञ्च जले क्रोड़तनुं स्मरेत् ॥
चक्रिणं गदिनञ्चैव शार्ङ्गिणं शङ्खिनं तथा ।
क्षेमार्थी प्रवसन् नित्यं दिक्षु प्राच्यादिषु स्मरेत् ॥
अजितञ्चाजितं सर्व्वं सर्व्वेशं व्यवहारतः ।
नारायणं सर्व्वकालं क्षुतप्रस्खलनादिषु ॥
ग्रहनक्षत्रपीड़ासु चौरव्याघ्रादिसङ्कटे ।
अटवीष्वन्धकारेषु नरसिंहमनुस्मरेत् ॥
तरत्यखिलदुःखानि तापार्त्तो जलशायिनम् ।
गरुड़ध्वजानुस्मरणात् विषवीर्य्यं प्रणश्यति ॥
स्नाने देवार्च्चने होमे प्रणिपाते प्रदक्षिणे ।
कीर्त्तयेद् भगवन्नाम वासुदेवेति नित्यशः ॥
स्थापने वित्तधान्यादेरभिघाते च दुष्टजे ।
क्रियतां तन्मयो भूत्वा अनन्ताच्युतकीर्त्तनम् ॥
नारायणं शार्ङ्गधरं श्रीधरं पुरुषोत्तमम् ।
वामनं शङ्खिनञ्चैव दुःस्वप्नेषु च कीर्त्तयेत् ॥

एकार्णवे हि पर्य्यङ्कशायिनं च नरः स्मरेत् ।
वायुग्निग्टहदाहादिप्रवृत्तिरूपशस्यते ॥
विद्यार्थी मोहविभ्रान्तचित्तोऽश्वशिरसं स्मरेत् ।
बलभद्रं सम्पदर्थी शौरकर्म्मणि चिन्तयेत् ॥
जगत्पतिमपत्यार्थी सुप्रजार्थं विवाहकृत् ।
श्रीशं सर्व्वाभ्युदयिके सर्व्वानिष्टेष्वशोककम् ॥
मृत्युकाले च तच्चित्तो वासुदेवं जपेद् बुधः ।
सर्व्वार्थशक्तियुक्तस्य वासुदेवस्य चक्रिणः ॥
यथाभिरोचते नाम तत् सर्व्वार्थेषु कीर्त्तयेत् ।
सर्व्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणो यतः ॥

इति । क्वचिच्च,—

क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् ।
क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥
कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातककोटयः ॥
गोविन्देति तथा प्रोक्तं भक्त्या वा भक्तिवर्जितैः ।
हरते सर्व्वपापानि कल्पान्ताग्निरिवोत्थितः ॥
जन्मान्तरसहस्रेषु कोटिजन्मान्तरेषु यत् ।
गोविन्दकीर्त्तनात् पापं शतधा याति नारद ॥
तन्नास्ति कर्म्मजं लोके वागजं मानसमेव च ।
यन्न च क्षीयते पापं कलौ गोविन्दकीर्त्तनात् ॥

प्राणकान्तारपाथेयं संसारव्याधिभेषजम् ।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥
न गङ्गा न गया सेतु र्न काशी न च पुष्करम् ।
जिह्वाग्रे वर्त्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥
गवां शतसहस्राणि हेमाकल्पशतानि च ।
दत्तानि तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥
हे जिह्वे मयि निःस्नेहे हरिं किं नु न भाषसे ।
हरीति वद कल्याणि संसारार्णवनौ र्हरिः ॥
तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च ।
तानि सर्व्वाण्यवाप्नोति विष्णुनामानुकीर्त्तनात् ॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥
इमं मन्त्रं महादेवि जपन्नेव दिवानिशम् ।
सर्व्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ॥
मुमुक्षोर्मनिकर्णान्तरर्द्धोदकनिवासिनः ।
अहं दिशामि तं मन्त्रं तारकं ब्रह्मवाचकम् ॥
राम रामेति रामेति एतत्तारकमुच्यते ।
कृष्णाय यादवेन्द्राय ज्ञानमुद्राय योगिने ॥
नाथाय रुक्मिणीशाय नमो वेदान्तवेदिने ।
इमं मन्त्रं जपन् देवि व्रजन् तिष्ठन् दिवानिशम् ॥
निर्विश्य भोगानन्तेऽपि विष्णुसायुज्यमाप्नुयात् ।

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति कृष्णं यः संस्मरिष्यति।
तस्य सन्दर्शनात् सद्यः पापो निःकलुषो भवेत्॥
नरसिंह नरसिंह नरसिंह जनार्द्दन।
वासुदेव हृषीकेश त्राहि मां भवसागरात्॥
इमं मन्त्रं नरो यस्तु त्रिसन्ध्यं नियतः शुचिः।
जपन् वैकुण्ठभवनं याति नास्त्यत्र संशयः॥

इति। इत्येवं देवकार्य्याणि कृत्वा पितृमातृविद्योपदेष्टृ-ज्येष्ठभ्रातॄन् ब्राह्मणहुताशनहिरण्यघृतजलवृक्षांश्च यथासम्भवं पश्येदित्यादर्शं सौवीराञ्जनं दुर्व्वां दधि सर्पिरथोदकुम्भं

धेनुं सवत्सां वृषभं सुवर्णं
मृद् गोमयं स्वस्तिकमक्षतानि।
लाजान् मधु ब्राह्मणकन्यकांश्च
श्वेतानि पुष्पाणि तथा शमीञ्च॥
हुताशनं चन्दनमर्कविम्ब-
मश्वत्थवृक्षं च———।

यथासम्भवं पश्येत्। समालभेत।

ततश्च कुर्य्यान्निजजातिधर्म्मम्।

यथा चिरजीवितार्थी घृते स्वं प्रतिविम्बमवलोकयेत्। यद्यपि शरीरारम्भककर्म्मजातोपभोगसमाप्तिपर्य्यन्तनियुतादायुषः सर्व्वथा नाधिकजीवनसम्भवस्तथापि दशारिष्टादिसंसूचितानां तन्मध्य-कालमरणजनकानां दुरितानां निवृत्तिरेवायुर्वृद्धिफलकर्म्मसाध्या। तथाच तद्वहुत्वसम्भावनायां तदनुष्ठानाभ्यासोऽप्युपपद्यते। तादृश-

दुरिताभावे सम्भावनाकृतकर्म्मजापूर्व्वं जन्मान्तर एव फलतीत्य-विरोध इति। अष्टधा विभक्तस्य दिवसस्याद्यभागे एतावत् कृत्वा द्वितीयभागे समित्पुष्पकुशाद्युपादानम्। अत्र दिवसस्याद्य-भाग इत्यादौ भागशब्दो यद्यपि यामार्द्धपरः प्रतिभाति तथाप्युक्त-कर्म्मक्रमो नोक्त इत्युपक्रमगतक्रमपदवशादपि यावतोऽश्वानित्यत्र प्रतिगृह्णीयादित्यस्य दद्यादित्यर्थवत् तत्तद्वेदाभ्यासादुत्तरोक्त-कर्म्मपूर्व्वकालमात्रपरः। एवं सत्येव साक्षात् कर्म्मविधायकत्व-सिद्धेः। अन्यथा कालविधिद्वारा क्रम आर्थिक एव स्यादि-त्युपक्रमविरोधः स्यात्। यत्तूपक्रमे न कालास्तत्र एव हीति कालोऽप्युक्तः सोऽतएव हीति क्रमाभिधानादेवार्थिकोऽपि न प्राप्त इत्येवमेव तेन मतवशादुत्तरग्रन्थस्य साक्षात्कालपरत्वं युक्तम्। किञ्च,—कालस्यानुपादेयत्वात् प्रकरणान्तरे तद्विधाने कर्म्मभेदो-ऽपि स्यात्। तस्मात् क्रममात्रविधानम्। ततश्च वेदाभ्यासादे-र्बहुकालव्याप्तौ माध्याह्निकस्नानादेर्विलम्बेऽपि न विरोधः। एतदुपपत्तिमूलमेव च पठन्ति,—

दिवोदितन्तु यत् कर्म्म कदाचिदतिवर्त्तते।
रजनीप्रहरं यावत् तत्कार्य्यमविशङ्कयेत्॥

अन्यथा विहितकालातिक्रमे तत्कर्म्मणामकरणमेव प्राप्नोति। तथा क्रमाविधाने व्रताङ्गं पारणादौ भोजनादेरपकर्षे तत्-पूर्व्वभाविनां माध्याह्निकस्नानादीनामप्यपकर्षः सिध्यति। अन्यथा भोजनापकर्षेऽपि तस्मिंस्तस्मिन्नेव काले तदनुष्ठानं स्यात् ततश्च समाचारविरोधोऽपि स्यादिति। एवं कार्य्यान्तरव्यासङ्गाद-

कृताह्निकस्नानादेर्भोजनकाल आगते स्थानक्रमात् पश्चालम्भानन्तरमग्नीषोमीयपश्चालम्भनवत् भोजनान्तरमेवाह्निकस्नानादिक्रियेति। सन्ध्ययोः पुनः सन्धौ सन्ध्यामुपासीतेति कालविधानादकृतस्नानादेः। सायंसन्ध्याकालावगमे सायं सन्ध्यां कृत्वैव दिवाकर्म्माणि कार्य्याणीति। अत्रैतत् समिदाद्यर्थिन एवैतत्कालनियतमाहरणं विधीयते। नत्वदृष्टार्थं सञ्चितसमिदादेः प्रतिदिनमाहरणम्। देवपूजापुष्पपत्रयोस्तु पर्य्युषितनिषेधात् प्रतिदिनमाहरणम्। यत्तु,—न पर्व्वणि तृणमपि च्छिन्द्यादिति—

छिनत्ति वीरुधो यस्तु वीरसंस्थे निशाकरे।
पत्रं वा पातयत्येकं ब्रह्महत्यां स विन्दति॥

इति तद् विहितनिषेधायोगात् पूजार्थं गुरुशुश्रूषार्थं वा यत् पत्रच्छेदनं तद्व्यतिरिक्तपरम्। समिदादिच्छेदनं त्वन्यत्र सम्भवात् तत्र निषिद्धमेव। अत,—

कुशं पत्रञ्च पुष्पञ्च गवामर्थे तृणानि च।
इन्दुलोपे न दुष्यन्ति च्छेदने समिधस्तथा॥

इति वाक्यं दृश्यते। तत्प्रामाण्ये तत्राप्यदोषः।

अप्सु तस्मिन्नहोरात्रे पूर्व्वं विशति चन्द्रमाः।
ततो वीरात्सु वसति प्रयात्यर्कं ततः क्रमात्॥

इतिवचनादमावास्यामध्य एवायं दोषो नाद्यन्तयोः। अत्र द्वितीयभागेति नियमादन्यदोपात्तैरेभिः पुनः क्रियमाणकर्म्मणां वैगुण्यं नतु धनार्जननियमातिक्रमवत् प्रत्यवायः। तद्वदत्र

दृष्टार्थत्वाभावात्। एवं च यदाद्यभागे देवकार्य्यादि विहितं तद्देवगृहसम्मार्जनाद्येव। पूजा तु,—

पूर्व्वाह्न एव कुर्य्याच्च देवतानां तथार्चनम्।

इति त्रिधाविभक्तदिनाद्यभागमात्रे विहिता। द्वितीयभागे पुष्पगन्धादि सम्पाद्य पूर्व्वाह्नमध्ये कार्य्या। द्वितीयभागे वेदाभ्यासादनन्तरमेव पुनर्यथाकथञ्चिदन्याहृतैरप्याद्यभागेऽपीति। अत्र,—

समित्पुष्पकुशादीनि ब्राह्मणः स्वयमाहरेत्।
शूद्रानीतैः क्रयक्रीतैः कर्म्म कुर्व्वन् व्रजत्यधः॥

इति पठन्ति। नैतत् क्वचित् ग्रन्थे लिखितं दृश्यते। तस्य प्रामाण्येऽपि कर्म्माङ्गतया विहितस्वाहरणप्ररोचनामात्रार्थत्वात्। क्रीतादिना पूजायां कर्म्मवैगुण्यमात्रं नाधर्म्मः स्यात्।

पूजा च,—अनर्च्चितो विघ्नकर इति,

पूजयेद् यस्तु विघ्नेशमेकदन्तमुमासुतम्।
नश्यन्ति तस्य विघ्नानि नचारिष्टं कथञ्चन॥
एकदन्ते जगन्नाथे गणेशे तुष्टिमागते।
पितृदेवमनुष्याश्च सर्व्वे तुष्यन्ति भारत॥

इत्यादिवचनात् गणपतेरवश्यं पूजा कार्य्या। तथा,—

शिवं भास्करमग्निञ्च केशवं कौशिकीमपि।
चेतसानर्च्चयन् याति देवलोकादधोगतिम्॥

इति।

वरं देहपरित्यागो वरं नरकसम्भवः ।
नचासम्पूज्य भुञ्जीत देवं वै पद्मसम्भवम् ॥

इत्यादिवचनादेषां षस्यामपि पूजा कार्य्या ।

प्रथमं केशवे पूजां कृत्वा देवो महेश्वरः ।
पूजनीया महाभक्त्या पार्श्वे याः सन्ति देवताः ॥

इतिवचनबलात् विष्णुपूजैवादौ कार्य्या । यत्तु,—

गणेशार्कौ समभ्यर्च्य शैवो विष्णुं प्रपूजयेत् ।
अर्चयेत्तु शिवं पश्चात् शिवमादौ तु वैष्णवः ॥

इति तल्लौकिकसूचीकटाहन्यायमूलमिव प्रतिभाति । न्यायश्च वचनविरुद्धो नादेयः । न च तद्वचनं शैवपरम् ।

नारायणः परं ब्रह्म तत्वं नारायणः परम् ।
नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः ॥
यमुद्दिश्य सदा देवो महेशोऽपि दिगम्बरः ।
जटाभस्मानुलिप्ताङ्गस्तपस्वी वोच्यते जनैः ॥
मूलाच्छाखाप्रशाखाश्च व्रजन्ति बहुशो यथा ।
वासुदेवात् समुद्भूतं जगदेतच्चराचरम् ।
तस्मान्मूलं परित्यज्य शाखां वै नार्चयेद् बुधः ॥

इत्यादिवाक्यशेषबलेन स्नाने वैष्णवस्यानेन विष्णुपूजाप्राथम्याभिधानात् । अतस्तस्य प्रमाणत्वेऽपि वैष्णवस्य शिवपूजाप्राथम्ये वैकल्येनैव स्यात् न नियमेन । तत्र विष्णुपूजाया अकरणे दोषः करणे च फलम् ।

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्त्तनम्।
नत्वेवापूज्य भुञ्जीयात् भगवन्तं जनार्द्दनम्॥
नार्च्चयित्वा तु यो भुंक्ते वासुदेवं सदाश्रमी।
नरमांसाच्च गोमांसादधिकं तस्य भोजनम्॥
वरं विषममेध्यञ्च वरमेवात्मभक्षणम्।
अनर्च्चितो नाश्नुवीत भगवन्तं द्विजोऽमृतम्॥
मातृवत् परिरक्षन्तं सृष्टिसंहारकारकम्।
यो नार्च्चयति पापात्मा तं विद्याद् ब्रह्मघातकम्॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः।
सम्पूज्य तं सुरश्रेष्ठं प्राप्नुवन्त्यभिवाञ्छितम्॥
भौमान् मनोरथान् स्वर्गं स्वर्गे वन्द्यं तथास्पदं।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्॥
परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम्।
तमाराध्य हरिं देव मुक्तिमाप्नोति दुर्लभम्॥
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ मनसा यद् यदिच्छति।
यस्तु पूजयते नित्यं नरसिंहं नरेश्वरम्॥
स स्वर्गमोक्षभागी स्यात् नात्र कार्य्या विचारणा।

न चात्र नरसिंहमूर्त्तिरेव विवक्षिता तद्विषयेऽपि नारसिंहे,—

अष्टाक्षरेण देवेशं नरसिंहमनामयम्।

इत्यादौ नरसिंहपदाभिधानात्। तथा—

समस्तलोकनाथस्य देवदेवस्य चक्रिणः।
साक्षाद्भगवतो विष्णोः पूजनं जन्मनः फलम्॥

यावदुच्छ्वसते भक्तस्तावदेव समर्च्चयेत् ।
एवं निर्दहते पापं यावज्जीवं नरस्तु यः ।
मनुष्यचर्म्मणा बद्धः स विष्णुर्नात्र संशयः ॥
नास्ति श्रेयस्करं नृणां विष्णोराराधनादृते ।
युगेऽस्मिन् तामसे घोरे देवयज्ञविवर्जिते ॥
कलौ कलिमलध्वंसं सर्व्वपापहरं हरिम् ।
येऽर्च्चयन्ति नरा नित्यं तेऽपि विन्द्यात् यथा हरिः ॥
उदकेनाप्यलाभे तु द्रव्याणां पूजितः प्रभुः ।
यो ददाति स्वकं लोकं स त्वया किं न पूजितः ॥
नरकेऽपि चिरं मग्नाः पूर्व्वजा ये कुलद्वये ।
तदैव यान्ति ते स्वर्गं यदार्चति सुतो हरिम् ॥
पितॄनुद्दिश्य यैः पूजा केशवस्य कृता नरैः ।
उत्तीर्य्य नरकात्मुक्तिं यान्ति तेषां पितामहाः ॥

इत्यादि । तत्र,—

मम शास्त्रं वहिष्कृत्य अस्माकं यः प्रपद्यते ।
पितरस्तस्य सुश्रोणि तथैव च पितामहाः ।
श्मशाने जम्बुकीभूत्वा भक्षयन्ति शवं तथा ॥

इति वाराहे भगवतोक्तम् । अत्रास्माकमित्यस्मदीयो भागवतः । मम शास्त्रं भगवत्प्रणीतं पञ्चरात्रशास्त्रम् । तथाचोक्तं महाभारते,—

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान् स्वयम् ।

इति । तथाच योगियाज्ञवल्क्यः—

पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् ।
प्राचीनगर्भं तमृषिं प्रवदन्ति हि केचन ॥

एतेन गृहीतभगवद्दीक्षेण पञ्चरात्रोक्तविधिना अवश्यं पूजा कार्य्येत्युक्तम् ।

मुक्त्वा तु मम शास्त्राणि वाक्यमन्यत् प्रभाषते ।
कूर्म्मो भवति सुश्रोणि स जातीः सप्त सप्त च ॥

इत्यस्याप्ययमेवार्थः । अतएव,—

अलाभे वैदिकानाञ्च पञ्चरात्रोदितेन ये ।
आचारेण प्रपद्यन्ते ते मामाप्स्यन्ति मानवाः ॥

इति यत् तत्रैवोक्तं तत्र वैदिकविध्यसम्भवेऽपि पञ्चरात्रोक्तविधिमात्रेण भगवत्प्राप्तिः किमुच्यते तत्सम्भव इति पञ्चरात्रप्रशंसैवार्थो नतु वैदिकानधिकारिण एव तत्राधिकार इति । अस्माकमिति वैष्णवमात्रं प्रति तदनादरे दोषोक्तिः । न च वाराहोक्त एव कश्चित् पञ्चरात्रविधिः । तावन्मात्रे शास्त्रशब्दप्रयोगानुपपत्तेः ।

अन्यच्च ते वरं दद्मि शृणु नारद साम्प्रतम् ।
यदिदं पञ्चरात्रं मे शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥
तद् भवान् वेत्स्यते सर्व्वं मत्प्रसादान्न संशयः ।

इति तत्रैवोक्तम् । इदमपि प्रसिद्धं पञ्चराचशास्त्रपरत्व एव घटते । यच्च भट्टपादैर्विरोधाधिकरणे यान्येतान्युपक्रम्य-सांख्ययोगपञ्चरात्रपाशुपतशाकुनि-ग्रन्थपरिगृहीतधर्म्मनिबन्धनानो-

त्युक्ता तेषामेवैतच्छ्रुतिविरोधहेतुदर्शनाभ्यामनपेक्षत्वमुच्यत इत्युक्तं न तत्र सांख्यादिशास्त्राप्रामाण्यं प्रतिज्ञातं किन्तु,—

त्रयीमार्गस्य सिद्धस्य ये द्विषन्ति विरोधिनः।
अनिराकृत्य तान् सर्व्वान् धर्म्मशुद्धिर्न जायते॥

इत्याद्युत्तरग्रन्थपर्य्यालोचनया वेदविद्वेषिपाषण्डग्रन्थाप्रामाण्यमेवोच्यते। नहि पञ्चरात्रे वेदविद्वेषसम्भावनाप्यस्ति सर्व्वत्र वैदिकमन्त्रादिपरिग्रहात्। अतएव तत्रैवोपरि,—

शाक्यादयश्च सर्व्वत्र कुर्व्वाणा धर्म्मदेशनाम्।
हेतुजालविनिर्मुक्तां न कदाचन कुर्व्वते॥

इति शाक्यादिप्रणीतग्रन्था एवाभिप्रेत्य दर्शिता न सांख्यादिग्रन्थाः। एवमुत्तरत्राधिकरणेऽपि। यद्वा शाक्यादिशास्त्राणां स्मृतिशास्त्रत्ववारणादित्येवमनुदितं न क्वचित् सांख्यादिग्रहणं कृतं तेनात्र सांख्यादिपदानि सांख्यं वेत्तीत्यर्थे तद्धितान्ततयोपचारात् पुरुषपराणि। परिग्रहस्य पुरुषधर्म्मत्वाच्छास्त्रपरत्वे परिगृहीतधर्म्मनिबन्धनानीत्यसङ्गतेः। तेन वैदिकसांख्याद्यवैदिकशाक्यादिसर्व्वशास्त्रतत्त्वविद्भिः शङ्कराचार्य्यप्रभृतिभिः परिगृहीता ये धर्म्माः श्रौतस्मार्त्तकर्म्माणि शिखायज्ञोपवीतत्यागमुण्डत्वैकदण्डकाषायवसनधारणादयस्तन्निबन्धनानि शाक्यबौद्धादिशास्त्राणीत्यर्थः। तत्रैकदेशमहाजनपरिग्रहात् प्रामाण्यशङ्कया सर्व्वैरुपादीयेतेत्यवश्यनिराकर्त्तव्यत्वप्रदर्शनार्थमेतदुक्तमिति नेष्टमत्यर्थं न शास्त्रपरिमाणत्वादिति नियमितविद्यास्थानबहिर्भूतानामप्रा-

माण्यमुक्तम्। न तेनापि पञ्चरात्रशास्त्राप्रामाण्यं तस्यापि तथा स्मृत्यन्तरेषु चेति

विष्णुधर्म्मादिशास्त्राणि शिवधर्म्माश्च भारत।

इत्यादिवचनात् धर्म्मशास्त्रत्वेन तदन्तर्भावात्। तत्र हि

तथातिक्रान्तवेदोक्तमर्य्यादाव्यवहारिणाम्।
संवादिष्वपि वाक्येषु नेष्यते धर्म्महेतुता॥

इत्युक्तं न तथा पञ्चरात्रशास्त्रम्। नह्येतत्कर्त्ता भगवान् धर्म्मसंस्थापनावतारस्तथा शङ्कितुमपि शक्यः। यत्तूपसंहृतम्,—

यानि यान्येव शास्त्राणि वेदमुद्रानतिक्रमात्।
अवस्थितानि तान्येव ज्ञातो धर्म्मः फलप्रदः॥

इति तदत्रापि वर्त्तत एव। तथा योगियाज्ञवल्क्येऽ,—

साङ्ख्ययोगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
अतिप्रमाणान्येतानि हेतुभिर्न विरोधयेत्॥

इति। आदित्यपुराणे,—

पञ्चरात्रप्रसक्ता ये न ते दुर्गतिमाप्नुयुः।

इति। वराहपुराणे,—

वेदेन पञ्चरात्रेण भिक्षायज्ञेन च द्विजः।
प्राप्योऽहं नान्यथा वत्स वर्षकोट्ययुतैरपि॥

अत्रिणा दानपात्रप्रसङ्गे,—

आचार्य्यं पञ्चरात्राणां सहस्रगुणितं भवेत्।

इति। देवीपुराणे,—

पञ्चरात्रार्थकुशलो मात्टतर्कविशारदः ।
स भवेत् स्नातकश्रेष्ठः——— ॥

इत्युक्तम् । सर्व्वमेतन्न तदप्रामाण्ये युज्यते । एवं शिष्टपरिग्रहादविगीतमेवेदम् । कथञ्चिद् विगीतत्वेऽपि बलाबलाधिकरणे यदविगीतस्मृत्या विगीतस्मृतिबाधनमुक्तं तेन श्रुत्या स्मृतिबाधनवत् तद्विरुद्धांशस्यैव बाधः स्यान्न सर्व्वस्य तच्चेष्यत एव । यच्च कल्पतरुकारादिभिर्देवताकाण्डादौ तानि न लिखितानि तद् यथाग्निहोत्रादौतिकर्त्तव्यतार्थानि कल्पवाक्यानि जातकर्म्मादौतिकर्त्तव्यतार्थानि गृह्यवाक्यानि च इतरानपेक्ष्यैस्तैरेव तत्स्वरूपावगमसिद्धेस्तल्लिखने च ग्रन्थगौरवापत्तेर्न लिखितानि । एवं पञ्चरात्रवाक्यान्यपि । न च तथापि पुरुषसूक्तपूजादौ तदितिकर्त्तव्यतोपहारार्थमपि किञ्चिल्लिखितव्यमिति वाच्यं तथाह्युक्तावाहनादिकर्म्मभिरेवान्याकाङ्क्षाविरहात्

"स्मृतिशास्त्रविकल्पस्तु आकाङ्क्षापूरणे सति ।"

इति न्यायाच्च तत्र पञ्चरात्रविधेरावश्यकत्वाभावात् । अत एवोक्तम्,—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रो विष्णोर्वै त्रिविधो मुखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैकविधिना हरिमर्चयेत् ॥

इति । किञ्च,—

पापक्षयेऽसुर्यः कश्चित् यदि भक्तो भविष्यति ।
तस्य वै पञ्चरात्रन्तु नित्यं हृदि भविष्यति ॥

"मम शास्त्रं वहिष्कृत्य अस्माकं य" इत्यादिवाक्यैर्गृहीत-विष्णुदीक्षस्य वैष्णवस्यैवावश्यकः पञ्चरात्रविधिर्नान्येषाम् । पुरुष-सूक्तपूजात्वाह्निककर्म्मान्तर्गतब्रह्मादिपूजावत् सर्व्वसाधारणीति सिद्धमवश्यं वैष्णवेन पञ्चरात्रविधिना विष्णुपूजा कार्य्या । स्मरन्ति च,—

प्रातस्तु पूजयेद् विष्णुं पञ्चरात्रविधानतः ।
मध्याह्ने त्वर्चयेन्नित्यं सूक्तेन पुरुषस्य च ॥
पञ्चरात्रोक्तविधिना यः समाराधयेद्धरिम् ।
अक्षयं फलमाप्नोति स पुमान् नात्र संशयः ॥

इति । गाणपत्यादिपूजायान्तु तन्नियमाभावः । तत्राष्टा-क्षरो महामन्त्र इत्यादिपूर्व्वोक्तैर्वाक्यैस्तस्य तत्र प्रशंसितत्वात् ।

अष्टाक्षरेण देवेशं नरसिंहमनामयम् ।
गन्धपुष्पादिभिर्नित्यमर्चयेदच्युतं नरः ॥
अनेन चार्च्चितो विष्णुः प्रीतो भवति तत्क्षणात् ।

इति ।

गन्धपुष्पादि सकलमनेनैव निवेदयेत् ।

इति च विधानात् श्रीमदष्टाक्षरमन्त्रेणावश्यमर्चनीयः । यत्तु नरसिंहपुराणे पुरुषसूक्तपूजाविध्यनन्तरम्,—

अनेन विधिना ब्रह्मन् पूज्यते मधुसूदनः ।
वेदज्ञैरेव नान्यैस्तु तस्मात् सर्व्वंहितं भवेत् ॥

इत्युक्ते अष्टाक्षरेण देवेशमित्युक्तम् । नैतावता पुरुषसूक्ता-नधिकारिण एवात्राधिकार इति शङ्कनीयम् । वेदानभिज्ञं

वदेदित्युक्ते तथा स्यात्। सर्व्वसाधारणं वदेदित्यनेन तु वेदाम्नाने सत्येव तदितरार्थत्वमपि त्वेतावन्मात्रं स्यात्। नचैतावता हीनकल्पत्वं न हि यज्ञादिकर्म्मयुक्तानामेव। योगस्तु सर्व्वसाधारण इत्युक्ते योगहीनो भवति। यद्यप्यष्टाक्षरमन्त्रोऽपि वेदाम्नात-स्तथापि पुराणेष्वप्यधिकृतत्वात्

तानेव वैदिकान् वर्णान् भरतादिनिवेशितान्।
स्वरादिनियमान् हित्वा लोके वर्णान् प्रयुज्यते॥

इति न्यायादवैदिकोऽपीति साधारणं युक्तमिति।

तत्पूजायाञ्च कृतशुद्धान्येव तत्पात्राणि योजयेत्।

## तत्र पात्रमात्रशुद्धविधिः।

सुवर्णरौप्यशङ्खाश्मशुक्तिरत्नमयानि च।
कांस्यायस्ताम्ररैत्यानि त्रपुसीसमयानि च॥
निर्लेपानि च शुद्ध्यन्ति केवलेन जलेन च।
सलेपानि तु शोध्यानि त्रिधा चाराम्लवारिभिः॥
सूतिकाशवविण्मूत्ररजस्वलहतानि तु।
प्रक्षेप्तव्यानि तान्यग्नौ तावद् यावत् सहेत् तदा॥

तथा ताम्ररजतसुवर्णानां साम्लैर्गोशकृन्मृद्भस्मभिरन्यतमेन वा। तथा मूत्रपुरीषासृक्शुक्रकुणपस्पृष्टानां तैजसानां गोशकृत्-करीषभस्मनामेकेन त्रिःसप्तकृत्वः परिमार्जनम्। तैजसानाञ्च मणीनाञ्च सर्व्वस्याश्ममयस्य च भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिः।

भस्मना कांस्यताम्रायसानाम्। सिकताभिर्दन्तशृङ्गशुक्तिमयानाम्। तथायसानां तोयेनाश्मघर्षणेन च।

औदुम्बराणामम्लेन कांस्यानां भस्मवारिभिः।
सस्नेहानाञ्च पात्राणां शुद्धिरुष्णेन वारिणा॥
गोरसाक्तानि भाण्डानि शोध्यन्त्युष्णेन वारिणा।

वैणवं गोमयेन च। तथा हिरण्यरजतताम्राणां सलेपानां गोमयेन भिन्नमभिन्नमिति न दोषः। तथा,—

गवाघ्रातेषु कांस्येषु शूद्रोच्छिष्टेषु वा पुनः।
दशभिर्भस्मभिः शुद्धिः श्वकाकोपहतेषु च॥

तथात्यन्तोपहतानां तैजसानामग्निना शुद्धिः। मणिमयमश्ममयमब्जमयञ्च सप्तरात्रं महीनिखननेन। परिलेखनं दारुपात्राणाम्। शैलानां घर्षणम्। मृन्मयानां पुनर्दाहः।

फलपात्रस्य सर्व्वस्य बालरज्वा प्रघर्षणम्।

शृङ्गास्थिमयं तक्षणेन। मृन्मयं जह्यात्।

विष्ठाद्युपहतञ्चैव त्याज्यं स्याद् वेणुमृन्मयम्।
तद्वन्निर्म्माल्यसंसृष्टं वस्त्राणां क्षारवारिणा॥

इति वाक्यं दृश्यते।

## तत्र पूजाविधिः।

तत्रादौ,—चण्डं जयञ्च धातारं दक्षिणपार्श्वे। प्रचण्डं विजयं विधातारं यमुनां वामतः। ऊर्द्ध्वे महालक्ष्मीं तद्दक्षिणे पद्मनिधिम्। वामे शङ्खनिधिं देहल्यां क्षेत्रपालं पूजयित्वा

विशेद्दक्षिणपादेन विन्यस्यास्त्रमुदुम्बरे ।
कालरात्रीति विख्याता देहल्यामधिवासिनी ॥
सुप्ता दक्षिणशीर्षा सा पादौ कृत्वा तथोत्तरे ।
अलङ्घयंस्तु तां चण्डीं प्रविशेद्देवमन्दिरम् ॥

प्रविश्य वास्तुमध्ये वास्त्वधिपतिं ब्रह्माणञ्च पूजयेत् । इत्येवं द्वारपालादिपूजा केनचिल्लिखिता सा पुनः शारदातिलके दीक्षा-मण्डपसंस्कारार्थतयैवोक्ता न पूजाङ्गतया यतस्तदनन्तरं पुण्याह-वाचनादिकर्म्मान्तरमुक्त्वा "पश्चादेव विशेच्छुद्धासने मन्त्री" इति पूजारम्भ उक्तः । कथञ्चित् पूजाङ्गत्वेऽपि वाह्यदेवतायतनस्यार्चाया-मेव स्यात् न गृहस्थार्चनायाम् । अतएवान्यपूजापद्धतिषु नास्ति । ज्ञानार्णवे तु सूर्य्यार्घ्यमुक्त्वा,—

ततस्त्वाचमनं कृत्वा द्वारपालान् प्रपूजयेत् ।
द्वारपालगणेभ्यश्च नम इत्यपि मन्त्रतः ॥
मध्ये च वास्त्वधिपतिं तन्नाम्नैव प्रपूजयेत् ।

इत्युक्तम् । तेन तन्मात्रं वान्यत्रानुक्तत्वात् वैकल्पिकं सर्व्वत्र कुर्य्यात् । एवमादौ प्रणवेन प्राणायामो मध्ये मूलमन्त्रेण क्वचि-ल्लिखितस्तत्रापि मूलं न दृश्यते । शारदातिलके तु भूतशुद्ध्यन-न्तरं मूलेनैव तदृष्यादिन्यासपूर्व्वकप्राणायाम उक्तः । क्वचिन्मूलेन प्रणवेन वेत्युक्तम् । मालामन्त्रेषु प्रणवेनेत्युक्तम् । क्वचिन्मध्ये प्राणायामविधिसद्भावेऽपि स्थानविकल्पमात्रं स्यात् नतु वार-द्वयानुष्ठानम् । मातृकान्यासेन लिपिन्यासमात्रस्य सर्व्वमन्त्रो-पासनाङ्गतया विहितत्वात् यत् तदनन्तरं वाग्देवताध्यानं

क्रियते तत्तदुपासनाविधिगततदानन्तर्य्यदर्शनभ्रान्तिमूलमेव। तद्दृष्याद्यङ्गन्यासस्यापि नात्रावश्यकर्त्तव्यता। कथञ्चित्करणे देवताध्यानं पुनः पूर्व्वकृतपूज्यमूर्त्तिध्यानविरुद्धत्वान्न कार्य्यमेव। एवं हस्तभावनादेहभावनयोः कृतौ करन्यासाङ्गन्यासौ सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थ इति न्यायान्न पुनः कार्य्यौ। तत्रादौ वराह-पुराणोक्तविधिना आचमनं कार्य्यम्। अन्यथा

अविधानेन वास्पृश्य यस्तु मामुपसर्पति।
स मूर्खः पापकर्म्मा वै मम विप्रियकारकः॥
तेन दत्तं वरारोहे गन्धमाल्यं सुगन्ध्यपि।
प्रीणयच्च न गृह्णामि सृष्टं वापि कदाचन॥

इति दोषश्रवणात्। तद्विधिश्चैवम्, प्राङ्मुख उपविश्य पादौ प्रक्षाल्य यथाविध्याचम्य मृत्तोयेन करौ प्रक्षाल्य सप्तभिर्जलप्रसृतै-र्मुखं प्रक्षाल्य पादयोरेकैकं पञ्च पञ्च जलप्रसृतीर्दत्वा प्रसृतित्रयं पिबेत्। ततः कराभ्यां मुखमुन्मृज्य विष्णुं चिन्तयन् प्रणवेन प्राणायाममेकं कृत्वा शिरो दक्षिणकर्णं दक्षिणनासां च त्रिस्त्रिः स्पृशेत्। ततो जलप्रसृतित्रयं भूमौ निक्षिपेत्। एवमाचम्य,—

शुक्लं कृष्णं तथा रक्तं पीतं कुङ्कुमसन्निभम्।
शङ्खाभं नीलवर्णञ्च ताम्रवर्णमथाष्टमम्॥
पुच्छेषु कर्णिकायाञ्च रक्तमेव विनिर्द्दिशेत्।
पत्रे पत्रे भवेद्रेखा शुक्लं तच्च विनिर्दिशेत्॥

इत्येवंलक्षणाष्टदलपद्ममध्ये मण्डलमध्ये पूजापीठं स्थापयित्वा-तदग्रे मृद्वासने

पूर्व्वास्योऽहं न सन्देहः सदा सर्व्वत्र वै खग ।
साधको मम पार्श्वस्थः पूजयेद् विष्णुमव्ययम् ॥
उत्तराभिमुखो मन्त्री पूर्व्वद्वारे स्थितोऽर्चयेत् ।
उत्तरस्यां यदा द्वारं तदा पूर्व्वमुखस्थितः ॥
पश्चिमस्यां यदा द्वारमुत्तराभिमुखस्तदा ।

इति । तत्र गृहार्चायामीशाने देवनिलयमित्युक्तत्वात् तत्र पश्चिमद्वारस्यैव सम्भवादुदङ्मुखः पद्मासनाद्येकेनोपविश्यार्चयेत्
पश्चिमद्वारस्यैव सम्भवादुदङ्मुखः पद्मासनाद्येकेनोपविश्यार्चयेत् ।
यत्तु,—

आसनारूढ़पादस्तु जानुनो र्जङ्घयोस्तथा ।
कृतावसक्थिको वापि प्रौढ़पादः स उच्यते ॥
दानमाचमनं होमं भोजनं देवतार्चनम् ।
प्रौढ़पादो न कुर्व्वीत स्वाध्यायं पितृतर्पणम् ॥

इति । तत्र प्रौढ़पादत्वं पादतलस्यैवासनं जानुजङ्घारूढ़त्वं न पादपार्श्वस्यापि । भोजनादौ तथैवं समाचारादित्यत्र पद्मासनाद्यविरोधः । ततस्तु सव्यपार्श्वेषु वासितवस्त्रशालिताम्बुपरिपूर्णकुम्भं तत्पश्चात् करप्रक्षालनाद्यर्थपात्रं घण्टां च दक्षिणपार्श्वेषु पुष्पादीतरद्रव्याणि स्थापयित्वा

आत्मपद्मासनायेति स्वासनं पूजयेत् ततः ।

स्ववामपार्श्वतोऽञ्जलिना गुरुभ्यो नम इति दक्षिणतो गणेशाय नम इति नत्वा

निवार्य्य विघ्नसङ्घातं ततो नाराचमुद्रया ।

ओं नमो भगवते महासुदर्शनाय महाचक्राय महाज्वालाय दीप्तरूपाय च सर्व्वतो रक्ष रक्ष मां महाबलाय स्वाहा इति रक्षां कृत्वा अस्त्रमन्त्रेण पाणी विशोध्य तालत्रयं दत्वा ऐन्द्रीं दिशं चक्रेण बध्नामि नमश्चक्राय स्वाहेत्यत्र ऐन्द्रीपदस्थाने आग्नेयादिपदप्रक्षेपेण दशमन्त्रैर्दशदिग्बन्धनं कृत्वा ओं त्रैलोक्यं रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहेत्यग्निप्राकारं कल्पयित्वा करसम्पुटं बद्ध्वा जीवात्मानं भूतसूक्ष्मैः सह सुषुम्नामार्गेण देहाद् वहिर्गतं सोऽहमिति मन्त्रेण मूर्द्ध्नि द्वादशाङ्गुलस्थज्योतिर्मण्डलात्मनि परमात्मनि प्रविष्टं विचिन्त्यावाह्य स्थूलभूतैः सह स्वशरीरं नाभिदेशस्थधूम्रवर्णमिति वायुबीजोत्थचण्डानिलेन शोषितं हृदयस्थरक्तवर्ण“र”मित्यग्निबीजोत्थमहानलेन दग्धं भ्रूमध्यस्थशुक्लवर्ण“व”मितितोयबीजोत्थाम्बुधारया प्लावितं चिन्तयित्वा तत्रार्णवस्थपीतवर्ण“ल”मिति पृथिवीबीजोत्पन्ने हिरण्मयेऽण्डे लयस्थानगतभूतसूक्ष्मारब्धाभीष्टदेवताशरीरे स्वात्मानं हंसमन्त्रेण परमात्मन आनीय हृदयपद्मे प्रविष्टं चिन्तयेत्।

देवो भूत्वा यजेद्देवं नरः पापात्मकः सदा।
अन्यथा त्वस्य या पूजा विफला परिकीर्त्तिता॥

ततोऽस्त्रमन्त्रेण गन्धलिप्तौ सपुष्पौ करौ संघृष्य मध्योर्द्ध्वेषु तालत्रयं दिग्बन्धनं कृत्वा साध्यनारायण-ऋषिर्दैवी गायत्रीच्छन्दः परमात्मा देवता इति शिरोवक्त्रहृदयेषु विन्यस्य आकारस्थितोकारः सानुस्वारः “अ”मिति बीजं तदनन्तरं आयेति शक्तिरिति

पूर्व्वोक्तानृषार्षादींश्च स्मरेत् । ततः पञ्चविंशतिवारमूलमन्त्रजपयुक्तकुम्भकरूपं प्राणायामं त्रिः कृत्वा

जपादौ सर्व्वमन्त्राणां विन्यासेन लिपेर्व्विना ।
कृतं तन्निष्फलं विद्यात् तस्मात् पूर्व्वं लिपिं न्यसेत् ॥

इति दोषादवश्यं मातृकान्यासः । अकारादीन् क्षकारपर्य्यन्तान् मातृकावर्णानेकपञ्चाशतम् ।

शिरोवदनवृत्ताक्षिश्रुतिघ्राणेषु गण्डयोः ।
ओष्ठदन्तोत्तमाङ्गास्यदोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च ॥
पार्श्वयोः पृष्ठतो नाभौ हृदये जठरांशके ।
ककुद्यंशे च हृत्पूर्व्वं पाणिपादयुगे तथा ॥

जठरेत्यादिप्रागुक्तदशप्रकाराणां यावच्छक्ति क्रमान्न्यसेत् । तत्र वैष्णवमन्त्रेषु केशवादिन्यासो मुख्यः । स चैवम्,—अं केशवाय नमः । आं नारायणाय नमः । इं माधवाय नमः । ईं गोविन्दाय नमः । उं विष्णवे नमः । ऊं मधुसूदनाय नमः । ऋं त्रिविक्रमाय नमः । ॠं वामदेवाय । ऌं श्रीधराय । ॡं हृषीकेशाय । एं पद्मनाभाय । ऐं दामोदराय । ओं वासुदेवाय । औं कंशकर्षणाय[१] । अं प्रद्युम्नाय । अः अनिरुद्धाय । कं चक्रिणे । खं गदिने । गं शार्ङ्गिणे । घं खड्गिने । ङं शङ्खिने । चं हलिने । छं मुषलिने । जं शूलिने । झं पाशिने । ञं अङ्कुशिने । टं मुकुन्दाय । ठं नन्दजाय । डं नन्दिने । ढं नराय । णं नरकजिते ।

---

१ सङ्कर्षणाय ।

तं हरये। थं कृष्णाय। दं सात्वताय। नं सौरये। पं शूराय।
फं जनार्द्दनाय। बं भूधराय। भं विश्वाय। मं वैकुण्ठाय।
यं त्वक्संयुताय पुरुषोत्तमाय। रं असृक्संयुक्ताय बलिने।
लं मांसयुताय बलानुजाय। वं मेदोयुक्ताय बलाय। शं अस्थि-
युक्ताय वृषघ्नाय। षं मज्जायुक्ताय वृषाय। सं शुक्रयुक्ताय
हंसाय। हं प्राणयुक्ताय वराहाय। लं शक्तियुक्ताय विमलाय।
क्षं आत्मयुक्ताय नृसिंहाय नम इति। ततोऽभीष्टदेवतारूपं
स्वदेहं ध्यात्वा तत्वन्यासं वैकल्पिकं कुर्य्यात्। सचैवम्,—ओँ मं
नमः पराय जीवतत्वात्मने नमः। अत्र मं स्थानाद् व्यतिक्रमेण
भादीन् ककारान्तान् श ह स र ष य ल व ल क्षौ इत्येतांश्च
वर्णान् जीवस्थानाच्च प्राणबुद्ध्यहंकारमनःशब्दस्पर्शरूपरसगन्धश्रोत्र-
त्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवक्त्र-पाणिपादपायूपस्थाकाश-वाय्वग्न्यप्पृथिवी-
हृत्पुण्डरीक-सूर्य्यसोमवह्निमण्डल-परमेष्ठियुक्तवासुदेवपुरुषयुक्तसङ्क-
र्षणविश्वयुक्त-प्रद्युम्ननिवृत्तियुक्तानिरुद्धसर्व्वयुक्तनारायणकोपपदानि
दत्वा सर्व्वशरीरे द्वयं, हृदये त्रयं, शिरोमुखहृदयगुह्याङ्घ्रिकर्ण-
त्वक्चक्षुजिह्वा-घ्राणवक्त्र-पाणिपादपायूपस्थमूर्द्धवक्त्र-हृदयगुह्यपादेषु
एकैकं, हृदये चत्वारि, मूर्द्ध्नि मुखहृदयगुह्यपादसर्व्वगात्रेषु चैकैकं
न्यसेत्। अत्र मण्डलत्रये तत्वपदाभावः। द्वात्रिंशद्देवतत्वानि।
तत्र,—धर्म्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्याधर्म्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्य्यान् दक्षिण-
वामांशवामदक्षिणोरुमुखवामपार्श्वनाभिदक्षिणपार्श्वेषु अनन्तपद्म-
सूर्य्येन्दुपावकसत्वरजस्तमात्मा अन्तरात्मपरमात्मज्ञानात्मनश्च हृदये
विन्यस्य ओँ नमो भगवते विष्णवे सर्व्वभूतात्मने वासुदेवाय

सर्व्वात्मसंयोगयोगपद्मपीठात्मने नम इति विन्यसेत्। यद्यपि पीठभावना शारदातिलके

ततः कल्पोक्तविधिना न्यासानन्यान् समाचरेत्।
कल्पयेदात्मनो देहे पीठधर्म्मादिभिः क्रमात् ॥

इति पश्चादेवोक्तं तथापि प्रपञ्चसारे अष्टाक्षरजपाङ्गतया पीठकल्पनपूर्व्वकमेव न्यासानुक्ता

नित्यार्चना च विहिता विधिनामुनेति

जपाङ्गमेवार्चनायामतिदिष्टमित्यत्र लिखितम्। ततो हृदयाकाशमध्यस्थं स्फुरत्तेजोमयं प्रणवं ध्यात्वा तदुत्थितमूलमन्त्रात्मकं तेजः श्वासमार्गेण वहिर्गतं हस्तयो र्विन्यस्य मूलमन्त्रेण पाणी अभिमृष्य ओं ओं ओं नम इति दक्षिणतर्जनीपर्व्वसु प्रत्येकमेकैकमक्षरं ओं नं नम इति मध्यमायाः ओं मों ओं इत्यनामिकायाः ओं नां ओं इति कनिष्ठिकायाः ओं रां ओं इति वामतर्जनीपर्व्वसु ओं यं ओं इति तन्मध्यमायां ओं णां ओं इत्यनामिकायां ओं यं ओं इति तत्कनिष्ठिकायां इति विन्यस्य क्रुद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नमः ओं महोल्काय स्वाहा शिरसे स्वाहा ओं वीरोल्काय स्वाहा शिखायै वषट् ओं अत्युल्काय स्वाहा कवचाय हुं ओं सहस्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फडिति तर्ज्जनीभ्यामङ्गुष्ठयोरङ्गुष्ठाभ्यां तर्ज्जन्यादिषु कनिष्ठान्तासु युगपद्धस्तयो-र्विन्यस्यास्त्रमन्त्रेण तालत्रितयं दत्वा तेनैव ऐन्द्रीं दिशं चक्रेण बध्नामि नम इति स्वचक्राय स्वाहा इत्यत्र ऐन्द्रीपदस्थाने आग्नेयादिपदप्रक्षेपेण दशमन्त्रैर्दशदिग्बन्धनं कुर्य्यात्। ततो मूल-

मन्त्रं तर्ज्जन्यायतहस्ताभ्यां मस्तकादारभ्य पादपर्य्यन्तं मूलमन्त्रं विन्यस्य मूलाक्षराणां दशधा न्यासान् कुर्य्यात् । तत्र मूलाधार-हृन्मध्यदक्षिणवामबाहुपादमूलनाभिषु प्रथमः । कण्ठनाभिकुक्षि-स्तनद्वयपार्श्वद्वयपृष्ठेषु द्वितीयः । शिरोवदनाक्षिद्वयश्रोत्रद्वय-नासाद्वयेषु तृतीयः । दक्षिणबाहुसन्धित्रयतदङ्गुलीषु चतुर्थः । वामबाहुसन्धित्रयतदङ्गुलीषु पञ्चमः । वामपादसन्धित्रयाङ्गुलीषु षष्ठः । दक्षिणपादसन्ध्यङ्गुलीषु सप्तमः । हृदि वसासृक्मांस-मेदोऽस्थिमज्जाशुक्राख्यसप्तधातुषु प्राणान् सञ्चिन्त्याष्टमः । मूर्द्ध-चक्षुरास्यहृदयोदरोरुजङ्घापादद्वयेषु नवमः । गण्डांशकोरुचरणेषु दक्षिणवामोर्द्ध्वकरवामदक्षिणाधःकरस्थानेषु च चक्रशङ्खगदाब्जमुद्रा-युक्तेषु दशमः । ततो मूलमन्त्रेण व्यापकन्यासं कृत्वाङ्गुष्ठकनि-ष्ठाभ्यामुदरे "ॐ" अङ्गुष्ठाभिरष्टाभिरुपस्थे "नं"। अङ्घ्रिरेव जानुनोः "मों" । पञ्चभिः पादयोः "नां" मध्यमया मूर्द्ध्नि "रां" । तर्ज्जन्य-नामिकाभ्यां युगपच्चक्षुषोः "यं" अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां मुखे "णां" अङ्गुष्ठतर्ज्जनीभ्यां हृदये "यं" । इति न्यसेत् । ततो मूलमन्त्रं हृदये विन्यस्य ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नम इत्यङ्गुष्ठवर्ज्जिताङ्गु-लिभिर्हृदये । ॐ महोल्काय स्वाहा शिरसे स्वाहेति ताभिरेव शिरसे ॐ वीरोल्काय स्वाहा शिखायै वषड़ित्यङ्गुष्ठकृतनालमुष्टिना शिखायाम् । ॐ अत्युल्काय स्वाहा कवचाय हुमिति हस्तयोर्द्वयोः । सर्व्वाङ्गुलिभिर्नाभिपर्य्यन्तं कवचबन्धनम् । ॐ सहस्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फड़िति द्वयोर्हस्तयोरङ्गुष्ठतर्ज्जनीभ्यां शब्दयेत् । ततो दुर्गायै नमः । विघ्नेशाय नमः । गुरवे नमः । गरुड़ाय नमः ।

इत्याग्नेयादिकोणचतुष्टये दक्षिणाङ्गुष्ठेन मन्त्रयन् मनसा जपेत्। तत ओं ओं हृदयाय नम इति करतलेन हृदये। ओं "नं" शिरसे स्वाहेत्यङ्गुलिशीर्षैः शिरसे। ओं "मों" शिखायै वषड़िति मुष्टि-वाह्याङ्गुष्ठाग्रेण शिखायाम्। ओं "नां" कवचाय हुमिति कर-तलाभ्यां देहे। ओं "रां" नेत्राभ्यां वौषड़िति मध्यमादेशिनीभ्यां नेत्रयोः। ओं "यं" अस्त्राय फड़िति तर्जन्यङ्गुष्ठशब्देन शिरोऽभ्यासे चतुर्द्दिक्षु। ओं "णां" इत्युदरे। ओं "यं" इति पृष्ठे न्यसेत्। अत्र यद्यप्यन्यत्र करन्यासानन्तरं हृदादिष्वङ्गमन्त्रन्यासस्तदनन्तर-मेव देहेऽक्षरन्यासः क्रियते। तथाप्यत्र कल्पे एवमेवोक्तत्वात् प्रपञ्चसारेऽपि करन्यासानन्तरमस्त्रेण तालत्रितयं कृत्वा तेनैव बन्धयेद्दिशोदशेति दीक्षाफलोक्तदिग्बन्धनानन्तर्य्याभिप्रायेणैव।

अस्त्रमन्त्रप्रबद्धाङ्गो मन्त्रवर्णांस्तनौ न्यसेत्।

इत्युक्तत्वात्। ज्ञानस्वरूपाख्यप्रपञ्चसारटीकायाञ्च एवं दशाङ्ग-न्यासान् कृत्वा पुनर्नारदीयकल्पोक्तप्रकारेण स्थितिन्यासं कृत्वाङ्गानि पञ्च विन्यस्य पुनरष्टाङ्गान्यपि विन्यस्याष्टाक्षरपूरणाय द्वादशमूर्त्तिन्यासं कृत्वा द्वादशाक्षराणि मूर्द्ध्नि विन्यसेदित्यत्युक्तत्वा-च्चैवं लिखितम्। तत ओं अं धातृसहिताय केशवाय नमः। ओं नं आं अर्य्यमसहिताय नारायणाय नमः। इं मों मित्रसहिताय माधवाय नमः। ईं भं वरुणसहिताय गोविन्दाय नमः। उं गं अंशुसहिताय विष्णवे नमः। ऊं वं भगसहिताय मधुसूदनाय नमः। एं तें विवस्वत्सहिताय

त्रिविक्रमाय नमः। ऐं वां इन्द्रसहिताय वामदेवाय[1] नमः। सुं श्रों सत्पुरुषसहिताय[2] श्रीधराय नमः। श्रौं दें पर्जन्यसहिताय हृषीकेशाय नमः। श्रं वां त्वष्टृसहिताय पद्मनाभाय नमः। श्रः यं विष्णुसहिताय दामोदराय नमः। इत्येतावन्मन्त्रान् शिरोनाभिहृत्कण्ठदक्षिण-पार्श्वबाहुमूलगलवामपार्श्वबाहुमूलमल-पृष्ठस्कन्धेषु विन्यस्य द्वादशाक्षरमन्त्रं मूर्द्ध्नि विन्यस्य वासुदेवं सर्व्वां तनुं व्याप्तं चिन्तयेत्। ततः किरीटकेयूरहारमकरकुण्डलशङ्ख-चक्रगदाब्जहस्तं पीताम्बरधरश्रीवत्साङ्कितवक्षःस्थलश्रीभूमिसहित-स्वात्मज्योतिर्द्वयदीप्तकराय सहस्रादित्यतेजसे नम इति मन्त्रं जपित्वा किरीटमन्त्रेण व्यापकं न्यसेत्। तत इति वचना-न्मस्तकादिपर्य्यन्तं विन्यस्य मूलमन्त्रञ्च व्यापकं न्यसेत्।

ततः,—

एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम्।

ततो मूलमन्त्रमष्टधा जपेत्। ततोऽस्त्रमन्त्रेण शङ्खं प्रक्षाल्य क्वचिदाधारे स्थापयित्वा पूजार्थतोयकुम्भं

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ सक्तौ करयोरितरेतरम्।
तर्ज्जनीमध्यमानामाः संहता भुग्नवर्जिताः॥
मुद्रैषा गालिनी प्रोक्ता—

इति मुद्रया संप्लुत्य श्रों

(१) पुस्तकान्तरे,—॰ वामनाय ॰।
(२) ॰ पुरुषसहिताय ॰।

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्म्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

इति तत्तत्तीर्थान्यावाह्य तज्जलं मूलमन्त्रेण शङ्खे पूरयित्वा पात्रजलानि वह्निसूर्य्यसोमतया ध्यात्वा मूलमन्त्रेण गन्धपुष्पाक्षतयवकुशाग्रतिलश्वेतसर्षपदुर्व्वाः पयःफले वा अन्यत्रोक्तं निक्षिपेत्। एषां यस्य यस्यासम्भवस्तन्मनसा चिन्तयेत्। एवमन्यत्रापि। ततो दर्भकूर्च्चेन जलं स्पृष्ट्वा सप्तकृत्वोऽस्त्रमन्त्रं जपन् तत्तेजसा जलं दग्धदोषं वमित्यमृतबीजेन प्लावितं च विचिन्त्य हृदयमन्त्रेण गन्धं शिरोमन्त्रेण पुष्पं दत्वा शिखामन्त्रेण तेजोव्याप्तिं ध्यात्वा कवचमन्त्रेणावगुण्ठ्यास्त्रमन्त्रेण दिग्बन्धनं प्रदर्श्य पात्रं पाणिना निधाय मूलमन्त्रमष्टकृत्वो जपेत्।

योजयेत्तत्र चैतन्यं मुद्रयोद्भवसंज्ञया ।
दीर्घमध्यां समुत्तानां कृत्वा मुष्टिञ्च दक्षिणे ॥
एषा मुद्रोद्भवा नाम सर्व्वामृतविधायिनी ॥

तत्र प्रोक्षणीपात्रमस्त्रमन्त्रेण प्रक्षाल्यार्घ्यं दक्षिणत आसाद्य मूलेन जलं पूरयित्वा किञ्चिदर्घ्याम्बु तत्र च संयोज्य तत्तोयेन पूजास्थानमात्मानं यागसम्भारद्रव्याणि च प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ।

हृदयेन च संमन्त्र्य तनुत्राणेन वेष्टयेत् ।
धेनुमुद्रां दर्शयित्वा पुष्पं दत्वा निजासने ॥
पीठेन मनुना चाथ मूलमन्त्रेण मन्त्रवित् ।
ललाटे तिलकं कृत्वा मूर्द्ध्नि मूलेन पूजयेत् ॥

ततः स्वदक्षिणांशादिपूर्व्वक्रतधर्म्मादिन्यासेषु ओं धर्म्माय नम इत्यादिना

"धर्म्माद्यधर्म्मादि च पादगात्र-
चतुष्टयं हृद्यथ शेषमजम्।
सूर्य्येन्दुवह्नीन् प्रणवांशयुक्तान्
स्वाद्यक्षरैः सत्वरजस्तमांसि॥"

"आत्मादित्रयमात्मबीजसहितं व्योमाग्निमायालवै-
र्ज्ञानात्मानमथाष्ट दिक्षु परितो मध्ये च शक्तीर्नव।
न्यस्वा पीठमनुञ्च तत्र विधिवत्तत्कर्णिकामध्यगं
नित्यानन्दचितिप्रकाशममृतं सञ्चिन्तयेद्धाम तत्॥"

इत्येवं च धर्म्मादीन् पीठमन्त्रान् प्रयुज्य मूर्द्धनि द्वादशाक्षरेण सम्पूज्य कल्पितपीठरूपनिजाङ्गमध्ये तेजोमयीं पूज्यमूर्त्तिं ध्यात्वा विना नैवेद्यं गन्धाद्यैरुपचारैः समर्चयेत्। तत उत्तमाङ्गहृदाधारपादसर्व्वाङ्गेषु किरीटमन्त्रेण पञ्च त्रिर्वा पुष्पाञ्जलीन् दद्यात्। ततः पञ्च पाद्यादिपात्राण्यस्त्रेण प्रक्षाल्यार्घ्यस्योत्तरत आसादयेत्।

रत्नं हैमञ्च रौप्यञ्च पित्तलं ताम्रमेव च।
शङ्खं दारु च मृच्चान्यत् पालाशं पद्ममेव वा॥
शस्तद्रव्याणि पात्राणि दशैतानि सुराधिप।
सर्व्वेषामेव पात्राणां ताम्रं शङ्खञ्च शस्यते॥
तयोश्च शङ्खमुत्कृष्टमित्युक्तं पात्रधारणम्॥

तत्र रूप्यस्य विशेषविहितत्वात्

अमङ्गल्यन्तु यत्नेन देवकार्य्येषु वर्जयेत्।

इति सामान्यतः प्रवृत्तस्य निषेधस्याप्रवृत्तेः। तत्र तृतीयं मधुपर्कपात्रं मधुपर्कं दधिघृतमधुपिहितं कांस्ये कांस्येनेति गृह्यवचनात् कांस्यपिहितं कांस्यम्। चतुर्थं शतपलपरिमितं तोयभरणार्हम्। पञ्चममाचमनार्थं सनालम्। ततो मूलमन्त्रेण तृतीयेतरपात्रेषु पूर्व्वसंस्कृतकुम्भजलं पूरयित्वा आद्ये श्यामाक-दुर्व्वाब्जविष्णुक्रान्ताः। द्वितीये जातीलवङ्गकक्कोलानि। तृतीये मधु घृतं खण्डयुक्तं गव्यं दधि एतदसम्भवे दधिसंसृष्टं मधुपर्कम्। पयो वा मधुसंसृष्टमभावे उदकमित्यापस्तम्बोक्तेः। चतुर्थ-पञ्चमयोर्गन्धं सुगन्धिपुष्पञ्च मूलमन्त्रेणैव दत्वा प्रोक्षणुदकेन सर्व्वाण्यस्त्रमन्त्रेण प्रोक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य धेनुमुद्रां दर्शयेत्।

मध्यापृष्ठगतेऽनामे तर्जनीभ्यां वियोजयेत्।
मध्यमांशे समे कृत्वा कनिष्ठे मध्यमोपरि॥
तयोरुपरि चाङ्गुष्ठौ मुद्रायोनिस्तु खेचरी।

इति योनिमुद्रां बद्धा संयतप्राणप्रणवसंयुक्तं मूलमन्त्रं प्लुतमुच्चारयेत्। ततोऽर्चनीयमिति प्रतिमायां निर्म्माल्यमप-कृष्यास्त्रमन्त्रेणार्घ्यजलमासिच्य तद्धृदयं स्पृष्ट्वा मूलमन्त्रं जपेत्। ततः,—

देवस्पृष्टं करस्पृष्टं पत्रं पुष्पं जलं फलम्।
त्यजेन्निर्म्माल्यवत् सर्व्वं निर्म्माल्यस्पृष्टमेव च॥

इति वचनाद्धस्तं प्रक्षाल्य गन्धपुष्पेण पीठमध्येऽष्टदलपद्मं लिखित्वा वक्ष्यमाणलक्षणां पद्ममुद्रां प्रदर्शयेत्। ततः स्वसव्य-प्रदेशे गुरून् परमगुरून् स्वदक्षिणप्रदेशे आचार्य्यान् दुर्गां गणेशं

सरस्वतीं पूजास्थानादधस्तादुपर्य्युपरि वास्तुनाथं आधारशक्तिं मण्डूकं कालाग्निरुद्रं कूर्म्ममनन्तं महावराहं पृथ्वीं रत्नद्वीपं मणिमण्डपं रत्नवेदिं सिंहासनञ्चार्चयेत्। अथवा प्रथमं निजसव्यतो यथाव-दित्यादि प्रपञ्चसारवाक्येऽनुक्तत्वाद् वैकल्पिका इति एतान् परि-त्यज्यात्मसव्यप्रदेशे महागुरून् स्वदक्षिणप्रदेशे गणनायकमित्ये-तावेवाभ्यर्च्य पूजास्थानस्याग्नेयकोणेषु धर्म्मं नैरृते ज्ञानं वायव्ये वैराग्यं ऐशाने ऐश्वर्य्यं पूर्व्वभागेऽधर्म्मं दक्षिणेऽज्ञानं पश्चिमेऽवैराग्यं उत्तरेऽनैश्वर्य्यं मध्येचानन्तादीन् पूर्व्वाद्यष्टदिक्षु मध्ये च विमलोत्-कर्षणीज्ञानाक्रिया योगा प्रह्वा सत्या ईशाना अनुग्रहेति नव शक्तीः पूजयेत्। स्वदेहे धर्म्मादिन्यासेषु

ज्ञानात्मानं प्रविन्यस्य न्यसेत् पीठमनुं ततः।

इति शक्तयो नोक्ताः। ततः पीठमन्त्रेण लिखितपद्ममध्ये पूजयित्वा

दत्वा तेनासनं मन्त्री मूर्त्तिं मूलेन विन्यसेत्।

इति वचनान्मूलमन्त्रेण पूज्यमूर्त्तिं निवेश्य

अर्कौघाभं किरीटान्वितमकरलसत्कुण्डलं दीप्तराजत्-
केयूरं कौस्तुभाभाशबलरुचिरहारं सपीताम्बरञ्च।
नानारत्नांशुभिन्नाभरणशतशुभं श्रीधराश्लिष्टपार्श्वं
वन्दे दोःसक्तचक्राम्बुरुहदरगदं विश्वबीजं मुकुन्दम्॥

इति ध्यायेत्। तत्रारदरगदाब्जहस्ताः सर्व्वा इत्युक्ताष्टाक्षर-मूर्त्तीनामन्यतमाया एव या मूर्त्तिरभ्यर्च्यते तासामिति पूज्यत्वेन प्रपञ्चसारेऽभिधानात् तट्टीकाकारेण तत्र दक्षिणोर्द्ध्वहस्तमारभ्ये-

त्युक्तम् । तद्ग्रन्थव्याख्यानान्ते एवं नित्यार्चनाविधिरुक्त इत्युप-संहारात् पूज्यमूर्त्तितया ध्यातस्वशरीरे अक्षरन्यासविधौ अन्त्यन्यासे चक्रशङ्खश्रीमद्गदाम्बुजपद्मेष्वित्यभिधानात् । तत्र च तद्विवरणे दक्षिणस्कन्धोपरि चक्रमित्यादिप्रादक्षिण्येन दर्शनात् । एत-न्मन्त्राङ्गभूतकिरीटमन्त्रेण शङ्खचक्रगदाब्जहस्तेति प्रकाशितत्वात् । अत्र ध्यानश्लोके च ज्ञानस्वरूपटीकायां दक्षिणोपरि तदधस्ताच्च सुदर्शनाम्बुजे वामोपरि तदधस्ताच्च पाञ्चजन्यकौमोदक्याविति व्याख्यातत्वात् । एतदनुष्ठातृसत्परिव्राजकसम्प्रदायाच्च । दक्षि-णोर्द्ध्वकरे चक्रं तदधस्तात् पद्मं वामोर्द्ध्वे शङ्खं तदधो गदां ध्यायेत् । एवमेव शारदातिलके,—"शङ्खं गदां पङ्कजं चक्रं विभ्रत"मिति वामोर्द्ध्वकरादिक्रमेणोक्तम् । तथान्यत्रैतन्मन्त्रप्रकरणे भगवद्वाक्यम्—

उद्यद्भास्वत्समाभः सच्चिदानन्दैकदेहवान् ।
चक्रशङ्खगदापद्मधरो ध्येयोऽहमीश्वरः ॥

इति । यत्तु,—

ऊर्द्ध्वाधः करयोः पद्मशङ्खौ दक्षिणयोः क्रमात् ।
वामयोश्च गदाचक्रे नीलं नारायणं वपुः ॥

इति घटनाग्रन्थोक्तं तदनारभ्याधीततया सामिधेनीमात्र-दश्यवत् विकृतिपरमेव ।

प्रणवादि चतुर्थ्यन्तं देवानान्तु नमोयुतम् ।
पूजामन्त्रं विजानीयात् सर्व्वत्रार्चनकर्म्मणि ॥

इति वचनात् विहितं पूजाङ्गमन्यत्रापि यस्मिन् वैष्णव-मन्त्रे पूज्यमूर्त्तिविशेषो नोक्तस्तदङ्गञ्च। अथवा घटनायाः प्रतिष्ठाकरण एवाम्नानात्,—

नारायणाख्या सा मूर्त्तिः स्थापिता भुक्तिमुक्तिदा।

इति

तद्विहितप्रतिष्ठायामेव सा मूर्त्तिरेतच्च केशवादिमूर्त्तिष्व-विवादम्। न हि सर्व्वत्र तदेकैकमूर्त्तिपूजानियता मन्त्रविशेषाः सन्ति। न च नारायणेति समाख्यया तन्मूर्त्तेरत्राङ्गत्वम्। लिङ्गप्रकरणाभ्यां समाख्याया दुर्व्बलत्वात्। ताभ्यां चात्र मूर्त्ति-विशेषालाभस्योक्तत्वाच्च। तस्मात् यथा पुरुषोत्तममन्त्रेण,—

देवं श्रीपुरुषोत्तमं कमलया स्वाङ्गस्थया पङ्कजं
बिभ्रत्या परिरब्धमम्बुजरुचा तस्यां निबद्धेक्षणम्।
ध्यायेच्चेतसि शङ्खपाशमुषलांश्चापासिखड्गान् गदां
हस्तैरङ्कुशमुद्वहन्तमरुणं तार्क्ष्याधिरूढं प्रभुम्[1]॥

एवं नरसिंहमूर्त्तिरप्यन्यथोक्ता तथा नारायणमूर्त्तिरिति द्रष्टव्यम्। किञ्च चतुर्भुजस्य वक्ष्यामीत्यादिकल्पतरुलिखित-वाक्ये घटनाग्रन्थोक्ता नारायणमूर्त्तिर्नोक्ता। इयत्यत्र त्वत्रास्माक-मिति विश्वासः। रूपञ्चात्र नीलमेवाविरोधाद् ग्राह्यम्। यद्यप्य-ष्टाक्षरमूर्त्तीनां सिन्दूराद्यनेकविधत्वं तथापि श्यामलं पुण्डरीकाक्ष-मिति कल्पेऽभिधानात्। सामान्यतश्च,—

(१) ० स्मेरारविन्दाननम्।

शुद्धस्फटिकसङ्काशं चारुचामीकरप्रभम् ।
तथा मरकतप्रख्यमिन्द्रनीलसमद्युतिम् ॥
संस्मरेदच्युतं भक्त्या क्रमाद् युगचतुष्टये ।
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः ॥

इति वचनात् । श्रीधराश्लिष्टपार्श्वमित्यत्राश्लिष्टशब्दः सम्बन्धमात्रेणाप्युपपद्यते । अतएव तट्टीकायां लक्ष्मीभूमीभ्यां समाश्रितदक्षिणसव्यपार्श्वमिति व्याख्यातम् । मत्स्यपुराणे,—श्रीश्च पृथिवी च कर्त्तव्ये पार्श्वयोः पद्मसंयुतेति । शारदतिलके च,— इन्दिरावसुमतीसंशोभिपार्श्वद्वयमित्येवं पार्श्वस्थमात्रमभिहितम् । अतः

श्रीभूमीभ्यां समायुक्तमम्बुजस्थं विभूतये ।

इति कल्पवचनात् विभूतिकामनारहितस्य श्रीभूमिरहितचिन्तनेऽप्यदोषः । उपदिष्टा चेयं मूर्त्तिर्बृहत्कल्पे,—

आसीनं स्फुरदर्ककोटिसदृशे तत्त्वात्मके निर्म्मले
योगाख्ये परमासने परतरं निःशेषदुःखच्छिदम् ।

इति । शङ्कराचार्य्यैस्तु,—समासीनमीं कर्णिकेऽष्टाक्षराब्जे ।

नारसिंहेच,—सरसिजासनसन्निविष्ट इत्युक्तत्वात् ।

पूजाकाले सदा ध्येया देवतार्च्चा नवाङ्गुला ।

तथा—नवषट्काङ्गुलिभिः प्रमिता विप्रादितः क्रमात् ।

स्थण्डिले प्रतिमायाञ्च ध्येया हृदि च देवता ।

अन्यत्र तु,—

मन्त्रमूर्त्तेर्विभोर्विप्राः साधकेच्छाप्रमाणतः।
लिङ्गोच्छ्रायमितं वापि रूपं तस्य विभोर्भवेत्॥

इति। ततः,—

अनुज्ञां देहि भगवन् वहिर्यागे मम प्रभो।

इति सम्प्रार्थ्य पुष्पपूरितमञ्जलिं गृहीत्वा

स्वात्मसंस्थमजं शुद्धं त्वामहं परमेश्वर।
अरण्यामिव हव्याशं मूर्त्तावावाहयाम्यहम्॥

नम इति मूलमन्त्रमुच्चार्य्य,—

आगच्छावाहने प्रोक्तं क्षमस्वेति विसर्जनम्।

इति वचनात् नारायण आगच्छेति वदन् स्वहृदयाम्बुजमध्ये भानवे मण्डलेऽथवा सन्निरुध्यावाहयेत् पश्चात्,—

इति वचनात् हृदयान्तःस्थं परं ज्योतिः सुषुम्णावर्त्मनाब्जमध्यगतं चिन्तयित्वा दक्षिणनासारन्ध्रेण रेचकेन वायुना सह वहिर्गतं भानुमण्डलाद् वागतं करपुष्पेषु विचिन्त्य तानि तु पुष्पाणि पूजाप्रतिमायां क्षिपन् तत्तेजःप्रतिमां वामनासारन्ध्रेण प्रवेश्य तद्धृदयस्थिततेजसैक्यं प्राप्तं चिन्तयेत्। एवमावाहनं प्रतिमायामेव। स्थण्डिलादौ तु

मनसाराधितं ध्यात्वा वामनासापुटेन तु।
प्रणवेनाञ्जलिं कृत्वा न्यसेत् पूर्व्वार्च्चितासने॥

इति वचनात् पूज्यमूर्त्तेरेवावाहनं न तेजोमात्रस्य। एवमावाहनस्थापनसन्निधान-सन्निरोधन-सकलीकरणावगुण्ठनामृतीकरणपरमीकरणानि तत्तन्मुद्राभिः कुर्य्यात्। तत्र—

स्थापनं मूलमन्त्रेण सान्निध्यं मस्तकेन तु।
सन्निरोधः शिखयाऽवगुण्ठनं कवचेन तु।
प्रसन्नता च नेत्रेण देवं वस्त्रेण रक्षयेत्॥

प्रसन्नताऽमृतीकरणं रक्षणमत्र परिशेषात् परमीकरणम्। तथा,—

प्रोक्ता सुदर्शनायेति विद्महे च महापदम्।
ज्वालाय धीमहीत्युक्ता तन्नश्चक्रं प्रचोदयात्॥
सौदर्शनीया गायत्री जप्तव्या जप्तुमिच्छता।
सान्निध्यकरणीं मुद्रां दर्शयेदनया सुधीः॥

इति। एवमनयास्त्रमन्त्रस्य समुच्चयः सिद्धः। ततो मूलमन्त्रं पठित्वा,—

तवेयं महिता मूर्त्तिस्तस्यां त्वां सर्व्वगं विभो।
भक्तिस्नेहसमाकृष्टं दीपवत् स्थापयाम्यहम्॥

नमो नारायणाय इह तिष्ठ तिष्ठेति स्थापनम्। तन्मुद्राश्च,—

सम्यक्-सम्पूरितैः पुष्पैः कराभ्यां कल्पितोऽञ्जलिः।
आवाहनी समाख्याता मुद्रा देशिकसत्तमैः।
अधोमुखीकृता सैव स्थापिनीति निगद्यते॥
आश्लिष्टमुष्टियुगला प्रोत्थिताङ्गुष्ठयुग्मका।
सन्निधाने समुद्दिष्टा मुद्रेयं तन्त्रवेदिभिः॥
अङ्गुष्ठगर्भिणी सैव सन्निरोधे समीरिता।
देवाङ्गेषु षडङ्गानां न्यासः स्यात् सकलीकृतिः॥

तथा,—

हृदयादिकनिष्ठान्ते कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु च ।
हृदादिमन्त्रविन्यासः सकलीकरणं मतम् ॥

इति ।

सव्यहस्तकृता मुष्टि र्दीर्घाधोमुखतर्जनी ।
अवगुण्ठनमुद्रेयमभितो भ्रामिता भवेत् ॥
अन्योन्याभिमुखाश्लिष्टकनिष्ठानामिका पुनः ।
तथा तु तर्जनीमध्या धेनुमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥
अमृतीकरणं कुर्य्यात् तया देशिकसत्तमः ॥
अन्योन्यग्रथिताङ्गुष्ठा प्रसारितकराङ्गुलिः ।
महामुद्रेयमुदिता परमीकरणे बुधैः ॥

इति ।

मुदं ददाति देवेभ्यो द्रावयत्यसुरानपि ।

इति मुद्राफलम् । तत्र सन्निधानानन्तरम्,

जितन्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्व्वज ॥

ओं नम इति सान्निध्यकरणे मन्त्रः। देवस्य पादौ स्पृष्ट्वा जपेदिति मन्त्रनेत्रे उक्तम्। तदनन्तरञ्च प्रतिमाहृदयं स्पृष्ट्वा प्राणप्रतिष्ठामन्त्रजपः सत्परिव्राजकसम्प्रदायसिद्धः ।

शङ्खं चक्रं गदां पद्मं मुषलं शार्ङ्गखड्गकौ ।
पाशाङ्कुशौ वैनतेयं श्रीवत्सं कौस्तुभं तथा ।
वेणुं चैवाभयवरौ वनमालाञ्च दर्शयेत् ॥

तत्र,—

वामाङ्गुष्ठं विधृत्यैव मुष्टिना दक्षिणेन तु ।
तन्मुष्टेः पृष्ठदेशे तु योजयेदितराङ्गुलीः ॥
दक्षिणे चोन्मुखेऽङ्गुष्ठे तासामग्राणि योजयेत् ।
कथिता शङ्खमुद्रेयं वैष्णवार्चनकर्म्मणि ॥
अन्योन्याभिमुखाङ्गुष्ठकनिष्ठयुगलो यदा ।
विस्तृताश्चेतराङ्गुल्यस्तदा सौदर्शनी मता ॥
अन्योन्यग्रथिताङ्गुल्यावुन्नतौ मध्यमौ यदा ।
संलग्नौ च तदा मुद्रा गदेयं संप्रकीर्त्तिता ॥
अन्योन्याभिमुखौ पाणी पद्माकारौ च मध्यतः ।
तत्रान्तर्मिलिताङ्गुष्ठौ पद्ममुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥
अग्रे तु वाममुष्टेश्च इतरा च यदा भवेत् ।
तदैवं कृतिभिर्ज्ञेया मुद्रा मुषलसंज्ञिका ॥
वामस्थं तर्जनीप्रान्तं मध्यमान्ते नियोजयेत् ।
प्रसार्य्य च करं वामं दक्षिणं करमेव च ॥
नियोज्य दक्षिणे स्कन्धे बाणग्रहणवत्ततः ।
तर्जन्यङ्गुष्ठकाभ्याञ्च कुर्य्यात् शारङ्गमुद्रिका ॥
कनिष्ठानामिके तद्वद्दृचाङ्गुष्ठं निपीड़येत् ।
शेषे प्रसारिते कृत्वा खड्गमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥
तर्जनीं वर्त्तुलां कृत्वा मूलेऽङ्गुष्ठस्य योजयेत् ।
पाशस्तु कथितोह्येष दुष्टकालनिबन्धनः ॥
तर्जनीमीषदालम्ब्य शेषाणि च निपीड़येत् ।
अङ्कुशं दर्शयेत् तद्वत् गृहीत्वा दक्षमुष्टिना ॥

अन्योन्यपृष्ठे संयोज्य कनिष्ठे च परस्परम्।
तर्ज्जन्यग्रं समं कृत्वा अङ्गुष्ठाग्रं तथैव च॥
ईषदालम्बितं कृत्वा इतरौ पल्लवत्ततः।
प्रसार्य्य गारुड़ी मुद्रा कृष्णपूजाविधौ स्मृता॥
अन्योन्यसम्मुखे तत्र कनिष्ठातर्ज्जनीयुगे।
मध्यमानामिके तद्वदङ्गुष्ठे च निपीड़िते॥
दर्शयेद्धृदये मुद्रां यत्नात् श्रीवत्ससंज्ञकाम्।
अन्योन्याभिमुखे तद्वत् कनिष्ठे संनियोजयेत्॥
तर्ज्जन्यनामिके तद्वत् करौ त्वन्योन्यपृष्ठगौ।
उच्छ्रितान्योन्यसंलग्नौ वक्षःस्थितकराङ्गुली:॥
विधाय मध्यदेशे तु वामतर्ज्जनिमध्यमे।
संयोज्य मणिबन्धे तु दक्षिणे योजयेत् ततः।
वामाङ्गुष्ठे तु मुद्रेयं प्रसिद्धा कौस्तुभाह्वया॥
तिर्य्यक्कृत्वा मुखं वामं पार्श्वे तु वेणुवादवत्।
करौ कृत्वा तु देवस्य वेणुमुद्रां प्रदर्शयेत्॥

तथा,—

ओष्ठे वामकराङ्गुष्ठो लग्नस्तस्य कनिष्ठिका।
दक्षिणाङ्गुष्ठसंयुक्ता तत्कनिष्ठा प्रदर्शिता॥
तर्ज्जनीमध्यमानामाः किञ्चित् सङ्कुच्य चालिताः।
वेणुमुद्रेह कथिता सुगुप्ता प्रेयसी हरेः॥
प्रसारिताग्रः श्लिष्टशाखः प्राङ्मुखस्तु करो यदा।
अभीतिमुद्रा विज्ञेया भुजं दक्षं प्रसारयेत्॥

जानूपरि निवेश्येयं वरमुद्रा प्रकीर्त्तिता ॥
उत्तानतर्ज्जनीभ्यान्तु ऊर्द्ध्वाधस्तु क्रमेण वै ।
मालावत् क्रमविस्तारा वनमाला प्रकीर्त्तिता ॥

अङ्गुष्ठं वाममुद्दण्डितमितरकराङ्गुष्ठकेनाथ बद्धा
तस्याग्रं पीड़यित्वाङ्गुलिभिरपि च ता वामहस्ताङ्गुलीभिः ।
बद्धा गाढ़ं हृदि स्थापयतु विमलधीर्व्याहरन् मारबीजं
विल्वाख्या मुद्रिकैषा स्फुटमिह कथिता गोपनीया विधिज्ञैः ॥

इति । विल्वमुद्रादर्शनफलञ्च

मनोवाणीदेहैर्यदिह वपुषा वापि विहित-
न्त्वमत्या मत्या वा तमखिलमसौ दुष्कृतिचयम् ।[१]
इमां मुद्रां जानन् क्षपयति नरस्तं सुरगणा
नमन्त्यस्याधीना भवति सततं सर्व्वजनता ॥

इति फलार्थम् । अथवा

शङ्खं चक्रं गदां पद्मं मुषलं खड्गमेव च ।
श्रीवत्सं कौस्तुभं विष्णोरष्टौ मुद्राः प्रकीर्त्तिताः ॥

इत्येतावन्मात्रं प्रदर्शयेत् । ततो यद्यपि,—

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
मधुपर्काचमस्नानं वसनाभरणानि च ।
सुगन्धसुमनोधूपदीपनैवेद्यवन्दनाः ॥

इति षोड़शोपचाराः सामान्येनोक्तास्तथापि

---

(१) ० दुष्टनिचयम् ।

आसनावाहनार्घ्यादि त्रिकं स्नानाम्बराणि च।
भूषणान्युपवीतञ्च तथैवाचमनं पुनः॥
गन्धादयोऽथ चत्वारो नैवेद्यान्ते नमस्क्रिया।
उद्वासनमिति प्रोक्ता उपचारास्तु षोड़श॥

इति विशेषतः कल्पोक्तानुपचारान् कुर्य्यात्। अत्रावाहनपदेनावहनस्य स्वतोऽर्चनत्वाभावादत्रोपचारत्वेनानुक्तत्वाच्च स्वागतमुक्तम्। अर्घ्यादिशब्देन अर्घ्यं आदिर्यस्य त्रिकस्येति व्युत्पत्त्या अर्घ्यपूर्व्वकाः पाद्याचमनीयमधुपर्का उक्ताः। तथैवाचमनं पुनरित्यनेन मधुपर्कात् प्रागुक्तस्य स्नानादावभ्यास उच्यते। तस्याभ्यस्यमानस्यैकोपचारत्वमेव। उद्वासनञ्चाङ्गमात्रत्वेनोक्तं नोपचारत्वेनार्चनारूपत्वाभावात्। अथवार्घ्यादित्रिकमिति अर्घ्यपाद्याचमनानि गृहीत्वा उद्वासनमप्युपचारत्वेन ग्राह्यम्। क्वचित् पुस्तके अर्घ्यादिस्नानाचमनाम्बराणीति पाठस्तस्यैतत्पूर्व्वकस्नानानीत्यर्थः। तत्र पद्ममुद्रां प्रदर्शयन्

अस्मिन् वरासने देव सुखमास्वाक्षरात्मके।
सुप्रतिष्ठितो वास्मिंस्त्वं प्रसीद परमेश्वर॥

इति मूलमन्त्रमुच्चार्य्य नारायणाय नमः इदमासनं नारायणाय कल्पयामीत्यासनं समर्पयेत्। तत्र,—

ईषल्लग्नाङ्गुलिर्दक्षः सन्त्यज्याङ्गुष्ठकं करः।
स्वागते स्वस्तिमुद्रा तु मध्यामूलगताङ्गुलिः॥

इति स्वस्तिमुद्रां प्रदर्शयन्

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः स्वाभीष्टसिद्धये ।
तस्य ते परमेशान स्वागतं स्वागतञ्च मे ॥
कृतार्थोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितञ्च मे ।
यदागतोऽसि देवेश सुस्वागतमिदं पुनः ॥

मूलमन्त्रमुच्चार्य्य करोमि स्वागतं देवेत्युदीरयेत् । ततः

स्वस्तिमुद्रा द्विहस्ता चेन्मुद्रात्वर्घ्यस्य कीर्त्तिता ।

इति मुद्रां प्रदर्शयन्नर्घ्यैकदेशमुद्धृत्य

अर्घ्यं विशेषतो मूर्द्ध्नि शिरोमन्त्रेण देशिकः ।

इति वचनात् महोल्काय स्वाहा शिरसे स्वाहा इति पूर्व्वकं

तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम् ।
तापत्रयविनिर्मुक्त्यै तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम् ॥

नम इति मूलमन्त्रमुच्चार्य्य ॐ नारायणाय नमः अमुमर्घ्यं नारायणाय कल्पयामीति शिरसि दद्यात् ।

अन्यत्रापि समुच्चार्य्य मन्त्रं प्रणवपूर्व्वकम् ।
चतुर्थ्यन्तं ततो नाम नमोऽन्तं पूजनादिकम् ॥

इति मन्त्रं नमोऽन्तमुच्चार्य्य एतद्द्रव्यं देवाय कल्पयामीति दद्यादिति वचनात् सर्व्वोपचारेष्वेवं मन्त्रः । तत्रोत्तरत्र मुद्राप्रदर्शनं यौगपद्यासम्भवादव्यवधानेन पूर्व्वं पश्चाद् वा कर्त्तव्यम् । एवम्,—

तौ च प्रसारितौ हस्तौ पाद्यमुद्रा प्रकीर्त्तिता ।

इति मुद्रां प्रदर्शयन्

पाद्यं पादाम्बुजे दद्याद्देवस्य हृदयाणुना ।

इति वचनात् क्रोल्काय स्वाहा हृदयाय नमः।

यद्भक्तिलेशसम्पर्कात्परमानन्दसम्भवः।

तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये॥

नम इति पूर्व्वकं पाद्यं पादयोर्दद्यात्।

देशिनीमूलगाङ्गुष्ठा दक्षिणाधः कनीयसी।

आचाममुद्रा विख्याता देवताचमने विधौ॥

इति मुद्रां प्रदर्शयन्,—

सुधामन्त्रेण वदने दद्यादाचमनीयकम्।

इति वचनात् सुधामन्त्रो वकार इति व्याख्यानात् वमित्युक्त-बीजमुच्चार्य्य,—

वेदानामपि वेद्याय देवानां देवतात्मने।

आचामं ते करोमीश शुद्धानां शुद्धिहेतवे॥

नम इति पूर्व्वकं प्रथमाचमनं मुखे दत्वा मुखप्रोञ्छनवस्त्रं प्रदर्श्य करपृष्टिं दद्यात्।

संयुक्तानामिकाङ्गुष्ठौ तिस्रोऽन्याः सम्प्रसारिताः।

मधुपर्के च सा मुद्रा—

इति मुद्रां तां दर्शयन्,—

सुधाणुना ततः कुर्य्यान्मधुपर्कं मुखाम्बुजे।

इति वचनाद् वमित्युच्चार्य्य,—

सर्व्वकालुष्यहीनाय परिपूर्णसुखात्मक।

मधुपर्कमिदं देव कल्पयामि प्रसीद मे॥

नम इति पूर्व्वकं मुखाभ्यासे दत्वा द्वितीयाचमनैकदेशं

उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वापि यस्य स्मरणमात्रतः।
शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनन्त्विदम्॥

इतिपूर्व्वकं पूर्व्ववदाचमनमुद्रया दत्वा प्रोञ्छनकरपृष्टौ दद्यात्। ततः स्नानमण्डपागतं देवं चिन्तयित्वा

———सन्त्यज्य च कनीयसीम्।
कृत्वा मुष्टिं ततः स्नाने———

इति स्नानमुद्रां दर्शयन्,—

परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्त्तये।
साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयामीश ते नमः॥

इति स्नानीयं सर्व्वाङ्गे दत्वाङ्गप्रोञ्छनादि चिन्तयेत्। आचमनीयन्तु पूर्व्ववत्। ततो वस्त्रद्वयम्।

असंस्कृतन्तु यद् द्रव्यं देवाय विनिवेदयेत्।
भवन्ति तस्य सिद्धौ तु असुराः फलभागिनः॥

इति वचनादस्त्रमन्त्रेण प्रोक्षण्युदकेन सम्प्रोक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्यामृतीकृत्य

ईक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम्।
तेनैव ताड़नं दर्भैर्व्वर्म्मणा रक्षणं स्मृतम्॥

इति। वा

प्रणवप्रोक्षणेनैव वस्तूनां शुद्धिरिष्यते।

इति वचनात्। एतावन्मात्रं वा कृत्वा

———मध्यमाङ्गुष्ठकौ युतौ॥
अन्याः प्रसारितास्तिस्रो मुद्रा वस्त्रस्य चोदिता।

इति मुद्रां दर्शयन्

मायाचित्रपटच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे ।
निरावरणविज्ञान वस्त्रं ते कल्पयाम्यहम् ॥

नम इति कटिप्रदेशे

यमाश्रित्य महामाया जगत्-सम्मोहिनी सदा ।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम् ॥

इति च स्कन्धे दद्यात् । आचमनीयं पूर्ब्ववत् । एवमलङ्करणं संस्कृत्य

माधुपर्की समुत्ताना मुद्रालङ्कारिकी स्मृता ॥

इति मुद्रां दर्शयन्

स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयाय ते ॥
भूषणानि विचित्राणि कल्पयाम्यमरार्चित ॥

इति यथास्थानं दद्यात् । तत्राचमनीयं दत्वा यज्ञोपवीतं पूर्ब्ववत् संस्कृत्य

कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ लग्नौ तिस्रो मध्याः प्रसारिताः ।
यज्ञोपवीतमुद्रेयमिति मुद्रां प्रदर्शयन् ॥
यस्य शक्तित्रयेणेदं सम्प्रोतमखिलं जगत् ।
यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये ॥

इति दत्वा पुनराचमनीयं दद्यात् । ततः,—

चन्दनागुरुकर्पूरं पङ्कं गन्धं तथोत्तमम् ।
उशीरं कुङ्कुमञ्चैव मांसं मलयजं तथा ॥

मुकुरञ्च ह्रीवेरञ्च कुष्ठं चागुरुमेव च।
गन्धस्यैतानि चाङ्गानि—

इत्यन्यैरुक्तैरेतानपि यथासम्भवं संस्कृत्य

मुक्तानिर्नामिका मुष्टिर्गन्धमुद्रेति सा स्मृता।

इति मुद्रां दर्शयन्

परमानन्दसौरभ्यपरिपूर्णं निरन्तरम्।
गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वर॥

इति हृदि दद्यात्। तत्र तुलसीद्वयपद्मद्वयजातीद्वयकेतकी-द्वय-करवीरद्वय-उत्पलद्वय-कल्हार-मल्लिका-कुन्द-मन्दारनन्दावर्त्त-पलाश-पाटली-पार्थपावन्त्यावर्त्त-चम्पकनागकेशराशोकविल्वकर्णि-कारसेवत्यादीनामन्येषामपि सुगन्धिसुरूपाणां यथासम्भवं पुष्पं संस्कृत्य,—

उत्थिताधोमुखी मध्या साङ्गुष्ठाश्चेतरेतरा:।
पुष्पमुद्रा तदा ख्याता सर्व्वसिद्धिप्रदायिनी॥

इति मुद्रां दर्शयन्,—

तुरीयवनसम्भूतं नानागुणमनोहरम्।
आनन्दसौरभं पुष्पं गृह्यतामिदमुत्तमम्॥

इति मूर्द्ध्नि दद्यात्। सम्भवे च माल्यं गले। ततो माहिषाख्यगुग्गुल्वगुरुसारसिताज्यमधुकचन्दनैर्ह्रीवेरकुन्दुरुविल्व-मुस्तैश्चान्यैरुक्तै: साराङ्गारनिक्षिप्तैः। अभावे

गुग्गुलुं घृतसंयुक्तमधमं धूपमुच्यते।

इति वा कृतधूपं घण्टाञ्चास्त्रमन्त्रेण प्रोक्षणोदकेन प्रोक्ष्य

धूपं हृदयमन्त्रेण प्रयुज्य कवचेनावगुण्ठ्य धेनुमुद्रां प्रदर्श्य घण्टा-मन्त्रेण संयुज्य

अङ्गुष्ठं तर्जनीलग्नं तिस्रः सङ्कुचिताः पराः ।
मुद्रा धूपप्रदाने स्यात् देवानां तुष्टिकारिणी ॥

इति मुद्रां दर्शयन् धूपान्तं समादाय घण्टां वामकरार्पितां वादयन्

वनस्पतिरसोपेतो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्व्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

इत्यनुघ्राणं दद्यात् । आचमनं मुखवासः करघृष्टिश्च दद्यात् । ततः,—

सकर्पूरदशो दीपः फलं दद्यात् शताधिकम् ।

इति कर्पूरगर्भया वर्त्त्या

दीपार्थं गोघृतं मुख्यं मध्यमे तिलमाहिषे ।

इत्यभ्यक्तया दीपं धूपवत् संस्कृत्य घण्टां वादयन्

उत्ताना धीपिकी मुद्रा दीपमुद्रा प्रकीर्त्तिता ।

इति मुद्रां दर्शयन्

सुप्रकाशो महादीपः सर्व्वतस्तिमिरापहः ।
सवाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

नम इति नेत्रादिसहस्रारपद्मपर्य्यन्तं दत्वाचमनादि दद्यात् । तत्र,—

श्रेष्ठा युगाङ्गुलज्वाला मध्यमा त्रिगुणाङ्गुला ।
अधमा द्व्यङ्गुला ज्वाला एवं दीपः प्रकीर्त्तितः ॥

पारावतभ्रमाकारं दीपं नेत्रे प्रदर्शयेत् ।
न दग्धशेषवर्त्त्यात्र पुनर्दीपं प्रदर्शयेत् ॥

ततः,—

सौवर्णं राजतं कांस्यं येन दीयेत पायसः ।
तान् सर्व्वान् सम्परित्यज्य ताम्रन्तु मम रोचते ॥

इति भगवद्वचनात् ताम्रपात्रनिहितं साज्यं प्रस्थचतुष्टया-दन्यूनं, असम्भवे,—

पुरुषाहारमात्रन्तु नैवेद्यमुत्तमं स्मृतम् ।
तदर्द्धं मध्यमं प्रोक्तं तदर्द्धन्तु कनीयसम् ॥
अभावे ग्रासमात्रन्तु नैवेद्यं व्यञ्जनान्वितम् ।

शुक्लान्नं पायसं सितोपदंशं कदलीदध्याज्यैर्युक्तमभक्ष्यालाबुशोभाञ्जनान्यजामहिषीक्षीरपञ्चनखमत्स्यवराहमांसानि च वर्जयेत् ।

माहिषं वर्ज्जयेन्मह्यं क्षीरं दधि घृतं तथा ।

इति वचनात् माहिषदधिघृताभ्याञ्च रहितं

मार्गं मांसं तथा छागं शासं वापि मम प्रियम् ।

इति वचनात् एतन्मांसयुक्तमपि ।

संक्षेपेण च नैवेद्यं चतुरङ्गमिहोच्यते ।
भक्ष्यं भोज्यं तथा पेयं लेह्यञ्च विविधात्मकम् ॥

इत्येवं विविधं नैवेद्यं देवाग्रे चतुरस्रमण्डले स्थापितमर्घ्याम्बु-पुष्पसंयुक्तम्,—

अस्त्रोक्षितं तदरिमुद्रिकयाभिरक्ष्य
वायव्यतोयपरिशोषितमग्निदोष्णा ।

संदृश्य वामकरसौधरसाभिपूर्णं
मन्त्रामृतीकृतमथाभिमृषन् प्रजप्यात् ॥
मनुमष्टशः सुरभिमुद्रिकया परिपूर्णमर्चयतु गन्धमुखैः।
हरिमर्थयेदथ कृतप्रसवाञ्जलिरास्यतोऽस्य विसरच्च महः ॥
वीतिहोत्रदयितान्तमुच्चरन्
मूलमन्त्रमथ निक्षिपेज्जलम्।

अस्त्रेति अस्त्रमन्त्रेण संप्रोक्षितम्। अरिमुद्रिका चक्रमुद्रा। वायव्येति वायु-ऋषभाविति तोयेन। अग्नीति अग्निरूपकभावित-दक्षिणदोष्णा। सुरभिमुद्रा धेनुमुद्रा। प्रसवाञ्जलिः पुष्पाञ्जलिः। अस्य देवस्य विसरत् महस्तेजः प्रसरणं चिन्तयेत्।

[1]सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम्।
निवेदयामि देवेश सानुरागाद् गृहाण तत् ॥

इत्युक्त्वा

समस्तदेवदेवेश सर्व्वतृप्तिकरं परम्।
अखण्डानन्दसम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् ॥

इति गन्धजलं पानार्थं दद्यात्। ततः स्वाहान्तं मूलमन्त्रञ्च चतुर्थीनमोऽन्तं देवनाम चोच्चार्य्य नैवेद्यं नारायणाय कल्पयामीति देवतीर्थेन जलं प्रक्षिप्य

पञ्चाङ्गुल्यग्रसंलग्ना प्रोत्थितोर्द्ध्वमुखी यदि।
त्रिधा निबद्धा मुद्रेयं नैवेद्यस्य च कीर्त्तिता ॥

(१) सत्पात्रवद्धविःसौख्यं ०।

इति मुद्रायुक्तेन सुपुष्पाग्रेण हस्तद्वयेन। ॐ

निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे।

त्रिर्निवेद्य,—

ग्रासमुद्रां वामदोष्णा विकचोत्पलसन्निभाम्।

सन्दर्शयन् दक्षिणेन प्राणादीनाञ्च दर्शयेत्॥

तद्यथा,—

स्पृशेत् कनिष्ठोपकनिष्ठिके द्वे

स्वाङ्गुष्ठमूर्द्ध्ना [1]प्रथमा च मुद्रा।

तथापरा तर्जनिमध्यमाभ्या-[2]

मनामिकामध्यमिके च मध्या॥

अनामिकातर्ज्जनिमध्यमाभि-[3]

स्तद्वच्चतुर्थी सकनिष्ठिका स्यात्।

स्यात् पञ्चमी तद्वदिति प्रतिष्ठा

प्राणादिमुद्रा निजमन्त्रयुक्ताः॥

प्राणापानव्यानोदानसमानाः क्रमाच्चतुर्थीयुक्ताः।

ताराधारावह्निजायाः कृष्णाध्वनस्तत्र ते मनवः॥

ततो निवेद्य मुद्रिकां प्रधानया करद्वये।

स्पृशन्ननामिकां निजं मनुं जपन् प्रदर्शयेत्॥

ठौं नमः पराय अवात्मने। सर्व्वात्मने अनिरुद्धाय निवेद्यं कल्पयामि।

---

(१) ० प्रथमेह ०।

(२) ० मध्यमे स्यात्।

(३) ० मध्यमाः स्यात्

नन्दजोऽम्बु-मनुविन्दु-युङ्नतिः
पार्श्वरामरुदवात्मनेऽनि च ।
रुद्धङे युतनिवेद्यमात्मभू-
मांसपार्श्वमनिलस्तथामि युक् ॥

नन्दजष्ठकारः । अम्बुमनुरौकारः । विन्दुरनुस्वारः । नतिर्नमस्कारः । पार्श्वं पकारः । रा स्वरूपनिर्द्देशः । मरुद् यकारः । अवात्मने इति स्वरूपनिर्द्देशः । तथाऽनि च रुद्धेति च पदं ङे युतं चतुर्थीयुक्तमनिरुद्धायेत्यर्थः । निवेद्यमिति स्वरूपनिर्द्देशः । आत्मभूः ककारः । मांसो लकारः । पार्श्वं पकारः । अनिलो यकारः । अमि स्वरूपम् । एवञ्च ठौँ नमः परायावात्मने अनिरुद्धाय निवेद्यं कल्पयामि इति सिद्धम् । ततो

गण्डूषदन्तपवनाचमनास्यहस्त-
मृज्यानुलेपमुखवासकमाल्यभूषाः ।
ताम्बूलमप्यभिसमर्प्य सवाद्यनृत्य-
गीतैः सुतृप्तमभिपूजयतात् पुरेव ॥
गन्धादिभिः सपरिवारमथार्घ्यमस्मै
दत्वा विधाय कुसुमाञ्जलिमादरेण ।
स्तुत्वा प्रणम्य शिरसा चुलुकोदकेन
स्वात्मानमर्पयतु तच्चरणाब्जमूले ॥

तत्र,—

ताम्बूलञ्च सकर्पूरं सपूगं नरनायक ।
कृष्णाय यच्छति प्रीत्या तस्य तुष्येद्धरिः सदा ॥

पूगीफलेन चूर्णेन खदिरेणापि पार्थिव ।
संयोगं कारयित्वा तु ताम्बूलं दीयते तथा ॥

इत्यादिवाक्यविहितताम्बूलं संस्कृत्य दद्यात्। एतच्चात्र नैवेद्योपचारस्याङ्गम् ।

द्वौ करौ पृष्ठसंलग्नौ भ्रमणाद् ग्रथिताङ्गुलि ।
कोटिका तु समाख्याता प्रणामे तां प्रयोजयेत् ॥

इति मुद्रां प्रदर्शयन् ओं नारायणाय नमस्करोमीति वदन्

दोर्भ्यां पद्भ्याञ्च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा ।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥

इति प्रणामं कुर्य्यात्। अत्र मनसा चिन्तनं वचसा देवनामयुक्तनमःशब्दोच्चारणमेवाङ्गत्वेनोच्यते दृशापीक्षणमेवाङ्गत्वेनोच्यते नतु भूमौ योजनम्। तदुक्तमन्यत्र,—

वचसा मनसा दृष्ट्या जानुभ्यां हिकरेण तु ।
अष्टशः शिरसः पातो भक्त्या चाष्टाङ्गिकी नतिः ॥

इति ।

बाहुभ्यां सह जानुभ्यां शिरसा वचसा धिया ।
पञ्चाङ्गकः प्रणामः स्यात् पूजासु प्रवराविमौ ॥

अत्र दृक्व्यापाराभावः। प्रह्वीभूय जानुशिरःपातनेन च वक्षःपतनाभावः। पादपातस्यानियम इति विशेषः।

अन्यत्र तु,—

हस्तौ जानुशिरश्चैव पातयेद् भक्तितत्परः ।
नमस्कारस्तु पञ्चाङ्गो देवानाञ्च गुरोरपि ॥

इत्युक्तम् ।

कृत्वाञ्जलिं कराभ्यान्तु संश्लिष्टानामिकाद्वयम् ।
प्रसारयेत्ततः शेषान् मुद्रेयं द्रव्यपूरणा ॥
द्रव्याभावे प्रयोक्तव्या हीनकर्म्मप्रपूरणा ।

एतत् षोड़शोपचारेषु केचिदासनस्वागताचमनानीत्युक्त्वा नैवेद्यानन्तरं ताम्बूलं प्रक्षिप्य चतुर्द्दशोपचारानाहुः । तत्र,—

क्रमुकादित्रयं गन्धकर्पूरमेलकां तथा ।
लवङ्गञ्चैव कक्कोलं नारिकेलं सुपक्वकम् ॥
मातुलङ्गं तथा पक्वं ताम्बूलाङ्गान्यमूनि वै ।

इति नवाङ्गं ताम्बूलं प्रधानतया दद्यात् । वस्त्रालङ्काराद्यसम्भवे अर्घ्यपाद्याचमनमधुपर्काचमनान्यपि ।

पाद्यादयो निवेद्यान्ता उपचारा दश क्रमात् ।

इत्येतानेव दद्यात् । एतस्याप्यसम्भवे गन्धादयो निवेद्यान्ताः पञ्चोपचारा देयाः । अथवैतत्कल्पे दशोपचाराद्यनभिधानात् ।

एवमष्टाक्षरेणैव सर्व्वत्रार्चनकर्म्मणि ।
उपचारानिमान् कुर्य्यात् भक्तियुक्तेन चेतसा ॥
गन्धैः पुष्पैः फलैर्मूलैः पत्रैर्वारिभिरेव वा ।
नित्यं भगवतः पूजां यथासम्भवमाचरेत् ॥

इत्युक्तत्वान्मुख्यासम्भवे प्रतिनिधिरूपेण पुष्पादिनापि षोड़शोपचाराः कर्त्तव्याः । एवम्,—

सितोपदंशकदलीदध्याज्यैश्च निवेदयेत् ।

इति । मुख्यमूर्त्तिपूजां समाप्यैव हृदयं सशिर इत्याद्युक्तत्वात् पश्चादेवावरणपूजा कार्य्या ।

अभ्यर्च्च्य देवं गन्धाद्यैरङ्गादीन् पुनरर्चयेत् ।

इत्येवमेव शारदातिलकादावप्युक्तम् । अन्यथा,—

आवाह्य देवतामन्यामर्चयंस्त्वन्यदेवताः ।

उभाभ्यां लभते शापं———

इति दोषः स्यात् । यत्तु पुष्पदानानन्तरमावरणपूजा समाचारस्तत्र मूलादर्शनात् धूपानयनप्रतीक्षया धूपादीनां युगपद्दानसौकर्य्यार्थं वाऽसौ प्रवृत्त इति प्रतिभाति । सा चैवं कार्य्या,—केशरेष्वाग्नेयकोणादिषु ओं ऋद्धोल्काय स्वाहा हृदयाय नम इत्यादिभिश्चतुर्भिः पूजयित्वा ओं सहस्रोल्काय स्वाहा अस्त्राय फडिति चतुर्दिक्षु पूजयेत् । षडङ्गमन्त्रार्चने नेत्रमर्चयेत् । ततो मूलमन्त्रोच्चारणपूर्व्वकालोङ्कारादीनष्टौ मन्त्रवर्णान् केशरेष्वेवाष्टदिक्षु पूजयेत् । दर्भमूलेषु पूर्व्वादिदिक्षु वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धान् आग्नेयादिकोणेषु शान्तिश्रीसरस्वतीरतीश्च पूजयेत् । ततः शङ्खचक्रगदाम्बुजकौस्तुभमुषलखड्गवनमालादलाग्रेषु पूर्व्वादिक्रमेणैव पूजयेत् । ततस्तद्बाह्ये पूर्व्वादिदिक्षु ध्वजवैनतेयशङ्खनिधिपद्मनिधीन् आग्नेयादिकोणेषु विघ्नाध्यक्षदुर्गाविश्वक्सेनान् पूजयेत् । ततस्तद्बहिः पूर्व्वाद्यष्टदिक्षु नैर्ऋत्यवारुणमध्ये ऐशानेन्द्रमध्ये च । इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुकुवेरेशानन्तब्रह्मणः पूजयेत् । अत्र कुवेरस्य स्थाने सोमस्य विकल्पः समुच्चयो

वा। नन्वष्टाक्षराङ्गैरष्टार्णयुतैरित्यनेनैवावृत्तिरुक्ता अन्यथा षड़ावरणत्वापत्त्या

इति विष्णोर्विधानन्तु पञ्चावरणमुत्तमम्।

इत्युक्तपञ्चावरणत्वानुपपत्तेः। सत्यमेतत् केवलमुक्तरीत्यैव केशरैकस्थानत्वादेकैकावरणत्वम्। नत्वङ्गैरित्यस्य विशेष्यत्वमितरयोरेतद्विशेषणत्वं कल्पयित्वा,—

अङ्गानभर्च्य मन्त्रांस्तान् केशरेषु समर्चयेत्।

इति शारदातिलकेऽभिधानात् प्राचीनपद्धतिसमाचाराच्च। ततो युतैरन्वितैश्च मन्त्रैरिति विमुद्रिता मम मुद्रया,—

यतो हि नीयते सा तत् क्षेत्रं द्वादशयोजनम्।

यश्च सम्पूजयेच्चक्रं स मुक्तो नात्र संशयः॥

चक्राङ्कितस्य सान्निध्ये यत्किञ्चित् क्रियते नृभिः।

स्नानं दानं तपो होमस्तत्सर्व्वमक्षयं भवेत्॥

ज्वरदाहो विषञ्चैव अग्निचौरभयं तथा।

सर्व्वे ते प्रशमं यान्ति यत्र चक्राङ्कितो वसेत्॥

भूतप्रेतपिशाचाश्च डाकिन्यश्च वसुन्धरे।

सर्व्वे ते प्रशमं यान्ति यत्र चक्राङ्कितो वसेत्॥

तत्र सुदर्शनलक्ष्मीनारायण-अच्युतजनार्द्दनवासुदेवप्रद्युम्नसङ्कर्षणपुरुषोत्तम--नवव्यूहदशावतार---अनिरुद्धद्वादशात्मकादिद्वादशपर्य्यन्तं चक्रैः। अतः परमनन्त इति तन्नामानि।

त्रिकोणाभीक्षणा चैव भग्नचक्रात्वचक्रिका।

अर्द्धचक्राकृति र्या तु पूजार्हा न भवन्ति ताः॥

इति ।

कृष्णो मृत्युप्रदो नित्यं कपिलस्तु भयप्रदः ।
धूम्राभः पुत्रनाशाय भग्नः कार्य्यविनाशकः ॥
छिद्री दुःखप्रदो नित्यं शुक्लस्तु मुक्तिदस्तथा ।
सिता शिवकरी मूर्त्तिः कृष्णा कीर्त्तिं ददाति च ॥
पाण्डरा पापदहनी सिता पुत्रफलप्रदा ।
नीला प्रयच्छते लक्ष्मीं रक्ता रोगप्रदायिका ॥
रूक्षोद्वेगकरी ज्ञेया वक्रा दारिद्र्यदायिका ।
अर्थसिद्धिकरी श्यामा कपिला पापनाशिनी ॥

इति ।

कृत्वा ताम्रमये पात्रे योऽर्चयेन्मधुसूदनम् ।
फलमाप्नोति पूजायाः प्रत्यहं [1]दशवार्षिकम् ॥
योऽर्चयेन्माधवं भक्त्या अश्वत्थदलसंस्थितम् ।
प्रत्यहं लभते पुण्यं पद्मायुतसमुद्भवम् ॥
रम्भादलोपरि हरिं कृत्वा योऽभ्यर्चयेन्नरः ।
वर्षायुतं भवेत् प्रीतः [2]श्रीपतिः प्रियया सह ॥
ये पश्यन्ति सकृद्भक्त्या पद्मपत्रोपरिस्थितम् ।
भक्त्या पद्मालयाकान्तं तेराप्तं दुर्लभं [3]पदम् ॥

अत्र शय्याधःस्थितखट्वायामेवाश्वत्थपत्राद्याहृतेऽपि ताम्रपात्राद्याधारबुद्धिसम्भवादेकदा सर्व्वोपादानमप्युपपद्यते । केवलम्,—

---

(१) ० शतवार्षिकम् । (३) ० फलम् ।
(२) ० केशवः प्रियया सह ।

तान्त्रे पद्मविहीने वा सपद्मे पूजयेत् सदा ।
न पटो दीयते तत्र ताम्रादौ च कदाचन ॥

इति वचनात् वस्त्राच्छादनं न कार्य्यम् । अन्यत्र पुनः,—

पद्मकुम्भादि संलिख्य काष्ठे यस्तु प्रपूजयेत् ।
ब्रह्महत्याकृतं पापं तेन चैव कृतं भवेत् ॥
ततो वस्त्रेण संच्छाद्य पूजयेद्भूमिकाष्ठयोः ।

इति वचनात् वस्त्राच्छादनमावश्यकम् । विष्णुपूजा च वैष्णवेन मया भक्त्या प्रकर्त्तव्यं प्रत्यहं पूजनं तवेति प्रतिज्ञातत्वात् सूतिमृत्वशौचमध्येऽपि कर्त्तव्यैव । तथाहि सामान्यतस्तावत्,—

जनने मरणे चैव त्रिष्वशौचं न विद्यते ।
यज्ञे विवाहकाले च देवयागे तथैव च ॥

इति देवपूजामात्रे अशौचापनोदोऽस्ति । नचैतदारब्धपरं सर्व्वसङ्कल्पितेऽर्थे च तस्मिन्नाशौचमुच्यत इति सामान्येनाशौचापवादसिद्धे विशेषवचनस्यानारब्धपरत्वेनैवोपपत्तेः । अस्तु वारब्धपरमेव तत् विष्णुपूजनमपि वैष्णवैर्यावज्जीवमनुष्ठानप्रतिज्ञयाचारब्धमेव । नचैतत्,—"वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" इतिवत् प्रत्यहनिमित्ततया प्रतिदिनाभ्यसनीयतामात्रपरम् । पूजाविधिवाक्यत्वेऽपि हि तथा स्यात् । नचैतद् विधिवाक्यं किन्त्वनुष्ठातृप्रतिज्ञावाक्यम् । तेन यावज्जीवानुष्ठानसङ्कल्पपूर्व्वक प्रत्यहपूजनपरमेवोपपद्यते । स्फुटञ्चैव नारसिंहेऽभिहितम्,—

तस्मादेकमना भूत्वा यावज्जीवप्रतिज्ञया।
अर्चनान्नरसिंहस्य सम्प्राप्नोत्यभिवाञ्छितम्॥

इति। नह्यत्र जीवननिमित्ततापरत्वमङ्कापि सम्भवति यावज्जीवानुष्ठानप्रतिज्ञाविधिपरत्वस्य स्फुटत्वात्। तेन सायं प्रातरभ्यस्ताग्निहोत्रवत् प्रतिदिनाभ्यासविशिष्टं तादृगतिशयितभगवत्प्रीतिरूपैकफलमेकं कर्म्म। न हि पृथगारम्भापवर्गिणां भिन्नकर्म्मणामेकसङ्कल्पगोचरत्वं सम्भवतीत्यारब्धमेवेदम्। किञ्च,—"नार्चयित्वा तु यो भुङ्क्ते" इत्यादिवाक्यैरकृतविष्ण्वर्चनस्य भोजननिषेधादपि अशौचमध्ये भोजनात् प्राक् विष्ण्वर्चनं प्राप्तम्। एवं शिवचण्डिकाब्रह्मणाञ्च।

सूतकान्मृतकात् पूर्व्वं धर्म्मार्थं यत् प्रकल्पितम्।
द्रव्यं तेन यजेद्धोमान् तदेवोत्पादितैरपि॥

लिङ्गपुराणवचनाच्चाशौचिनापि कार्य्यमेव विष्णुपूजनम्। तत्र कृतसङ्कल्पेनोक्तविधिना कार्य्यमन्येन वा पुनः।

अथ सूतिकिनः पूजां वदाम्यागमचोदिताम्।
वाह्यक्रियाक्रमेणैव ध्यानयोगेन पूजयेत्॥
पुष्पाञ्जलित्रयेणैव निजयागं समाचरेत्।
अष्टपुष्पविधानेन पूजां वापि प्रकल्पयेत्॥

इति कार्य्यम्।

नित्यं नामसहस्रन्तु पठनीयं तव प्रियम्।

इति वैष्णवप्रतिश्रुतेः सहस्रनाम विष्णोरशौचिनापि पठनीयमिति।

## अथ शिवपूजा ।

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्त्तनम् ।
नत्वसम्पूज्य भुञ्जीत भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥

त्रिलोचनमिति वचनात् सा अवश्यं कार्य्या । तथाच,—

यस्तु पूजयते नित्यं शिवं त्रिभुवनेश्वरम् ।
स स्वर्गराज्यमोक्षाणां क्षिप्रं भवति भाजनम् ॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
महेशार्चनपुण्यस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥
छित्त्वा भित्त्वा च सर्व्वाणि हत्वा सर्व्वमिदं जगत् ।
यजेद्देवं विरूपाक्षं न स पापेन लिप्यते ॥
शिवार्चनरतो नित्यं महापातकसम्भवैः ।
दोषैः सर्व्वैर्न लिप्येत पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
मेरुमन्दरतुल्योऽपि राशिः पापस्य कर्म्मणः ।
शिवस्यार्चनतः क्षिप्रं विलयं याति नित्यशः ॥
यः शिवं पूजयेद्देवं लिङ्गे च स्थण्डिलेऽपि वा ।
स याति शिवसायुज्यं वर्षमात्रेण कर्म्मणा ॥
सर्व्वस्य दग्धसंसारग्रन्थेरत्यन्तदुर्भिदः ।
परं यन्मूलविच्छेदि क्रियतां तद्भवार्चनम् ॥
यश्च ज्ञानं तथा मोक्षमन्विच्छेत् सोऽर्चयेद्धरम् ।
पूजयेद् यः शिवं रुद्रं शिवं शिवमयं सकृत् ॥
स याति शिवसायुज्यं त्रिःसप्तकुलसंयुतम् ।

इत्यादिफलानि । तत्र,—

योऽर्च्चायामर्च्चयेन्मां हि पूर्णं वर्षशतं नरः ।
एकं वा दिवसं लिङ्गे सममेतन्न संशयः ॥
नहि लिङ्गार्च्चनात् किञ्चित् पुण्यमभ्यधिकं क्वचित् ।
इति विज्ञाय यत्नेन पूजनीयः सदाशिवः ॥
लिङ्गे तु पूजिते सर्व्वमर्च्चितं स्याच्चराचरम् ।
तस्मात्सदार्च्चनं कार्य्यं लिङ्गस्य सुमहात्मभिः ॥
सर्व्वेन्द्रियप्रसक्तो वा युक्तो वा सर्व्वपातकैः ।
स प्रयाति शिवं देवि लिङ्गं योऽर्च्चयतीह मे ॥
गङ्गास्नानं नरः कृत्वा लिङ्गं यो नित्यमर्च्चति ।
एकेन तन्मना मुक्तिं परामाप्नोति स ध्रुवम् ॥
अनेकजन्मसाहस्रं भ्राम्यमाणश्च योनिषु ।
कः समाप्नोति वै मुक्तिं लिङ्गार्च्चनमृते वद ॥
धर्म्मार्थकाममोक्षाणां लिङ्गं हेतुरुदाहृतम् ।

इत्यादिवचनाल्लिङ्गं यत्नेनादेयम् ।

---

## लिङ्गलक्षणञ्च ।

बाणेन स्थापितं लिङ्गं बाणलिङ्गमुदाहृतम् ।
लिङ्गाद्रौ च वरारोहे सञ्जितास्तु त्रिकोटयः ॥

कालिञ्जरागर्त्ते तिस्रः । श्रीशैले तिस्रः । कनकाश्रमे एका । अमरेश्वरे एका । माहेन्द्रे एका । नेपाले एका । एवं चतुर्द्दश-कोटयो बाणलिङ्गानि । यत्तु,—

नर्म्मदादेविकानद्यां गङ्गायमुनयोस्तथा ।
सन्ति पुण्यनदीनाञ्च बाणलिङ्गानि षण्मुख ॥

इति । तत्र बाणलिङ्गानीति बाणलिङ्गसमानानीत्यर्थः ।

पक्वजम्बूफलाकारं सर्व्वलक्षणसंयुतम् ।
सर्व्वशक्तिसमायुक्तं पिण्डवर्णसमप्रभम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं तच्च बाणलिङ्गमुदाहृतम् ॥
त्रिपञ्चवारं यस्यैव तुलासाम्यं न जायते ।
तदा बाणं समाख्यातं शेषं पाषाणसम्भवम् ॥
नद्यां वा प्रक्षिपेद्भूयो यदा तदुपलभ्यते ।
तदा बाणं विजानीयाच्छेषं पाषाणसम्भवम् ॥
शुक्लं रक्तं मणिनिभं प्रवालसन्निभं तथा ।
पक्वजम्बूफलाकारं पुलकैश्च विनिर्म्मितम् ॥
कुक्कुट्यण्डे सुखावाप्तिः शुभदं ककुदाकृति ।
छत्राकारे भवेद्राज्यं वृत्ते सर्व्वफलोदयः ॥
बाणलिङ्गानि राजेन्द्र ख्यातानि भुवनत्रये ।
न प्रतिष्ठा न संस्कारस्तेषां नावाहनं तथा ॥
एवमेव प्रपूज्यानि शिवरूपाणि भारत ।

तथा,—

बाणलिङ्गं पुरा सिद्धैर्मुनिभिः सम्प्रतिष्ठितम् ।
न तत्र मन्त्रसंस्कारं कुर्य्यादावाहनादिकम् ॥
न च प्रासादनियमः पिण्डिकानियमो न च ।
पुष्पपीठमपीठं वा बाणलिङ्गन्तु पूजयेत् ॥

एतेन प्रतिष्ठाहीनं न पूज्येतेति बाणलिङ्गेतरविषयम् ।

यदा यदा पुनर्लिङ्गे नमस्तुष्टे च पूजयेत् ।
सर्व्वसिद्धस्तु तत्रैव श्रद्धाविमलमानसः ॥
विकल्पस्तु यदा चित्ते तदा दोषो भवेद्ध्रुवम्
शूलाग्रं कपिलं श्वेतं वियोनिं क्षतरेखकम् ।
नार्च्चितव्यन्तु गृहिणा यत्र श्रद्धा न विद्यते ॥
कर्कशं बाणलिङ्गञ्च पुत्रदारधनक्षयम् ।
चिपिटे पूजिते चैव गृहभङ्गो भवेद्ध्रुवम् ॥
छिद्रलिङ्गे त्वर्च्चिते वै विदेशगमनं भवेत् ।
कर्कशं कपिलञ्चैव गृही नैवार्च्चयेत् क्वचित् ॥
कर्कशं शोकसन्तापं चर्पटं दुःखदायकम् ।
शूलाग्रे तु भवेन्मृत्युः कपिलं मोक्षदायकम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदं बाणं स्फाटिकं सर्व्वदेष्यते ॥
त्यजेत्तुषारसङ्काशैर्विन्दुभिः परिवारितम् ।
शुक्लं रक्तं तथा पीतं मेचकाभं क्रमेण तु ॥
इन्द्राग्निवायुसूर्य्योत्थं चतुर्द्धा स्फटिकं विदुः ॥

तथा,

यशसे कुलसम्भूत्यै तेजसे सूर्य्यकान्तकम् ।
चन्द्रप्रियं मृत्युजिते स्फाटिकं सर्व्वकामदम् ॥
मुद्गादङ्गुलपर्य्यन्तं शास्त्रज्ञैः सुपरीक्षितम् ।
महारत्नं महामूल्यं गुणान्वितं यजेत् सदा ॥
सूर्य्यकान्तेन्दुवैदुर्य्यपद्मरागेन्द्रनीलकम् ।
सतेजो मृत्युजित् शत्रुनाशलक्ष्मीयशस्करम् ॥
अन्योन्यघृष्टपाषाणं लिङ्गाकारं मनोहरम् ।
नदीप्रस्रवणोत्थञ्च पूजयेद् बाणलिङ्गवत्

तथा,—

महानदीसमुद्भूतं सिद्धक्षेत्रादिसम्भवम् ।
पाषाणं पयसा भक्त्या लिङ्गवत्पूजयेत्सदा ॥
नर्म्मदागिरिजं श्रेष्ठमन्यद्वापि हि लिङ्गवत् ।
कृत्वा पूजय विप्रेन्द्र लप्स्यसे चेप्सितं फलम् ।
मुद्गामलकमात्रन्तु लिङ्गं कृत्वाभिपूज्य च ।
हिरण्मयं रत्नमयं शिवलोके महीयते ॥
मृद्भस्मगोशकृत्पिष्टवालुकाकांस्यताम्रकैः ।
कृत्वा लिङ्गं सकृत्पूज्य वसेत्कल्पायुतं दिवि ॥
शक्तिहीना न पूज्यन्ते लिङ्गहीना च पिण्डिका ।
चतुरस्राथवा वृत्ताचललिङ्गस्य पिण्डिका ॥
लिङ्गाग्रभागत्रिगुणा विस्तीर्णा द्विगुणोच्छ्रिता ।
लिङ्गतुल्यप्रणाला स्याद् दैर्घ्याद् विस्तारतोऽपि च

समं मूलेऽस्य विस्तारमग्रे तस्मात्तदर्द्धतः ।
निम्नमुत्तरतः कुर्य्यात् प्रणालं सर्व्वदा गुरुः ॥
लिङ्गज्यैष्ठं हरेदायुः शक्तिज्यैष्ठे रिपुर्भवेत् ।
रत्नजस्योक्तलिङ्गस्य पिण्डिका धातवी स्मृता ॥
शैली तु शैलजस्येष्टा रत्नजस्य तु नेष्यते ।
पञ्चधा भाजितं लिङ्गं तत् त्रिधा वा विभाजितम् ॥
भागद्वयमथैकं वा खभ्रे तस्य निवेशयेत् ।

पिण्डिकां गौरीमन्त्रेण संस्थाप्य स्नापयेल्लिङ्गवत् तां जात वेदसमित्यादि मन्त्रेण गन्धतोयेन। "आरात् त्रि"रिति शुद्धतोयेन। "हो इहो" इति साम्ना गन्धपुष्पादिनार्च्चयेत्। जातवेदोमन्त्रेण सर्व्वं कृत्वा श्रीसूक्तेन स्तूयात्। "नमस्तुभ्यं" इति मन्त्रेण पिण्डिकां योजयेत् ततः।

नमो ज्येष्ठेति सान्निध्यं नमः सोभ्येति रोधनम् ।
नमः कपर्द्दिनेत्येवं स्थाप्य सम्पूजयेत् शिवम् ॥
नमो वन्देति चार्च्चयेद् गन्धपुष्पादिना शिवम् ।
यः कृत्वा पार्थिवं लिङ्गमर्च्चयेत् शुभ्रवेदिकम् ।
इहैव धनवान् श्रीमान् सोऽन्ते रुद्रो हि जायते ॥
प्रतिविम्बाहृतं पूज्यं तावत्कालञ्च पार्थिवम् ।
न तत्र कश्चित् संस्कारः केवलं तत्वयोजनम् ॥
पूजनान्ते विसर्गश्च पुनर्नेष्टं तदर्चनम् ।

• तत्र सद्योजाताय नम इति त्र्यङ्गुलं लिङ्गं कृत्वा भूतशुद्ध्यादि अर्घ्यसंस्कारान्तं कृत्वा अर्घ्योदकेन लिङ्गमभ्युक्ष्य आं आत्मतत्वा-

त्मने नमः, आत्मतत्वाधिपाय ब्रह्मणे नमः। हुं विद्यातत्वाय नमः, विद्यातत्वाधिपाय विष्णवे नमः। ह्रौं शिवतत्वाय नमः, शिवतत्वाधिपाय रुद्राय नम इति त्रिभिर्मन्त्रैः कुशत्रयमूलमध्याग्रैलिङ्गमूलमध्याग्राणि त्रिः स्पृष्ट्वा

इन्द्रियै यैः परित्यक्तो वेदैश्च परिवर्जितः।
वेदान्तैश्च परित्यक्तयस्तस्मै ब्रह्मात्मने नमः॥

इति पुष्पाञ्जलिं दत्वा यथाविधि पूजयेत्।

त्रिसन्ध्यं पूजयेल्लिङ्गं कृत्वा बिम्बेन पार्थिवम्।
दशैकादशकं यावत् तस्य पुण्यफलं शृणु॥
अनेनैव स देहेन रुद्रः सन् तिष्ठते क्षितौ।
पापहा सर्व्वमर्त्यानां दर्शनात् स्पर्शनादपि॥
गङ्गातीरसमुद्भूतमृदा लिङ्गानि भक्तितः।
सलक्षणानि यः कृत्वा प्रतिष्ठाप्य दिने दिने॥
मन्त्रैस्तु पत्रपुष्पाद्यैः सम्पूज्यापि स्वशक्तितः।
गङ्गायां निक्षिपेद् यस्तु तस्य पुण्यं ततोऽधिकम्॥
पांशुना क्रीड़मानोऽपि लिङ्गं कुर्य्यात्तु यो नरः।
पुण्यात्मा लभते राज्यमसपत्नमकण्टकम्॥
न प्राच्यामग्रतः शम्भोर्नोत्तरे योषिदाश्रये।
न प्रतीच्यां यतः पृष्ठं तस्माद्दक्षे स्थितोऽर्चयेत्॥

तत्पूजायां यजुर्विधानोक्तविधिर्लिख्यते मुख्यत्वात्।

रुद्रार्चनं प्रवक्ष्यामि वैदिकञ्च यथाविधि।
यत्कृत्वा मुनयः सर्व्वे स्थानं गच्छन्ति शाश्वतम्।

हृदयेऽग्नौ तथा वारि प्रतिमासूर्य्यमण्डले।
स्थण्डिले वाथवा लिङ्गे पूजनं सप्तसु श्रुतम्॥
नमस्त इति गायत्री तिस्रोऽनुष्टुभ एव च।
तिस्रस्तु पंक्तयो विन्द्यात् सप्तानुष्टुभ एव च॥
द्वे जगत्यौ ततश्चान्ते बृहती वार्त्तिके ततः।
जगत्यन्ते ततोऽनुष्टुप् त्रिष्टुभौ च ततः परम्॥
शेषा अनुष्टुभः ख्याता जपकाले नियोजिताः।
रुद्रो देवो ऋषिश्चात्र अघोर इति कीर्त्तितः॥
प्रथमां मूर्द्धि विन्यस्य द्वितीयां कर्णयोर्न्यसेत्।
तृतीयां नेत्रमध्ये च चतुर्थीं नासिकाद्वये॥
पञ्चमीं मुखमध्ये तु षष्ठीं चिबुकमध्यतः।
सप्तमीं कण्ठमध्ये तु हृदिमध्ये तथाष्टमीम्॥
नवमीं वामहस्ते तु दशमीं दक्षिणे न्यसेत्।
एकादशीं नाभिमध्ये द्वादशीं कटिमध्यतः॥
त्रयोदशीं जानुदेशे दक्षिणे च चतुर्दशीम्।
अपरां वामपादे तु षोड़शीं दक्षिणे न्यसेत्॥
एवं न्यासविधिं कृत्वा ततः पूजां समाचरेत्॥
आद्यया तु नमस्कृत्य गायत्रा परमेश्वरम्।
द्वितीययासनं दद्यात् पाद्यं दद्यात् तृतीयया॥
चतुर्थ्यार्घ्यं प्रदातव्यं पञ्चम्याचमनीयकम्।
षष्ठ्या स्नानं प्रकुर्व्वीत सप्तम्या वस्त्रमेव च॥

उपवीतं तथाष्टम्या नवम्या गन्धमेव च ।
पुष्पं दशम्या दातव्यमेकादश्या तु धूपकम् ॥
द्वादश्या दीपकं दद्यात् त्रयोदश्या निवेदनम् ।
चतुर्द्दश्याञ्जलिं कुर्य्यात् पञ्चदश्या प्रदक्षिणम् ॥
षोड़श्या सम्पुटं कुर्य्यात् ततो जपमुदीरयेत् ।
नम आदि यथापीठं नमस्कुर्य्यात् प्रयत्नतः ॥
होमञ्चैव यथाशक्ति सम्भवेच्च यथाविधि ।
हृदिस्थं मण्डलं देवं चिन्तयेद्दीपवत् प्रभुम् ॥

तत्र,—

त्रिनेत्रञ्च चतुर्बाहुं सर्व्वाभरणभूषितम् ।
नीलग्रीवं शशाङ्काङ्कं शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥
नागयज्ञोपवीतञ्च साक्षसूत्रकमण्डलुम् ।
अभयत्रिशूलहस्तं ज्वलज्जटाशिखण्डिनम् ॥
दृष्टममृतेन प्लुतं दिग्देवतासमावृतम् ।
एवं ध्यात्वा द्विजः सम्यक् ततः पूजां समाचरेत् ॥

अथवा बौधायनोक्तसंक्षेपविधिनार्च्चयेत् ।

आराधितो मनुष्यैस्त्वं सिद्धैर्देवासुरादिभिः ।
आवाहयामि भक्त्या त्वां मां गृहाण महेश्वर ॥

इति प्रार्थ्य "त्र्यम्बकेण" स्थापनम् । "आत्वावह" इत्यावाहनम् । "सद्योजातम्" इत्यासनम् । "भवे भव" इति पाद्यम् । "भवोद्भवाय" इत्यर्घ्यम् । "वामदेवाय नमः" इत्यङ्गानि

मर्ज्जनम् । "ज्येष्ठाय नमः" इति वस्त्रम् । "श्रेष्ठाय नमः" इत्याचमनीयम् । "रुद्राय नमः" इत्युपवीतम् । "कालाय नमः" इति गन्धम् । "कलविकरणाय नमः" इति पुष्पम् । "बल-विकरणाय नमः" इत्यक्षतम् । "बलाय नमः" इति धूपम् । "बलप्रमथनाय नमः" इति दीपम् । "सर्व्वभूतदमनाय नमः" इति नैवेद्यम् । "मनोन्मनाय नमः" इति नमस्कारः । "भवाय देवाय नमः" "शर्व्वाय देवाय नमः" "ईशानाय देवाय नमः" "पशुपतये देवाय नमः" "रुद्राय देवाय नमः" "उग्राय देवाय नमः" "भीमाय देवाय नमः" "महते देवाय नमः" इत्यष्टमन्त्रै-रष्टपुष्पाणि दद्यात् । उपस्थानम्,—"अघोरतत्पुरुषेशानैः" । अथवा,—

सप्तकोटिमहामन्त्राः शिववक्त्राद् विनिःसृताः ।
पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य कलां नार्हन्ति षोड़शीम् ॥
यस्तु नमः शिवायेति मन्त्रेणानेन शङ्करम् ।
सकृत् कलौ समभ्यर्च्य सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥
पञ्चाक्षरेण मन्त्रेण पत्रं पुष्पमथापि वा ।
यः प्रयच्छति शर्व्वाय सोऽनन्तं फलमश्नुते ॥

इत्यादिवचनात् पञ्चाक्षरेण पूजा कार्य्या ।

## तद्विधिश्च ।

हृदयं वपरं साक्षि लान्तः सान्तान्वितो मरुत् ।
पञ्चाक्षरो मनुः प्रोक्तस्ताराद्योऽयं षडक्षरः ॥
वामदेवो मुनिश्छन्दः पंक्तिरीशोऽस्य देवता ।
षड्भिर्वर्णैः षडङ्गानि कुर्य्यान्मन्त्रस्य देशिकः ॥
अङ्गुलीदेहवक्त्रेषु मूलमन्त्राक्षरादिकान् ।
न्यसेत् तत्पुरुषाघोरसद्योवामेशसंज्ञकान् ॥

तर्जनीमध्यमान्तानामिकाङ्गुष्ठकेषु च ।

वक्त्रहृत्पादगुह्यास्यमूर्द्धस्वपि च नामभिः ।
प्राग्याम्यवारुणोदीच्यमध्यवक्त्रेषु पञ्चसु ॥

तथा,—

हृन्मुखांशोरुयुग्मेषु षड्वर्णान् क्रमशो न्यसेत् ।
कण्ठमूले तथा नाभौ पार्श्वयुक्पृष्ठहृत्सु च ॥
मूर्द्धास्यनेत्रघ्राणेषु दोःपत्सन्ध्यग्रकेषु च ।

अत्र सर्व्वाङ्गुलीषु षष्ठमिति मन्त्रावल्यामुक्तम् । शिरोवक्त्रहृदयजठरोरुपादयुगेष्वपि । हृदाननाम्बुजटङ्कमृगाभयवरेषु च ।

मुखास्यहृदयेषु त्रीन् परान् पादोरुकुक्षिषु ।

पुनस्तत्पुरुषाघोरवामदेव्येशसंज्ञकान्,—

ललाटाननजठरहृदयेषु क्रमान्न्यसेत् ॥
नमोऽस्तु स्थाणुभूताय ज्योतिर्लिङ्गामृतात्मने ।

चतुर्मूर्त्तिवपुश्छायाभासिताङ्गाय शम्भवे ॥

पश्चादनेन मन्त्रेण कुर्व्वीत व्यापकं सुधीः ।

तथा,—

कुर्य्यादनेन मन्त्रेण निजदेहे समाहितः ।

मन्त्री पुष्पाञ्जलिं सम्यक् त्रिशः पञ्चश एव च ॥

एवं न्यस्तशरीरोऽसौ चिन्तयेत् पार्व्वतीपतिम् ।

भावोपनीतपुष्पाद्यैर्हृदम्भोजे शिवं यजेत् ॥

तत्तु लक्षं जपेन्मन्त्रं सहस्रं पायसं हुनेत् ।

वामा ज्येष्ठा ततो रौद्री काली कलपदादिका ।

विकरण्यभया प्रोक्ता बलाद्या विकरण्यपि ॥

करणा च तथा प्रोक्ता तथान्या विकरण्यथ ।

इति क्वचित् पाठः । तत्राद्य एव करकबलान्यविकरण्या-विति प्रपञ्चसारोक्तः ।

बलप्रमथनी पश्चात् सर्व्वभूतदमन्यपि ।

मनोन्मनीति संप्रोक्ताः शैवपीठस्य शक्तयः ।

नमो भगवते पश्चात् सकलादि वदेत् पुनः ।

[१]गुणात्मशक्तियुक्ताय अनन्ताय ततः परम् ॥

योगपीठात्मने भूयो नमस्तारादिको मनुः ।

अत्र पङ्कजादाविति क्वचित् पाठः सकलसगुणात्मपदादिति प्रपञ्चसारवचनान्नादेयः ।

---

(१) गुणात्मशक्तिसुद्राय ततोऽनन्ताय तत्परम् ।

ब्रह्मपञ्चकमाचिन्त्य माल्यमादाय लिङ्गतः।
ऐशान्यां दिशि चण्डाय हृदयेन निवेदयेत्॥
प्रक्षाल्य पिण्डिकालिङ्गे अस्त्रतोयेन वै हृदा।
अर्घ्यपात्राम्बुना सिञ्चेत्———॥

इति लिङ्गविशोधनम्। तथा,—

ततो देवं समभ्यर्च्च कर्क्करीवारिणा बुधः।
लिङ्गमारभ्य यत्नेन दक्षहस्ततलेन तु॥
लिङ्गमुद्रान्वितेनैव पठेद् ब्रह्माणि पञ्च वै।
ऊर्द्धाङ्गुष्ठा दक्षमुष्टिः प्रशस्ता शिवपूजने।
लिङ्गमुद्रेति विख्याता तथा लिङ्गविशोधने॥

बिभ्रद्दोर्भिः कुठारं मृगमभयवरौ सुप्रसन्नो महेशः
सर्व्वालङ्कारदीप्तः सरसिजनिलयो व्याघ्रचर्म्मात्तवासाः।
ध्येयो मुक्तापरागामृतरसकलिताद्रिप्रभः पञ्चवक्त्र-
स्त्र्यक्षः कोटीरकोटीघटिततुहिनरोचिष्कलोत्तुङ्गमौलिः॥

ईशानमूर्द्धवक्त्रं स्यात् ध्यानासक्तं हिमप्रभम्।
कुङ्कुमाभं तत्पुरुषं सदा पूर्व्वाननं भवेत्॥
विकृतं व्यालभृद्वक्त्रं भिन्नाञ्जनसमप्रभम्।
अघोरं दक्षिणास्यात्तु ———॥
दाड़िमीकुसुमप्रख्यं वाममुत्तरदिक्स्थितम्।
हिमकुन्देन्दुधवलं सद्योजातमुदक्स्थितम्॥
ईशानाख्यं सदैव स्यान्मूलद्वारावलोकनात्।
पश्चिमस्यां यदा द्वारं पुरुषं तत्र कल्पयेत्॥

सद्योजातन्तु पूर्व्वस्यां घोरं वामञ्च पूर्व्ववत् ।
आवाहनी चन्द्रकर्णी महामुद्रा च निष्ठुरा ।
कालकर्णी लिङ्गमुद्रा योनिमुद्रा कपालकम् ॥
तत्र त्रिशूलखट्वादि शङ्खपाशाङ्कुशाभया ।
वरदा धेनुरित्येता निजमुद्रा शिवस्य च ॥
प्रसारितोत्तानहस्तौ श्लिष्टावावाहनी मता ।
तर्ज्जन्यग्रन्तु ज्येष्ठाग्रे प्रयत्नेन नियोजयेत् ॥
उत्तानौ च करौ कृत्वा दर्शयेच्चन्द्रकर्णिकाम् ।
हस्ताभ्यां संस्पृशेत् पादानूर्द्ध्वया नतु मस्तकम् ॥
ततः पादावधिं यावत् महामुद्रा तु सा स्मृता ।
निष्पीड़येत् तथाङ्गुष्ठौ हस्तयोरुभयोरपि ॥
उभावङ्गुलिगर्भस्थौ निष्ठुरैषा प्रकीर्त्तिता ।
अङ्गुष्ठावुन्नतौ कृत्वा हस्तौ चान्योन्यसम्पुटौ ॥
उभौ चाभिमुखौ कृत्वा कालकर्णी प्रकीर्त्तिता ।
अङ्गुष्ठमुद्यतं कृत्वा मुष्टिं पाणौ तु दक्षिणे ॥
अङ्गुष्ठं प्रेषयेन्मध्ये वामहस्तस्य दक्षिणम् ।
मुष्टिमाच्छाद्य शेषैश्च लिङ्गमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥
उत्तानमञ्जलिं कुर्य्यात् कपालं परिकीर्त्तितम् ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठौ सम्पीड्य त्रिशूलमुन्नतेऽन्तरा ॥
तिर्य्यक् कृत्वा करं वामं कनिष्ठानाममध्यमाः ।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेद्देवि ऋजुं कृत्वा प्रदेशिनीम् ॥

स्कन्धदेशे तु निहिते खट्वाङ्गं परिकीर्त्तितम्।
लिङ्गयोनित्रिशूलाक्षमालेष्टाभीमृगात्मिकाः॥
सप्त मुद्राः प्रयोक्तव्याः शिवसान्निध्यकारिकाः।

तत्र,—

कर्णिकायां यजेन्मूर्त्तौरीशमीशानदिग्गतम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं दिक्षु तत्पुरुषादिकाः।
पीताञ्जनश्वेतरक्ताः प्रधानसदृशायुधाः॥

कोणेष्वर्चयेन्निवृत्त्याद्याः।

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च।

इति नवभिरेकावृत्तिः।

अनन्तसूक्ष्मौ च शिवोत्तमश्च
तथैकपूर्व्वावपि नेत्ररुद्रौ।
त्रिमूर्त्तिश्रीकण्ठशिखण्डिनश्च
प्रागादिपत्रेषु समर्चनीयाः॥

उमा चण्डेश्वरो नन्दी महाकालो गणेश्वरः।
वृषो भृङ्गरिटिस्कन्दः सम्पूज्याश्चोत्तरादिकाः॥

इन्द्रादय उक्ताः। तदायुधानि च,—वज्रशक्तिदण्डखड्ग-पाशाङ्कुशगदाशूलचक्रपद्मानि। पीतहिमजलदगगनविद्युत्कुन्द-नीलकुरुविन्दारुणशुक्लान्यायुधानि।

इन्द्रादयस्तु सम्पूज्या वज्राद्यायुधसंयुताः।

इति वचनात् वज्रसंयुताय इन्द्राय इत्येवं तन्त्रेण वा पूजयेत्।

मूलस्याष्टशतं जप्त्वा न द्रुतं न विलम्बितम्

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर: ॥
मन्त्री श्लोकं पठित्वामुं दक्षहस्तेन शम्भवे ।
मूलाणुनार्घ्यतोयेन वरहस्ते नियोजयेत् ॥
दशांशेन शिवाङ्गानां जपं कृत्वा निवेद्य च ।
अर्घ्यं धूपादिकं दत्वा स्तुत्वा च विविधै स्तवैः ॥
शिवं प्रदक्षिणीकृत्य साष्टाङ्गं प्रणमेत् शिवम् ।
विना नृत्यन्तु या चार्चा आसुरी सा भवेद्ध्रुवम् ।
तच्छक्त्या नृत्यगीताद्यैर्भक्त्या तमभिवन्दयेत् ॥
पञ्चवक्त्रात् समभ्यर्च्य यावद्वक्त्रन्तु पश्चिमम् ।
सम्मुख्यार्घ्यं प्रदातव्यं विपरीतं विसर्ज्जनम् ॥

इति विहितं विलोमार्घ्यं दत्वा स्वहृदये देवमुद्वासयेत् ।

इत्थं सम्पूजयेद्देवं सहस्रं नित्यशो जपेत् ।
द्विसहस्रं जपन् रोगान्मुच्यते नात्र संशयः ॥
त्रिसहस्रं जपन्मन्त्री दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
शतलक्षं जपन् साक्षात् शिवो भवति मानवः ॥

तथा,—

सहस्र एव संख्यानं जपेत् पञ्चाक्षरन्तु यः ।
प्रत्यहं भवपाशाच्च मुच्यते नात्र संशयः ॥
नहि पञ्चाक्षरजपाच्छ्रेयोऽस्ति भुवनत्रये ।
एवं कृत्वा जपेद् विद्वान् विद्यां पञ्चाक्षरां शुभाम्

दीक्षितोऽदीक्षितो वापि विधानादन्यथापि वा।
पञ्चाक्षरं जपेद् यस्तु शिवस्यानुचरो भवेत्॥
सर्व्वावस्थगतो वापि युक्तो वा सर्व्वपातकैः।
जप्त्वा नमः शिवायेति मुच्यते स कलौ नरः॥

तथाक्षरलक्षचतुष्कं जप्त्वा तावत् सहस्रमपि जुहुयात्।

शुद्धैर्घृतैस्तिलैर्वापि दुग्धान्नै र्दुग्धरुहैश्चैः।

अत्र लिङ्गपुराणे विशेषः,—

पञ्चाक्षरं सप्रणवं मन्त्रोऽयं हृदयं मम।
इति गुह्यतमं साक्षान्मोक्षज्ञानमनुत्तमम्॥

नकारादीनि पञ्चमहाभूतात्मकानि च।

आत्मानं प्रणवं विद्धि सर्व्वव्यापिनमव्ययम्।
शक्तिस्त्वमेव देवेशि सर्व्वदेवनमस्कृता॥
उदात्तः प्रथमस्तत्र चतुर्थस्तु द्वितीयकः।
पञ्चमः स्वरितश्चैव मध्यमो निहतः स्मृतः॥

पीतकृष्णधूम्रहेमरक्तवर्णाः।

मन्त्रेण पाणी सम्मृज्य तलयोः प्रणवं न्यसेत्।
अङ्गुलीनाञ्च सर्व्वासां तथाचाद्यन्तपर्व्वसु॥
सविन्दुकानि बीजानि तथा मध्यमपर्व्वसु।
अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं न्यस्यते हस्तयोर्द्वयोः॥
अन्त्यावभोगदो देवि स्थितिन्यासः कुटुम्बिनाम्।
दक्षिणाङ्गुष्ठमारभ्य आवामाङ्गुष्ठमेव हि॥

न्यस्यते यत्तदुत्पत्तिर्विपरीतन्तु संहृतिः ।
उत्पत्तिर्ब्रह्मचारिणां गृहस्थानां स्थितिः स्मृता ॥
यतीनां संहृतिन्यासः सिद्धिर्भवति नान्यथा ।
उभाभ्यामथ पाणिभ्यामापादतलमस्तकम् ।
मन्त्रेण संन्यसेद्देवं प्रणवेन तु सम्पुटम् ॥
हृदये गुह्यके चैव पादयोर्मूर्द्ध्नि पार्थिव ।
कण्ठे चैव न्यसेद्देवं प्रणवादिप्रभेदतः ॥
मूर्द्धादिन्यास उत्पत्तिः पादादिः स्यात्तु संहृतिः ।
कृत्वाङ्गन्यासमेवं हि मुखानि परिकल्पयेत् ॥
पूर्व्वादि चोर्द्ध्वपर्य्यन्तं नकारादि यथाक्रमम् ।
षड़ङ्गानि न्यसेत्पश्चात् यथास्थानञ्च शोभने ॥
इत्थमङ्गानि विन्यस्य ततो वै विन्यसेद्दिशः ।
विघ्नेशो मातरो दुर्गा चेत्वञ्चो देवता दिशाम् ॥
आग्नेयादिषु कोणेषु चतुर्ष्वपि यथाक्रमम् ।
अङ्गुष्ठतर्ज्जनीभ्यान्तु संस्थाप्य सम्मुखे शुभे ॥
त्वमध्यमिति चोक्त्वा तु नमस्कुर्य्यात् पृथक् पृथक् ।
सर्व्वसिद्धिकरं पुण्यं सर्व्वरक्षाकरं शिवम् ॥
एवं विन्यस्य मेधावी मन्त्रं पञ्चाक्षरं जपेत् ।
यावज्जीवं जपेन्मन्त्रमष्टोत्तरसहस्रकम् ॥
अनश्नंस्तत्परो भूत्वा स याति परमां गतिम् ।
जपेदक्षरलक्षं वै चतुर्गुणितमादरात् ॥

नक्ताशी संयमी यः सः पौरश्चरणिकः स्मृतः ।
आद्यन्तयोर्जपस्याथ कुर्य्याद्वै प्राणसंयमम् ॥
चत्वारिंशत्समावृत्तिं प्राणानायम्य संस्मरेत् ।
पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य प्राणायाम उदाहृतः ॥
तथान्ते च जपेद्‌ बीजं शतमष्टोत्तरं शुभे ।
महापातकसंयुक्तो युक्तो वा सर्व्वपातकैः ॥
जाप्याद्वै नाशते पापमन्धकारं यथा रविः ।

तत्र,—

ब्रह्महत्यादिशुद्ध्यर्थं जपेल्लक्षशतं नरः ।
अत्र किं तु तदर्द्धं स्यान्नात्र कार्य्या विचारणा ॥
उपपातकदुष्टानां तदर्द्धं परिकीर्त्तितम् ।
शेषाणामपि पापानां जपेत्पञ्चसहस्रकम् ॥
आत्मबोधकरं गुह्यं शिवरूपप्रकाशकम् ।
मितश्वासे जपेन्मन्त्रं पञ्चलक्षमनामयः ॥
पञ्च वा पूजयेत्तेन प्राप्नोति मनुजस्तथा ।
चतुर्लक्षं जपेद्‌ यस्तु मनः संयम्य यत्नतः ॥
सम्यक् विजयमाप्नोति करणानां महामुने ॥
पञ्चविंशतिलक्षाणां जपेन कमलानने ।
पञ्चविंशतितत्वानां विजयं मनुजो लभेत् ॥
मध्यरात्रे व्यतीते तु जपेदयुतमादरात् ।
ब्रह्मसिद्धिमवाप्नोति इहैवानेन सुन्दरि ॥

जपेल्लक्षमनालस्य निर्वाते ध्वनिवर्जिते ।
मध्यरात्रे शिवज्योत्स्नां पश्यत्येव न संशयः ॥
शनैश्चरदिनेऽश्वत्थं पाणिना संस्पृशेच्छुचिः ।
जपेदष्टोत्तरशतं सोऽपमृत्युहरो भवेत् ॥
आदित्याभिमुखो भूत्वा जपन् लक्षमनन्यधीः ।
अग्नेरष्टशतं हुत्वा सर्व्वो व्याधेर्विमुच्यते ॥
जपेल्लक्षन्तु पूर्व्वाह्णे स्थित्वा चाष्टशतेन वै ।
सूर्य्यं नित्यमुपस्थाय सम्यगारोग्यमाप्नुयात् ॥
नदीतोयेन सम्पूर्णं घटं संस्पृश्य शोभनम् ।
जप्त्वायुतं तु तैः स्नायाद् रोगाणां भेषजं महत् ॥
अष्टाविंशं जपित्वान्नमश्नीयादन्वहं शुचिः ।
हुत्वा च तावत्पालाशैरेतत्त्वारोग्यमश्नुते ॥
एकादशेन भुञ्जीयादन्नञ्चैवाभिमन्त्रितम् ।
भक्ष्यञ्चान्नं तथा पेयं विषमप्यमृतं भवेत् ॥
नित्यमष्टशतं जप्त्वा पिबेदापोऽर्कसन्निधौ ।
औदरैर्व्याधिभिः सर्व्वैर्मासेनैकेन मुच्यते ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्व्वावस्थां गतोऽपि वा ।
महापातकयुक्तोऽपि मन्त्रस्यास्य जपात्तथा ॥
अधिकारी भवेत्सर्व्व इति देवोऽब्रवीत् शिवः ।
सकृदुच्चारितं येन मन्त्रं पञ्चाक्षरं शुभम् ॥
सप्तजन्मकृतात् पापात् मुच्यते नात्र संशयः ।
तत्र स्थित्वा सदालम्बं प्राप्यते शाश्वतं पदम् ॥

इति ।

शिवपूजाङ्गपुष्पाणि वैष्णवानीति तानि वै ।
अन्येषां सर्व्वदेवानां शंसितानि मनीषिभिः ॥
केतकी अतिमुक्तश्च कुन्दो यूथी मदन्तिका ।
शिरीषसर्ज्जविन्दूककुसुमानि विवर्जयेत् ।

अत्र,—

तुलस्यगस्त्यपुष्पाणि गुरुकुन्दं सकुन्दकम् ।
अशोकः किंशुकश्चैव शस्ताः शङ्करपूजने ॥

इति स्कन्दपुराणे गन्धकुन्दयोर्विधानात् कुन्दनिषेधस्तदितरकुन्दपरः ।

चतुर्णां पुष्पजातीनां गन्धमाघ्राति शङ्करः ।
अर्कस्य करवीरस्य धूस्तूरस्य वकस्य च ॥
वकपुष्पैः सदा पूज्यः शिवः सर्व्वार्थसिद्धिदः ।
वकपुष्पसहस्रेभ्य एकं धूस्तूरकं वरम्
धूस्तूरकसहस्रेभ्यः शमीपुष्पं विशिष्यते ।
सर्व्वासां पुष्पजातीनां प्रवरं नीलमुत्पलम् ॥
गुग्गुलं घृतसंयुक्तं साक्षादश्नाति शङ्करः ।
अर्च्चयित्वा महेशानमनाचम्य क्रियान्तरम् ।
कुर्व्वन् किल्विषमाप्नोति सत्यमीश्वरभाषितम् ॥

———

## अथ गणेशपूजाविधिः ।

पूजयेद्यस्तु विघ्नेशमेकदन्तमुमासुतम् ।
नश्यन्ति तस्य विघ्नानि न चारिष्टं कदाचन ॥
एकदन्ते जगन्नाथे गणेशे तुष्टिमागते ।
पितृदेवमनुष्याश्च सर्व्वे तुष्यन्ति भारत ॥
आराध्यो येन विधिना त्रिनेत्रः शूलभृद्धरः ।
तेनैवाराधयेद्देवं गणेशं पितृवत्सलम् ॥
तथा विनायके साध्यसाधके दक्षिणासनम् ।
रक्तचन्दनतोयेन स्नात्वा पूर्व्वं विधानतः ॥
विलिप्य रक्तगन्धेन रक्तपुष्पैः प्रपूजयेत् ।
नैवेद्यञ्च हरिद्रान्नं गुड़खण्डघृतप्लुतम् ॥
गणकः स्यादृषिश्छन्दो निवृद् विघ्नश्च देवता ।
षड्दीर्घभाजा बीजेन कुर्य्यादङ्गक्रियां मनोः ॥

रक्तो रक्ताङ्गरागांशुककुसुमयुतस्तुन्दिलश्चन्द्रमौलि-
र्नेत्रैर्युक्तस्त्रिभिर्वामनकरचरणो बीजपूराभिरामः ।
हस्ताग्रात्तमपाशाङ्कुशरदवरदो नागवक्त्रोऽहिभूषो
देवः पद्मासनो नो भवतु सुरनतो भूतये विघ्नराजः ॥

भविष्ये च.

स्वदन्तं दक्षिणकरे उत्पलं चापरे करे ।
लड्डुकं परशुञ्चैव वामतः परिकल्पयेत्

सक्तं बुद्धिकुबुद्धिभ्यामधस्तान्मूषिकान्वितम् ।
देवलक्षं जपेन्मन्त्रं दशांशं जुहुयात् तथा ॥
मोदकैः पृथुकैर्लाजैः सक्तुभिश्चेक्षुपर्व्वभिः ।
नारिकेलैस्तिलैः शुद्धैः सुपक्वैः कदलीफलैः ॥
अष्टद्रव्याणि विघ्नस्य कथितानि मनीषिभिः ।
तर्पयेत् सतिलैस्तोयैर्दिनशो गणनायकम् ।
चतुश्चत्वारिंशदाढ्यं चतुःशतसमन्वितम् ॥
प्राप्नुयान्मण्डलादर्वागभीष्टमधिकं नरः ॥
तीव्राख्या चालिनी नन्दा भोगदा कामरूपिणी ।
उग्रा तेजोवती सत्या नवमी विघ्ननाशिनी ॥
सर्व्वादिशक्तिकमलासनाय हृदयावधिः ।
पीठमन्त्रोऽयमेतेन प्रदद्यादासनं प्रभोः ॥
गणाधिपगणेशौ च गणनायकमेव च ।
गणक्रीड़ं कर्णिकायामंशैः किञ्जल्कसंस्थितैः ॥
वक्रतुण्डैकदंष्ट्रौ च महोदरगजाननौ ।
लम्बोदराख्यविकटौ विघ्नराट्-धूम्रवर्णकौ ॥
समर्च्चयेन्मातृवर्गं वाह्ये लोकेश्वरानपि ।
ब्राह्मी माहेश्वरी भूयः कौमारी वैष्णवी तथा ॥
वाराहीन्द्राणी चामुण्डा महालक्ष्मीति मातरः ।

इति ।

मन्त्रेणानेन सम्पूज्य रोचनां मदसंयुताम् ।
तिलकक्रियया सर्व्वान् वशं नयति मानवान् ॥

अनुलोमविलोमस्थे बीजे नाम समालिखेत् ।
ततनीति समभ्यर्च्य स्पृष्ट्वा प्राणमनुं जपेत् ॥
अष्टोत्तरशतं भूयो मूलमन्त्रं प्रजप्य तु ।
अर्चयेद् यत्नमास्थाय यामिन्यां सप्तवासरम् ॥
स वश्यो जायते शीघ्रं साधकस्य प्रभावतः ।

अत्र च,—

एकस्मिन् तण्डुलप्रस्थे क्षीरप्रस्थं प्रदापयेत् ।
चतुःपलं गुडञ्चैव अर्द्धं मुष्टिञ्च सर्पिषः ॥
तदर्द्धं मरिचं दद्यात् तदर्द्धं जीरकं क्षिपेत् ।
सैन्धवं तत्समानेन चूर्णितं प्रक्षिपेद् बुधः ॥
पलत्रयं तथान्यानि मधुराणि विनिक्षिपेत् ।
एवं संस्कृत्य सिद्धान्नं तेनाभ्यर्च्य विनायकम् ।
अभीष्टफलमाप्नोति तत्प्रसादान्न संशयः ॥
आदित्यञ्च गणाध्यक्षं क्षेत्रपालञ्च पार्व्वति ।
आराध्याचमनं कार्य्यं सुधिया कार्य्यसिद्धये ॥
लङ्घयित्वा च निर्म्माल्यमेतेषां त्रिदशाधिप ।
सद्य आचमनं कार्य्यं कर्म्मान्तरविशुद्धये ॥

इति ।

## अथ दुर्गापूजाविधिः ।

वरं प्राणपरित्यागः शिरसः कर्त्तनं वरम् ।
नत्वसम्पूज्य भुञ्जीत चण्डिकां चण्डरूपिणीम् ॥

तत्र,-

दुर्गार्चनरतो नित्यं महापातकसम्भवैः ।
दोषै र्न लिप्यते वीर पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
यः सदा पूजयेद्दुर्गां प्रणमेद्वापि भक्तितः ।
स योगी स मुनि र्धीमांस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता ॥

इत्यादि फलम् ।

शूलाक्षसूत्रवरधा कमण्डलुधरा शुभा ।
ऊर्द्ध्वस्थिता गृहे कार्य्या सर्व्वदा सर्व्वमङ्गला ॥
शैलजा न गृहे पूज्या न कार्य्या सजटा तथा ।

इति । कल्पतरौ तथेति,—

लिङ्गस्थां पूजयेद्देवीं पादुके प्रतिमासु वा ।
चित्रे च त्रिशिखे खड्गे जलस्थां वापि पूजयेत् ॥
प्राज्ञो हृदयमध्ये वा पूजयेच्च सुशोभने ।

देवीनां नार्कमन्दाराविति पर्य्युदासादर्कमन्दारव्यतिरिक्त-पुष्पैः पूजयेत् । अत्र मन्दारशब्देन पारिभद्रपुष्पमुच्यते न तु जवापुष्पं तत्र तत्पर्य्यायाभावात् ।

सुरामांसोपहारैश्च भक्ष्यभोज्यैश्च पूजिता ।
नृणामशेषकामांस्त्वं प्रसन्ना सम्प्रदास्यसि ॥

इति ।

---

## तत्र भुवनेश्वरीमन्त्रः पूजाविधिश्च ।

घनवर्त्मकृष्णागतिशान्तिविन्दुभिः
प्रयतः परः प्रकृतिवाचको मनुः ।
दुरितापहो नु सुखधर्ममोक्षदो
जगतामशेषजनरञ्जनक्षमः ॥

ऋषिः शक्तिर्भवेच्छन्दो गायत्री देवता मनोः ।
कथिता स्वरसंघेन सेविता भुवनेश्वरी ॥
षड़्दीर्घयुक्तबीजेन कुर्य्यादङ्गानि षट् क्रमात् ।
संहारसृष्टिमार्गेण मातृकान्यस्तविग्रहः ॥
मन्त्रन्यासं ततः कुर्य्याद्देवताभावसिद्धये ।
हृल्लेखां मूर्द्ध्नि वदने गगनां हृदयाम्बुजे ॥
रक्तां करालिकां गुह्ये महातूच्मां[1] पदद्वये ।
ऊर्द्ध्वप्रागदक्षिणोदीच्यपश्चिमेषु मुखेषु च ॥
सत्यादिकृस्वबीजाढ्या न्यस्तव्या भूतसप्रभाः ।
अङ्गानि विन्यसेत् पश्चात् जातियुक्तानि षट् क्रमात् ॥

---

(१) ० महोच्छुष्मां ० ।

ब्रह्माणं विन्यसेद् भाले गायत्र्या सह संयुतम्।
सावित्र्या संयुतं विष्णुं कपोले दक्षिणे न्यसेत्॥
वागीश्वर्य्या समायुक्तं वामगण्डे महेश्वरम्।
श्रिया धनपतिं न्यस्येद् वामकर्णाग्रके पुनः॥
रत्या स्मरं मुखे न्यस्येत् पुष्ट्या गणपतिं न्यसेत्।
सव्यकर्णोपरि निधी कर्णगण्डान्तरालयोः॥
न्यस्तव्यौ वदने मूलं भूयश्चैतांस्तनौ न्यसेत्।
कण्ठमूले स्तनद्वन्द्वे वामांशे हृदयाम्बुजे॥
सव्यांशे पार्श्वयुगले नाभिदेशे च देशिकः।
भालेऽंशे पार्श्वजठरे पार्श्वेऽंशे च गले हृदि॥
ब्रह्माण्याद्यास्ततो न्यस्य विधिना प्रोक्तलक्षणाः।
मूलेन व्यापकं देहे न्यस्य देवीं विचिन्तयेत्॥

उद्यद्दिनकरद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्तां स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां भजे भुवनेश्वरीम्। द्वात्रिंशल्लक्षं जपेत्। अष्टद्रव्यैर्होमः। जया विजया अजिता अपराजिता नित्या विलासिनी दोग्ध्री अघोरा मङ्गला इति शक्तयः।

बीजाढ्यमासनं दत्वा मूर्त्तिं तेनैव कल्पयेत्।
मध्यप्राग्याम्यसौम्यपश्चिमेषु यथाक्रमम्॥

हृल्लेखाद्यास्तदनु च पूर्व्ववदङ्गानि पूजनीयानि।

गायत्रीं शतमखजे निशाचरोत्थे
सावित्रीं पवनगते सरस्वतीञ्च।

ब्रह्माणं हुतभुजि वारुणे च विष्णुं
बीजाग्रे समभियजेत् तथेशमैश्ये॥

ब्रह्माद्यास्तद् वहिरन्तरं वासवादिकाः शेषा इज्याः।
पञ्चविंशतिधा जप्तैर्जलैः स्नानं दिने दिने।
आत्मानमभिषिच्याथ सर्व्वसौभाग्यवान् भवेत्॥
पञ्चविंशतिधा जप्तं जलं प्रातः पिवेन्नरः।
अवाप्य महतीं प्रज्ञां कवीनामग्रणीर्भवेत्॥
कर्पूरागुरुसंयुक्तं कुङ्कुमं स्वादुसाधितम्।
गृहीत्वा तिलकं कुर्य्याद् भाजनेऽश्नन्त्यनुत्तमम्॥
अन्नं तन्मन्त्रितं मन्त्री भुञ्जीत शीघ्रसिद्धये।
शालिं पिष्टमयीं कृत्वा पुत्तलीं मधुरान्विताम्॥
जप्तां प्रतिष्ठितप्राणां भक्षयेद् रविवासरे।
वशं नयति राजानं नारीञ्च नरमेव च॥
कण्ठमात्रोदके स्थित्वा वीक्ष्य तोयगतं रविम्।
त्रिसहस्रं जपेन्मन्त्रमिष्टां कन्यां लभेत्तु सः॥
लिखित्वा भस्मना मायां मसाध्यां फलकादिषु।
तत्काले दर्शयेद् यन्त्रं सुखं सूयेत गर्भिणी॥

लिखेत् सरोजं रसपत्रयुक्तं
मध्ये दलेष्वप्यभिलिख्य मायाम्।
स्वराहृतं यन्त्रमिदं बधूनां
पुत्रप्रदं भूमिगृहान्नदञ्च॥

षट्कोणमध्ये प्रविलिख्य शक्तिं
कोणेषु तामेव विलिख्य भूयः ।
ससाध्यगर्भां वसुधापुरस्थं
यन्त्रं भवेद्‌ वश्यकरं नराणाम् ॥

मध्यवर्त्तुलसंस्थाप्यहृल्लेखायाः कपोलयोः ।
अधरे साध्यनामान्तं साधकस्योत्तरे लिखेत् ॥
अन्तरग्निश्रियोर्मध्ये साधकाशि समालिखेत् ।
काश्मीररोचनालाक्षामृगेभमदचन्दनैः ॥

विलिखेदेमलेखिन्या यन्त्राणि । सूर्य्यपूजा च ।

---

## अथ सूर्य्यपूजा ।

अग्निहोत्राणि वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सूर्य्यदेवार्चनस्यैते कोट्यंशेनापि नार्हिताः ॥
यजेद्देवं सहस्रांशुं मोक्षकामो न संशयः ।
रथस्थं कारयेद्देवं पद्महस्तं सुलोचनम् ।
मुकुटेन विचित्रेण पद्मगर्भसमप्रभम् ॥
चोलसंच्छन्नवपुषं क्वचिच्चित्रेषु दर्शयेत् ।
पद्मस्थवामहस्तं वा पद्महस्तं प्रकल्पयेत् ॥
पश्चिमास्ये रवौ भक्तः पूर्व्वास्यो भानुमर्चयेत् ।
न पूर्व्वास्ये तदग्रस्थो दक्षिणाशां समाश्रयेत् ॥

केतकीपत्त्रपुष्पन्तु सद्यस्तुष्टिकरं रवेः ।
पुष्पाणां करवीराणि प्रियं रक्तं च चन्दनम् ॥
गुग्गुलुश्चापि धूपानां नैवेद्ये मोदिकाः प्रियाः ।
मधुमांसासवैश्चापि प्रीतिमेति च भास्करः ॥

---

## अष्टाक्षरसौरमन्त्रपूजाविधिः ।

तारं घृणि भृगुः पश्चाद् वामकर्णविभूषितः ।
वह्न्यासनो मरुच्छेषसनेत्रोऽद्रिस्त्वपश्चिमः ॥

इति मकारान्त एव मन्त्रभुक्तिस्तथापि घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य्यस्त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद् वै सावित्रस्याष्टाक्षरम् । नहवा एतस्यार्चा यजुषा न साम्नार्थोऽस्ति य एतत् सावित्रं वेदेति श्रुतेः । विसर्गान्तो मुख्यः ।

देवभागऋषिश्छन्दोगायत्र्यादित्यदेवतम् ।
सत्यब्रह्मविष्णुरुद्रैः साग्निभिः सर्व्वैः ङेयुतैः ॥
तेजोज्वालामणिं हुं फट् स्वाहेत्यङ्गाणवः स्मृताः ।

आदित्यरविभानुभास्करसूर्य्यैर्न्यसेत् स्वरैर्लघुभिः सत्यादिभिः पञ्चकैः शिरोमुखहृद्गुह्यचरणेषु ।

मूर्द्धास्यकण्ठहृदयकुक्षिनाभिध्वजाङ्घ्रिषु ।
मन्त्रवर्णान् न्यसेदष्टौ प्रत्येकं प्रणवादिना ॥

अरुणोऽरुणपङ्कजे निषण्णः
कमलेऽभीतिवरौ करैर्दधानः ।

स्वरुचाहितमण्डलस्त्रिनेत्रो
रविराकल्पशताकुलोऽवताद् वः ॥

वसुलक्षं जपेन्मन्त्रं समिद्भिः क्षीरशाखिनाम् ।
तत्सहस्रं प्रजुहुयात् सौरार्त्ताभिर्जितेन्द्रियः ॥
दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला तथा ।
अमोघा विद्युता सर्व्वतोमुखी पीठशक्तयः ॥

ह्रस्वत्रयक्लीववियोगिताभिः
क्रमात् क्षमाव्बिन्दुयुताभिराभिः ।
सद्भाभिपूज्या नव शक्तयः स्युः
——————— ॥

ब्रह्मविष्णुशिवात्मकं समीर्य्य सौराय योगपीठाय प्रोक्ता नमः पदमपि समापयेत् पीठमन्त्रमखिमरुषः ।

अङ्गानि पूजयेदादौ दिक्पत्रेष्वर्कमूर्त्तयः ।
आदित्याद्या सतस्रोऽच्चर्याः शक्तयः कोणपत्रगाः ॥
स्वस्य नामादिवर्णाः स्युस्तासां बीजान्यनुक्रमात् ।
उषा प्रज्ञा प्रभा सन्ध्या शक्तयः परिकीर्त्तिताः ॥
पत्राग्रसंस्था ब्राह्मयाद्याः पुरतोऽरुणमर्चयेत् ।
रव्यादीन् पूजयेत्पश्चात् ग्रहानष्टौ ततो वहिः ॥
इन्द्रादयस्तदस्त्राणि यथापूर्व्वं समर्चयेत् ॥

———

## अथ ब्रह्मपूजा ।

वरं देहपरित्यागो वरं नरकसम्भवः ।
न चासम्पूज्य भुञ्जीत देवं वै पद्मसम्भवम् ॥
अस्यैककालं यो भक्त्या पूजयेत्पद्मसम्भवम् ।
पद्मस्थं मूर्त्तिसंस्थं वा ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥
ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्त्तव्यः स चतुर्मुखः ।
हंसारूढः क्वचित्कार्य्यः क्वचिच्च कमलासनः ॥
वर्णेन पद्मगर्भाभश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः ।
कमण्डलुं वामहस्ते स्रुवं हस्ते च दक्षिणे ॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुचं वापि प्रदर्शयेत् ।
आह्वाने पूजयेद्वीर विसर्गे ब्रह्मणस्तथा ॥
गायत्री परमो मन्त्रो वेदमाता विभावरी ॥

पद्ममालिख्य

प्राणायामत्रयं कृत्वा देहसंशोधनाय वै ।

"आपोहिष्ठा" इत्यृचेन हृदयं, गायत्र्या शिरः, "ऋतञ्च" शिखा मर्म्माणि कवचं, "उदुत्यं" नेत्रं, "चित्रं" अस्त्रं

मूर्द्ध्नः पादतलं यावत्प्रणवं विन्यसेत्पुनः ।
नादरूपं न्यसेत्तावत् यावच्छब्दस्य शून्यता ॥

मूर्द्धमुखमण्डलकण्ठबाहुसन्धिहृन्मध्यपार्श्वद्वयनाभ्यूरुजङ्घापादतलाङ्गुष्ठोरुजानु-गुह्यहृदयोष्ठद्वय--नासिकानेत्रभ्रूमध्यघ्राणमूर्द्धकेशेषु गायत्र्यक्षराणि तकारान्तानि विन्यस्यैवं स्वदेहे तु देवदेहेऽपि विन्यसेत् ।

कुङ्कुमागुरुकर्पूरचन्दनेन विमिश्रितम्।
गन्धतोयं समादाय——— ॥

गायत्र्या सर्व्वं प्रोक्षयेत्। पद्मपीठे अनन्तं रुद्रं विष्णुं ध्यात्वा प्रणवं प्लुतमुच्चार्य्य पद्मपीठे च विन्यसेत्।

आवाह्य देवरूपञ्च गायत्रीं तत्र विन्यसेत्।

तत्र देवतारूपं पद्मोदरनिभं प्रभुं

विष्णुनाभ्यम्बुजासीनं भावयेच्चतुराननम्।
गन्धपुष्पादि गायत्र्या दत्त्वा ध्यायेत्तथैव तु ॥
ऋग्वेदश्च यजुर्व्वेदः सामवेदोऽप्यथर्व्वकान्।
ज्ञानं विज्ञानमैश्वर्य्यं धर्म्मञ्चैशानपूर्व्वकम् ॥
दिक्पालान् दिक्षु शिक्षादीन्यङ्गानि वेदसन्निधौ।
नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव राशयश्च बहिःस्थिताः ॥
नागाश्च देवा ऋषयः सरितः सागराः क्रमात्।
हृदयादीनि चाङ्गानि माहेन्द्र्यादिदिशस्तथा ॥
गायत्र्या पूजयेद्देवमोङ्कारेणाभिमन्त्रितम्।
प्रणवेन परान् देवान् ऋग्वेदादींश्च पूजयेत् ॥
पौर्णमास्यामुपोष्यैवं पूजयेत्प्रतिपद्यपि।
स गच्छेद् ब्रह्मसदनं यस्तु नित्यं प्रपूजयेत् ॥
अनेनैव स देहेन ब्रह्मा सन् तिष्ठति क्षितौ।
पद्मस्थं मूर्त्तिसंस्थं वा विरिञ्चिं पूजयेत्सदा ॥

———

## अथ अग्निपूजा ।

तत्र,—

तारं व्याहृतयश्चाग्ने जातवेद इहावह ।
सर्व्वकर्म्माणि वेत्युक्त्वा साधयाग्निवधूर्मनुः ॥
भृगुरपि ऋषिश्छन्दो गायत्री देवताग्निरुद्दिष्टः
भूतत्त्वकरणेन्द्रियगुणयुग्मैर्मन्त्रवर्णकैरङ्गानि ॥
वह्नेस्तत्स्वरूपं वक्ष्ये सर्व्वकामफलप्रदम् ।
दीप्तं सुवर्णवपुषमर्द्धचन्द्रासने स्थितम् ॥
कमण्डलुं वामकरे दक्षिणे त्वक्षसूत्रकम् ।
ज्वालाबितानसंयुक्तमजवाहनमुत्तमम् ॥
कुण्डस्थं वापि कुर्व्वीत मूर्द्ध्नि सप्तशिखान्वितम् ।

इति ।

---

सर्व्वेषां प्रतिमाया असम्भवे पूर्व्वोक्तस्थानान्तरे पूजा कार्य्या । अथवा हृदिस्था देवताः सर्व्वा इति वचनात् “चेतसानर्चयन् याति” इति मानसपूजाभाव एव दोषश्रवणात् मानसपूजामात्रं सर्व्वेषां कार्य्यम् । मन्त्रान्तरासम्भवे च,—

प्रणवस्याभिधानैश्च चतुर्थ्यन्ताभियोजितैः ।
सर्व्वेषां कल्पिता मन्त्रा नमस्कारान्तयोजिताः ॥

इति भविष्यपुराणोक्तमन्त्रेण पूजा कार्य्या । तत्रापि

मुमुक्षुः सर्व्वसंसारात्प्रयत्नेनार्चयेद्धरिम् ।

इत्यादिवचनात्

मद्भाभक्त्या प्रकर्त्तव्यं प्रत्यहं पूजनं तव ।

इति वैष्णवप्रतिज्ञानात् "भक्त्या गौणोपचारश्च" इत्यापराध-विधानादकरणे च

यो नार्चयति पापात्मा तं विद्यात् ब्रह्मघातकम् ।

इत्यादिबहुदोषश्रवणाच्च विविधोपचारैर्विष्णुपूजावश्यं कार्य्या । तत्र,—

विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च विष्णुर्देवो दिवाकरः ।

इति वचनादितरदेवतात्मभावं विष्णोरवगम्य पृथगन्यानर्चनेऽपि न दोषः । यदा तु,—

यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौकसः ।

इति च देवताराध्यताबुद्ध्याऽर्च्यते तदा अन्येऽपि यथाकथञ्चि-दर्चनीयाः । इतरेषां पुनः,—

ये यजन्ति पितॄन् देवान् ब्राह्मणांश्च हुताशनम् ।

सर्व्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते ॥

इति विष्ण्वात्मताबुद्ध्यान्यार्चने विष्णुपूजावश्यं कार्य्या । अन्यथा,—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्व्वकम् ॥

इत्यनेन यजन्तेऽन्यदेवता इति न सङ्गच्छते । एवं न पृथङ्मात्रे मत्पूजाकर्त्तव्यताऽवश्यविध्यतिक्रमो विधिः । तत्-कृतप्रत्यवायपूर्व्वकं मां यजन्तोऽभेदबुद्ध्यार्चनात् किञ्चित् पूजाफलं प्राप्नुवन्तीत्युक्तत्वात् ।

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते ।
नरकाय भवन्त्येते नात्र कार्य्या विचारणा ॥

इति वचनाच्च स्यादेव दोषः । विष्ण्वात्मताबुद्धिं विना त्वितरदेवार्चनं पृथक् विष्ण्वर्चनेऽपि

मां विष्णोर्व्यतिरिक्तं ये ब्रह्माणञ्च द्विजोत्तम ।
यजन्ति पापकर्म्माणस्ते यान्ति नरकं नराः ॥

इति वाराहे महादेववचनादत्यन्तनिषिद्धमेव ।

नान्यं देवं नमस्कुर्य्याद्वैष्णवो न च पूजयेत् ।
नान्यप्रसादं गृह्णीयान्नान्यदेवं निरीक्षयेत् ॥

इत्यत्राप्यन्यमित्यन्यतया गृहीतमित्यर्थो मलवद्वासोनिषेधवन्निषेधस्य विशेषणमात्रपरत्वाद् विहितान्यदेवनमस्कारादौ विष्ण्वन्यबुद्धिनिषेधमात्रपरः । तदेवं विष्ण्वन्यदेवतानां विष्णुबुद्धैरवार्चनं नान्यथा । तथापि विष्णोः पृथगर्चनमावश्यकम् । विष्णोस्तूभयथाप्यर्चनमिति सिद्धम् । यत्तु,—

मन्यन्ते ये जगद्योनिं विभिन्नं विष्णुमीश्वरात् ।
मोहादवेदनिष्ठत्वात् ते यान्ति नरकं नराः ॥
यस्त्वभेदेन पश्येत्तु तस्य मुक्ति र्न संशयः ।

अत्रास्यान्येनाभिन्नज्ञानस्य मुक्त्यर्थत्वाभिधानाद् भेदज्ञाने हेत्वभावात् मुक्त्यसिद्धा गर्भवासादिरेव नरकमुच्यते नतु विष्णुपूजायां तद्भेदबुद्धिर्दोषः । यच्च कूर्म्मपुराणे शैवालोत्पन्नस्य विष्णुकभक्तिं दृष्ट्वा भ्रातृभिरभियोगाद् व्यासेनाभिहितम्,—

या यस्याभिमता पुंसः सा हि तस्यैव देवता ।
तस्माज्जयध्वजो नूनं विष्ण्वाराधनमर्हति ॥

किन्तु रुद्रेण तादात्म्यबुद्ध्या पूज्यो हरिः सदा इति तेनापि पृथग् रुद्रपूजनं प्रत्यवायहानाय विष्णुपूजायां रुद्रैक्यबुद्धिः कार्य्येत्युक्तमिति ।

## अथ कालविशेषे पूजाविशेषाः ।

प्रतिपद्यग्निपूजनादक्षयधनम् । ब्रह्मणः पूजनाद् विद्यापारगत्वम् । वित्तेशाद् वित्तलाभः । गणेशार्चनाद् विघ्ननिवृत्तिः । नागार्चनाद् विषानभिभवः । कार्त्तिकेयार्चनात् पुत्रश्रीलाभः । दिनकरार्चनान्मेधाकीर्त्तिदीर्घायुषोऽपि । हरार्चनान्मृत्युञ्जयपापक्षयज्ञानानि । दुर्गार्चनाज्जयः । धर्म्मराजार्चनात् सर्व्वव्याधिक्षयः । विश्वेदेवार्चनात् प्रजापशुधनानि । विष्ण्वर्चनाज्जयपूजार्हत्वे । वामदेवार्चनात् सुरूपत्वेष्टभार्य्याकामान् । ईश्वरार्चनाद् बहुपुत्रधनत्वम् । सोमार्चनाद् बह्वपत्यार्थे । अमावास्यायां पितॄणामर्चनात् पुत्रपशुधनानि । विष्ण्वर्चनाज्जयपूज्यत्वे । वामदेवार्चनात् सुरूपत्वेष्टभार्य्याधान्यधनरक्षायुष्यबलानि । अश्विनीनक्षत्रे अश्विनोरर्चनादायुर्वृद्धिः । यमार्चनाद् व्याधिहानिरपमृत्युविनाशश्च । अनलार्चनात् परमर्द्धिः । प्रजापतेरर्चनात् पशून् । आदित्यार्चनाद्राज्यम् । नागार्चनाद् रक्षाधनर्द्धिम् ।

पितृर्चनाद् विजयम् । भर्गार्चनान्मङ्गलम् । अर्य्यमार्चनादारोग्यम् । सवितृर्चनाद् राज्यम् । त्वष्टृर्चनादायुर्बले । वाय्वर्चनाद्धनम् । इन्द्राग्न्योरर्चनाद् भूतिचिरजीवित्वे । मित्रार्चनात् पुष्टिम् । शक्रार्चनात् स्वस्थानस्थितित्वम् । अपामर्चनात् स्वर्गम् । विश्वेदेवार्चनात् श्रियम् । विष्ण्वर्चनादभयम् । वस्वर्चनाद् व्याधिमुक्तिम् । वरुणार्चनान्मोक्षम् । अजैकपादर्चनात् शान्तिम् । अहिर्बुध्नार्चनात् पाशुपत्यम् । पूषार्चनाद् विजयं प्राप्नुयात् ।

वाराहे,—

प्रतिपद्यग्निपूजा स्यात् द्वितीयायाञ्च वेधसः ।
दशम्यामन्तकस्यापि षष्ठ्यां पूजा गुहस्य च ॥
चतुर्थ्यां गणनाथस्य गौर्य्यास्तत्पूर्ब्बवासरे ।
सरस्वत्या नवम्याञ्च सप्तम्यां भास्करस्य च ॥
अष्टम्याञ्च चतुर्द्दश्यामेकादश्यां शिवस्य च ।
द्वादश्याञ्च त्रयोदश्यां हरेश्च मदनस्य च ॥
शेषादीनां फणीन्द्राणां पञ्चम्यां पूजनं भवेत् ।
पर्ब्बणीन्दोस्तिथिष्वासु पक्षद्वयगतास्वपि ।
चैत्रशुक्लेऽथ पञ्चम्यां श्रीर्वै भूलोकमागता ।
तस्मात्तां पूजयेत्तत्र यस्तं लक्ष्मीर्न मुञ्चति ॥
स्वातिस्थिते रवाविन्दुर्यदा स्वातिगतो भवेत् ।
नीराजितो महालक्ष्मीमर्चयन् श्रियमाप्नुयात् ॥
कृष्णाष्टमी हृश्चिकेऽर्के स्मृता गोष्ठाष्टमी बुधैः ।
तत्र कुर्य्याद् गवां पूजां गोग्रासं गोप्रदक्षिणम् ॥

गवानुगमनं कार्य्यं सर्व्वान् कामानवाप्नुयात् ।
वृश्चिके शुक्लपक्षे च या पाषाणचतुर्द्दशी ॥
तस्यामाराधयेद् गौरीं नक्तं पाषाणभक्षकः ।
ऐश्वर्य्यसौख्यसौभाग्यरूपाणि प्राप्नुयान्नरः ॥
श्रावणे शुक्लपञ्चम्यां द्वारस्योभयतो लिखेत् ।
नागानष्टौ गोमयेन दधिदूर्व्वाङ्कुरैः कुशैः ॥
गन्धपुष्पोपहारैश्च तान् भक्त्या पूजयन्ति ये ।
न तेषां सर्व्वतो वीर भीतिर्भवति कुत्रचित् ॥
अथ भाद्रपदे मासि पञ्चम्यां श्रद्धयान्वितः ।
यस्त्वालिख्य नरो नागान् कृष्णशुक्लादिवर्णकैः ॥
पूजयेद्गन्धपुष्पैश्च सर्पिःपायसगुग्गुलैः ।
तस्य तुष्टिं समायान्ति पन्नगास्तक्षकादयः ॥
आसप्तमात् कुलात्तस्य न भयं नागतो भवेत् ।
ऊर्ज्जे युगाद्ययायाञ्च समुपोष्य यथाविधि ॥
शङ्खशेषादिनागानां क्षीराप्यायनपूर्व्वकम् ।
विषाणि तस्य नश्यन्ति न च हिंसन्ति पन्नगाः ॥
कुम्भे शुक्लचतुर्थ्यान्तु कुन्दपुष्पैः सदाशिवम् ।
सम्पूज्य यो हि नक्ताशी स प्राप्नोति श्रियं नरः ॥
चैत्रे मासि सिताष्टम्यां बुधवारे पुनर्वसौ ।
अशोककुसुमै रुद्रमर्च्चयित्वा विधानतः ॥
त्वामशोक हराभीष्ट मधुमाससमुद्भव ।
पिवामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा कुरु ॥

अशोकस्याष्टकलिका मन्त्रेणानेन भक्षयेत् ।
शोकं नावाप्नुयान्मर्त्यो रूपवानपि जायते ॥
मधौ शुक्लत्रयोदश्यां मदनं चन्दनात्मकम् ।
कृत्वा सम्पूज्य लभते कामान् पुत्रादिसंयुतान् ॥
चैत्रे मासि सिते पक्षे पञ्चदश्यां यथाविधि ।
दमनेनार्चयेद्देवान् ———— ॥
संवत्सरकृतार्चायाः साफल्यायाखिलान् सुरान् ।
अभ्यर्चयेद्दमनकैर्विशेषेण सदाशिवम् ॥
द्वारकायां पुरा जातो भैरवो दमनाह्वयः ।
प्रीतेनाथ शिवेनोक्तो विटपो भव भूतले ॥
पूजयिष्यन्ति ये मर्त्या देवं त्वत्पल्लवादिभिः ।
ते यास्यन्ति परं स्थानं दमन त्वत्प्रसादतः ॥

तत्र चैत्रशुक्लद्वादश्यां विष्णोश्चतुर्द्दश्यां शम्भोरन्यदेवानां पौर्णमास्यां कुर्य्यात् । तत्र स्वयं दमनारामं गत्वा कामदेवं तत्राभ्यर्च्य तदनुज्ञया स्वयमाहरेत् । शरक्रयेणान्याहृतं वा गृह्णीयात् । ततो देवसन्निधौ तदनुज्ञया सर्व्वतोभद्रमण्डलेषु वस्त्रोपरि दमनं स्थापयित्वा तत्र सरस्वतीमावाह्य क्लीं कामदेवाय नमः क्लीं रत्यै नमः इति गन्धादिभिर्दमनस्यैन्द्र्यामभ्यर्च्याग्नेयादिषु भस्मदेहमनङ्गं मन्मथं वसन्तसखं कामदेवं इक्षुचापं पुष्पबाणं प्रपूज्य दमनञ्च गन्धादिभिः पूजयेत् । तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात् इति दमनमभिमन्त्र्य,—

नमोऽस्तु पुष्पबाणाय जगदाह्लादकारिणे ।
मन्मथाय त्रिजगति रतिप्रीतिप्रदायिने ॥

इति नमस्कृत्य

देवदेव जगन्नाथ वाञ्छितार्थफलप्रद ।
हृत्स्थान् पूरय मे विष्णो कामान् कामेश्वरीप्रिय ॥

विष्णोरित्यत्रान्यदेवे जहः कार्य्यः । ततो मूलमन्त्रेण दमनमुष्टिं देवाय दद्यात् । ततो महती पूजा कार्य्येति ।

---

## अथ पवित्रारोपणम् ।

आषाढ्यामथवाष्टम्याञ्चतुर्द्दश्यामुमापतिम् ।
पवित्रैरर्चयेद् रात्र्यां श्रावण्याञ्चेतरान् सुरान् ॥
विधिना शास्त्रदृष्टेन यो न कुर्य्यात् पवित्रकम् ।
हरन्ति राक्षसास्तस्य वर्षपूजादिकं फलम् ॥

इति वचनादाषाढ़ादिपञ्चकान्यतममासेषु द्वादश्यां पवित्रारोपणं कुर्य्यात् । तत्र दशम्यां सायन्तने हरिमभ्यर्च्य

क्रियालोपविघातार्थं यत्त्वया विहितं प्रभो ।
मया क्रियते तदेव तव तुष्ट्यै पवित्रकम् ॥
न मे विघ्नो भवेदत्र कुरु नाथ दयां मयि ।
सर्व्वथा सर्व्वदा विष्णो मम त्वं परमा गतिः ॥

इति प्रार्थ्य शुचौ रात्रिं नीत्वा प्रातर्नित्यकृत्यं कृत्वानन्तरं ब्राह्मणीकर्त्तितकार्पाससूत्रं त्रिगुणितं त्रिगुणीकृत्य तेनाष्टोत्तर-

शतेन प्रतिमामुकुटादारभ्य जानुपर्य्यन्तं चतुर्विंशतिग्रन्थियुक्त-मुत्तमं तथैव पादपर्य्यन्तं वनमालां चतुःपञ्चाशद्गुणेनोरुपर्य्यन्तं द्वादशग्रन्थियुक्तं मध्यमं सप्तविंशतिगुणेन नाभिपर्य्यन्तमष्टग्रन्थि-युक्तं कनिष्ठं चत्वारिंशद्गुणोचितानि चान्यानि पवित्राणि कृत्वा सकर्पूरकुङ्कुमेन प्रतिग्रन्थि अष्टाक्षरेण रञ्जयेत् ।

ततः,—

जीवप्राणधियश्चित्तं ज्ञानकर्म्मेन्द्रियाणि च ।
तन्मात्राः पञ्चभूतानि हृत्पद्मं तेजसा त्रयम् ॥

वासुदेवादयश्चेति । पवित्रेषु इदं विष्णुरिति मन्त्रेण विन्यस्य मूलमन्त्रमुत्तमे पवित्रे ग्रन्थिभिस्त्रिवारं मध्यमे द्विवारं कनिष्ठे सकृज्जपित्वा पीतेन वस्त्रेण पिधाय देवाग्रे स्थापयेत् । ततो रात्रौ गृह्योक्तविधिनाग्नौ मूलमन्त्रेणाष्टाविंशत्याहुतीर्हुत्वा हुतशेषाज्यं पवित्रेषु सिञ्चेदिति । ततो देवं यथाशक्ति पञ्चामृतस्नानपूर्व्वकं बृहद्विधिना पूजयेत् ।

सांवत्सरस्य यागस्य पवित्रीकरणाय भोः ।
विष्णुलोकात् पवित्र त्वमागच्छेह नमोऽस्तु ते ॥

इति पवित्राणि पूजयेत् ।

सर्व्वाभरणचित्राङ्ग सर्व्वदेवनमस्कृत ।
लावण्यहेतुविश्वात्मन् ज्येष्ठं सूत्रं समाश्रय ॥
सर्व्वलक्ष्मीकर श्रीश सर्व्वयज्ञरसाधिक ।
निवृत्तिरूप विश्वात्मन् मध्यमं सूत्रमाश्रय ॥

अतिवेग मरुद्द्योने पुरुषात्मन् दिवस्पते ।
कनीयो हे प्रभो देव तेजसा सूक्ष्ममाश्रय ॥
प्रकृते जगतः कीर्त्तिः सर्व्वलावण्यदायिनी ।
श्रीसूत्रे नित्यकल्याणि सान्निध्यं कुरु ते नमः ॥

इति प्रत्येकमभिमृश्य पुरुषसूक्तेन "जितन्ते पुण्डरीकाक्ष" इत्यादिना देवं स्तुत्वा

आमन्त्रितोऽसि देवेश पुराण पुरुषोत्तम ।
प्रातस्त्वां पूजयिष्यामि सन्निधौ भव ते नमः ॥

इति नत्वा जाग्रतो रात्रिं नयेत् । प्रभाते देवं सम्पूज्य

कृष्ण कृष्ण नमस्तुभ्यं गृहाणेदं पवित्रकम् ।
पवित्रकरणार्थाय वर्षपूजाफलप्रदम् ॥
पवित्रकं कुरुष्वाद्य यन्मया दुष्कृतं कृतम् ।
शुद्धो भवाम्यहं देव त्वत्प्रसादात् सुरेश्वर ॥

इति मन्त्रेण मूलमन्त्रपूर्व्वकेण प्रत्येकं पवित्राणि दद्यात् ।

ततः,—

वनमालां यथा देव कौस्तुभञ्च सदा त्वयि ।
तद्वत्पवित्रकं तन्तुं पूजाञ्च हृदये वह ॥
जानताऽजानता वापि न कृतं यत् तवार्चनम् ।
केनचिद् विघ्नरूपेण परिपूर्णं तदस्तु मे ॥

इति प्रार्थयेत् । त्रिगुणितपवित्राणि वैष्णवेभ्यो दत्वा स्वयमेकं गृह्णीयात् । त्रिरात्रमेकरात्रं वा देवं पवित्रं धारयित्वा

सांवत्सरीं शुभां पूजां सम्पाद्य विधिवन्मम।
व्रजेदानीं पवित्र त्वं विष्णुलोकं विसर्ज्जितम्॥

इति पवित्राण्युत्तार्य्य वैष्णवेभ्यो दद्यात्। अत्रासामर्थ्ये

जय देव जगन्नाथ जय विष्णो रमापते।
जयानन्त जयाचिन्त्य जय कामद मोक्षद॥
अव्यक्तादि सृजस्येतत्परमात्मन् यथा वरम्।
विभर्षि च यथा चान्ते संहरस्यव्ययः स्वयम्॥
त्वत्तः स्याद् बहुरूपेण भूतसृष्टिर्विधायक।
पालकोऽसि भवानेव मत्स्यकूर्म्मादिविग्रहैः॥
त्वत्तो भूतविनाशः स्यादन्ते रुद्राय ते नमः।
पुरुषार्थमयं यत्ते चिदानन्दात्मकं वपुः॥
स्वसंवेद्यमनाख्येयमूर्म्मिषट्कादिकं तथा।
नमामस्तत्परं ब्रह्म योगिगम्यमनामयम्॥
भूर्लोकशिरसे तुभ्यं नमो भूम्यङ्घ्रये हरे।
प्राणः समीरणो यस्य जगच्चक्षुस्त्रिलोचनः॥
दिक्श्रवणो मनश्चन्द्रस्तस्मै कालात्मने नमः॥
रमाकान्तमुमाकान्तं यत्ते रूपं सरोजकम्।
पातु नस्तत् सदापङ्गोऽन्तरमिष्टं प्रयच्छतु॥
पद्मालिङ्गितदेहार्द्ध जगत्त्रयविमोहन।
कटकाङ्गदकेयूरमहानूपुरधारण।
दिव्यचन्दनलिप्ताङ्ग नमस्ते पीतवाससे॥

सौम्यासौम्यस्वरूपाय व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणे।
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं परात्मने॥

इति स्तुतिं पठेत्। मन्त्रमयुतं जपेत्। तथा,—

रोहिण्यामर्द्धरात्रे च यदा कृष्णाष्टमी भवेत्।
तस्यामभ्यर्चनं शौरेर्हन्ति पापं त्रिजन्मजम्॥
जयन्त्यामुपवासञ्च कृत्वा योऽभ्यर्चयेद्धरिम्।
तस्य जन्मशतोद्भूतं पापं नाशयतेऽच्युतः॥
प्राजापत्यर्क्षसंयुक्ता कृष्णा नभसि चाष्टमी।
मुहूर्त्तमपि लभ्येत उपोष्या सा महाफला॥
अर्द्धरात्रादधश्चोर्द्धं कलयापि यदा भवेत्।
जयन्ती नाम सा प्रोक्ता सर्व्वपापप्रणाशिनी॥
जयन्त्यामुपवासश्च सर्व्वपापप्रणाशनः।
सर्व्वैः कार्य्यो महाभक्त्या पूजनीयश्च केशवः॥
नभः कृष्णाष्टमीं प्राप्य भुञ्जते ये द्विजाधमाः।
त्रैलोक्यसम्भवं पापं भजन्त्येव न संशयः॥

एतेन रोहिणीयोगं विना तत् कार्य्यम्। यद्यप्येतज्जयन्त्युपक्रमोपसंहारमध्यपठितत्वाद् वैश्वानरद्वादशकपालवाक्यान्तर्गताष्टाकपालादिवाक्यवदवयुत्यानुवादेन जयन्तीव्रतप्ररोचनापरमेव तथापि समाचारात्

प्राजापत्यर्क्षसंयुक्ता श्रावणस्यासिताष्टमी।
वर्षे वर्षे तु कर्त्तव्या तुष्ट्यर्थं चक्रपाणिनः॥

इत्यनेन प्रतिवर्षकर्त्तव्यताभिधानाच्च रोहिणीयोगाभावेऽपि कर्त्तव्यम् ।

वर्जनीया प्रयत्नेन सप्तमीसंयुताष्टमी ।
अविद्धायान्तु सर्क्षायां जातो देवकिनन्दनः ॥

इति तत्परमेव । रोहिणीयोगे तु

कार्य्या विद्धा तु सप्तम्या रोहिणीसहिताष्टमी ।

इति ।

जयन्ती शिवरात्रिश्च कार्य्ये भद्राजयान्विते ।

इति । यत्तु,—

प्रेतयोनिगतानाञ्च प्रेतत्वं नाशितं नरैः ।
यैः कृता श्रावणे मासि अष्टमी रोहिणीयुता ॥
किं पुनर्बुधवारेण सोमेनापि विशेषतः ।
किं पुनर्नवमीयुक्ता कुलकोट्यास्तु मुक्तिदा ॥
सऋक्षापि न कर्त्तव्या सप्तमीसंयुताष्टमी ।

इति यत्र यत्र नक्षत्रवृद्ध्या दिनद्वयेऽप्यर्द्धरात्रजयन्तीयोगस्तत्परमेव ।

उदये चाष्टमी किञ्चित् नवमी सकला यदि ।
सा भवेत् बुधसंयुक्ता प्राजापत्यर्क्षसंयुता ॥
सोमवारेण संयुक्ता कुलकोट्यास्तु मुक्तिदा ।

तद् वारविशेषयोगाधीनम् ।

तुष्ट्यर्थं देवकीसूनोर्जयन्तीसंज्ञकं व्रतम् ।
अकुर्व्वन् याति निरयं यावदिन्द्राश्चतुर्द्दश ॥

तथा तद्दिवसे प्राप्ते दन्तधावनपूर्व्वकम्।
उपवासस्य नियमं गृह्णीयाद् भक्तिभावितः॥
वासुदेवं समुद्दिश्य सर्व्वपापप्रशान्तये।
उपवासं करिष्यामि कृष्णाष्टम्यां नभस्यहम्॥
अद्य कृष्णाष्टमीं देवीं नभश्चन्द्रसरोहिणीम्।
अर्च्चयित्वोपवासेन भोक्ष्येऽहमपरेऽहनि॥
एनोविमोक्षकामोऽस्मि यद् गोविन्द त्रिजन्मजम्।
तन्मे मुञ्चतु मां त्राहि पतितं शोकसागरे॥
देव्याः सुशोभनं कुर्य्यात् देवक्याः सूतिकागृहम्।
तन्मध्ये प्रतिमां स्थाप्य सा चाप्यष्टविधा स्मृता॥
सर्व्वलक्षणसम्पन्ना पर्य्यङ्के चार्द्धसुप्तिका।
रम्यामेवंविधां कृत्वा देवकीं नवसूतिकाम्॥

ॐ देवक्यै नमः। ओं वासुदेवाय नमः। ओं बलदेवाय नमः। ओं यशोदायै नमः। ओं गर्गाय नमः। ओं लक्ष्म्यै नमः। ओं सरोहिणीकचन्द्राय नमः। इत्येवमादीनि नामानि उच्चार्य्य पृथक् पृथक्

पूजयेयुर्द्विजाः सर्व्वे स्त्रीशूद्राणाममन्त्रकम्।

देवकीपूजायां विशेषः,—

अर्च्चिता देवमातस्त्वं सर्व्वपापप्रणाशिनी।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि भीतोऽहं भवसागरात्॥
पूजिता तु यथा देवैः प्रसन्ना त्वं वरानने।
पूजिता तु मया भक्त्या प्रसादं कुरु सुव्रते॥

यथा पूज्य हरिं पूर्व्वं प्राप्नुयुर्निर्वृतिं सुराः।
तामेव निर्वृतिं देवि देहि मे त्वञ्च सुव्रते॥
चन्द्रोदये शशाङ्काय अर्घ्यं दद्याद्धरिं स्मरन्।
ज्योत्स्नापते नमस्तुभ्यं नमस्ते ज्योतिषां पते॥
नमस्ते रोहिणीनाथ गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते।
जातः कंसवधार्थाय भूभारोत्तारणाय च॥
धर्म्मसंस्थापनार्थाय पाण्डवानां हिताय च।
कौरवाणां विनाशाय दैत्यानां निधनाय च॥
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं देवक्या सहितो हरे।
देवकीगर्भसम्भूत भक्तानामभयप्रद॥
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं देवक्या सह केशव॥
अवतारसहस्राणि करोषि मधुसूदन।
न संख्यामवताराणां कश्चिज्जानाति वै प्रभो॥
देवा ब्रह्मादयो वापि स्वरूपं न विदुस्तव।
अतस्त्वां पूजयिष्यामि मातुरुत्सङ्गशायिनम्॥
वाञ्छितं कुरु मे देव दुष्कृतञ्चैव नाशय।
कुरुष्व मे दयां देव सर्व्वपापहरो भव॥

योगाय योगेश्वराय योगसम्भवाय योगपतये गोविन्दाय नमो नम इति स्नानानुलेपने। यज्ञाय यज्ञेश्वराय यज्ञसम्भवाय यज्ञपतये गोविन्दाय नमो नम इति वस्त्रम्। विश्वाय विश्वेश्वराय विश्वसम्भवाय विश्वपतये गोविन्दाय नमो नम इति धूपम्। धर्म्माय धर्म्मेश्वराय धर्म्मसम्भवाय धर्म्मपतये गोविन्दाय

नमो नम इति दीपम्। ज्ञानाय ज्ञानेश्वराय ज्ञानसम्भवाय ज्ञानपतये गोविन्दाय नमो नम इति नैवेद्यम्। धर्म्माय धर्म्मेश्वराय धर्म्मसम्भवाय धर्म्मपतये गोविन्दाय नमो नम इत्याचमनीयम्।

अनघं वामनं शौरिं वैकुण्ठं पुरुषोत्तमम्।
वासुदेवं हृषीकेशं माधवं मधुसूदनम्॥
वराहं पुण्डरीकाक्षं नृसिंहं दैत्यसूदनम्।
दामोदरं पद्मनाभं केशवं गरुड़ध्वजम्॥
गोविन्दमच्युतं कृष्णमनन्तमपराजितम्।
अधोक्षजं जगद्वीजं सर्गस्थित्यन्तकारकम्॥
अनादिनिधनं विष्णुं त्रैलोक्येशं त्रिविक्रमम्।
नारायणं चतुर्बाहुं शङ्खचक्रगदाधरम्॥
पीताम्बरधरं नित्यं वनमालाविभूषितम्।
श्रीवत्साङ्कं जगत्सेतुं श्रीधरं श्रीपतिं हरिम्॥
नामान्येतानि, सङ्कीर्त्त्य गत्यर्थं प्रार्थयेत्पुनः।
पाहि मां सर्व्वलोकेश हरे संसारसागरात्॥
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चात् शक्त्या दद्याच्च दक्षिणाम्।
शान्ते कुर्य्यात्तिथेर्वापि शस्तं शान्तरपारणम्॥

---

## अथ शिवचतुर्द्दशी ।

माघकृष्णत्रयोदश्यां शिवं रात्रौ प्रपूजयेत् ।
उन्निद्रितो निशां नीत्वा शिवलोके महीयते ॥

भूतेश्वरादिह परोऽस्ति न पूजनीयो
नैवाश्वमेधसदृशः क्रतुरस्ति तात ।
गङ्गासमं त्रिभुवनेऽपि न तीर्थमस्ति
नान्यद् व्रतं च शिवरात्रिसमं समस्ति ॥

अर्द्धरात्रयुता यस्तु माघकृष्णचतुर्द्दशी ।
शिवरात्रिव्रतं कुर्य्यात् सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥
सूर्य्येऽस्ते नवनाड़ीषु भूतविद्धा त्रयोदशी ।
शिवरात्रिव्रतं तत्र कुर्य्याज्जागरणं तथा ॥
भवेद् यत्र त्रयोदश्यां भूतव्याप्ता महानिशा ।
शिवरात्रिव्रतं तत्र कुर्य्यात्——— ॥
पूर्व्वं त्रयोदशी रात्रौ याममेकं चतुर्द्दशी ।
उपोष्या सा प्रयत्नेन——— ॥
त्रयोदशीसमायुक्ता कर्त्तव्या शिवरात्रिका ।
न कर्त्तव्या प्रयत्नेन कुहूयुक्ता महाभया ॥
न दृष्टा कुर्व्वता पुंसा कुहूयुक्ता तिथिं शिवाम् ।
भक्त्या रात्रौ प्रकर्त्तव्यो गीतनृत्यैः प्रजागरः ॥
अखिलायां त्रयोदश्यामन्ते स्याच्चेच्चतुर्द्दशी ।
सर्व्वयज्ञफलावाप्तिः शिवरात्रिव्रते कृते ॥

यत्पापं कुरुते जन्तुरगम्यागमनादिकम्।
तत्सर्व्वं विलयं याति भूतायां पारणे कृते॥

## तत्रार्घ्यदानमन्त्राः।

नमः शिवाय शान्ताय सर्व्वपापहराय च।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यं भक्त्या तुभ्यमहं विभो॥
शिवं शिवकरं शान्तं शिवात्मानं शिवोत्तमम्।
शिवमार्गप्रणेतारं प्रणमामि सदाशिवम्॥

इति प्रथमयामे।

नमः शिवाय शान्ताय भुक्तिमुक्तिप्रदाय च।
शिवरात्रौ ददाम्यर्घ्यं सर्व्वाभिमतसाधकम्॥
शाश्वतं शोभनं पूतं शासकं दोषशोषकम्।
विश्वं विश्वेश्वरं देवं शङ्करं प्रणमाम्यहम्॥

इति द्वितीयप्रहरे।

ज्ञानादज्ञानतो वापि मया दत्तन्तु शङ्कर।
गृहाणार्घ्यं महादेव शिवरात्रौ प्रसीद मे॥
सर्व्वपापहरं नाथं सर्व्वरोगहरं परम्।
सर्व्वाधारपरं नित्यं नमाम्यार्त्तिहरं परम्॥

इति तृतीययामे।

शिव शङ्कर सर्व्वज्ञ प्रभो पशुपते हर।
गृहाणार्घ्यमुमाकान्त शिवरात्रौ प्रसीद मे॥

आस्थानस्थानसंस्थानं स्थितिसंस्थितिकारणम् ।
स्थिरमात्मनि योगस्थं स्थाणुं तं प्रणमाम्यहम् ॥
अविघ्नेन व्रतं देव त्वत्प्रसादात्समापितम् ।
क्षमस्व जगतां नाथ त्रैलोक्याधिपते हर ॥

इति चतुर्थे यामे ।

प्रतियामं निशि स्नानं कार्य्या पूजा च भक्तितः ।
देहाशक्तिवशेनाथ स्नानमन्त्रादिकं चरेत् ॥
जपं कृत्वा तथा होमं ध्यानं चागमवाचनम् ।
प्रतियामे तु कर्त्तव्यं धूपात् रात्रिप्रदर्शनम् ॥

---

## अथ गणेशपूजाविधिः ।

तथा केन विधानेन पूजनीयो गणाधिपः ।
पूजितस्तु तिथौ कस्यां गणेशः सिद्धिदो भवेत् ॥

इत्युपक्रम्य

मासि भाद्रपदे शुक्लचतुर्थ्यां पूजयेन्नृप ।
यदा च जायते भक्तिस्तदा पूज्यो गणाधिपः ॥

तत्र भाद्रपदे शुक्लचतुर्थी गणनाथप्रतोषिणी ।

मध्याह्नमनतिक्रम्य पूर्व्वविद्धा सुशोभना ।
चतुर्थी च तृतीयायां महापुण्यफलप्रदा ॥
तृतीयया समायुक्ता शयने स्याच्चतुर्थिका ।
कार्त्तिके शुक्लपक्षे तु सा ग्राह्या पञ्चमीयुता ॥

प्रातः शुक्लतिलैः स्नात्वा मध्याह्ने देवमर्च्चयेत् ।
शतमानसुवर्णेन चतुर्निष्कमितेन वा ॥
रौप्येण वा धारयन्तीं दण्डाजपर्शुलड्डुकान् ।
प्रतिमां गणनाथस्य कारयित्वा स्वशक्तितः ॥
अथवा मृन्मयीं कुर्य्याद् वित्तशाठ्यं न कारयेत् ।
स्नापयित्वा प्रयत्नेन पञ्चामृतजलादिभिः ॥
गणाध्यक्षेति नाम्ना वै गन्धं दद्यात् स्वशक्तितः ।
विनायकेति पुष्पाणि धूपञ्चोमासुतेति च ॥
दीपं रुद्रप्रियायेति नैवेद्यं विघ्ननाशिने ।
शोणवस्त्रयुगं दद्यात्ततः सर्व्वप्रदेति च ॥
ततो दूर्व्वाङ्कुरैर्देवमेकविंशतिकं ध्रुवम् ।
पूजयित्वा प्रयत्नेन एकैकं युग्मकैः पृथक् ॥
गणाधिप नमस्तेऽस्तु उमापुत्राघनाशन ।
विनायकेशपुत्रेति सर्व्वसिद्धिप्रदेति च ॥
एकदन्तेभवक्त्रेति तथा मूषिकवाहन ।
कुमारगुरवे तुभ्यमित्युच्चार्य्य प्रपूजयेत् ॥
दूर्व्वायुग्मं गृहीत्वा तु गन्धाक्षतपरिप्लुतम् ।
एकैकेन तु नाम्ना वै दत्त्वैकं सर्व्वनामभिः ॥
एकविंशतिमुत्पाद्य मोदकान् घृतपाचितान् ।
स्थापयित्वा गणाध्यक्षसमीपे कुरुनन्दन ॥
दशविप्राय दातव्यं स्वयञ्चाद्यात् तथा दश ।
दद्यादेकं गणेशाय नैवेद्यञ्च तथा नृप ॥

गणेशः प्रतिगृह्णाति गणनाथो ददाति च ।
दीयते गणनाथाय प्रीयतां मे गणाधिपः ॥
दुर्बुद्धिरूपदुरितं नाशयित्वा च स प्रभुः ।
सौख्यं सौमनसं नित्यं प्रकरोतु विनायकः ॥

इति प्रार्थ्य

ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चाद् भुञ्जीयात् तैलवर्जितम् ।

इति ।

---

## अथ दुर्गापूजनम् ।

कन्यायां कृष्णपक्षे तु पूजयित्वा उभेऽपि वा ।
नवम्यां पूजयेद् देवीं गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥
शुक्लपक्षे चतुर्थ्यान्तु देवीकेशविशोधनम् ।
प्रातरेव तु पञ्चम्यां स्नापयेत् सतिलैः शुभैः ॥
सप्तम्यां पत्रिकापूजा अष्टम्यामप्युपोषणम् ।
पूजनं जागरञ्चैव नवम्यां विधिवद् बलिः ॥
संभ्रामणं दशम्यान्तु रथमारोप्य वै पुरे ॥
स्वपेद् भाद्रसिताष्टम्यां दुर्गा लोकहिताय वै ।
उत्तिष्ठत्यर्चिता देवी षोडशेऽह्नि न रात्रितः ॥
तिथिक्षयो यदि भवेत् स्वपेत तास्वतुर्दश ।
न वर्द्धयेत् स्वापदिनं तिथिवृद्धिर्यदा भवेत् ॥

अष्टमीञ्चेदनुप्राप्य अस्तं याति दिवाकरः।
तत्र दुर्गोत्सवं कुर्य्यान्न कुर्य्यादपरेऽहनि॥
निशायामष्टमी यत्र तत्र दुर्गोत्सवो भवेत्।
अष्टम्यां यत्र नवमी तत्र पूजां विसर्जयेत्॥

---

## बलिदाने पशुपूजाविधिः।

कलशेष्वष्टमातृकाः प्रपूज्य पशोः,—

हरिद्राक्षालनं कार्य्यं सर्व्वगन्धानुलेपनम्।

तत्र खादिरे यूपे बद्धा,—

ए ऐ कर्णयोर्न्यस्य उ ऊ श्रवणयोस्तथा।
इ ई लोचनयोर्न्यस्य ऌ ॡ तु गण्डयोर्न्यसेत्॥
अ आ तु नासापुटयोः ओ औ च दन्तयोर्न्यसेत्।
ऋ ॠ तु ओष्ठयोर्न्यस्य विसर्गो रसनान्तरे॥
अं ललाटे च विन्यस्य सर्व्वतो मातृकां न्यसेत्।
कवर्गं दक्षिणे पादे चवर्गं वामपादतः॥
टवर्गं दक्षिणे पार्श्वे तवर्गं वामपार्श्वतः।
पवर्गमुदरे न्यस्य यवर्गं पृष्ठपार्श्वतः॥
शवर्गं गुह्यदेशे तु मेढ्रे हं क्षं ततो न्यसेत्।

ह्रां पशुहृदयाय नमः। ह्रीं पशुशिरसे स्वाहा। इत्येवं षडङ्गन्यासः कार्य्यः। शृङ्गयोर्नृसिंहाय नम इति वस्त्रवेष्टनम्। चक्षुर्भ्यां

नम इति नेत्रवेष्टनम् । कर्णाभ्यामनन्ताय नमः स्वर्गफलं प्रयच्छ स्वाहा ।

पादचत्वारि विद्महे पादतलाय धीमहि ।
तन्नः पादः प्रचोदयात् ———— ॥

क्लीं पशुः स्वाहा इति गन्धादिभिः पश्वर्चनम् । जलतृणादि निवेदनम् । पूर्व्वपूजाघटैरभिषिच्य बिल्वपत्रमालां दत्वा देव्यग्रे पशुमानयेत् ।

पशुपाशाय विद्महे शिरश्छेदाय धीमहि ।
तन्नः पशुः प्रचोदयात्———— ॥

इति कर्णे अष्टौ वारान् जपेत् ।

पशुपाशविनाशाय हेमकूटस्थिताय च ।
पराय परमार्थाय पशुजन्म नमोऽस्तु ते ॥
पशुजन्मप्रसूतोऽसि पूजाहोमादिकर्म्मसु ।
तुष्टा भवतु सा देवी सरक्तपिशितैस्तव ॥

---

## अथ खड्गपूजा ।

असिर्विशसनःखड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासदः ।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्म्माधारस्तथैव च ॥
इत्यष्टौ तव नामानि स्वयमुक्तानि वेधसा ।
नक्षत्रं कृत्तिका तुभ्यं गुरुर्देवो महेश्वरः ॥

हिरण्यगर्भस्ते वर्म्म धाता देवो जनार्द्दनः ।
पिता पितामहो देवस्त्वं मां पालय सर्व्वदा ॥

इति खड्गं सम्पूज्य दक्षिणाङ्गं छित्वा बिल्वपत्रेण गृहीत्वा स्थापयेत् । एकद्वित्रिप्रहारेण छेदयेद्दुर्द्धं दातृप्रहर्त्तुर्विनाशः ।

दक्षिणे पतिते वृद्धिर्वामभागे तु निन्दितम् ।

त्रैवर्णिकेन शिरश्छेदयित्वा ओं नमो महामाये रुधिरप्रियङ्करि रुधिरं गृह्ण गृह्ण क्रीं फट् स्वाहेति रुधिरदानम् । ओं नमो महिषमर्द्दिनि ओंकारमूर्त्तये पशुमस्तकं गृह्ण गृह्ण हूं फट् स्वाहेति शिरोदानम् ।

घोरदंष्ट्रे करालास्ये मद्यमांसबलिप्रिये ।
बलिं गृहाण देवि त्वं पशुरक्तं समांसकम् ॥
आद्याश्च कर्म्मजाश्चैव ये भूताः प्राक् च संस्थिताः ।
प्रसन्नाः परितुष्टास्ते प्रतिगृह्णन्त्विमं बलिम् ॥

इत्यन्यबलिं दत्वा मूलमन्त्रं जपेत् ।

जयन्ती मङ्गला काली भद्रकाली कपालिनी ।
दुर्गा शिवा क्षमा धात्री स्वधा स्वाहा नमोऽस्तु ते ॥
अमृतोद्भवः श्रीवृक्षो महादेवप्रियः सदा ।
बिल्वपत्रं प्रयच्छामि पवित्रन्ते सुरेश्वरि ॥
महिषघ्नि महामाये चामुण्डे मुण्डमालिनि ।
आयुरारोग्यविजयं देहि दुर्गे नमोऽस्तु ते ॥
चन्दनेन समायुक्ते कुङ्कुमेन विलेपिते ।
बिल्वपत्रकृतापीड़े त्वामहं शरणं गतः ॥

तत्र,—

जयाभिलाषी नृपतिर्नृपशुं परिकल्पयेत् ।
पुत्रार्थी महिषञ्चैव शान्त्यर्थी छागमेव च ॥
वश्याकाङ्क्षी वराहञ्च विद्यार्थी मेषमेव च ।
धर्म्मार्थी कृष्णहरिणमुष्ट्रञ्चैव विनाशने ॥
राष्ट्रभङ्गे धनाभावे पशूनामप्यसम्भवे ।
पिष्टकेनापि कुर्व्वीत नापशुः स्यात्कदाचन ॥
हीनाङ्गानधिकाङ्गांश्च कृशान् बालांश्च वर्जयेत् ।
स्त्रियोऽनुकम्प्या देव्याश्च स्त्रीपशुं न प्रयोजयेत् ॥

---

## अथागस्त्यपूजा ।

न प्राप्ते भास्करे कन्यां सत्रिभागैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अर्घ्यं दद्युरगस्त्याय ते वसन्ति महोदये ॥
कन्यायामगते सूर्य्ये पूज्यो वै सप्तमे दिने ।
सिंहार्द्धोपगते सूर्य्ये कुम्भयोन्यर्घ्य इष्यते ॥
अगस्त्यो नार्चितः पूर्व्वं ददौ तस्मै वरं हरिः ।
ये त्वां तत्रोदितं भक्त्या नार्चयिष्यन्ति मानवाः
तेषां सांवत्सरं पुण्यं मत्प्रसादात् भवेत्तव ॥
वेदवेदाङ्गविद्वांसो धनधान्यप्रजान्विताः ।
वारुणी ते भविष्यन्ति लोकेऽस्मिन्नर्घ्यदास्तव ॥

तत्र मन्त्रः,—

काशपुष्पप्रतीकाश अग्निमारुतसम्भव।
मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते॥

---

## अथ लक्ष्मीपूजा।

पूर्णिमाश्वयुजे मासि कौमुदी परिकीर्त्तिता।
कौमुद्यां पूजयेल्लक्ष्मीमिन्द्रञ्च निशि जागरयात्॥
आश्विने पौर्णमास्यान्तु अच्चैर्जागरणं निशि।
नारिकेलरसं पीत्वा तस्मै ऋद्धिं ददाम्यहम्॥

---

## अथ श्रवणद्वादशीव्रतम्।

नभस्यशुक्लद्वादश्यां नक्षत्रं श्रवणा यदि।
तत्र देवार्चनं विप्रभोजनं श्राद्धमेव च॥
जपदानोपवासाद्यैः सहस्रगुणितं फलम्।

---

## अथ विष्णुशृङ्खलयोगः।

आभाकासितपक्षेषु मैत्रश्रवणरेवतीः।
प्राप्नोति द्वादशी तत्र हरिमभ्यर्चयेन्नरः॥
सा विष्णुशृङ्खला नाम सायुज्यफलदायिनी।
द्वादशी श्रवणर्क्षं च स्पृशेदेकादशीं यदि।
स एव वैष्णवो योगो विष्णुशृङ्खलसंज्ञकः॥

---

## अथ चातुर्म्मास्यव्रतम् ।

एकादश्यान्तु गृह्णीयात् संक्रान्तौ कर्कटस्य वा ।
आषाढ्यां वा नरो भक्त्या चातुर्मास्यव्रतक्रियाम् ॥
इदं व्रतं मया देव गृहीतं पुरतस्तव ।
निर्विघ्नां सिद्धिमाप्नोतु प्रसन्ने त्वयि केशव ॥
यस्तु सुप्ते हृषीकेशे नक्तमाचरते व्रती ।
वस्त्रयुग्मं नरो दत्वा शिवलोके महीयते ॥
एकभक्तं नरः कुर्य्यात् स्नात्वा नित्यं दृढ़व्रतः ।
योऽर्चयेच्चतुरो मासान् वासुदेवं स नाकभाक् ॥
अयाचितेन वा भुञ्जन् ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥
रौक्मं दत्वा ब्राह्मणाय व्रती तद्गतमानसः ।
एकान्तरव्रताशी च विष्णुपूजनतत्परः ॥
गां दत्वा वासुदेवस्य लोके सम्पूज्यते नरः ॥

मांसपरित्यागाद्वेदवित् । तैलाभ्यङ्गपरित्यागी चान्ते घृततैलपूर्णकांस्यपात्रप्रदो विष्णुलोकभाक् ।

भूमिशायी शय्याप्रद इहलोके महीयते ।

ताम्बूलत्यागी वस्त्रयुग्मदो भोगी रक्तकण्ठश्च स्यात् । फलत्यागी सुवर्णफलानि दत्वा विष्णुलोकभाक् । वार्त्ताकुत्यागी कार्त्तिक्यां मधुसर्पिर्घटान्वितसुवर्णवार्त्ताकुप्रदो रुद्रलोके महीयते ।

यः क्षिपेत् कृच्छ्रपादेन आषाढादिचतुष्टये ।

विष्णुपूजनकृतजन्मानिकेतः शाकमूलफलानि ब्राह्मणेभ्यो दत्वा प्रतिदिनमन्ते च वस्त्रयुग्मं सर्व्वपापैः प्रमुच्यते। राजराजो भवति। प्रतिदिनं धान्यं दत्वा अन्ते रत्नकाञ्चनगर्भितं धान्यकुम्भं दत्वा ब्रह्महत्यादिभिः पापैः प्रमुच्यते। कटुतिक्तकषायत्यागी अन्ते यथावद्दक्षिणां दत्वा अरोगी स्यात्। नित्यं पादाभ्यङ्गपूर्व्वकं ब्राह्मणान् भोजयित्वा याति मम पुरम्। नित्यं स्वर्णदायी अन्ते च वस्त्रयुग्मतिलसहितं सुवर्णपद्मं दत्वा आजन्मपापक्षयपूर्व्वकं सुपुत्रलाभः। देवतायतनमार्जनाभ्युक्षणलेपेन गैरिकमण्डलैरन्ते ब्राह्मणान् तर्पयित्वा सप्तजन्म राजा भवति। उष्णोदक-स्नानवर्जनात् गङ्गास्नानफलम्। पुष्पत्यागादन्ते स्वर्णपुष्पदानाद् विष्णुलोकप्राप्तिः। पञ्चवर्णेन शिवालये स्वस्तिकपद्मकारी रुद्र-समानपुत्त्रमवाप्नुयात्। सायं प्रातर्विष्णुपूजनात् प्राजापत्यपुरं याति। प्रतिपक्षं प्रतिपदि व्याहृतिभिस्तिलहोमैररोगी श्रीमान् भोगी सुरूपश्च। प्रतिपक्षद्वितीयायां मिष्टान्नैर्ब्राह्मणान् भोजयित्वा अजिनं तिलैः सार्द्धं सुवर्णरत्नसमन्वितं दत्वा ज्ञानी सन् मोक्ष-माप्नोति। प्रतिपक्षं तृतीयायां गुड़ं गौरी मे प्रीयतामिति दत्वा अन्ते विप्रमिथुनं भोजनवस्त्राभरणैः पूजयित्वा सुखी स्यात्। तत्रैव गन्धाक्षताद्यैस्तामलङ्कार्य्य शिवां स्मरन् दत्वा अन्ते च वस्त्रं तद्भर्त्रे च वस्त्रभोजने तयोर्गौरी मे प्रीयतामित्यर्चनान्महतीं श्रियं सौख्यञ्च पुमान् लक्ष्मीतुल्यां स्त्रियमाप्नोति। प्रतिपक्षं दशम्यां नानाभक्ष्यैः फलैः पूरितं कुम्भं दध्यन्नेन सहितं सदक्षिणं धर्म्मराज प्रीयतामिति दत्वा

अन्धतामिस्रमग्नानां पितॄणां तारणाय वै ।
सौख्यसन्तानवृद्ध्यर्थं यमबाधापनुत्तये ॥
व्रतान्ते पूजयेद् विप्रं वस्त्रैराभरणैः शुभैः ।
नानाभक्ष्यसमोपेतं दध्यन्नञ्च तथा घटम् ।
प्रीयतां धर्म्मराजेति व्रती दद्यात् सदक्षिणम् ॥

एकादशीषूपवासं नक्तमेकभक्तं वा कृत्वा पूजयित्वा जनार्द्दनमन्ते विप्रान् भोजयित्वा शक्त्या दक्षिणां दत्वा

मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्नरः ।
अभीष्टफलसंसिद्धो लभेत् पुत्रान् गुणान्वितान् ॥
द्वादश्यां प्रतिपक्षन्तु पायसं भक्ष्यसंयुतम् ।
शर्करामलकोपेतं तुलसीदलसंयुतम् ॥
ददन् विष्णुपदं याति प्रसादाच्चक्रपाणिनः ।
समाप्तौ विप्रमुख्याय हेमं दत्वा प्रयत्नतः ॥

द्वादशीषु जनार्द्दनं पूजयित्वा मिष्टान्नैर्विप्रान् सन्तर्प्य अन्ते पयस्विनीं सालङ्कारां कपिलां दत्वा एकच्छत्रं राज्यं प्राप्य धर्म्मबुद्धिरन्ते विष्णुपुरं व्रजेत्। त्रयोदशीषु सरस्वतीं ध्यात्वा नक्तभोजी स्त्रीं वर्जयित्वा अन्ते धर्म्मशास्त्रपुस्तकं देवीमन्त्रकल्पं वा दत्वा काञ्चनं दद्यात् सत्पुत्रः सद्भार्य्योऽक्षयधनो व्याससमः स्यात् । अमावास्यासु कृष्णतिलैः स्नात्वा पितॄन् सन्तर्प्य ब्राह्मणान् पायसादिभिर्भोजयित्वा अन्ते वस्त्रालङ्कारसहितां कृष्णां गां पयस्विनीं दद्यात् धनधान्यसमृद्धः पुत्रान् लब्ध्वा अन्ते विष्णुपुरं याति । अष्टम्यां चतुर्द्दश्यां नक्ताशी चतुष्पथे प्राङ्गणे दीपान् दत्वा

गवादिकप्रदस्यान्ते गोवृषप्रदः शम्भोर्भुवनं याति। शुक्रवारे पुत्त्रार्थी गन्धपुष्पताम्बूलानि श्रियं स्मरन् दद्यादन्ते च वस्त्रं तस्यै तद्भर्त्रे दक्षिणां तयोर्वस्त्रादिभि र्भोजनं लक्ष्मीशः प्रीयतामिति दत्वा श्रीरूपां स्त्रियमाप्नोति स्त्री च महत् सौभाग्यम्। इन्दु-वारेषु घृतपायसं दत्वा अन्ते कांस्यपात्रं सकाञ्चनं मुक्ताफलं घृतपयःपूर्णं वस्त्रञ्च दत्वा पुत्त्रस्त्रीकान्तिमान् धर्म्मज्ञः सर्व्व-प्रियोऽन्ते च ब्रह्म गच्छति। सौरिवारेषु तिलाभ्यङ्गदोऽन्ते वाससी पुष्पगन्धादिना पादुके दत्वा अरोगी दीर्घजीव्याचार-श्रेष्ठः सुखी च स्यात्। कृष्णचतुर्थ्यष्टमीषु बिल्वपत्रकृष्णतिलगन्ध-पुष्पाक्षतादिभिः शिवं सम्पूज्य दिवानशननक्ताशनञ्च कृत्वा अन्ते तिलान् काञ्चननिर्मितपद्मं यथाशक्ति दक्षिणां शिवभक्ताय शान्ताय दत्वा शतं जन्मानि भवेत् श्रीमान्।

तदन्ते लभते दिव्यं स्थानं वै मोक्षदायकम्।

प्रतिदिनं पादोदकं पीत्वा अन्ते रौप्यचन्द्रेण सह धेनं पय-स्विनीं दत्वा वैष्णवपदं याति।

अन्नैर्मूलफलैर्यस्तु वर्षरात्रिं नयेन्नरः।
समाप्तौ गोप्रदो भूत्वा स गच्छेद् ब्रह्ममन्दिरम्॥
पयोव्रती तथाप्नोति ब्रह्मलोकं सनातनम्।
व्रतान्ते च तथा दद्याद् गामेकाञ्च पयस्विनीम्॥
ब्रह्मचर्य्येण वा मासांश्चतुरः क्षपयेन्नरः।
प्रतिमां काञ्चनीं दद्यादक्षय्यब्रह्मलोकभाक्॥

अभ्यङ्गं वर्जयित्वान्ते हरिमुद्दिश्य ब्राह्मणायाभ्यङ्गं दत्वा विष्णुलोकं याति। तैलपक्ववर्जनादन्ते च भोजनं दत्वा तेजस्वी विष्णुलोकी स्यात्।

पादानुलेपनं कृत्वा ब्राह्मणस्याथवा गुरोः।
कृतकृत्यो भवेत् प्रीत्या पितृतृप्तिश्च जायते॥
अश्वत्थसेवां यः कुर्य्यात् सर्व्वपापैः प्रमुच्यते।

सूर्य्यं गणेशं वा नित्यं नमस्कुर्व्वन्नायुरारोग्यैश्वर्य्यकान्तिमान् नित्यं ब्राह्मणवन्दनं कृत्वा अन्ते ब्राह्मणभोजनात् कृतकृत्यः सुखी स्वर्गपितृतृप्तिः स्यात्। नित्यं ब्राह्मणान् भोजयित्वा अन्ते यथाशक्ति दक्षिणासहितं ब्राह्मणभोजनं दत्वा धनवानपरप्रेष्यश्च स्यात्। कालप्राप्तमतिथिमन्वहं भोजयित्वा अन्ते ब्राह्मणान् भोजयित्वा

सर्व्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम्॥
तुलसीं धारयेद् यस्तु विष्णुक्रान्तामथापि वा।
विष्णुलोकमवाप्नोति सर्व्वपापैः प्रमुच्यते॥
ब्राह्मणान् भोजयेत् पश्चाद् विष्णुमुद्दिश्य पुत्रक।
पुराणं शृणुयाद् यस्तु धर्म्मशास्त्रमथापि वा॥
पुण्यवान् धनवान् भोगी सत्यशौचपरायणः।
ज्ञानवान् लोकविख्यातो बहुवित्तसुतान्वितः॥

त्रयोदश्यां शचीपतिं पूजयित्वा अन्ते स्वर्णमयमिन्द्रं दत्वा राजा स्यात्।

वह्निः स्कन्दपुरन्दरौ गणपतिः श्रीर्धर्म्मराड् भास्करौ
वायुः पर्व्वतजा तथा वसुमती तोयाधिपः केशवः ।
ब्रह्मा शम्भुर्हलायुधादिविबुधाश्चैतासु सर्व्वे यथा
उत्तिष्ठन्त्वमुना क्रमेण वरदाः स्वे स्वे तिथौ पूजिताः ॥
इति यथासङ्ख्यतः प्रतिपदादिषु तिथिषु शेरते ।

## माघकृत्यम् ।

हरेरर्च्चा तु वैशाखे तपःपूजा च कार्त्तिके ।
तपोऽभ्यर्च्चा तथा दानं त्रयं माघे विशिष्यते ॥
अविमुक्ते प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे ।
यत् फलं दशभिर्व्वर्षैः प्राप्यते नियतैर्नरैः ॥
तत् फलं लभते माघे गृहस्थो नात्र संशयः ।
ब्रह्महा हेमहारी च सुरापो गुरुतल्पगः ।
माघस्नायी विपापः स्यात् तत्संसर्गी च पञ्चमः ॥
आयुर्वित्तकलत्रादिसम्पदः प्रभवन्ति च ।
उपपातकानि सर्व्वाणि पातकानि महान्ति च ।
भस्मीभवन्ति सर्व्वाणि माघस्नायिनि मानवे ॥
कामादिकञ्च यत्पापं ज्ञानाज्ञानकृतन्तु यत् ।
स्नानमात्रेण नश्येत्तु मकरस्थे दिवाकरे ॥
सितासितेषु यैः स्नातं माघमासे युधिष्ठिर ।
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ॥

गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत् फलम् ।
प्रयागे माघमासस्य त्र्यहं स्नातस्य तत् फलम् ॥
मकरस्थे रवौ माघे गोविन्दाच्युत माधव ।
स्नानेनानेन देवेश यथोक्तफलदो भव ॥
यथा नारायणः सूर्य्यो यथा नारायणो जलम् ।
यथा नारायणो माघस्तथा पापं विनश्यति ॥
सवितुः प्रसवस्येह परं धाम जले मम ।
त्वत्तेजसा परिभ्रष्टं पापं यातु सहस्रधा ॥
दिवाकर जगन्नाथ प्रभाकर नमोऽस्तु ते ।
परिपूर्णं कुरुष्वेदं माघस्नानं ममाच्युत ॥
सूर्य्यग्रहणतुल्या हि शुक्ला माघस्य सप्तमी ।
अरुणोदयवेलायां तस्यां स्नानं महाफलम् ॥
माघे मासि सिते पक्षे सप्तमी कोटिभास्करा ।
दद्यात् स्नानार्घ्यदानाभ्यामायुरारोग्यसम्पदः ॥

---

## कार्त्तिककृत्यम् ।

तथा,—

कार्त्तिकं सकलं मासं वहिःस्नायी जितेन्द्रियः ।
जपन् हविष्यभुग् दान्तः सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥

तत्र मन्त्राः,—

कार्त्तिकेऽहं करिष्यामि प्रातःस्नानं जनार्द्दन।
प्रीत्यर्थं तव देवेश दामोदर मया सह॥
इमं मन्त्रं समुच्चार्य्य मौनी स्नायाद् व्रती नरः॥
व्रतिनः कार्त्तिके मासि स्नातस्य विधिवन्मम।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं दनुजेन्द्रनिसूदन॥
नित्यनैमित्तिके कृष्णकार्त्तिके पापनाशने।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो भवान्॥
इमं मन्त्रं समुच्चार्य्य योऽर्घ्यं मह्यं प्रयच्छति।
सुवर्णपूर्णापृथिवीदानस्य फलमश्नुते॥

## अथ जन्मदिवसकृत्यम्।

तथा,—

सर्व्वैश्च जन्मदिवसे स्नातैर्मङ्गलपाणिभिः।
गुरुदेवाग्निविप्राश्च पूजनीयाः प्रयत्नतः॥
प्रतिसंवत्सरं यत्नात् कर्त्तव्यश्च महोत्सवः।
अभिषेकदिने राज्ञो वर्षवृद्धिर्विधीयते॥
अन्येषां जन्मनक्षत्रे क्षीणायुस्त्वन्यथा भवेत्॥
जन्ममासस्य जन्माहे जन्मतारेन्दुसंयुते।
अलाभाद्दक्षमात्रे तु कुर्य्याद्दर्षविवर्द्धनम्॥
प्रत्यब्दं जन्मदिवसे वर्षवृद्धाभिषेचनम्।
वर्द्धयित्वाथवा कुर्य्यात् जन्ममासे शुभे दिने॥

रजसालङ्कृते देशे सिते तण्डुलपीठके।
वरुणस्येति मन्त्रेण कुम्भं संस्थाप्य चाग्रतः॥
स्फाटिकीं प्रतिमां षाष्ठीं हारिद्रीं वाथ पैष्टकीम्।
मार्कण्डेयस्य च तथा मूर्त्तिं वैनायकीं शुभाम्॥
स्थापयेत् प्रणवेनैव यजेत्कुम्भे जलाधिपम्।
राजतेऽष्टदले पद्मे मध्ये सोमं समर्चयेत्॥

शुक्रं पूर्व्वे। वायव्ये गणपतिम्। आग्नेये क्षेत्रपालम्। मृत्युञ्जयं स्वमन्त्रेणैव नैर्ऋत्याम्।

पूर्व्वतः सप्तसप्तैव बहुलाद्याश्च तारकाः।
त्रींस्त्रींस्तु तथा राशीन् स्वनाम्ना तु समर्चयेत्॥

"मेषं सिंहं धनुश्चैव पूर्व्वतः" इत्येवं क्रमेण इन्द्रादीन् स्वस्वदिक्षु।

षष्ठीञ्च पूजयेद् यत्नान्मार्कण्डेयं ततःपरम्।
आयुर्दात्रस्ततस्त्वन्तु मातॄः सम्पूजयेत्ततः॥
महाभूतानि पञ्चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
मनोबुद्धिरहङ्कारश्चन्द्रादित्यौ च देवताः॥
अश्वत्थामादिसप्तैतान् सम्पूज्य प्रार्थयेद्धरिम्।
आयुर्देहि यशो देहि श्रियं देहि त्वमेव च॥
पुत्रं पौत्रं प्रपौत्रञ्च देहि मे गणनायक॥
षष्ठीदेवि नमस्तुभ्यं सूतिकागृहशायिनि।
पूजितासि परं भक्त्या दीर्घमायुः प्रयच्छ मे॥

आयु:प्रद महाभाग सोमवंशविवर्द्धन ।
महातपो मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय नमोऽस्तु ते ॥
मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवित ।
आयुरिष्टार्थसिद्ध्यर्थमस्माकं वरदो भव ॥
नववर्षायुषं प्राप्य महता तपसा पुरा ।
सप्तकल्पक्षतं येन आयु: स मे प्रयच्छतु ॥
धिषणा हृद्दिमाता च गौरी च कटपूतना ।
आयुर्दात्र्यो भवन्त्वेता अद्य जन्मदिने मम ॥
क्षितिर्जलं वियत्तेजो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा: ।
मामेव हि सदा पान्तु चिरजीवी भवाम्यहम् ॥
अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषण: ।
कृप: परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविन: ॥
सप्तैतान् य: स्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् ।
जीवेद्‌ वर्षशतं साग्रं सर्व्वव्याधिविवर्ज्जित: ॥
द्रौणायने महाभाग रुद्रतेज:समुद्भव ।
भवायुर्वरदो मे त्वमश्वत्थामन् नमोऽस्तु ते ॥
दैत्येन्द्रकुलसम्भूत दानयज्ञक्रियारत ।
प्रपन्न: शरणञ्च त्वां दीर्घमायु: प्रयच्छ मे ॥
साम्प्रतानागतातीतज्ञानाधार तपोनिधे ।
नारायणांशसम्भूत ममाद्य वरदो भव ॥
अञ्जनागर्भसम्भूत कपीन्द्र सचिवोत्तम ।
रामप्रिय नमस्तुभ्यं हनूमन्नव मां सदा ॥

विभीषण नमस्तुभ्यं रामपादाब्जपूजक ।
आयुरारोग्यमैश्वर्य्यं देहि पौलस्त्यनन्दन ॥
द्विजेन्द्र भरताचार्य्य सर्व्वशास्त्रविशारद ।
शरणं त्वां प्रपन्नोऽहं कृप मां रक्ष सर्व्वदा ॥
रैणुकेय महावीर्य्य कार्त्तवीर्य्यकुलान्तक ।
आयुः प्रयच्छ मे राम जामदग्न्य नमोऽस्तु ते
कृत्तिकादिभरण्यन्तास्तारकाः शशिवल्लभाः ।
आयुर्दात्री दक्षसुता एता मां पान्तु सर्व्वदा

---

## अथ पादोदकपानमाहात्म्यम् ।

अत्र,—

विष्णोः पादोदकं पुण्यं तुलसीदलवासितम् ।
भक्त्या पीतं त्रिकालञ्च हत्याकोटिविनाशनम् ॥
त्रिसन्ध्यं विनतापुत्र तुलसीं प्राशयेद् यदि ।
विशेषतः कायशुद्धिश्चान्द्रायणशतादपि ॥
ये पिवन्ति नरा नित्यं शालग्रामशिलाजलम् ।
पञ्चगव्यसहस्रैस्तु प्राशितैः किं प्रयोजनम् ॥
पीतं येन सदा विष्णोः शालग्रामशिलाजलम् ।
छिन्नस्तेन महास्त्रेण गर्भवासः सुदारुणः ॥
विलयं यान्ति पापानि पीते पादोदके हरेः ।

इत्यादिवाक्यविहितं तुलसीदलयुक्तपादोदकपानं कार्य्यम्

पादप्रक्षालितं वारि विष्णोरमिततेजसः ।
सर्व्वपापप्रशमनं प्राशयामि तदस्तु मे ॥

इति मन्त्रः । एतत्पादोदकपानमेकादश्युपवासेऽपि विहितत्वात् हुतशेषाशनाद्याचमनाव्भक्षणवदविरुद्धम् ।

अत्र,—

तुलसीभक्षरहितं हरेर्दिन उपोषणम् ।
यथोक्तफलदं न स्यात् तत्पेयं सदलं जलम् ॥

इति वाक्यञ्चाहुः । एवम्,—

चान्द्रायणसहस्रन्तु यः कुर्य्यात् कायशोधनम् ।
पिवेद् यथेष्टं यश्चापि गङ्गाम्भः स विशिष्यते ॥

इति विहितगङ्गाम्बुपानमपि ।

अत्र च विहितस्यानिष्टहेतुत्वायोगेनाशुद्धिरूपानिष्टाभावात् तत्परिहारार्थं यत् प्राशनाव्भक्षणयोर्विहितमाचमनं तत् ताम्बूलभक्षणादाविव न प्राप्नोति । किञ्च तत्कायशुद्धिहेतुत्वेनोक्तम् । न च शुद्धिहेतोरशुद्धिहेतुत्वमस्त्विति । न चैवं चान्द्रायणादिग्रासाशनेऽप्येवं स्यान्न तत्र प्राप्त एव भोजने ग्रासनियममात्रस्य विहितत्वात् । हुतशेषभक्षणकर्म्माङ्गाव्भक्षणेऽप्येवमाशौचाभाव एव । तत्राचमनसमाचारः पुनः

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च ।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत् प्रयतोऽपि सन् ॥

इत्यप्रत्यवायाभावेऽप्याचमनं तन्निमित्तकं विहितम् । तन्नैतेषां मध्ये अन्नादीनां प्रवेशाच्च स्यादशुद्धिरिति

क्षुते श्लेषपरित्यागे पीते वा भक्षिते सति ।

चाण्डालस्य च सम्भाषे स्वप्ने वाचम्य शुद्ध्यति ॥

इत्यादिवाक्यै र्यत्र यत्राशुद्धिरुक्ता तत्र तत्रैवाचमनमशुद्धिनिवृत्त्यर्थं प्रत्यवायानुत्पादार्थञ्च । यत्राशुद्धिर्नास्ति तत्र प्रत्यवायानुत्पादनार्थम् । एवं ताम्बूलभक्षणादावप्यशुद्ध्यभावेऽप्याचमनं प्राप्नोति । अतएव भट्टपादैः परस्परस्पृष्टताम्बूलभक्षणं तदवसानानाचमनञ्च दाक्षिणात्यानां दुराचारा उक्ताः ॥ इति ॥

---

इति श्रीमदग्निचिद्विद्याकरवाजपेयिकृतौ

नित्याचारे दिवसस्य प्रथमभागकृत्यं

समाप्तम् ॥

शुभमस्तु ॥